वर्ष ३ अङ्क १

कार्तिक २०१९

नवम्बर १९६२

परमानन्द संदेश

आत्मपुराण विशेषाङ्क

(उपनिषदों का सार)

संस्थापक

श्री १०८ सद्गुरु बाबा शारदाराम मुनिजी महाराज, श्रीतीर्थ रामटेकड़ी, पूना

सम्मान्य संरक्षक

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज

संचालक

श्री अजित मेहता [बी० ई० सिविल]

सदस्यता शुल्क

साधारण सदस्यों के लिये

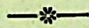
५) पांच रुपए वार्षिक

स्थायी सदस्यों के लिए

२५) पच्चीस रुपए ६ वर्षों तक

आजीवन सदस्यों के लिए

१५१) एक सौ इक्यावन रुपये



केवल इस विशेषांकका मू०-५) पांच रुपये

सदस्यों को विशेषांक निःशुल्क

अन्य साधारण अंकोंका मूल्य—५० नये पैसे

पत्र-व्यवहार का पता :—

शारदा प्रतिष्ठान

सी० के० १५।५१ सुड़िया, बुलानाला

वाराणसी—१

भूमिरापोऽनलो वायुः
खं मनो बुद्धिरेव च
अहंकार इतीयं मे
भिन्ना प्रकृतिरष्टधा
अपरेयमितस्त्वन्यां
प्रकृतिं विद्धि मे पराम्
जीवभूतां महाबाहो
ययेदं धार्यते जगत्
मयि सर्वमिदं प्रोतं
सूत्रे मणिगणा इव
गीता
७/४५७

ॐ
चेतन परा प्रकृति
बुद्धि — अहङ्कार
आकाश — मन
तेज — वायु
पृथ्वी — जल

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार से विभक्त हुई अपरा (जड़) प्रकृति है तथा दूसरी परा (चेतन) प्रकृति हैं जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता हैं यह सम्पूर्ण चराचर जगत सूत्र में सूत्र के मणियों के सदृश परमात्मा में पिरोया (गुंथा) है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

क्रोधद्वार
कामद्वार
लोभद्वार

काम क्रोध लोभ तीन प्रकार के नरक द्वार आत्मा का पतन करनेवाले हैं

"परमानन्द संदेश" का उद्देश्य और नियम

॥ उद्देश्य ॥

"परमानन्द संदेश" विशुद्ध अध्यात्मिक-धार्मिक सचित्र मासिक पत्र है। परमात्माके नामका गुणगान करते हुए धर्म, भक्ति, वैराग्य, उपासना, जप, तप, साधन, सदाचार एवं आत्मज्ञान समन्वित साहित्य द्वारा जनताका मनोमञ्जन तथा सन्त महात्माओंके परमानन्द दायक संदेशको घर-घर पहुँचाना इसका उद्देश्य है।

नियम

१—"परमानन्द संदेश" का नया वर्ष कार्तिक मास से प्रारम्भ होकर आश्विनमें समाप्त होता है।

२—वर्षके किसी भी मासमें सदस्य बनाये जा सकते हैं परन्तु सदस्योंको चालू वर्षके पिछले अंक देकर आश्विनमें उनका वर्ष पूरा कर दिया जाता है।

३—प्रत्येक वर्षका प्रथम अंक विशेपांक होता है जो सदस्योंको निःशुल्क दिया जाता है।

४—सदस्य तीन प्रकारके बनाये जाते हैं—[१] साधारण, [२] स्थायी, [३] आजीवन।

५—साधारण सदस्यता शु० ५) वार्षिक स्थायी शुल्क ६ वर्षोंके लिये २५) रुपये हैं और आजीवन सदस्यता शुल्क १५१) रुपए हैं।

६—आजीवन सदस्यों की नामावली वर्षमें एक बार प्रकाशित की जाती है।

७—"परमानन्द संदेश" प्रति मासकी पहली दूसरी तारीख तक प्रकाशित हो जाता है।

८—परमानन्द संदेश प्रतिमास सावधानीके साथ जाँच कर भेजा जाता है। १५ तारीख तक न मिलने पर अपने पोस्ट आफिससे लिखित उत्तर प्राप्त कर कार्यालयमें भेजनेकी कृपा करें। पोस्ट आफिससे पूछताछ की जायगी और प्राप्य होने पर सेवामें पुनः अंक भेजकर आपको सन्तुष्ट किया जायगा।

९—प्रतिवर्ष २६ अक्टूबर तक जिन सदस्योंका चन्दा मनिआर्डर द्वारा आ जाता है उनको छोड़कर शेष सभी सदस्योंकी सेवामें नये वर्षका विशेपांक वी० पी० द्वारा भेजा जाता है।

१०—यदि नये वर्षमें सदस्य न रहना हो तो पत्र द्वारा सूचित कर देना चाहिए। ताकि वी० पी० भेजकर कार्यालयको हानि न हो।

११—वार्षिक शुल्क ५) मनीआर्डर द्वारा भेजकर आप कभी भी ग्राहक बन सकते हैं। अथवा पत्र लिखकर वी० पी० द्वारा मँगा सकते हैं।

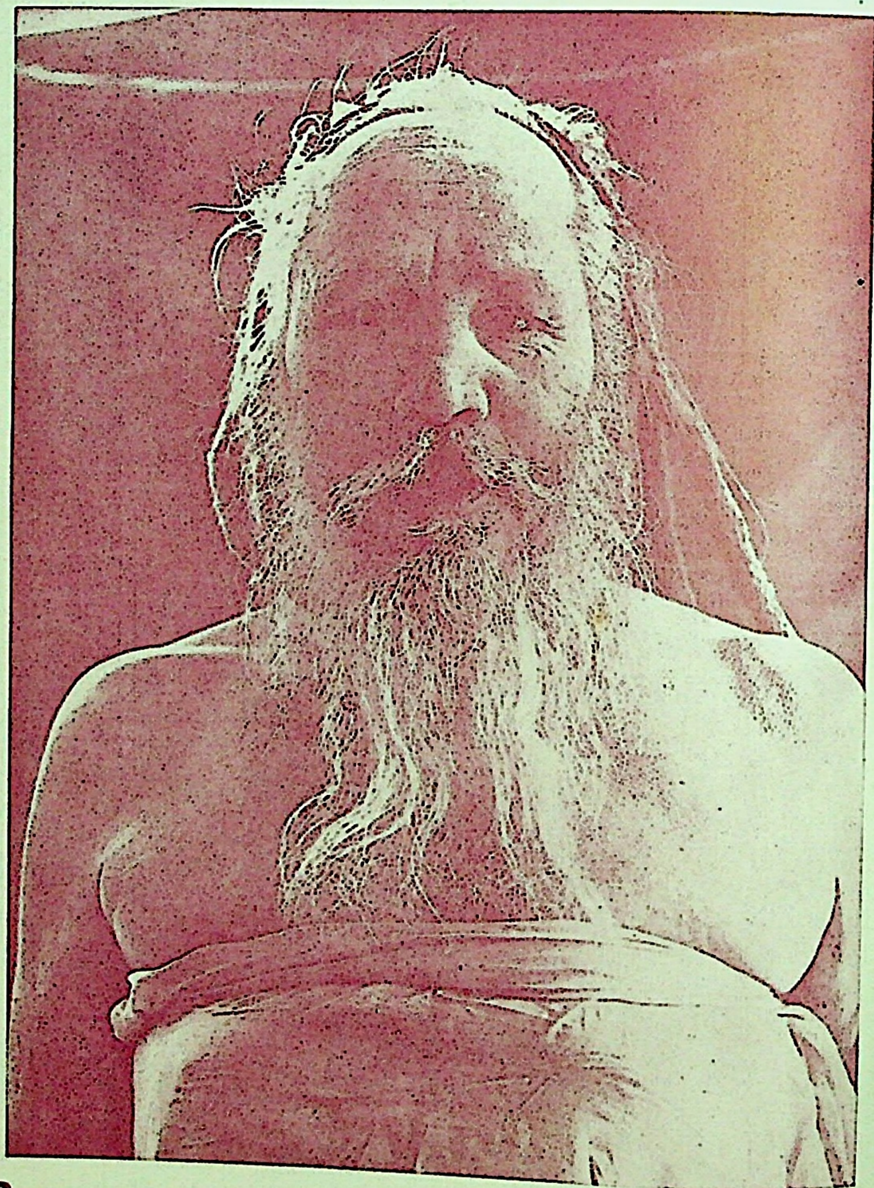
प्रचारकों की आवश्यकता है

भगवान् कृष्ण ने सद्ज्ञान के अर्जन, प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसारको ही सर्व यज्ञों में श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ कहा है।

"परमानन्द सदेश" रूपी ज्ञानयज्ञमें आपकी सेवाएँ आमन्त्रित हैं

"परमानन्द सन्देश" को देश-विदेशमें सर्वत्र घर-घर प्रचारित कर इसका सदस्य बनानेके लिये वैतनिक, अवैतनिक, अथवा कमीशन पर पवित्र विचारों वाले उत्साही प्रचारकों की आवश्यकता है। प्रति सदस्य एक रुपया कमीशन दिया जाता है। इच्छुक सज्जन सम्बन्ध स्थापित करें।

शारदा प्रतिष्ठान, सी०के० १५।५१ सुड़िया, बुलानाला, वाराणसी



श्री १०८ सद्गुरु नाना शारदाराम उदासीन मुनि जी महाराज

जिनकी कृपा कटाक्ष के एक लवलेश मात्र से यह ज्ञानयज्ञ सुसम्पन्न हो रहा है



❀ त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ❀

सन्त शिरोमणि

परमतपस्वी, वीतराग, योगीराज, जीवनमुक्त

श्री श्री १०८ सद्गुरु बाबा शारदाराम उदासीन मुनिजी महाराज के

७४ वें जन्मोत्सव पर

उनके पवित्र चरण कमलों में

'परमानन्द संदेश' का आत्मपुराण विशेषाङ्क रूपी

• श्रद्धा सुमन •

सादर समर्पित

"परमानन्द सन्देश"
क्या करता है ?

परमानन्द संदेश ज्ञानकी अप्रतिम ज्योति जलाकर सर्वत्र निर्मल, एकरस, अनन्त प्रकाश फैलाता है और अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता है।

परमानन्द संदेश मानवकी जड़ताको समूल नष्टकर आत्मज्ञानसे सबको सत्-चित्-आनन्दमय बना देता है।

परमानन्द संदेश जीवनको पवित्र, पुण्यमय, सौम्य बनाता है और अपवित्रता, पाप, ताप और अशान्तिका बीज नष्ट कर डालता है।

परमानन्द संदेश काम, क्रोध, मोह परायणताको नष्टकर हमारे जीवनको आत्मा या परमात्मापरायण बनाता है।

परमानन्द संदेश ऊँच नीचके लौकिक व्यवहारके रहते भी आन्तरिक ऊँच नीचके भावको सर्वथा मिटा देता है। यह उपाधियोंके कल्पित भेदसे हटाकर हमें सर्वत्र नित्य अभेद रूप सम ब्रह्मके दर्शन कराता है।

परमानन्द संदेश कटुतापूर्ण, दुःखभरी दुनियाँको परम मधुर और अतुल सुखसे पूर्ण बना देता है।

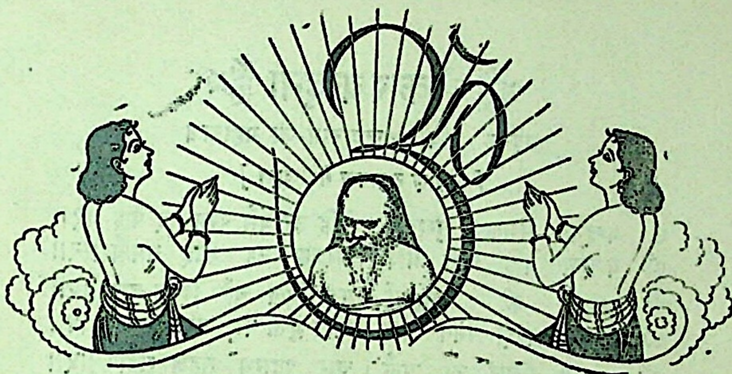
परमानन्द संदेश विषय वासना, अतृप्ति, अहंकार, अकर्मण्यताको आमूल नष्टकर जीवनको संयमी, सन्तोषी, निरहंकारी और कर्तव्यशील बनाता है।

परमानन्द संदेश आलस्य, दुःख और बुरे कर्मोंकी ओर प्रवृत्तिको नष्टकर मानवमें उत्साह और उल्लास बढ़ाकर सत्कर्ममें प्रवृत्त करता है।

परमानन्द संदेश मनुष्यको अमर बनना सिखाता है, मरना नहीं। यह मृत्युको मार डालता है।

परमानन्द सन्देश घृणा, द्वेष, वैर और परायेपनको मिटा देता है और विश्वके सब प्राणियोंमें एक अमर आत्माके दर्शन कराकर सबसे प्रेम करना सिखलाता है।

परमानन्द सन्देश मोहके आवरणको फाड़कर नरको नारायण बना देता है। फिर उसके लिये कुछ भी करना बाकी नहीं रह जाता।



ॐ जय सद्गुरु शारदाराम

परमानन्द संदेश

दुख खण्डन परमानन्द मण्डन, है इस पत्र का भाव ।
पढ़ै सुनै अमली बने, सो लख पावे प्रभाव ।।

वर्ष ३ अङ्क १	वाराणसी कार्तिक संवत् २०१९ नवम्बर १९६२ ई०	वार्षिक चन्दा ५) पाँच रुपये

उपासना

मद्रं होतारं शुचिमद्वयाविनं दमून समुक्थ्यंविश्व चर्षणिम्। रथं न चित्रं वपुपाय दर्शतं मनुर्हितं सदभिद् राय ईमहे ॥

आनन्द स्वरूप, दाता, शुचि, पवित्र, अद्वितीय संयमी, प्रशंसनीय, प्राणीमात्रके हितकर्ता और सब मनुष्योंके अन्तःकरणमें विराजमान आत्माकी हम सब प्राप्ति करते हैं, उसकी उपासना और प्रशंसा करते हैं, उसकी भक्ति करते हैं, इसलिये कि उसके उक्त गुण हममें प्रकट हों और हम सब परमानन्दके भागी बनें ।

ॐकार बन्दना

सद्गुरु बाबा शारदाराम जी महाराज

[निर्गुण रामायण से उद्धृत]

ॐ वन्दना मंगल सुखदाई। जेहि उर बसै परम पद पाई ॥१॥
ॐ वन्दना जेहि चित आवै। पारब्रह्म मह सोई समावै ॥२॥
ॐ वन्दना की प्रभुताई। मुद मंगल चहूँ दिशि छाई ॥३॥
ॐ वन्दना बन्दो नित भाई। आप मुक्त बहु जनन तराई ॥४॥
ॐ वन्दना संचार उर आवै। चार पदारथ सहज सुहावै ॥५॥
ॐ वन्दना ब्रह्मकी भक्ति सोई। भक्ति कर शक्ति लह कोई ॥६॥
ॐ की शक्ति जानै सोई। आत्म ब्रह्म प्राप्त जब होई ॥७॥
ॐ समर्थ नख सिखै बिराजै। पिण्ड ब्रह्माण्डमें आपी साजै ॥८॥
ॐ वन्दना कर वैराग बढ़ावै। ज्ञान की लरी ताहि सुहावै ॥९॥
ॐ वन्दना मन किया पयाना। वेद वाणी सत कर जाना ॥१०॥
ॐ वन्दना है ब्रह्म दीदारा। श्रुति सिद्धान्त किया पुकारा ॥११॥
ॐ वन्दना हित लग भाई। मानुप जन्म दिया ॐ साँई ॥१२॥
ॐ वन्दना सुन्दर शीतल जल। उपजै अन्दर नासै मलिन मल ॥१३॥
ॐ वन्दना मान सरोवर सोहा। आत्म हंसा तहँहि जोहा ॥१४॥
ॐ वन्दना करना सब भाई। पुनि जीव जासो ना पछिताई ॥१५॥
ॐ वन्दना अहं-ग्रह आनो। सर्व शरीर माह ब्रह्म समानो ॥१६॥
ॐ वन्दना जप किया विचारा। ॐ उर अन्दर बसे उदारा ॥१७॥
ॐ ज़पनहार मोक्ष सुख पाया। त्रिभुवन पति सो आप कहाया ॥१८॥
ज्यों दीपक रवि माह समाया। दीपक से तब रवि कहाया ॥१९॥
मोक्ष आत्मा है सर्व व्यापी। सर्व लोकमें आनन्द आपी ॥२०॥
ॐ उपासक ब्रह्म ज्ञान सुखानी। आत्म सुखी सदा ब्रह्मज्ञानी ॥२१॥
ॐ नाम कोई जपे सुचेता। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म का वेत्ता ॥२२॥
ॐ ब्रह्म मह रहा समाई। ॐ ब्रह्मज्ञानकी यह प्रभुताई ॥२३॥
ॐ वन्दना कृष्ण ने वन्दा। ब्रह्म कहा गीता में छन्दा ॥२४॥
ॐ वन्दना मुनिन उर धारी। गुरु रूप जग भये उजियारी ॥२५॥
दया क्षमा शान्ति ॐ सुझाई। शील विचार नेम जप ताई ॥२६॥
ॐ प्रसाद सदा बन आई। भक्ति प्रेम आचार सेवकाई ॥२७॥
ॐ वन्दना उर मह राखा। मानुप जन्म का यह परिभाषा ॥२८॥
ॐ खजाना जोड़हु रे भाई। काल फिरे तुमरी सर नाँई ॥२९॥

ॐ खजाना मालामाल कहावै । तरस रहे भूपाल काल डर पावै ॥३१॥
मुमुक्षु जनन को प्राण अधारा । ॐ करत भक्तन जयकारा ॥३२॥
मंगल मोद का पसरा पसारा । जो कोउ लिया ॐकार सहारा ॥३३॥
ॐ वन्दना से सभी सुधरता । यहाँ वहाँका शुद्ध ॐ करता ॥३४॥
ॐ वन्दना से लहा विश्रामा । चौरासी फिरका मिटा ललामा ॥३५॥
शारदाराम ॐ जप ॐ समाई । ॐ वन्दना सबै सुखदाई ॥३६॥

❀ मुक्ति-भुक्ति भजनावली ❀

ॐ प्रभु शरण में रहो लपटाई ॥टेक॥
आप मोक्ष औरो मोक्ष करिहो, तरिहैं मात पिता अरु भाई ।
सगा सहोदर हितैषु तरिहैं, तरिहैं जो दर्शन शुच पाई ॥
आस पास पुर पाटन तरिहैं, तरिहैं जो नाम सुन पाई ।
चार कुण्ठ धरती सब तरिहैं, ॐ नाम महिमा अधिकाई ॥
पशु पंछी जीयाजन्तु तरिहैं, जो अँखियन देख देखाई ।
'शारदाराम' ॐ की महिमा, कहत ब्रह्मा-विष्णु-शिव सकुचाई ॥

रे मन सुमिरन कर ॐ कारा । (टेक)
दया सागर एकं ॐ कहावै,
अनन्त शक्ति का भण्डारा ॥
ॐ समर्थ सब सुख दाता,
चराचर का प्राण अधारा ॥
शरण परे का आप रखवारे,
ऐसो अटल बिरद ॐ कारा ॥
'शारदाराम' शरण गहिहै,
सुख शान्ति ॐ संचारा ॥

—०—

सुमिरन कर मन ॐ प्रभुनामा । (टेक.)
जाके सुमिरन भव दुःख नाशत,
अचल मिलत ॐ धामा ॥
अक्षर प्रणव ब्रह्म कहावै,
सोई आत्म निज रामा ॥
भरमत फिरत विषय सुख माते,
ॐ भजन बिन कहाँ विश्रामा ॥
अटल अविनाशी ध्रुवपद चाहत,
ॐॐ रट यह कामा ॥
'शारदाराम' सब सुख सागर,
पाया अचल ॐ ज्ञाना ॥

ॐ प्रार्थना

हे ॐ अक्षर ब्रह्म अविनाशी। ॐ अघ खंडनहारो।
हे गोविन्द हे गोपाल। हे जीवन रखवारो॥
हे अविनाशी हे शिव दाता। आपे सर्व अधारो।
हे मधुसूदन हे राम रमणम्। हे ब्रह्म अवतार अपारो॥
हे आत्मा हे परमात्मने। हे अच्युत दुर्मति संघारो।
हे भक्त जनन के मालिक। आप करते प्राण संचारो॥
हे सर्वज्ञ अन्तर्यामी। लीला आप अनन्त करतारो।
हे शरणार्थी रक्षा कर्त्ता। श्रोता वक्ता करते उर धारो॥
हे सत्-चेतन-आनंद प्रभु। आपी 'शारदाराम' सहारो।

महा मंगलमय कवच

(शारदारामीय भागवत किरण से उद्धृत)

ॐ नमः चेतन सर्व आधारा। ॐ नमः चेतन रारं कारा॥ १॥
ॐ नमः आत्म निरंकारी। ॐ नमः आत्म सत्य विचारी॥ २॥
ॐ नमः निर्गुण अपरंपारा। ॐ नमः सगुण नमस्कारा॥ ३॥
ॐ नमः सच्चिदानन्द अविनाशी। ॐ नमः श्रीकृष्ण उदासी॥ ४॥
ॐ नमः चित चेतन ॐकारा। ॐ नमः ब्रह्म अखण्ड अपारा॥ ५॥
ॐ नमः आत्म परमात्मने। ॐ नमः मूलाधार ॐकारने॥ ६॥
ॐ नमः शिव मुक्ति धामने। ॐ नमः गणेश आत्म परमात्मने॥ ७॥
ॐ नमः विष्णु असंग सत्नामे। ॐ नमः चराचर व्यापी अनामे॥ ८॥
ॐ नमः जयति श्रीराम रामम्। ॐ नमः सच्चिदानन्द घनश्यामम्॥ ९॥
ॐ नमः जगदम्बे जगकारिणी। ॐ नमः जीव भव तारिणी॥१०॥
ॐ नमः लक्ष्मीपति गोविन्दम्। ॐ नमः वसुदेव नन्द नन्दनम्॥११॥
ॐ नमः सूरज भास्करम्। ॐ नमः अन्तर बाहर प्रकाशम्॥१२॥
ॐ नमः पाठ जप जापम्। प्रातःसन्ध्या स्वरूप लह आपम्॥१३॥
ॐ नमः मंगल मय मंगल रूपम्। ॐ नमः मंगलदाता मंगल अनूपम्।१४॥
ॐ नमः प्राणमय जीवमय रासम्। ॐ नमः वपु सर्व प्रकाशम्॥१५॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

गीतासार एकोत्तरी

बाबा शारदाराम जीका प्रसाद

(टीकाकार—श्री वेदान्ती जी)

१

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥२।३२॥

अर्जुनने कहा—

जिस प्रकार जिस पुरुषको भोजनकी इच्छा नहीं है उसको भोजन पकानेसे क्या लाभ ? उसी प्रकार हे कृष्ण ! जब मैं विजय, राज्य तथा विषयानन्दको स्वप्नवत क्षणभंगुर होनेसे नहीं चाहता तो हे गोविन्द ! हमें स्वप्नवत राज्यसे, भोगोंसे अथवा जीवित रहनेसे क्या प्रयोजन है। जैसे अमर होनेकी इच्छावाला विषपान नहीं करता उसी प्रकार मुमुक्षु ब्रह्मलोक तकके दिव्य सुखोंको विषवत अथवा वमनवत हृदयसे त्याग-कर देता है। क्योंकि वह सच्चिदानन्द आत्मासे भिन्न समस्त प्रपंचको असत जड़ दुःखरूप जानता है। अतः हे जगद्गुरो ! आपकी कृपासे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द प्राप्तिकी आशा रखनेवाले मुझ अर्जुनको युद्ध करना निष्प्रयोजन होनेसे कदापि कर्तव्य नहीं है।

२

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥२।१३॥

कृष्णने कहा—

जिस प्रकार निराकार निर्विकार आत्मा निद्राके कारण स्वप्नमें देह धारण करके देही बन जाता है उसी प्रकार अविद्याके कारण स्वप्नवत जाग्रत जगतमें भी देह धारण करके देही बन जाता है। जैसे निद्रासे मोहित होनेके कारण स्वप्नकालमें स्वप्न देहकी बाल्यावस्था,

तरुणावस्था और वृद्धावस्थाकी अपनी अवस्थायें भ्रमसे प्रतीत होती हैं तथा स्वप्नान्तरमें स्वप्न देहको छोड़कर देहकी प्राप्ति भी अपनेको ही होती हुई प्रतीत होती है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध मुक्त सर्वात्मा सर्वाधिष्ठान सच्चिदानन्द स्वरूपकी विस्मृति रूप अविद्यासे मोहित होनेके कारण आत्मा स्वप्नवत जाग्रत स्थूल देहकी कौमार, यौवन और जरा अवस्थाओंको तथा उसी प्रकार स्वप्न देहसे स्वप्नान्तर देहकी प्राप्तिकी भाँति देहान्तरकी प्राप्तिको सूक्ष्म देहमें न मानकर अपने शुद्ध स्वरूप असंग आत्मामें देखता है। परन्तु तत्वदर्शी अपनेको आकाशवत असंग, अखंड जानता है और शेष प्रपंचको अविद्याका परिणाम तथा चेतनका विवर्त जानता है।

३

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥२।१६॥

जैसे स्वप्न दर्शनके पूर्व असत था और अदर्शन होनेपर असत हो जाता है, केवल दर्शन कालमें निद्राके कारण सत्य इव प्रतीत होता है परन्तु निद्रा नष्ट होनेपर स्वप्न तुच्छ हो जाता है, इसी प्रकार जाग्रत जगत भी दर्शनके पूर्व कुछ नहीं था तथा स्वप्न, सुषुप्ति कालमें अदर्शन हो जानेपर कुछ नहीं रहता परन्तु दर्शन कालमें अविद्याके कारण सत्य इव प्रतीत होता है। अतः अखिल स्थूल सूक्ष्म कारण प्रपंच आदि अन्तमें अभाव रूप होनेसे इन्द्रजाल तथा मृगजलवत प्रतीत होनेपर भी परमार्थ दृष्टिसे असत हैं क्योंकि असत कभी सत नहीं हो सकता। अनादि अनन्त आत्मा त्रिकालाबाध्य होनेसे सत है, जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता। परन्तु अनादि सत्य आत्मा तथा अनादि अध्यस्त अनात्मा दोनोंका तत्व ब्रह्मदर्शी लोग ही जानते हैं। अतः वे द्वन्द्वोंसे असंग होते हैं।

४

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ २।१७॥

अनादि अनन्त त्रिकालाबाध्य परमार्थ स्वरूप उसको जानो जिस सच्चिदानन्द सर्वाधिष्ठान आत्मासे आकाश आदि सम्पूर्ण प्रपंच उसी प्रकार व्याप्त हैं जैसे रज्जुसे रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्प दण्डादि व्याप्त हैं, अथवा स्वप्न साक्षीसे स्वप्न व्याप्त है। जैसे रज्जुसर्पका उपादान रज्जु अपनी पूर्व अवस्थाका त्याग किये बिना ही सर्प रूपमें भासित होती है उसी प्रकार अविनाशी आत्मा सर्वका उपादान होनेपर भी अपनी पूर्व अवस्थाका त्यागकर विनाशको प्राप्त नहीं होता। क्योंकि सम्पूर्ण प्रपंचका अविनाशी आत्मा विवर्तोपादान कारण है। इस व्यय और अपक्षयसे रहित निर्विकार अव्यय आत्माका नाश करनेमें आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ समर्थ नहीं है क्योंकि आत्म भिन्न सर्व स्वप्नवत मिथ्या है तथा निष्क्रिय होनेसे स्वयं भी अपना नाश नहीं कर सकता और ईश्वरसे अभिन्न होनेसे ईश्वर भी आत्माका नाश नहीं कर सकता।

५

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥२।१६॥

जैसे जलके हलन चलनसे सूर्य हलन चलन क्रियाओंका कर्ता या कर्म नहीं होता उसी प्रकार स्वप्नवत अध्यस्त देहोंकी क्रियाओंसे सच्चिदानन्द सर्वाधिष्ठान आत्मा कर्ता या कर्म नहीं होता है। अथवा जैसे घटकी क्रियाओंसे घटाकाश क्रियावान नहीं हो जाता उसी प्रकार देहोंकी क्रियाओंसे निष्क्रिय आत्मा किसी क्रियाका कर्ता या कर्म नहीं हो सकता। जो आत्माको किसी भी क्रियाका कर्ता या कर्म मानते हैं वे आत्माको कर्ता या कर्म माननेवाले दोनों अविवेकी पुरुष आत्माको नहीं जानते। वास्तवमें यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है। अर्थात न किसी क्रियाका कर्ता है और न किसी क्रियाका कर्म है क्योंकि समस्त चेष्टायें स्वप्नवत अध्यस्त हैं और आत्मा अधिष्ठान है।

६

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २।२० ॥

अजन्मा और नित्य होनेसे आत्माका जन्म मरण नहीं हो सकता। आत्माका जन्म मरण माननेसे अकृताभ्यागम और कृतनाश दोष उपस्थित होंगे। अर्थात जन्म होनेसे आत्माको कर्म विना किये हुए ही भोग होगा तथा मृत्यु माननेसे इस जन्ममें किये हुए कर्मोंको भोगे विना ही नाश होगा। इस कारण वेदोक्त कर्म व्यर्थ हो जावेंगे। अतः जन्म, सत्ता, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, विनाश षट विकार स्थूल देहके धर्म हैं आत्माके धर्म नहीं। आत्मा उत्पन्न होकर फिर अभावको प्राप्त होनेवाला नहीं है तथा शरीरकी भाँति पहले न होकर फिर होने वाला नहीं है। अतः आत्मा जन्म तथा नाश विकारोंसे रहित है। शाश्वत होनेसे अपक्षय विकारसे रहित है, पुराण होनेसे वृद्धि रूप विकारसे रहित है। शरीरके विपरीत परिणाम को प्राप्त होने पर आत्मामें विपरिणाम नहीं होता जैसे घटके टूटने फूटनेसे घटाकाश नहीं नष्ट होता।

७

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२।२१॥

जिस तत्वदर्शीने षट भाव विकार रहित, अनादि अनन्त त्रिकालाबाध्य परमार्थ तत्वको आत्मा रूपसे अपरोक्ष कर लिया है वह आत्मवेत्ता कैसे मारता है और कैसे मरवाता है। अर्थात् वह न किसी क्रियाका करने वाला है और न करवाने वाला है क्योंकि करने वाला या करवाने वाला विकार रहित नहीं हो सकता। यदि आत्मा किसी क्रियाका कर्ता या हेतु कर्ता होता तो आत्मा जन्म आदि षट विकारोंसे रहित नहीं होता। चूँकि आत्मा षट विकारोंसे रहित है अतः आत्मा असंग निष्क्रिय है। जैसे नेत्रका प्रकाशक सूर्य देखना क्रियाका न तो कर्ता है और न हेतु कर्ता है उसी प्रकार तीनों देहोंका प्रकाशक साक्षी आत्मा न कुछ करता है और न किसीसे कुछ करवाता है। अविद्यासे उत्पन्न हुए गुण ही गुणोंमें स्वप्न वत वर्त रहे हैं।

८

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२।२२॥

जैसे जीर्ण वस्त्रोंको त्यागकर नवीन वस्त्रों को मनुष्य ग्रहण करते हैं उसी प्रकार जीवात्मा जीर्ण शरीरोंको छोड़कर अविद्या पर्यन्त नवीन शरीरों को ग्रहण करता रहता है। अर्थात जैसे कपड़ेसे पृथक असंग शरीर है उसी प्रकार शरीर से पृथक असंग निर्विकार आत्मा है। जैसे ओवरकोट अन्डरकोट तथा कमीज कपड़ोंके नाम हैं आत्माके नाम नहीं, उसी प्रकार बाबूलाल, केसरीसिंह आदि शरीरोंके नाम हैं आत्मा के नाम नहीं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंको ओवरकोट, अन्डरकोट तथा कमीजकी भाँति समझकर अपने शुद्ध बुद्ध मुक्त परमानन्द स्वरूप आत्माको तीनों शरीरोंसे भिन्न निश्चय करना चाहिए।

९

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२।२३॥

निरवयव होनेसे आत्माको तलवार आदि शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि भस्मी भूत नहीं कर सकती, पानी गीला नहीं कर सकता और न वायु शोषण कर सकती है। अर्थात जैसे प्रातिभासिक सत्ता वाला सम्पूर्ण स्वप्न जगत व्यावहारिक सत्ता वाले जाग्रत जगतको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, उसी प्रकार व्यावहारिक सत्ता वाला सम्पूर्ण जाग्रत जगत पारमार्थिक सत्ता वाले सच्चिदानन्द आत्माको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। क्योंकि अध्यस्त अधिष्ठानको विकारी नहीं कर सकता। यदि रज्जुसर्प रज्जु को काटनेमें समर्थ हो जाय तो माया मात्र तलवार आदिभी अनादि अनन्त निर्विकार आत्माको काट सकते हैं।

१०

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२।२४

आत्मासे भिन्न सर्व दृश्य स्वप्नवत अविद्या का कार्य होनेसे आत्माको हानि पहुँचाने में उसी प्रकार असमर्थ है जैसे वन्ध्याकुमार किसी को कष्ट देनेमें असमर्थ है अथवा जैसे खरगोश के सींगसे सिंहको नहीं मारा जा सकता अथवा जैसे मृगतृष्णाके जलसे किसीकी प्यास नहीं बुझाई जा सकती, अथवा जैसे शुक्तिरजतसे आभूषण नहीं बनाये जा सकते अथवा जैसे चित्रमें बना हुआ दीपक अन्धकारको नाश करनेमें असमर्थ है। अतः यह आत्मा न कटने वाला, न जलनेवाला, न गलनेवाला और न सूखनेवाला होनेसे नित्य है। नित्य होने से सर्वगत है क्योंकि परिच्छिन्न पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। व्यापक होनेसे स्थाणुवत स्थिर है तथा अचल और सनातन हैं।

११

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२।२५॥

जैसे स्वप्नकी इन्द्रियोंसे जाग्रत जगतको विषय नहीं किया जा सकता उसी प्रकार जाग्रत के मन बुद्धि आदि करणोंसे विषम सत्तावाला सच्चिदानन्द आत्मा विषय नहीं हो सकता, क्योंकि मन बुद्धि आदि समस्त करण स्वप्नवत अध्यस्त और प्रकाश्य हैं। अध्यस्त प्रकाश्य अपने अधिष्ठान प्रकाशकको प्रकाशित नहीं कर सकता है। अतः यह आत्मा सर्व करणोंका अविषय होनेसे अव्यक्त और अचिन्त्य है तथा निरवयव होने से अविकारी है। इस कारण उक्त लक्षण वाले इस आत्माको जानकर संसारका उसी प्रकार शोक नहीं करना चाहिये जैसे जाग्रत जगतका बोध हो जाने पर स्वप्नके लिए शोक नहीं किया जाता।

१२

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२।२९॥

जैसे भयानक स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नको तथा उससे विलक्षण अपने जाग्रत स्वरूपको आश्चर्यवत देखता, कहता और सुनता है उसी प्रकार इस स्पप्नवत अविद्या जनित भ्रममात्र सद्सत विलक्षण संसारसे परमार्थ तत्व में जगा हुआ पुरुष इस स्वप्नवत माया मात्र अनहुए संसारको तथा त्रिकालावाध्य अनादि अनन्त सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित सच्चिदानन्द मनवाणीके अविषय आत्माको आश्चर्यवत देखता, कहता और सुनता है। कोई मलीन बुद्धिवाले इस आत्माको सुनकर, देखकर और कहकर भी नहीं जान पाते हैं। अथवा इस आत्माको देखने वाले, कथन करने वाले तथा सुननेवाले विरले पुरुष आश्चर्य तुल्य हैं। अभिप्राय यह है कि आत्मतत्व दुर्विज्ञेय होनेसे अनेक सहस्रोंमें से एक ही आत्माको ठीक-ठीक जान पाता है।

१३

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२।३०॥

जैसे स्वप्नके समस्तदेह उत्पत्ति विनाश वाले होने पर भी स्वप्न साक्षी नित्य और अवध्य है उसी प्रकार स्वप्नवत अध्यस्त समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण देहोंके अत्यन्तनाश होने पर भी देहोंके साक्षी आत्माका नाश नहीं होता क्योंकि नित्य निवृत्त कार्याध्यासका कारण अध्यासमें लयरूप नाश अथवा ज्ञान द्वारा अत्यन्त नाश होने पर भी अधिष्ठान नाश नहीं हो सकता। अतः जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके समस्त देहोंके नाश होनेपर भी शोक नहीं करता उसी प्रकार विवेकीको स्वप्नवत भीष्मादि के शरीरोंके लिए ही नहीं बल्कि स्थावरसे ब्रह्मा पर्यन्त समस्त शरीरोंके लिये भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि आत्मा नित्य है और समस्त देह आकाशमें नीलमा तथा मृगजलवत मिथ्या हैं।

१४

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ २।५५॥

मुक्त पुरुषके स्वाभाविक लक्षण तथा वे

ही जिज्ञासुके यत्न साध्य लक्षण कथन करते हुए भगवान कृष्ण अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त जिज्ञासुओंको उपदेश दे रहे हैं कि अज्ञानीकी आत्मा भी मन प्राणसे रहित होनेसे सर्व इच्छाओंसे रहित परमानन्द रूप है परन्तु आत्माकी परमानन्दरूपता अज्ञात होनेके कारण तथा अज्ञान जनित स्वप्नवत अध्यस्त संसार व शरीरोंमें सतबुद्धि और सुखबुद्धि और अहंता ममता होनेके कारण अज्ञानीके मनमें लोक परलोकके भोगोंकी कामनायें उत्पन्न हुआ करती हैं। परन्तु जब संसारको रज्जु सर्पवत मिथ्या जान लेनेपर तथा आत्माका परमानन्द रूपसे दृढ़ अपरोक्ष हो जानेपर मनमें स्थित लोक परलोकके समस्त सुखोंकी इच्छाओंका उसी प्रकार बाध हो जाता है जैसे रस्सीके ज्ञान-से रज्जु सर्पका बाध हो जाता है तथा स्वयं ही आनन्दका समुद्र हो जाता है, तब वही स्थित प्रज्ञ कहलाता है।

१५

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रम्हनिर्वाणमृच्छति ॥२।७२॥

भगवान कृष्ण अर्जुनको निमित्त बनाकर मुमुक्षुजनोंको ब्रह्मनिष्ठाका माहात्म्य बतला रहे हैं कि हे अर्जुन अनादि अनन्त सामान्य चेतन ब्रह्मको आत्म रूपसे संशय विपर्यय रहित साक्षा-त्कार करनेवाला पुरुष इस अविचल ब्रह्मनिष्ठाके प्रतापसे कभी मोहित नहीं होता अर्थात् पूर्व-वत अपनेको कर्ताभोक्ता संसारी कभी नहीं मान सकता। अन्तकालमें अर्थात् पिछली अवस्थामें भी ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर पुनः शरीर धारण नहीं करता। फिर जो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही ब्रह्ममें स्थित है वह विदेह मोक्षको प्राप्त होता है, इसमें तो कहना ही क्या है। जैसे घट फूटते ही घटाकाश महाकाशको तथा वायुके न रहनेपर तरंग जल स्वरूपको नित्य प्राप्त होनेके कारण तुरन्त प्राप्त-सा कर लेता है उसी प्रकार अविद्या नाश होते ही नित्य प्राप्त होनेसे निर्वाण परम पदकी तुरन्त प्राप्ति हो जाती है।

१६

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३।१७॥

जैसे सोया हुआ चक्रवर्ती राजा स्वप्नमें अपनेको महान दरिद्री देखकर अनेक तृष्णाओंसे युक्त हो जाता है परन्तु जाग जानेपर स्वप्नकी समस्त तृष्णाओंसे रहित होकर अपने राज स्वरूपमें ही प्रीति करने लगता है और चक्रवर्ती राज्यको अनुभव करके तृप्त रहने लगता है उसी प्रकार सच्चिदानन्द आत्म स्वरूपकी विस्मृतिरूपी निद्रामें सोया हुआ पुरुष जब सद्गुरुकी कृपासे जागकर अपने परमानन्द स्वरूपमें निष्ठा करनेसे आत्मा-रामी हो जाता है तथा सुखरूप होनेसे विषय सुखकी तृष्णासे रहित हो जाता है क्योंकि विषय सुख भी आत्माभास समझने लगता है तब वह भोक्ता न रहनेसे भोग मोक्षके समस्त कर्तव्योंसे रहित हो जाता है।

१७

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३।१८॥

जिस विवेकीको कूटस्थ आत्माकी परमानन्द रूपता अपरोक्ष हो जाती है वह आत्मामें ही परमप्रेम करनेवाला तत्वज्ञ समस्त लौकिक वैदिक कर्मोंके करने या न करनेसे आत्मदृष्टिसे कोई लाभ या हानि नहीं देखता क्योंकि उसकी दृष्टिमें भोक्ता भोग्य भोग तथा भोगके साधन स्वप्नवत मिथ्या हो जाते हैं। अर्थात् तत्वज्ञको कोई भी कर्म फल देनेमें समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह अकर्ता अभोक्ता असंग निर्विकार है तथा किसी कर्म करनेका अभिमान उसी प्रकार नहीं करता जैसे जागने पर स्वप्नके कर्मोंका अभिमान नहीं किया जाता। जैसे जाग्रत पुरुष स्वप्नके किसी प्राणीसे भी कोई प्रयोजन नहीं रखता उसी प्रकार आत्मदर्शी आत्मदृष्टिसे ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं रखता है क्योंकि आत्म भिन्न सर्व मिथ्या जानता है।

१८

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥४।१६॥

भगवान कृष्ण पंडितका लक्षण बतलाते हुए कह रहे हैं कि उसके समस्त कर्म फलेच्छा और कर्तापनके अभिमानसे रहित होते हैं क्योंकि उसकी दृष्टिमें लोक परलोकके समस्त भोग मृगतृष्णाके जलवत आभासमात्र हैं और वह स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों देहोंसे अतीत कूटस्थ आत्माको असंग व्यापक उसी प्रकार जानता है जैसे घटकाश घटसे अतीत महाकाश रूप होनेसे व्यापक है। जैसे घटकी क्रियाओंसे घटाकाश क्रियावान नहीं हो सकता उसी प्रकार देहोंसे करोड़ों कर्म होनेपर भी जो अपने परमार्थ स्वरूप कूटस्थ आत्म को निष्क्रिय निर्विकार देखता है तथा अहंकार पूर्वक कर्म त्यागमें भी कर्म देखता है, अथवा जो कर्मरूप प्रपंचमें अकर्मरूप ब्रह्मको तथा अकर्मरूप ब्रह्ममें कर्मरूप प्रपंचको अध्यस्त देखता है और इस प्रकारकी ज्ञानाग्निसे समस्त कर्मोंको बाधित कर चुका है उसको ज्ञानी जन पंडित कहते हैं।

१९

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥४।२४॥

जैसे स्वप्नमें स्रुवादिक भी स्वप्नसाक्षी रूप हैं, हवि भी अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य भी स्वप्नसाक्षी रूप हैं, अग्नि भी स्वप्नसाक्षी रूप है, हवन करनेवाला स्वप्ननर भी स्वप्नसाक्षी रूप है और हवनक्रिया भी स्वप्नसाक्षी रूप है उसी प्रकार यहाँ जाग्रतमें भी स्रुवादिक, हवि, अग्नि, हवनकर्ता, और हवनक्रिया समस्त पदार्थ जाग्रत साक्षी ब्रह्म रूप हैं क्योंकि ब्रह्म सर्व प्रपंचका विवर्तोपादान कारण है। इस आत्मदर्शीके समस्त लोकसंग्रहार्थ किये हुए कर्म ब्रह्म बुद्धिसे बाधित होनेके कारण फल उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित हैं। इसी कारण उसके समस्त कर्म भुने बीजवत अकर्म हैं!

२०

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥४।३३॥

द्रव्य रूप साधन द्वारा सिद्ध होने वाले कर्म यज्ञकी अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि

ज्ञानयज्ञके बिना समस्त कर्म यज्ञोंसे जन्म मरण से छुटकारा नहीं हो सकता। जैसे समुद्र पार जाने वाले यात्रीको जब जहाज मिल जाता है तब समस्त रेल मोटर आदि सवारियोंका अन्त हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान रूप जहाज मिलने पर समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं क्योंकि कर्म कर्ताके अधीन हैं परन्तु ज्ञान होने पर अविद्या जनित कर्तापनका अभिमान नष्ट हो जाता है।

२१

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥४-३७॥

जैसे अग्नि काष्ठके समूहको भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है। अर्थात् ज्ञान द्वारा अविद्याका नाश हो जाने पर संचित कर्मोंका स्वरूपसे नाश हो जाता है और कर्तापनके अभिमानके नाश हो जानेसे क्रियमाण निर्बीज हो जाते हैं अर्थात् जन्म रूप फल देनेमें असमर्थ हो जाते हैं तथा प्रारब्ध कर्म भोग देकर ही नाश होते हैं, ज्ञानसे नाश नहीं होते परन्तु कर्ता भोक्तापनका अभिमान नष्ट हो जानेसे और आकाशवत असंग आत्मामें निष्ठा हो जानेसे प्रारब्ध कर्मों तथा उनके भोगोंसे भी ज्ञानी असंग हो जाता है। अतः सभी कर्मोंसे ज्ञानी रहित हो जाता है।

२२

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥४।३८॥

ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला इस लोक में दूसरा कोई नहीं है क्योंकि ज्ञानसे उस सर्व अनर्थोंकी मूल अविद्यारूपमलका सहज हीमें अत्यन्ताभाव हो जाता है जिसको नाश करनेमें ज्ञानको छोड़कर समस्त साधन मिलकर भी समर्थ नहीं हो सकते जैसे शंकरके धनुषको जनकके दरबारमें भगवान रामको छोड़कर समस्त राजा मिलकर भी तोड़नेमें समर्थ नहीं हुए। क्रम योग द्वारा बहुत कालमें अन्तःकरण शुद्ध होने पर सद्गुरु द्वारा महावाक्योंका श्रवण करके मुमुक्षु स्वयं अपने शुद्ध अन्तःकरणमें जीव ब्रह्म की एकताका संशय विपर्यय रहित अनुभव करता है। अर्थात् स्वयं आवरण भंग हो जाता है जैसे जाग्रत हो जाने पर निद्रा तथा निद्रा जनित स्वप्न स्वयं समाप्त हो जाता है।

२३

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥४।३९॥

अश्रद्धालु पुरुषको ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। श्रद्धालु होनेपर भी प्रमाद करनेवालेको भी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः श्रद्धालुको प्रमाद छोड़कर श्रवण मनन निदिध्यासनमें तत्पर होना चाहिए। यदि साधनमें तत्पर भी है परन्तु अजितेन्द्रिय है तब भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अतः मुमुक्षुको श्रद्धावान, वैराग्यवान तथा वेदान्त श्रवण मनन निदिध्यासनमें तत्पर होकर मोक्षदायक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त होनेपर तुरन्त मोक्ष उसी प्रकार हो जाता है जैसे रस्सीके ज्ञानसे मिथ्या सर्पसे तथा जाग्रतके ज्ञानसे स्वप्नसे तुरन्त मुक्ति हो जाती है। नित्य निवृत्त बन्धकी निवृत्ति और नित्य

ाप्त ब्रह्मकी प्राप्तिको मोक्ष कहते हैं जो ज्ञानके बिना असम्भव है।

२४

योगसंन्यस्तकर्माणां ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४।४१॥

ईश्वरार्थ निष्काम कर्मों द्वारा जिसने समस्त र्म फलोंका त्याग कर दिया है तथा अन्तः-रण शुद्ध होनेपर अनात्मासे भिन्न आत्मा और मात्माकी एकता दर्शन रूप ज्ञान द्वारा जिसका शय अच्छी प्रकार नष्ट हो गया है अर्थात् सने भली प्रकार इन संशयोंका निर्णय कर लिया है कि देहोंसे आत्मा भिन्न है या अभिन्न , यदि भिन्न है तो कर्ता भोक्ता है या अकर्ता भोक्ता, यदि अकर्ता अभोक्ता है तो अनेक ौर परिच्छिन्न है अथवा एक और व्यापक , ब्रह्मसे आत्मा भिन्न है या अभिन्न है और दि अभिन्न है तो सदासे अभिन्न है या ज्ञान नेके पश्चात् अभिन्न होता है तथा दृश्य प्रपंच ार्य है या भ्रम है। उपरोक्त संशयोंसे रहित ात्मदर्शी कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म र्शन रूप ज्ञानाग्निसे सर्व कर्मोंको भस्म अर्थात् र्बीज कर देता है। इस कारण वह किसी र्मसे नहीं बँधता।

२५

योग युक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्व भूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥५।७॥

जिसने निष्काम कर्म योगके अभ्याससे ारीरको निषिद्ध कर्मोंसे रोक लिया है तथा न्द्रियोंकी विषयासक्तिको नष्ट कर दिया है और ध्यान योगसे अन्तःकरणको राग द्वेष तथा विपरीत भावनासे रहित कर लिया है तथा ज्ञान योग द्वारा अपनी आत्माको सर्वभूतोंमें उसी प्रकार व्यापक जान लिया है जैसे तरंगों में जल तथा भूषणोंमें स्वर्ण व्यापक होता है, वह तत्वज्ञानी कर्तापनके अभिमानसे शून्य होने के कारण कर्मोंसे नहीं बँधता, क्योंकि उसकी दृष्टिमें समस्त कर्म स्वप्नवत अविद्या मात्र हैं और आत्मा अधिष्ठान होनेसे असंग है।

२६

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥५।१६॥

जैसे जाग्रतके ज्ञानसे निद्राका नाश हो जाता है उसी प्रकार आत्मज्ञानसे जिनका अज्ञान नाश हो गया है उनका वह आत्म साक्षात्कारात्मक ज्ञान अज्ञान संशय भ्रमका उसी प्रकार अत्यन्ताभाव कर देता है जैसे सूर्य रात्रि का नाश करके दृश्यका स्पष्ट बोध करा देता है। जैसे सूर्यका काम केवल रात्रिको नाश करना है, अन्धकार नाश होते ही अन्धकारसे ढके हुए पदार्थ स्वतः प्रत्यक्ष हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मज्ञान अज्ञान संशय भ्रमको नाश कर देता है, अज्ञान संशय भ्रम नाश होते ही केवल आत्मा स्वयं प्रकाश रूपसे अपरोक्ष हो जाता है।

२७

तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ ५।१७ ॥

उस परमार्थ तत्व सच्चिदानन्द ब्रह्ममें जिनकी बुद्धि संशय विपर्ययसे रहित स्थित हो गई है

और जैसे अज्ञानीका देहमें आत्मभाव है उसी प्रकार सर्वाधिष्ठान परब्रह्म परमात्मामें जिसका संहज अभिमान हो गया है और तत्पद तथा त्वंपदके शोधन द्वारा जिसने अपनी कूटस्थ आत्माका सच्चिदानन्द ब्रह्मसे घटाकाश महाकाशवत मुख्य समानाधिकरण्य कर लिया है तथा जो आत्म भिन्न सर्व मिथ्या होनेसे केवल आत्मामें ही रत हैं और जिन्होंने ज्ञान द्वारा संसारके कारण रूप पापादि दोप नष्टकर दिये हैं, वे एकत्वदर्शी प्रारब्ध क्षय होनेपर फिर देह दृश्यका कभी दर्शन नहीं करते अर्थात वे जीवन्मुक्त ही विदेह मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

२८

विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥५।१८

अन्तिम शरीर धारी तत्त्वदर्शी पण्डितका लक्षण बतलाते हुए भगवान कृष्ण अर्जुनको निमित्त बनाकर जिज्ञासु भक्तोंको उपदेश कर रहे हैं कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विनीत सात्त्विक ब्राह्मणमें, रजोगुण युक्त गौ में और तमोगुण युक्त हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदिमें अर्थात् त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण सृष्टिमें तत्व दर्शी पण्डित समभावसे देखने वाले होते हैं। वे सात्विक राजस, तामस संसकारोंसे आत्म स्वरूप सच्चिनन्द ब्रह्मको निर्लेप असंग निर्विकार देखते हैं। जैसे लट्टुओंमें अनेकता और विपमता है परन्तु बिजली सम और एक है इसी प्रकार मायाकृत सात्विक, राजस, तामस उपाधियोंमें विपमता और अनेकता है परन्तु बिजलीवत अधिष्ठान स्वयं प्रकाश ब्रह्म सम और एक है तथा अ[illegible] निर्विकार है। जैसे सुनार जेवर में सोनेक[illegible] देखता है, नाम रूपका दाम नहीं देता[illegible] प्रकार पण्डित अस्ति भाति प्रियको ही दे[illegible] है और नाम रूपको तुच्छ मानता है। [illegible]

जैसे आकाश और प्रकाश असंग हो[illegible] गंगा, तालाब तथा नालियोंमें पवित्र या [illegible] नहीं हो जाते, सर्वत्र निर्लेप असंग रहते हैं, [illegible] प्रकार पण्डितकी दृष्टिमें आत्म स्वरूप स[illegible] दानन्द ब्रह्म सर्वत्र असंग निर्लेप है। [illegible] स्वरूप ब्रह्मकी असंगताका प्रधान कारण य[illegible] कि त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण प्रपंच स्वप्नवत [illegible] रज्जु सर्पवत अध्यस्त है और घटाकाश[illegible] आत्मासे महाकाशवत अभिन्न सच्चिदा[illegible] अद्वय ब्रह्म सर्व प्रपंचका अधिष्ठान है। [illegible] अध्यस्तसे अधिष्ठान कदापि विकारी नहीं[illegible] सकता।

२६

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥[illegible]

जो अज्ञानी जीव देहाभिमानी हैं वे [illegible] पुत्र धनादिकी प्राप्तिमें फूले नहीं समाते [illegible] अप्रिय मृत्यु आदिकी प्राप्तिमें महान वि[illegible] करते हैं। परन्तु जिन तत्वदर्शी विद्वानोंने श्रु[illegible] और युक्तिसे प्रमाणगत तथा प्रमेयगत स[illegible] से रहित होकर अपनी बुद्धिको अद्वैत ब्र[illegible] स्थिर कर लिया है तथा ब्रह्म साक्षात्का[illegible] अज्ञान नष्ट कर लिया है वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष [illegible] ब्रह्ममें ही आत्मभाव रखते हैं। वे तत्वद[illegible]

अप्रियकी प्राप्तिमें हर्षित और अप्रियकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होते क्योंकि जैसे स्वप्नके प्रिय अप्रिय पदार्थ जाग्रत पुरुषके पास पहुँच ही नहीं सकते उसी प्रकार परमार्थ दृष्टिसे तत्वदर्शीके आत्म स्वरूपमें व्यावहारिक प्रिय अप्रियका अत्यन्ताभाव है तथा व्यावहारिक दृष्टिसे प्रिय या अप्रिय सम्पूर्ण पदार्थ मय कर्ता भोक्ताके ज्ञानसे बाधित हो जाते हैं।

३०

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्ष परायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥५।२८

जिसने इन्द्रियों, मन तथा बुद्धिको अपने वशमें कर लिया है अर्थात अन्तःकरणको निष्काम कर्म, उपासना, ज्ञानसे मल विक्षेप आवरणसे रहित कर लिया है और जैसे अविद्या से मोहित जीव स्त्री पुत्रादि गौणात्माका तथा पंचकोश मिथ्यात्माका स्वाभाविक अभेद चिन्तन किया करते हैं उसी प्रकार जो पंचकोशों के साक्षी परमात्माका आत्मरूपसे मनन करने वाला है और विषय सुखको आत्माभास जान लेनेके कारण विषय सुखकी तृष्णासे रहित है तथा समस्त द्वैत प्रपंचको स्वप्नवत अविद्याका परिणाम चेतनका विवर्त जान लेनेसे तथा आत्माको निर्द्वैत सच्चिदानन्दघन अपरोक्ष कर लेनेसे जो भय क्रोधसे रहित हो गया है वह शरीरके प्रारब्ध पर्यन्त होते हुए भी जीवन्मुक्त है क्योंकि देह दृश्यको मृगजलवत प्रतीतिमात्र जानता है।

३१

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६-५।

जैसे शौच, भोजन स्वयं करना पड़ता है उसी प्रकार अपनी मुक्तिके साधन स्वयं करने होंगे। संसार सागरमें डूबे हुए जीवात्माका पुत्रादि उद्धार नहीं कर सकते इस कारण उद्धार करनेवाला अपना शुद्ध मन ही बन्धु है और संसार सागरमें डुबानेवाला अशुद्ध मन ही अपना शत्रु है, क्योंकि मनसे भिन्न दूसरे शत्रु संसार सागरमें डुबानेमें समर्थ नहीं है। अतः वैराग्य अभ्यास द्वारा ईश्वर कृपासे मनुष्य शरीर तथा सत्संग पाकर जन्म-मरणसे अपना उद्धार कर लेना चाहिये, रागद्वेषके वशीभूत होकर चौरासी लक्ष योनियोंमें अपने आपको नहीं गिराना चाहिए।

३२

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६-६॥

भगवान कृष्ण अर्जुनको निमित्त बनाकर मुमुक्षुजनोंको उपदेश दे रहे हैं कि वह मन अपना बन्धु है जिसके द्वारा कार्य कारण संघात रूप आत्मा जीत लिया गया अर्थात् पाप, विषयासक्ति तथा अविद्याका त्याग कर दिया गया। जिस विषयासक्त मनके द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की गई वह अशुद्ध मन ही अपना शत्रु है जो अपना अकल्याण करनेमें ही सदा प्रवृत्त रहता है। भक्ति वैराग्य ज्ञानसे युक्त मनको बन्धु कहने का कारण यह है कि ज्ञान द्वारा नर नारायण हो जाता है तथा

विषयासक्त मनको शत्रु कहने का कारण यह है कि पापों और विषयासक्तिके कारण जीवको नरकों तथा शूकर कूकर नीच योनियोंकी बार बार प्राप्ति होती है ।

३३

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥६-८॥

जो योगी ज्ञान विज्ञानसे तृप्त हो अर्थात श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हो वह ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा है । प्रमाणगत, प्रमेयगत संशयसे रहित शास्त्रज्ञको श्रोत्रिय कहते हैं और तीनों देहोंके अभिमानसे शून्य तथा सर्वाधिष्ठान साक्षी सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें सहज आत्मभाव से युक्तको ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं । ब्रह्म साक्षात्कारसे जिसकी जाननेकी कांक्षा समाप्त हो गई हो उसको तृप्त कहते हैं । जैसे घट उपाधिसे घट उपहित आकाश असंग निर्विकार होता है उसी प्रकार जो अपने निज स्वरूप अन्तःकरण उपहित साक्षी चेतनको पंचकोशोंसे कूट (लोहारकी निहाई) वत असंग निर्विकार जानता है और जिसकी इन्द्रियाँ विषयासक्तिसे शून्य है तथा जो अध्यस्त मिट्टी पत्थर, स्वर्णको समान मिथ्या अथवा अधिष्ठान ब्रह्मरूप देखता है वह योगी युक्त अर्थात जीवन्मुक्त है ।

३४

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥६-२५॥

भगवान कृष्ण योगकी परमविधि बतला रहे हैं कि सात्त्विक धारणासे युक्त बुद्धि। मनको क्षण भंगुर दृश्यसे उपराम करके। स्वरूप सच्चिदानन्द घन व्यापक आ लगावे अर्थात अधिष्ठान होनेसे सर्व आत्म है आत्मासे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं निश्चय करे तथा आत्मासे भिन्न सर्व मि होनेसे किसी वस्तुका भी चिन्तवन न क जैसे जाग्रत अवस्थामें तुच्छ स्वप्नका चिन्त छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार पंचकोशा तीनों अवस्थाओंका साक्षी निर्द्वैत सच्चिदा घन आत्मा मैं हूँ ऐसा निश्चय करके स स्थूल सूक्ष्म कारण प्रपंचका बाध कर चाहिए जैसे रज्जुका ज्ञान होने पर रज्जुम बाध कर दिया जाता है अर्थात मिथ्या नि कर लिया जाता है ।

३५

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६-

भगवान कृष्ण योगका परम फल बत हुए उपदेश दे रहे हैं कि योगयुक्त सम अपने निज स्वरूप अनादि अनन्त सच्चिद आत्माको सर्व प्रपंचका अधिष्ठान जानता इस कारण जैसे रज्जुमें अध्यस्त सर्प, दण् प्रतीत होते हैं और उन अध्यस्त सर्प दण् में रस्सी व्यापक है उसी प्रकार समदर्शी अपनी आत्माको सर्वभूतोंमें व्यापक तथा भूतोंको आत्मामें अध्यस्त देखता है परमात्माको ही आत्मा जानने वाला योगी से भिन्न किसीकी सत्ता स्वीकार नहीं क

सर्व देशी, अविनाशी तथा विवर्तरूपसे सर्वरूप होनेसे अपनी आत्माको देश, काल, वस्तुके अन्तसे रहित व्यापक जानता है।

३६

योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६-३०॥

जैसे सर्व घटाकाशोंकी आत्मा महाकाश है उसी प्रकार सर्व जीवोंकी आत्मा भगवान कृष्ण हैं। अतः भगवान कृष्ण उपदेश दे रहे हैं कि मुझ सच्चिदानन्द सर्वात्मा ब्रह्मको जो समदर्शी सम्पूर्ण प्रपंचमें व्यापक देखता है और स्वप्नवत सम्पूर्ण प्रपंचको मुझ साक्षी सर्वाधिष्ठान परमेश्वरमें अध्यस्त देखता है उसको मेरा स्वरूप परोक्ष नहीं होता तथा वह समदर्शी भी मुझ ब्रह्मसे परोक्ष नहीं होता क्योंकि घटाकाश महाकाशवत आत्मा और मुझ परमात्मामें अभेद है, भेद अविद्या जनित है। अतः अविद्या नाश होते ही भेद भ्रान्ति सदाके लिए नष्ट हो जाती है।

३७

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥६ ३२॥

जिस ज्ञानवान योगीने अपने दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति कर ली है परन्तु दूसरोंके दुःख सुखकी परवाह नहीं करता उस ब्रह्म निष्ठ योगीसे वह शीलवान तत्त्वदर्शी योगी श्रेष्ठ है जो दूसरोंके दुःखकी निवृत्ति तथा सुखकी प्राप्तिके लिये सदा सर्व प्रकारसे यत्न करता रहता है क्योंकि वह अपने दुःख सुखके समान ही दूसरोंके दुःख-सुख समझता है अर्थात वह सदा ध्यान रखता है कि अपने ही भाँति दुःख सबको अप्रिय तथा सुख सबको प्रिय है। इस कारण वह किसीको दुख नहीं देता बल्कि दुःख दूर करनेका तथा सुख देनेका यत्न करता है। इस प्रकारका अहिंसक शीलवान ब्रह्मनिष्ठ योगी सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसा भगवान कृष्ण अपना मत बतलाते हैं।

३८

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥७-२॥

जैसे नदी पार करने वाले दस पुरुषोंमें गिनने वाले दशम पुरुषको अपनेको न गिनने के कारण जब यह भ्रम हो गया कि दसवाँ डूब गया तो किसी महापुरुषने उसको दशम पुरुषके ज्ञानका उपदेश दिया कि घबड़ाओ मत दशम पुरुष है डूबा नहीं। तब दशम पुरुषको दशम पुरुषका परोक्ष ज्ञान हुआ और असत्त्वापादक आवरण निवृत्त हो गया। जब उस महापुरुषने दशम पुरुषके विज्ञानका उसको उपदेश किया कि नौको गिननेवाले तुम्हीं दशम पुरुष हो तब उसको दशम पुरुषका अपरोक्ष ज्ञान भी हुआ कि मैं ही दशम पुरुष हूँ और उसका अभाना-पादक आवरण भी निवृत्त होने से वह शोकसे मुक्त हो गया। इसी प्रकार अर्जुनके शोक मोह दूर करने के लिए भगवान कृष्ण कहते हैं कि मैं तुझसे यह ज्ञान विज्ञान सहित सम्पूर्ण कहूँगा क्योंकि बिना ज्ञान विज्ञानके असत्त्वापादक तथा अभानापादक आवरण नष्ट नहीं होते और आवरण नष्ट न होने पर शोक मोहकी निवृत्ति

नहीं हो सकती। मुझ सच्चिदानन्द सर्वात्मा सर्वाधिष्ठान परमेश्वरके ज्ञान विज्ञानके द्वारा दोनों आवरण भंग होने पर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता अर्थात वह कृतकृत्य हो जाता है।

३९

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७–७॥

चूँकि सम्पूर्ण दृश्यका कारण परा अपरा प्रकृतियोंका मैं पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द ब्रह्म अधिष्ठान हूँ अतः हे अर्जुन! मुझसे अतिरिक्त दूसरा कुछ न था, न है, न होगा। सूत्रमें सूत्रकी मणियोंकी भाँति सम्पूर्ण जगत मुझमें पिरोया हुआ है अर्थात मेरे आश्रित है क्योंकि कार्य कारण प्रपंच अध्यस्त है और मैं परमेश्वर अधिष्ठान हूँ। जैसे सूतका सर्व मणियोंमें अन्वय है और मणियोंका परस्पर व्यभिचार है तथा सूत एक और व्यापक है परन्तु मणियाँ नाना और परिच्छिन्न हैं, उसी प्रकार मुझ एक सच्चिदानन्द व्यापक परमात्माका सम्पूर्ण भूत प्राणियोंमें अन्वय है तथा नाना परिच्छिन्न भूत प्राणियोंका परस्पर व्यभिचार है। अतः केवल मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म सत्य हूँ तथा मेरे अतिरिक्त सर्व जगत स्वप्नवत मिथ्या है क्योंकि व्यभिचारी पदार्थ सत्य नहीं हो सकता।

४०

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥७–१७॥

आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चार प्रकारके भक्तोंमें भगवान कृष्ण ज्ञानीको विशे[illegible] बताते हैं, क्योंकि ज्ञानी मुझ परमात्मा[illegible] निष्काम होनेसे उसी प्रकार नित्य स्थित रह[illegible] है जैसे घटाकाश महाकाशमें नित्य स्थित रह[illegible] है तथा ज्ञानी मुझ परमात्माके अतिरि[illegible] त्रिलोकीको स्वप्नवत भ्रममात्र जानता है इ[illegible] कारण वह तत्वज्ञानी मेरा अनन्य भक्त हो[illegible] है क्योंकि उसकी दृष्टिमें मैं वासुदेव ही सर्वरू[illegible] हूँ जैसे स्वर्ण भूषणोंके रूपमें तथा जल तरं[illegible] बुदबुदोंके रूपमें प्रतीत होता है। ज्ञानी मुझ[illegible] ब्रह्मको ही अपनी आत्मा जानता है इस कार[illegible] ज्ञानीको मैं परम प्रिय हूँ तथा अन्य तीन भक्[illegible] मुझको अपनेसे भिन्न जानते हैं इस कार[illegible] उनको मुझसे गौण प्रेम होता है क्यों[illegible] आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें गौण प्रेम होता है[illegible] चूँकि ज्ञानी अपनी आत्माको ब्रह्म जानता है[illegible] अतः ज्ञानी भी मुझे परम प्रिय है क्योंकि ज्ञा[illegible] मेरी आत्मा है। अर्थात ज्ञानी और मु[illegible] परमात्मा कृष्णमें अभेद है।

४१

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥७–१८॥

भगवान कृष्णका कहना है कि मुझ[illegible] श्रद्धा रखनेके कारण आर्त, अर्थार्थी औ[illegible] जिज्ञासु भक्त भी उत्तम हैं परन्तु ज्ञानी तो[illegible] मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है। इस कार[illegible] अन्य तीनों भक्त प्रिय हैं और ज्ञानी अत्यन्[illegible] प्रिय है क्योंकि आत्मामें सबको मुख्य प्रे[illegible] होता है। यद्यपि मैं सभी जीवोंकी आत्मा[illegible]

परन्तु अज्ञान रूप मायासे मोहित होनेके कारण अपने स्वरूपको तथा मेरे स्वरूपको तथा जगत के स्वरूपको नहीं जानते और अनात्माको ही आत्मा माना करते हैं और मुझमें भेद बुद्धि रखते हैं। गज, द्रौपदीकी भाँति श्रद्धालु आर्त भक्त, ध्रुवकी भाँति श्रद्धालु अर्थार्थी भक्त तथा प्रह्लादकी भाँति जिज्ञासु भक्त भी ज्ञानी भक्त बनकर मुझे अत्यन्त प्रिय हो जाते हैं अतः वे भी श्रेष्ठ हैं। परन्तु ज्ञानी भक्त मेरा स्वरूप उसी प्रकार बन चुका है जैसे नदी समुद्रमें पहुँच कर समुद्र बन जाती है। जैसे सब नदियों की उत्तम गति समुद्र हो जाना है उसी प्रकार सब जीवोंकी उत्तम गति स्वरूप मैं ब्रह्म हूँ जिसमें स्थिर बुद्धि ज्ञानी भक्त अच्छी प्रकार अभेद रूपसे स्थित है।

४२

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥७–१९॥

भगवान कृष्ण अन्तिम शरीर धारी ज्ञानी महात्माकी दुर्लभताका कथन कर रहे हैं कि असंख्य पवित्र जन्मोंमें साधन करते करते अन्तिम जन्ममें तत्व ज्ञानको प्राप्त करके ज्ञानी 'सर्व ब्रह्म है' इस प्रकार मेरा भजन करता है। जैसे रस्सीमें प्रतीत होनेवाले अध्यस्त सर्प, दंड माया आदि सबके सब रस्सी मात्र ही हैं अथवा मरुभूमिमें प्रतीत होनेवाला मृगजल मरुभूमि मात्र ही है उसी प्रकार ईश्वर, जीव तथा सम्पूर्ण जड़ जङ्गम जगत सर्व ब्रह्म मात्र ही हैं। ब्रह्मके अतिरिक्त न कुछ था न है और न होगा। इस प्रकारका ब्रह्मदर्शी ज्ञानी महात्मा चन्दन और पारसकी भाँति अति दुर्लभ है।

४३

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥८–१३॥

भगवान कृष्ण ध्यान योगीकी गतिका वर्णन कर रहे हैं कि जो ध्यान योगी मुझ ब्रह्मके वाचक एकाक्षर प्रणवको उच्चारण करता हुआ तथा मुझ वाच्य विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वरसे विश्व, तैजस, प्राज्ञका अभेद चिन्तवन करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है वह देवयान मार्गसे ब्रह्म लोक पहुँचकर मुक्त हो जाता है तथा पुनः शरीर धारण नहीं करता। प्रणवमें अकार विराटका वाचक है जिसमें विश्वका अन्तर्भाव है। समष्टि तीनों शरीरोंसे विशिष्ट चेतनको विराट कहते हैं। प्रणवमें उ कार हिरण्यगर्भका वाचक है जिसमें तैजसका अन्तर्भाव है। समष्टि सूक्ष्म, कारण दो शरीरोंसे विशिष्ट चेतनको हिरण्यगर्भ कहते हैं। प्रणवमें मकार ईश्वरका वाचक है जिसमें प्राज्ञका अन्तर्भाव है। समष्टि कारण शरीर मायासे विशिष्ट चेतनको ईश्वर कहते हैं। प्रणवमें अर्धमात्रा निरुपाधिक शुद्ध परमार्थ चेतनकी वाचक है जिसमें चतुर्थपाद कूटस्थ आत्माका अन्तर्भाव है। यदि ध्यान योगीका अन्त समयमें आवरण भंग हो गया तो विदेह मुक्तिको तुरन्त प्राप्त हो जाता है ब्रह्मलोक नहीं जाना पड़ता। यदि किसी प्रतिबन्धके कारण अन्त समयमें आवरण भंग नहीं हुआ तो ब्रह्मलोक पहुँच कर वहाँ

उसका आवरण भंग हो जाता है और वहाँकी आयु समाप्त करके विदेह कैवल्यको प्राप्त हो जाता है। दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानी किसी प्रकार शरीर त्याग करे वह सदा मुक्त है। उसकी मुक्तिमें सन्देह नहीं।

४४

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥८-१५॥

भगवान कृष्ण अपने स्वरूपकी प्राप्तिका महत्व वर्णन कर रहे हैं कि मोक्षरूप परमसिद्धि को प्राप्त हुए अन्तिम शरीरधारी एकत्वदर्शी महात्माजन मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्मको ही आत्मा रूपसे संशय विपर्यय रहित होकर जानकर पुन-र्जन्मको प्राप्त नहीं होते जो अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म त्रिविध दुःखोंका आलय और क्षण-भंगुर है। नित्य प्राप्त सर्वात्मा सच्चिदानन्द ब्रह्म अज्ञानके कारण अनादि कालसे जीवको अप्राप्त है जिसके कारण देह दृश्यमें अहंता ममतापूर्वक राग-द्वेष किया करता है। राग द्वेषके कारण देहाभिमानी जीव प्रायः पापोंमें रत रहता है और जब कभी पुण्य करता है तो सकाम करता है। अतः पाप तथा सकाम पुण्य के फलको भोगनेके लिए बराबर जन्म धारण किया करता है जो त्रिविध दुःखोंका भंडार है। जिस महात्माने परमात्माका साक्षात्कार कर लिया उसके संचित कर्म अविद्याके नाश हो जानेके कारण स्वरूपसे नाश हो जाते हैं तथा प्रारब्ध कर्म भोग देकर समाप्त हो जाते हैं और क्रियमाण कर्म कर्तापनके अभिमानके बाधित हो जानेके कारण भुने बीजकी भाँति जन्म अंकुर देनेमें असमर्थ हो जाते हैं। अतः ब्र निष्ठ महात्मा शरीर त्याग करके पुनः कहीं शरीर धारण नहीं कर सकता क्योंकि उस समस्त कर्म क्षीण हो चुके हैं।

४५

अव्यक्तोऽक्षरः इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥८-२१॥

कार्य जगत तथा कारण अविद्यासे वि क्षण मैं परमात्मा अव्यक्त और अक्षर कहला हूँ क्योंकि मेरा स्वरूप मन इन्द्रियोंका अवि तथा देश काल वस्तुके परिच्छेदसे रहित होने अनन्त है। मेरे इस अद्वितीय अनादि अन परमार्थ स्वरूपको परमगति भी कहते हैं क्यों मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप परमगतिको प्र करनेके पश्चात् जीवको लौटना नहीं पड़ अर्थात् पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता मेरे इस अनादि अनन्त परमार्थ स्वरूप ब्रह्म मुझ विष्णुका परमधाम भी कहते हैं। तरंगोंका परमधाम जल है अथवा घटाकाशों परमधाम महाकाश है उसी प्रकार मुझ वि का परमधाम ही सब जीवोंका भी परमधाम है

४६

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥९-२॥

भगवान कृष्ण ब्रह्मज्ञानकी महिमाका उ देश कर रहे हैं कि यह अध्यात्म ज्ञान अवि का नाशक होनेसे सब विद्याओंका राजा क्योंकि ब्रह्मज्ञानको छोड़कर समस्त विद्या

मिलकर भी अविद्याको नाश करनेमें समर्थ नहीं रन्तु ब्रह्मज्ञान किसीकी सहायताके बिना ही केले ही अविद्याको नाश करनेमें उसी प्रकार मर्थ है जैसे सूर्य अकेले ही चन्द्रमा तारोंकी हायताके बिना ही रात्रि नाश करनेमें समर्थ है। ह्म ज्ञान सब गोपनीयोंका भी राजा है क्योंकि वल श्रद्धालु मुमुक्षुको ही यह ब्रह्मज्ञान देने ोग्य है। मन बुद्धिके परे परम गूढ़तत्व ब्रह्मका परोक्ष करानेवाला होनेसे भी इस ब्रह्मज्ञानको ब गोपनीयोंका राजा कहते हैं। अनन्त जन्मों संचित कर्मों तथा महान मलिन देहाभिमान ो नाश करनेवाला होनेसे ब्रह्मज्ञानको पवित्र ौर उत्तम कहा गया है। नित्य अपरोक्ष ब्रह्म ो आत्मरूपसे प्रत्यक्ष प्राप्ति करानेवाला होनेसे ब्रह्मज्ञान प्रत्यक्ष फलवाला तथा धर्मयुक्त है। त्नोंके विवेक विज्ञानकी भाँति ब्रह्मज्ञान समझने ो सरल है और इसका फल अविनाशी है अर्थात् नित्य मोक्ष है।

४७

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९-९॥

भगवान कृष्ण कर्मोंसे निर्लेप रहनेका कारण बतला रहे हैं कि मुझको समस्त कर्म बन्धनके कारण नहीं हो सकते क्योंकि मैं कर्तापन के अभिमानसे रहित होनेसे कर्मोंमें उदासीनवत स्थित रहता हूँ तथा अभोक्ता होनेसे कर्मफल भोगनेकी आसक्तिसे रहित हूँ। अर्थात् जो कोई मनुष्य मेरी भाँति कर्ता भोक्तापनके अभिमानसे रहित हो जावेगा वह कर्म बन्धनसे मुक्त हो जाता है। आसक्ति और कर्तापनका अभिमान ही कर्म बन्धनका कारण है। परमार्थ दृष्टिसे आत्मा अकर्ता अभोक्ता है। परन्तु जैसे लाल पुष्पकी लालामी स्फटिक मणिमें प्रतीत होने लगती है उसी प्रकार अन्तःकरणके धर्म कर्ता भोक्तापन आत्मामें प्रतीत होते हैं। अविद्यासे मोहित जीव अन्तःकरणोंके धर्मोंको आत्मामें प्रतीत होनेसे आत्माके ही धर्म मान लेते हैं। जिसके कारण स्वप्नवत कर्मबन्धनसे वे मुक्त नहीं हो सकते।

४८

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ -१५।

भगवान कृष्ण उपासनाके प्रथक-प्रथक भेद बतलाते हुए उपदेश करते हैं कि कोई तो मेरी ज्ञान यज्ञसे पूजा करता है अर्थात उसकी दृष्टि में मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। वह जगतको मृगजल व स्वप्नकी भाँति भ्रममात्र अन हुआ जानता है। मुझ ब्रह्मको ही अपनी आत्मा उसी प्रकार समझता है जैसे घटाकाश की आत्मा महाकाश है तथा धानकी आत्मा चावल है। मुझ विराट स्वरूप परमात्माको कोई एकत्व भावसे भजते हैं अर्थात उनका निश्चय होता है कि समस्त सूर्य चन्द्रादि नाम रूपोंको मुझ वासुदेवने ही ग्रहण किया है। अतः वे विश्व रूपसे मेरा ही दर्शन किया करते हैं। कोई भेद उपासक इस रहस्य को न जानकर मुझ सर्व रूप परमेश्वरमें भेद दृष्टि रखते हैं। अर्थात शिव, विष्णु, सूर्य चन्द्रादिमें परस्पर भेद मानते हैं और किसी एकको ही

ईश्वर मानते हैं तथा दूसरोंको मुझ ईश्वरसे भिन्न जानते हैं। कोई कोई अनेक प्रकारसे देवी देवताओं की उपासना करते हैं।

४६

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ ०-२ ॥

भगवान कृष्ण अपने स्वरूपकी चिन्तवन विधि उत्तम अधिकारी को बता रहे हैं कि मैं सब भूतोंके हृदयमें आत्मा रूपसे उसी प्रकार स्थित हूँ जैसे आकाश सर्व घटोंमें स्थित है। अतः जैसे घटाकाश का महाकाशसे अभेद होता है उसी प्रकार उत्तम अधिकारीको मुझ सच्चिदानन्द व्यापक परमात्मासे अपना अभेद चिन्तवन करना चाहिए। मुझ परमात्मा का केवल आत्मासे ही अभेद नहीं है बल्कि समस्त भूतों से भी अभेद है क्योंकि जैसे तरंगोंका अथवा भूषणोंका आदि-मध्य-अन्त जल व स्वर्णमें होता है उसी प्रकार सर्व भूतोंका विवर्तोपादान कारण होनेसे सबका आदि-अन्त-मध्य मैं ही हूँ। अतः मैं वासुदेव ही सर्व हूँ, मुझसे भिन्न कुछ नहीं, इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिए।

५०

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥१०-३२॥

हे अर्जुन समस्त सृष्टियोंका आदि अन्त मध्य मैं हूँ। अर्थात जैसे स्वप्न साक्षीमें स्वप्न जगत उत्पन्न होता है, स्थित होता है और लय हो जाता है, उसी प्रकार मुझ जाग्रत साक्षी सच्चिदानन्द ब्रह्ममें समस्त जगत स्वप्नवत मेरी मायासे उत्पन्न होता है, स्थित रहता है लीन हो जाता है। मैं समस्त विद्याओंमें देने वाली अध्यात्म विद्या हूँ। वक्ताओं बोले जाने वाले वाद, जल्प तथा वितंडामें निर्णय रूप फल वाला होनेसे गुरु शि[illegible] वाद मैं हूँ। प्रमाण तर्कसे हार जीतकी रखकर अपने पक्षका मंडन तथा दूसरे खंडन जल्प कहलाता है। अपना कोई न रखकर दूसरे पक्ष का खंडन करना कहलाता है।

५१

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

भगवान कृष्ण अपने व्यापकताका करते हुए अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं अर्जुन जैसे स्वप्नके बहुत ज्ञानसे भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि स्वप्न मात्र है उसी प्रकार कार्य कारण रूप चराचर मिथ्या प्रपंचको जान लेनेसे उत्तम अधिकारीका कोई लाभ नहीं हो जैसे आकाशके एक अंशमें नीलमा उसी प्रकार मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्मके एक में सम्पूर्ण प्रपंच अविद्यासे कल्पित है। पृथ्वीके एक अंशमें सम्पूर्ण घट स्थित प्रकार मुझ अखंड अनन्त सच्चिदानन्द एक अंशमें सम्पूर्ण जगतकी स्वप्नवत उ स्थिति, प्रलय हुआ करती है। अर्थात मात्मा ही मायासे अनेक रूप होता हु निर्विकार एक रस अद्वैत हूँ।

५२

न तु मां शक्यसे द्रष्टमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥११-८॥

भगवान कृष्णकी विभूतियोंका वर्णन नकर अर्जुनको भगवानके ऐश्वर्यमय विश्व पके दर्शनकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई । अतः गवान कृष्णने अर्जुनसे कहा कि मेरी अघ-त घटना सामर्थ्यसे रचित मेरा विश्व रूप इन ौकिक नेत्रोंसे तू उसी प्रकार यथार्थ रूपसे हीं देख सकेगा जैसे स्वप्न नर अपने स्वप्न त्रोंसे स्वप्न दृष्टाके अनिर्वचनीय स्वप्न विश्व पको सम्यक रूपसे नहीं देख सकता । इस रण मैं तुझ जिज्ञासु भक्तको अलौकिक नात्मक नेत्र देता हूँ जिससे तू मेरी सदसत लक्षण अचिन्त्य सामर्थ्य को देख कि मैं ही पनी माया द्वारा अखिल प्रपंचका अभिन्न मित्तोपादान कारण बन सा जाता हूं ।

५३

अनेक वक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥११-१०॥

संजय धृतराष्ट्रसे अर्जुन द्वारा देखे हुए गवान कृष्णके विराट रूपका वर्णन कर रहे कि भगवानके विराट रूपको अनन्त मुख, त्रोंसे युक्त तथा अनिर्वचनीय होनेसे आश्चर्य राने वाले दर्शनोंसे युक्त, अलौकिक अर्थात कल्प रचित अपरिमित आभूषणोंसे तथा दिव्य त्रोंसे युक्त अर्जुन ने देखा । नटके अनेक चित्र वेषोंको देखकर दर्शकों को आश्चर्य होने गता है फिर भगवान कृष्णके मायिक विश्व रूपको देखकर अर्जुनका चकित होना स्वाभाविक ही है ।

५४

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११-११॥

भगवान कृष्णके विराट रूपका दर्शन करते हुए अर्जुन देख रहे हैं कि भगवानने अपनी योगमायासे माया मात्र अलौकिक पुष्प मालाओंको तथा वस्त्रोंको धारण कर रक्खा है और दिव्य गन्धका अनुलेपन कर रक्खा है । अर्जुनने योगेश्वर भगवान कृष्णके विराट रूप को समस्त आश्चर्योंसे युक्त देखा जो देश काल वस्तुके परिच्छेदसे रहित होनेसे परमार्थ दृष्टिसे नित्य है और सर्वात्मा होनेसे सर्व ओर मुखवाला है । जैसे रज्जु अपना मायिक स्वरूप सर्प दिखला कर दृष्टाको स्तब्ध कर देती है इसी प्रकार भगवानने अपने मायिक विराट रूपको दिखलाकर अर्जुनको रोमांचित कर दिया ।

५५

अनेक बाहूदर वक्त्र नेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्त रूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं ।
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥११-१६॥

अर्जुन भगवान कृष्णके विश्वरूपका दर्शन करते हुए भगवानकी स्तुति कर रहे हैं कि हे जगत रूप जगदीश्वर ! आपके शरीरमें अनेकों भुजायें उदर, मुख और नेत्र हैं । आपके सर्वत्र अनन्त रूप हैं । मुझे आपका न अन्त दिख-लाई देता है, न मध्य दिखलाई देता है और न

आदि दिखलाई देता है क्योंकि आप अनादि अनन्त हैं तथा आप विश्वके कर्त्ता और विश्व रूप भी हैं। आप सर्व दृश्यके कारण हैं और आपका कारण कोई नहीं इसलिए आप अनादि हैं। आप सर्वदेशी, अविनाशी तथा विवर्त रूपसे सर्वरूप हैं अतः देशकाल वस्तुके परिच्छेदसे रहित होनेसे आप अनन्त हैं। जैसे निद्रा द्वारा स्वप्न दृष्टा स्वप्नका कर्ता और स्वप्न रूप है उसी प्रकार माया द्वारा आप जाग्रत जगतके कर्ता और जगत रूप भी हैं।

५६

त्वमादि देवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्त रूप ॥११-३८॥

भगवान कृष्णकी सर्वात्मताका वर्णन करते हुए अर्जुन कह रहे हैं कि हे अनन्त अद्वितीय परमात्मन्! आप जगतके कारण होनेसे आदि, स्वयं प्रकाश होनेसे देव, अस्ति भाति प्रियरूपसे पूर्ण होनेसे पुरुष और सनातन होनेसे पुराण हो तथा जगतके लय स्थान हो जैसे तरंगोंका लय स्थान जल होता है। आप सर्वके ज्ञाता तथा ज्ञेय भी हैं। जो ज्ञाता ज्ञेयसे परे ज्ञाता ज्ञेयका अधिष्ठान नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव, निर्विशेष निर्द्वैत, आनन्दैक रस परब्रह्म है वह भी आप ही हैं। जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प, दण्डादि रज्जुसे व्याप्त होते हैं उसी प्रकार समस्त भ्रमात्मक प्रपंच आपसे व्याप्त हो रहा है। अतः सब आप ही हैं क्योंकि अध्यस्त अधिष्ठान रूप होता है।

५७

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥११-

भगवान कृष्ण अर्जुनको निमित्त क[illegible] जिज्ञासु भक्तोंको अपने निर्विशेष ब्रह्म स्व[illegible] साक्षात्कारका साधन बतलाते हुए उपदे[illegible] रहे हैं कि मेरे परमार्थ स्वरूपका अव्यभि[illegible] अखंड भक्तिसे शास्त्रों द्वारा संशय रहित हो सकता है तथा साक्षात्कार भी हो सक[illegible] और विदेह मोक्ष भी प्राप्त करनेमें साधक [illegible] हो जाता है क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार हो[illegible] प्रारब्ध क्षय होनेके पश्चात् घट टूटनेपर घट[illegible] की भाँति जीव महाकाशरूप ब्रह्म हो जाता है पुनः शरीर धारण नहीं करता क्योंकि [illegible] कारण अज्ञानका अत्यन्ताभाव हो जाता है अज्ञान रूपी शत्रुको तपानेमें समर्थ है परंतप है।

सविशेष विश्वरूप ब्रह्मकी अव्यभिचा[illegible] धारणासे उपासना करना कि मेरे सहित [illegible] है अनन्य भक्ति कहलाती है।

५८

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥१२-

भगवान कृष्ण ज्ञानी भक्तकी दु[illegible] बतलाते हुए कह रहे हैं कि जो मुमुक्षु [illegible] भक्त वाणी, मन तथा बुद्धिके अविषय, [illegible] अनन्त, अनिर्वचनीय, सर्व व्यापक, [illegible] सदा निर्विकार अथवा माया रूप कूटमें अ[illegible] होनेसे नित्य स्थित, निष्क्रिय, एकरस स[illegible]

नन्द निर्विशेष ब्रह्मकी उपासना करता है वह मुझ निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होकर पुनः शरीर धारण नहीं करता। अतः तीव्र मुमुक्षुको निर्गुण ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए। परन्तु निर्गुण ब्रह्मकी उपासना मन्द बुद्धि वालोंको कठिन है। अतः मन्द बुद्धिवालोंको सगुण ब्रह्म की उपासना युक्ततम है। विवेक वैराग्य षट सम्पत्ति मुमुक्षुता चतुष्टय साधनसे सम्पन्न जिज्ञासुओंको विदेह मोक्षके लिए निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही युक्ततम है।

५९

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥१२-४॥

भगवान कृष्ण निर्गुण ब्रह्मके उपासकके सम्बन्धमें बतला रहे हैं कि जिन अक्षरोपासकोंने संसारमें सतबुद्धि और सुखबुद्धिका परित्याग कर देनेके कारण अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोक लिया है और जो सदा सुख दुःखमें समान रहते हैं अर्थात हर्ष विषादसे रहित हो गये हैं और कृतकृत्य होकर मोह निद्रामें सोये हुए जीवोंको जगानेमें रत रहते हैं वे नदी समुद्रवत अभेद रूपसे मुझको ही प्राप्त होते हैं अर्थात मेरा स्वरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकारके ब्रह्मनिष्ट सन्त तो ब्रह्म रूप हैं। उनको युक्ततम या अयुक्ततम कुछ भी नहीं कह सकते।

६०

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२-१२॥

भगवान कृष्ण अर्जुनको निमित्त बनाकर श्रद्धालु भक्तोंको उपदेश दे रहे हैं कि श्रवण मनन निदिध्यासन रूप अभ्याससे साक्षात्कारात्मक ज्ञान श्रेष्ठ है क्योंकि अभ्यास हेतु और ज्ञान फल है। परन्तु विपरीत भावनासे युक्त शास्त्री ज्ञानसे विपरीत भावनाका नाशक ध्यान श्रेष्ठ है। परन्तु जो अशुद्ध अन्तःकरणवाले ध्यान करनेमें असमर्थ हैं उनको ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ हैं। ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्म करनेसे तुरन्त अन्तःकरण शुद्ध होकर सद्गुरुकी कृपासे ज्ञान हो जावेगा और ज्ञान होते ही ज्ञानी उसी प्रकार संसार दुःखोंसे मुक्त हो जाता है जैसे जाग्रतका ज्ञान होते ही जीव स्वप्न दुःखोंसे तुरन्त मुक्त हो जाता है।

६१

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२-१६॥

भगवान कृष्ण ब्रह्मनिष्ठ सन्तका लक्षण बतलाते हुए उपदेश दे रहे हैं कि मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्मको ही आत्मा जाननेवाला सन्त देहसे लेकर चिदाभास तक भोग्य, भोग, भोक्ता सर्वको स्वप्नवत मिथ्या जानकर जो मोक्षकी भी कामना नहीं करता क्योंकि बन्ध मोक्ष चिदाभासकी अवस्थायें हैं। ब्रह्मरूप आत्मा बन्ध मोक्षसे परे निर्द्वैत परमानन्द घन है। मलिन देहोंसे घटाकाशवत आत्माको असंग निर्लेप जाननेसे वह पवित्र है। शिष्यको अनेक प्रकारकी परिक्रियाओंसे शीघ्र बोध करानेमें कुशल होनेसे वह दक्ष है। कर्ममें अकर्म दर्शन करनेसे अर्थात आत्माको निष्क्रिय असंग साक्षी जाननेसे वह उदासीन है और पाप पुण्यमें संतप्त

नहीं होता क्योंकि देहाभिमान रहित है। वह सर्व कर्तव्योंसे शून्य कृतकृत्य जीवन्मुक्त भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है क्योंकि वह मेरी आत्माको ही अपनी आत्मा जानता है।

६२

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्यु जरा व्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।१३-८।।

भगवान कृष्ण ज्ञानके साधन बतलाते हुए अर्जुनको निमित्त बनाकर जिज्ञासुओंको उपदेश दे रहे हैं कि इन्द्रियोंके लौकिक भोगोंमें सुख बुद्धि और सत बुद्धिका अभाव, अहंकारके हेतु वर्ण, आश्रम, आचार, विद्याकुल, शील आदि के होने परभी उनको तुच्छ और अनात्म धर्म समझकर उनका अहंकार न करना। जन्ममें गर्भवास और योनि द्वारा बाहर निकलना रूप दोषको देखना तथा मृत्यु दुःखमय है, मरना दुःख है, बुढ़ापा और सब रोग दुख हैं इस प्रकार सबमें दोष देखना तथा अध्यात्म, अधि-दैव, अधिभूतके निमित्तसे होने वाले तीनों प्रकारके दुःखोंमें दोष देखना। दृश्यमें दोष दर्शन वैराग्यका साधन है और वैराग्य बिना किसीको कदापि ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। इस कारण दोष दर्शन ज्ञान का साधन है।

६३

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।१३-११।।

आत्मज्ञानमें निष्ठा करना अर्थात घटाकाश घट उपाधि नहीं घट उपहित है उसी प्रकार अन्तःकरणका ज्ञाता मैं आत्मा अन्तःकरण उपाधि नहीं अन्तःकरण उपहित हूं ऐसी नि[illegible] करना, तत्त्वज्ञानके अर्थ मोक्षका विचार कर[illegible] कि मोक्षका स्वरूप क्या हैं तथा मोक्षका साध[illegible] क्या है तथा मोक्ष क्यों आवश्यक है, इ[illegible] प्रकार मोक्षका विचार करने से मोक्षके साधनं में प्रवृत्ति होगी। मोक्षका स्वरूप न जानने [illegible] ही मोक्षके साधन ज्ञानमें प्रवृत्ति नहीं होती यदि मोक्षके स्वरूपका पता लग जाय कि स[illegible] दुःखोंके अत्यन्ताभाव तथा परमानन्द की प्रा[illegible] को मोक्ष कहते हैं। और मोक्षका मुख्य साध[illegible] आत्मज्ञान है और अमानित्व, अदम्भित[illegible] अहिंसा, क्षमा, आर्जव, गुरुभक्ति, शौच, धै[illegible] शम, दम, वैराग्य, अनहंकार, जन्म मृत्यु ज[illegible] व्याधिमें दोष दर्शन, आसक्ति तथा अहं[illegible] ममताका अभाव, समता, अनन्य भक्ति, एका[illegible] देशका सेवन करना, कुसंगसे दूर रहना, श्रव[illegible] मनन, निदिध्यासन, तत्पद और त्वंपद[illegible] शोधन आत्मज्ञानके साधन होनेसे ज्ञान कहला[illegible] हैं और उपर्युक्त अमानित्वादि गुणोंसे विपरी[illegible] मान बड़ाईकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोधा[illegible] दोष हैं वे सब अज्ञान ही हैं। अतः अज्ञान[illegible] सर्वथा त्याग करना चाहिए।

६४

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् । १३-१७।

भगवान कृष्ण ब्रह्मका स्वरूप, उसकी प्राप्तिका मुख्य साधन और उसकी उपलब्धिका स्थान बतलाते हुए उपदेश कर रहे हैं कि वह ब्रह्म बाह्य सूर्य आदि और भीतर बुद्धि आदि

ज्योतियोंका प्रकाशक है तथा संसारके बीज अज्ञानसे उसी प्रकार विलक्षण है जैसे स्वप्नके बीज निद्रासे स्वप्न साक्षी विलक्षण है क्योंकि ज्योति स्वरूप है। जिसने जाग्रतका अनुभव किया, जिसने स्वप्न देखा और जो सुखसे सोया वह मैं हूं। अतः आत्मा कार्य कारण प्रपंचसे भिन्न है दोनोंका साक्षी होनेसे। जैसे तप्त लोह पिण्ड अग्नि द्वारा दूसरेको जलाता है उसी प्रकार सूर्य तथा बुद्धि आदि भौतिक ज्योतियों का प्रकाशक स्वयं प्रकाश ब्रह्म है। अतः ब्रह्म चेतन है और जानने योग्य है क्योंकि जीवका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है जिसके अज्ञान पर्यन्त जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। जैसे स्वप्न पुरुषको जाग्रतकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय जाग्रतका ज्ञान है उसी प्रकार ब्रह्म प्राप्तिका एकमात्र नियत साधन ज्ञान है। जैसे सूर्यकी उपलब्धिका स्थान दर्पण है उसी प्रकार ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान हृदय हूँ। जैसे सूर्यकान्तमणिमें ही सूर्यका प्रकाश अग्नि रूपसे प्रकट होता है उसी प्रकार हृदय अर्थात अन्तःकरणमें ही ब्रह्मका अहं रूपसे प्राकट्य होता है।

६५

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।१३-२२।

स्वरूपके अविवेकसे ही पुरुषको संसारकी प्राप्ति होती है न कि स्वरूपसे। इस आशयसे पुरुषके स्वरूपका वर्णन भगवान कृष्ण कर रहे हैं कि शरीर रूपी यज्ञशालामें दश इन्द्रियाँ और पंच प्राण मिलकर पन्द्रह ऋत्विज हैं। सोलहवाँ मन यजवान है और सत्तरहवीं बुद्धि यजवानकी स्त्री है। अठारहवाँ सर्वसे परे, समीपस्थ तथा सबकी अपेक्षा अन्तरतम होनेसे पुरुष उपद्रष्टा है। अपने अपने व्यापारमें लगे हुए अन्तःकरण और इन्द्रियोंको उनका साक्षी होकर भी यह पुरुष कभी निवारण नहीं करता और स्पयं प्रवृत्त न होता हुआ भी उनके अनुकुल रहता है। इस कारण इस पुरुषको अनुमन्ता कहते हैं। अविद्यासे अपनेमें आरोपित सम्पूर्ण कार्य कारण प्रपंचको सत्ता स्फूर्ति प्रदान करने से यह पुरुष ही भर्ता है। जैसे अन्धकारको सूर्य निगल जाता है उसी प्रकार समस्त कार्य कारण प्रपंच को सम्यक बोध होने पर निगल जानेसे इस पुरुषको भोक्ता भी कहते हैं। अथवा अविद्यासे सुखी दुखी भासनेसे इस पुरुषको अविद्या पर्यन्त भोक्ता कहा जाता है। सम्पूर्ण जगत एक अंशमें स्थित होनेसे तथा सबका आत्मा होनेसे महा तथा स्वतंत्र और लौहे चुम्बकवत सर्व प्रवृत्तियों का हेतु होनेसे ईश्वर पुरुषको कहा जाता है। गौणात्मा स्त्री, पुत्र, धनादि तथा मिथ्यात्मा पंचकोशसे विलक्षण होनेसे पंचकोशोंके साक्षी पुरुषको परमात्मा रूप भी उसी प्रकार कहा जाता है जैसे घटाकाशको महाकाश रूप कहा जाता है। ऐसा सर्व दृश्यसे पर पुरुष कहाँ है? इस प्रश्नका समाधान भगवान कृष्ण कर रहे हैं कि वह पर पुरुष इसी शरीरमें ही आत्मा रूपसे विराजमान है जैसे महाकाश घटमें घटाकाश रूपसे विराजमान होता है। अर्जुन स्थानीय ऐ मुमुक्षुजनो! वही तुम हो।

६६

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्म योगेन चापरे ।१३-२४॥

भगवान कृष्ण उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारी मुमुक्षुओंको उनके अधिकारके अनुसार साधनोंका वर्णन करते हैं कि मल विक्षेप दोषोंसे रहित विवेक, वैराग्य, षट सम्पति, मुमुक्षुता चतुष्टय साधनसे सम्पन्न तथा श्रवण मनन द्वारा प्रमाणगत, प्रमेयगत संशयसे रहित उत्तम अधिकारी अनात्मा तीनों शरीरों तथा पंचकोशोंका बाध करके पंचकोशातीत अपनी आत्माको ब्रह्मरूपसे और ब्रह्मको आत्मा रूपसे सर्वदा भावना किया करते हैं अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिसे ब्रह्मको आत्म स्वरूपसे देखा करते हैं। परन्तु इस प्रकारके ध्यान करनेमें असमर्थ मध्यम अधिकारी सांख्य योगके द्वारा आत्मामें आत्माको देखते हैं अर्थात आत्मा और अनात्माका अध्यास निवृत्त करनेके लिये सदा वेदान्तका स्वाध्याय और विचार किया करते हैं। जो विक्षिप्त अन्तःकरण वाले तीसरी श्रेणीके अधिकारी वेदान्तका श्रवण मनन करनेमें असमर्थ हैं वे ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्म द्वारा विश्व रूप भगवानकी सेवा द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञान प्राप्तिके क्रमसे आत्मामें आत्माको देखते हैं अर्थात ब्रह्म रूपसे आत्माका साक्षात्कार करते हैं। जैसे कोई अपने मैले कपड़ोंमें साबुन लगा रहा है और जो साबुन लगा चुका है वह कपड़ोंको धो रहा है तथा जो धो चुका है वह अपने कपड़ोंको रंग रहा है। इसी प्रकार तीसरी श्रेणीका अधिकारी अन्तःकरणकी शुद्धि के लिए निष्काम कर्म कर रहा है तथा शुद्ध अन्तःकरण वाला द्वितीय श्रेणीका अधिका आत्मा अनात्माका अन्योन्याध्यास सांख्य द्वा दूर कर रहा है। परन्तु जो अध्यास भी दूर चुका है वह प्रथम श्रेणीवाला अधिकारी ब्रह्म कार वृत्ति द्वारा ब्रह्मको आत्मा रूपसे साक्षात्क कर रहा है। अर्थात जैसे अज्ञानीको देहों स्वाभाविक दृढ़ अभिमान होता है उसी प्रक वह उत्तम अधिकारी कार्य कारण प्रपंचसे शू अनादि अनन्त सच्चिदानन्द ब्रह्ममें आत्मभ दृढ़ किया करता है।

६७

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥१३-

भगवान कृष्ण समदर्शनका फल बतल हुए उपदेश दे रहे हैं कि जो सम्यक् ब्रह्मासे स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण स्थावर जं प्राणियोंमें आत्मासे अभिन्न अनादि अन परमात्माको सर्वाधिष्ठान होनेसे समान व्याप देखता है वह समदर्शी विषमदर्शी देहाभिमानि की भाँति अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करत इससे वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता और प मानन्द रूप ब्रह्मको उसी प्रकार अभेद रू प्राप्त हो जाता है जैसे घट फूटनेपर घटाका महाकाश रूप हो जाता है। इसीको परमग कहते हैं। जैसे स्वप्न पुरुष स्वप्न देहके होनेसे निद्रा दोषसे अपना ही नाश मानता परन्तु जागनेपर वही जाग्रत पुरुष स्वप्न देह निद्राजनित भ्रममात्र जानकर उसके जन्म ना को अपना जन्म नाश नहीं मानता उसी प्रक

ज्ञान होनेपर ब्रह्मज्ञानी अविद्याजनित भ्रम मात्र देहोंका जन्म और नाश भ्रमरूप जानता है परन्तु अज्ञानी देहोंके जन्म नाशको अपना ही जन्म नाश मानता है। इस कारण ज्ञानी मुक्त हो जाता है परन्तु अज्ञानी बद्ध रहता है।

६८

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३-३ ॥

आत्मा नित्य तथा अकर्ता अभोक्ता है। इस सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिए भगवान कृष्ण उपदेश दे रहे हैं कि कारणके नाशसे आदिमान कार्यका भी नाश होता है तथा गुणोंके नाशसे सगुण भूतोंका नाश हो जाता है, परन्तु अनादि तथा निर्गुण होनेसे आत्मा अविनाशी है। मिथ्या आत्मा पंच कोशोंका साक्षी होनेसे क्षेत्रज्ञको ही परमात्मा कहा गया है। अनादि होनेसे परमात्मा अविनाशी है तो अनादि होनेसे प्रकृतिको भी अविनाशी होना चाहिए? इस शंकाका समाधान करते हुए भगवान कृष्ण उपदेश कर रहे हैं कि प्रकृति अनादि तो है परन्तु निर्गुण नहीं है त्रिगुणात्मिका है। इस कारण प्रकृति अनादि होनेपर भी अविनाशी नहीं है परन्तु परमात्मा अनादि तथा निर्गुण होनेसे अविनाशी है। जैसे आकाशका घट अधिकरण नहीं हो सकता अथवा जैसे सूर्यका दर्पण अधिकरण नहीं हो सकता उसी प्रकार अनादि, अनन्त, अद्वितीय परमात्माके अधिकरण विकारी परिच्छिन्न जड़ शरीर नहीं हो सकते। परन्तु जैसे घटमें आकाशकी तथा सूर्य दर्पणके सूर्यकी प्रतीति होती है उसी प्रकार कूटस्थ परमात्माकी शरीरमें प्रतीति होती है। अतः शरीरमें स्थित कहा जाता है। जैसे ठूंठमें अध्यस्थ पुरुष ठूंठमें कोई क्रिया या विकार उत्पन्न नहीं कर सकता यद्यपि ठूंठके अज्ञान पर्यन्त अध्यस्त पुरुषमें स्थित रहता है। उसी प्रकार अध्यस्त शरीरोंमें स्थित होने पर भी अधिष्ठान परमात्मा निष्क्रिय ही रहता है तथा अकर्ता होनेसे भोक्ताभी नहीं हो सकता। कर्ता भोक्तापन रज्जुमें सर्प अथवा स्वप्नकी भाँति अविद्या मात्र है।

६९

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ १३-३२ ॥

भगवान कृष्ण आत्मामें कर्तृत्व भोक्तृत्व भ्रमकी निवृत्तिके लिए दृष्टान्त सहित प्रतिपादन करते हैं कि जैसे आकाश कीचड़ आदिमें सर्वत्र व्याप्त हुआ भी सूक्ष्म अर्थात असंग होनेसे किसी पदार्थसे सम्बन्ध नहीं करता उसी प्रकार उत्तम व अधम देहोंमें स्थित्त आत्मा भी देहके गुण दोषोंसे लिप्त नहीं होता क्योंकि सम्पूर्ण देह अध्यस्त हैं और आत्मा अधिष्ठान है। अतः अध्यस्त उपाधि रूप देहोंसे अधिष्ठान उपहित आत्मा विकारी नहीं हो सकता। समसत्ता वाला जब घट उपहित आकाश अपनी उपाधि घटसे लिपायमान नहीं होता तब विषम सत्ता वाला कार्य कारण उपहित अधिष्ठान परमात्मा अपनी अध्यस्त देह रूप उपाधियोंसे कैसे लिपायमान हो सकता है? अर्थात नहीं हो सकता, उपहित और अधिष्ठान होने से।

७०

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३-२ :॥

सम्पूर्ण क्षेत्रोंका परम प्रकाशक क्षेत्रज्ञ एक और निर्लेप है यह बतलानेके लिए भगवान कृष्ण फिर उपदेश दे रहे हैं कि जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको निर्लेप रहते हुए प्रकाशित किया करता है उसी प्रकार अविद्यामात्र प्रकाश्य, जड़ अध्यस्त समस्त देहों तथा पंच कोशोंको स्वयंप्रकाश सजातीय विजातीय स्वगत भेदसे रहित अधिष्ठान आत्मा प्रकाशित करता है अर्थात सत्ता स्फूर्ति देता है। जैसे सूर्यका साक्षात्कार रात्रि तथा रात्रिके कार्य अन्धकार का निवर्तक है उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्माके परमार्थ स्वरूपका साक्षात्कार अज्ञान तथा अज्ञानके कार्य दुःख रूप सम्पूर्ण प्रपंच का निवर्तक है। जैसे प्रकाशक होनेसे सूर्य निर्लेप है उसी प्रकार साक्षी होनेसे आत्मा दृश्य से निर्लेप है क्योंकि द्रष्टा दृश्यसे भिन्न होता है और द्रष्टा दृश्यका प्रकाशक होता है, दृश्य द्रष्टाका प्रकाशक नहीं होता तथा द्रष्टा दृश्यके विकारोंसे विकारी भी नहीं होता। जैसे सूर्य एक होते हुए भी दर्पणोंमें अनेक सा प्रतीत होता है उसी प्रकार सच्चिदानन्द आत्मा एक होने पर भी नाना अन्तःकरणोंमें प्रति बिम्बित होकर अनेक सा प्रतीत हो रहा है। जैसे सूर्यके अनेक प्रतिबिम्ब होने पर भी सूर्य अनेक नहीं है एक ही है उसी प्रकार नाना चिदाभासोंके होने पर भी अपना स्वरूप चिदात्मा एक ही है अनेक नहीं है। ऐसा निश्चय करना चाहिए।

७१

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥

भगवान् कृष्ण तेरहवें अध्यायमें भिन्न क्षेत्रज्ञको ब्रह्मरूप बतला चुके हैं। दायक होनेसे उसी परम् ज्ञानको जो ज्ञेय वस्तु विषयक ज्ञानोंसे उत्तम है, परम् श्रद्धालु शिष्य अर्जुनको फिरसे दृढ़ के लिए सुना रहे हैं। अध्यस्त गुणों उनके कार्योंके सम्बन्धके अभाव हुए बिना को दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। इस त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुण कौनसे कैसे बाँधते हैं? उनसे कैसे छुटकारा हो कर्ता कौन है? इन सब रहस्योंको भलीभाँति समझानेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं ज्ञानको पाकर शुक आदि मुनि त्रिगुण प्रकृतिसे मुक्त होकर विदेह मुक्ति रूप सिद्धिको प्राप्त हुए हैं।

अतः सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे मोक्ष कारण बन्धन अज्ञानकृत है और वह ज्ञानके उसी प्रकार निवृत्त नहीं हो सकता जैसे बिना रात्रि निवृत्त नहीं हो सकती।

७२

इदं ज्ञामुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

भगवान् कृष्ण ज्ञानका फल वर्णन हुए उपदेश दे रहे हैं कि संशय विपरीत से रहित दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानीको मुख्य तीन की प्राप्ति होती है। पहला ज्ञानका फल

कि जैसे अज्ञानीको देहमें आत्मभाव दृढ़ होता है उसी प्रकार ज्ञान होनेपर तत्वदर्शीको मुझ सच्चिदानन्द ब्रह्ममें आत्मभाव दृढ़ हो जाता है। दूसरा ज्ञानका फल यह है कि ज्ञानी शरीर के प्रारब्धपर्यन्त प्रलयको अथवा भारीसे भारी दुःखोंको स्वप्नवत् मिथ्या निश्चय करके अपने परमार्थ स्वरूप विभु आत्मामें उनसे कोई विकार उसी प्रकार नहीं देखता है जैसे स्वप्नकी प्रलयसे जाग्रतमें किसी प्रकारकी हानि नहीं देखी जाती है। तीसरा ज्ञानका फल यह है कि सृष्टिके आदिमें जैसा सारूप्य आदि मुक्तिको प्राप्त हुए पुरुषोंका जन्म हो सकता है उस प्रकार ब्रह्म वितका जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि जन्मकी कारण उसकी अविद्याका अत्यन्ताभाव हो जाता है। जैसे निद्राके अभाव होनेपर स्वप्नमें जन्म नहीं हो सकता उसी प्रकार अविद्याके नाश होनेपर पुनर्जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि जाग्रत जगत भी वास्तवमें ब्रह्मके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ स्वप्न है।

७३

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥१४-११॥

भगवान् कृष्ण वृद्धियुक्त सत्वगुणके चिन्ह कथन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि जैसे धुआँ देखकर अग्निका अनुमान कर लिया जाता है उसी प्रकार निश्चित चिन्होंको देखकर गुणोंको पहिचाना जा सकता है। जिस समय जीवके भोगायतन इस शरीरमें समस्त द्वारोंके बाह्य अर्थात् आत्माकी उपलब्धिके द्वारभूत अन्तःकरण तथा त्वचा, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा और नासिकामें संशय विपर्यय रहित बोध उत्पन्न होता है उस समय सत्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिए। अतः संशय विपर्ययसे युक्त प्राणी सत्वगुणी नहीं कहे जा सकते। सत्वगुणी पुरुषको आत्मा अथवा अनात्मा सम्बन्धी संशय तथा विपरीत भावना नहीं होती। जैसे एक वर्ष का बालक हीरा, छाया और प्रतिबिम्बमें देखते हुए संशय और विपरीत भावना रखता है तथा उसका जौहरी पिता हीरा, छाया और प्रतिबिम्ब को संशयकी विपरीत भावनासे रहित यथार्थ रूपसे देखता है उसी प्रकार सत्वगुणी पुरुषको अपने आत्मारूपी हीराका तथा छाया और प्रतिबिम्बकी भाँति सम्पूर्ण कार्य कारण प्रपञ्च का ज्योंका त्यों सम्यक् बोध होता है और कर्म विकर्म अकर्मका भी सम्यक बोध होता है परन्तु रजोगुणी तथा तमोगुणीको सब विषयोंमें संशय तथा विपरीत भावना रहती है।

अतः जिस समय किसी विषयके ज्ञानमें संशय विपरीत भावना न हो उसी समय सत्व-गुणकी वृद्धि समझना चाहिये।

जैसे रस्सीको रस्सी समझनेवाला सत्व-गुणी है, यह क्या है इस प्रकारकी संशयवाला रजोगुणी है तथा यह सर्प है इस प्रकारका विपरीत निश्चय करनेवाला तमोगुणी है इसी प्रकार धर्म-अधर्म, सत्-असत, जीव-ईश्वर, माया-जगत तथा बंध-मोक्षके यथार्थ स्वरूपका ज्ञाता सत्वगुणी है, इसमें संशय रखनेवाला रजोगुणी है और विपरीत भावना रखनेवाला तमोगुणी है। अतः सत्वगुणी बनकर यथार्थ ज्ञान रखना चाहिये।

७४

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥१४।२२॥

भगवान कृष्ण त्रिगुणातीत पुरुषके स्वसंवेद्य लक्षण बतलाते हुए उपदेश दे रहे हैं कि निर्गुण ब्रह्मको आत्मा रूपसे साक्षात्कार करनेवाला त्रिगुणातीत ब्रह्मदर्शी सत्वगुणके कार्य प्रकाश, रजोगुणके कार्य प्रवृत्ति और तमोगुणके कार्य मोहके प्राप्त होनेपर इनको स्वप्नवत भ्रममात्र जाननेके कारण इनसे द्वेष नहीं करता और इनके निवृत्त होनेपर अपने अन्दर कमीका अनुभव करके इनकी आकाँक्षा नहीं करता क्योंकि तीनों गुण अध्यस्त होनेसे अधिष्ठान आत्माका हानि लाभ करनेमें समर्थ नहीं हो सकते । अतः त्रिगुणातीत पुरुष अपने सर्वाधिष्ठान सच्चिदानन्द स्वरूपको तीनों गुणों व उनके कार्योंसे असंग, निर्विकार, निर्लेप जानता है । परन्तु तीनों गुणोंमें आसक्त देहाभिमानी हानि या लाभ मानकर गुणोंके कार्योंकी प्रवृत्ति निवृत्तिमें कभी राग किया करते हैं और कभी द्वेप किया करते हैं । त्रिगुणातीत पुरुष तीनों गुणोंका अपने अद्वितीय निरुपाधिक परमार्थ स्वरूपमें सूर्यमें अन्धकारकी भाँति अत्यन्ताभाव देखता है और व्यावहारिक सौपाधिक स्वरूपमें भी तीनों गुणोंसे कोई क्षोभ नहीं देखता । जैसे जलके हलन चलनसे सूर्यका प्रतिविम्ब भी चंचल नहीं हो सकता क्योंकि विम्वके चंचल होनेपर ही प्रतिविम्ब चंचल हो सकता है उसी प्रकार चिदाभास भी निर्गुण निर्दोष है क्योंकि विम्व चेतन निर्गुण निर्दोष है । प्रकाशरूप गुण और प्रवृत्ति तथा मोहरूप दोष त्रिगुण उपाधिके ही धर्म-विकार हैं, चिदात्मा चिदाभासके भी नहीं । अतः त्रिगुणातीत त्रिगुणात्मक प्रपंचसे निर्भय तथा अज्ञानी युक्त रहता है ।

७५

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥१४

भगवान कृष्ण त्रिगुणातीत पुरुषके संवेद्य लक्षणोंके साथ साथ परसंवेद्य लक्षण भी वर्णन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि साक्षी होनेसे ब्रह्मवित उदासीनवत सदा रूपसे स्थित रहता है और मिथ्या गुणोंके सुख दुःखादिसे उसी प्रकार क्षोभको प्राप्त होता जैसे मृगजलकी बाढ़से सुमेरु पर्वत यमान नहीं होता । जैसे स्वप्नके सम्पूर्ण व्यव में निद्रा ही निद्रामें वर्त रही है तथा साक्षी असंग निर्विकार है उसी प्रकार ज्ञानीकी दृष्टिमें समस्त त्रिगुणात्मक शरीर इन्द्रियोंके व्यापारोंमें गुण ही गुणमें वर्त क्योंकि मन इन्द्रियाँ भी गुणोंके परिणा और उनके विषय भी गुणोंके परिणाम अतः गुण रूप मन इन्द्रियाँ गुणरूप वि वर्त रही हैं ऐसा निश्चयवाला आत्मज्ञ स्वरूपमें स्थित हुआ गुणोंसे विच नहीं होता ।

७६

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

भगवान कृष्ण त्रिगुणातीत जीवन्मुक्तके परसंवेद्य लक्षणोंका भी वर्णन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि सर्वाधिष्ठान निर्गुण परब्रह्मको ही अपनी आत्मा जाननेवाला परमार्थदर्शी पुरुष सुख दुःख दोनोंको स्वप्नवत मिथ्या जानता है और अपने स्वरूपको दोनोंका साक्षी अधिष्ठान जानता है तथा सुख दुःख दोनोंको अनात्माके धर्म या विकार समझता है। अतः उसकी दृष्टिमें सुख दुःख दोनों समान हैं। जैसे जागनेपर स्वप्नका अभिमानी स्वप्नका अभिमान छोड़कर जाग्रतका अभिमान करने लगता है उसी प्रकार अज्ञान निद्रासे जागनेपर तत्वज्ञानी निज स्वरूप निर्गुण ब्रह्ममें स्थित हो जाता है और तीनों देहोंको स्वप्नवत कल्पित समझकर उनका अभिमान छोड़ देता है। उस ब्रह्मनिष्ठकी दृष्टिमें मिट्टी, पत्थर, सोना, प्रिय अप्रिय तथा निन्दा स्तुति अविद्या जनित भ्रममात्र होनेसे सब तुच्छ हो जाते हैं क्योंकि वह देह दृश्यको छायाकी भाँति अपनेसे पृथक मिथ्या जानकर उनमें अहंता ममतासे रहित हो जाता है। जैसे छायाका आदर निरादर करनेसे कोई अपना आदर निरादर नहीं मानता उसी प्रकार देहाभिमानसे शून्य त्रिगुणातीत देहकी निन्दा स्तुतिको अपनी निन्दा स्तुति नहीं मानता। अतः वह स्तुति होनेपर हर्षित नहीं होता और निन्दा होनेपर विषाद नहीं करता।

७७

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ १५।४ ॥

भगवान कृष्ण मुमुक्षु अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं कि मल, विक्षेप रहित तथा विवेक, वैराग्य, षट सम्पत्ति मुमुक्षता, चतुष्टय साधन सम्पन्न होनेके पश्चात मुमुक्षुको प्राप्त करने योग्य सर्वाधिष्ठान सच्चिदानन्द सर्वात्मा ब्रह्मकी खोज करनी चाहिए। अर्थात ईश्वरके समान श्रद्धा रखकर सद्गुरु देवके सदा अनुकूल रहते हुए उनसे वेदान्त श्रवण करना चाहिए तथा मनन निदिध्यान भी करना चाहिए। जैसे मछली केवल जलकी शरण लेती है इसी प्रकार अनन्य प्रेमसे सजातीय वृत्तियोंका प्रवाह और विजातीय वृत्तियोंका तिरस्कार रूप स्वस्वरूपानुसन्धान ही उस जगतके कारण परमात्माकी शरण लेना है जिससे स्वप्नवत मायारचित अनादि कालीन संसार वृक्षकी प्रवृत्ति बाजीगरकी मायाके समान विस्तारको प्राप्त हुई है और जिसको प्राप्त होकर जीव संसारमें फिर नहीं लौटता जैसे जाग जानेपर जाग्रत पुरुष जाग्रतके पैरोंसे स्वप्नमें चाहनेपर भी वापिस नहीं जा सकता है क्योंकि स्वप्नवत संसारकी कारण निद्रारूप मूल-अविद्याका अत्यन्त नाश हो जाता है।

७८

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १५-५ ॥

जैसे निद्रा स्वप्नदेह दृश्यकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति करती है और स्वप्नदेहमें अहंभाव और स्वप्न दृश्यमें ममभाव तथा सतबुद्धि सुखबुद्धि उत्पन्न करती है उसी प्रकार निज स्वरूप सच्चि-

दानन्द ब्रह्मका अज्ञान जाग्रतदेह दृश्यको सदसत विलक्षण उत्पन्न भी करता है और मोहित भी करता है अर्थात अहंता ममता तथा सतबुद्धि सुखबुद्धि भी कराता है। अज्ञानमें अनिर्वचनीय जगतके उत्पन्न करने की शक्तिको विक्षेप शक्ति और मोहित करनेकी शक्तिको आवरण शक्ति कहते हैं। इस आवरण शक्तिको ही मोह कहते हैं जिसके कारण ही मिथ्या देह दृश्य में अहंता ममता और सत्बुद्धि सुखबुद्धि हो जाती है। जैसे जाग्रतका ज्ञान होते ही निद्राका तथा निद्राजनित स्वप्नके देह दृश्यमें अहंता ममताका भी नाश हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान होते ही आवरण शक्तिरूप मोह तथा मोह जनित अनात्मामें आत्माभिमान नष्ट हो जाता है। ज्ञानी तो सभी अपनेको कहते हैं परन्तु भगवान कृष्ण उस ब्रह्मज्ञानीके लक्षण बतला रहे हैं जो प्रारब्ध क्षय होने पर पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता तथा जैसे घट फूटने पर घटाकाश महाकाशरूपसे स्थित हो जाता है उसी प्रकार प्रारब्ध नाश होने पर जो ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तत्पद त्वंपदके शोधन द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार होने पर मान और मोह अर्थात देहाभिमान तथा आवरण रूप अविद्यासे जो रहित हो गया है तथा विषयासक्ति तथा ममतारूप दोष जीत लिया है जिसने और जो सदा ब्रह्ममें ही सहज निष्ठा रखता है तथा स्वयं परमानन्दरूप होनेसे जो सुखकी अभिलाषासे रहित है और सुख दुःखादि द्वन्द्वोंको जिसने मिथ्या निश्चय कर लिया है वह अविद्या रहित ज्ञानी विदेह मोक्षको प्र[ाप्त] होता है। अमायिक ब्रह्म स्वरूपमें स्थिति[ही] परमधाम अथवा अविनाशी परमपदकी प्राप्ति है।

७६

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥१५-[६]

भगवान कृष्ण जीवन्मुक्त पुरुषों द्वा[रा] प्राप्त होने योग्य अपने परमधामके विशेषण[ों] वर्णन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि मेरे प[रम] धामको अर्थात प्रकाशक निर्गुण ब्रह्म स्व[रूप] को अदृश्य, अगोचर, स्वयंप्रकाश, अप्र[मेय] तथा अभौतिक होनेसे नेत्रके देवता सूर्य, मन[के] देवता चन्द्र तथा वाणीके देवता अग्नि प्रकाशि[त] नहीं कर सकते फिर नेत्रादि इन्द्रियाँ, म[न] तथा वाणी कैसे प्रकाश कर सकते हैं क्यों[कि] मनादि समस्त कार्य कारण प्रपंच मुझ स्व[प्रकाश] ब्रह्मसे उसी प्रकार प्रकाशित हो रहे [हैं] जैसे स्वप्नके सूर्यादि स्वप्न साक्षीसे प्रकाशि[त] होते हैं अथवा सीपीमें आरोपित चाँदी सीपी[से] प्रकाशित होती है। जिस प्रकार निद्राके अभा[व] में जाग्रतको प्राप्त हुआ पुरुष स्वप्न संसारमें न[हीं] लौट सकता उसी प्रकार मेरा वह परमार्थ स्व[रूप] परमधाम है जिसको प्राप्त होकर संसारसे मुक्त[ों] का पुनर्जन्म नहीं हो सकता।

८०

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५-७॥

भगवान कृष्ण परमधामको प्राप्त मुक्त पुरुषोंके न लौटनेका कारण बतला रहे हैं कि

संसारमें जिसको जीव अर्थात् क्षेत्रज्ञ कहते हैं वह जल तरंग अथवा घटाकाश महाकाशवत मेरा ही अंश है अर्थात् सौपाधिक स्वरूप है। अतः जैसे घट फूटने पर घटाकाश महाकाशरूपसे अचल स्थित हो जाता है उसी प्रकार अविद्या के नष्ट होने पर जीव ब्रह्म रूपसे स्थित हो जाता है। परन्तु अविद्या उपाधि पर्यन्त जीवको एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीरोंकी प्राप्ति उसी प्रकार होती रहती है जैसे निद्रापर्यन्त जीव स्वप्नके शरीरोंको धारण करता रहता है। अज्ञानी जीव प्रारब्ध समाप्त होने पर स्थूल शरीर छोड़ते समय अपने-अपने गोलकरूप प्रकृतियोंमें स्थित पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा मनको उसी प्रकार आकर्षित करता है जैसे रेलके डिब्बेसे उतरते समय यात्री अपने सामानको साथ ले जानेके लिए उठा लेता है।

८१

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५-१५॥

भगवान कृष्ण अपनी सर्वरूपताका कथन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि जैसे सर्व घटोंमें मिट्टी तथा सर्व भूषणोंमें स्वर्ण स्थित है उसी प्रकार मैं समस्त प्राणियोंका आत्मा होकर उनके हृदयमें स्थित हूँ। जैसे एक ही अग्नि सर्व कोयलोंमें अथवा एक ही बिजली सब तारोंमें प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार मैं परमात्मा सबके अन्तःकरणोंमें क्षेत्रज्ञ रूपसे प्रविष्ट होकर स्थित हूँ। अतः मुमुक्षुओंको सर्वत्र ब्रह्म बुद्धि करना चाहिये क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी वर्ग मैं ही हूँ। मुझ परमेश्वरसे ही अनुभव, स्मृति, तथा उनका लोप भी होता है अर्थात् मैं ही ज्ञान अज्ञान तथा स्मृतिका प्रकाशक तथा आधार हूँ। चारो वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ क्योंकि मुझ सर्वाधिष्ठान ब्रह्मको जाननेसे ही सर्व दुःखों का अत्यन्ताभाव और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। मैं ही वेदान्तका कर्ता हूँ और ब्रह्म वेत्ता भी मैं ही हूँ। अर्थात मूढ़जनोंको भी कम से कम ब्रह्मविद्याके उपदेशक सन्तोंमें तो ईश्वर बुद्धि अवश्य करना चाहिये नहीं तो उनके ज्ञान प्राप्ति असम्भव हो जावेगी।

८२

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १६-१॥

सर्व दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति रूप मोक्षके साधन छब्बीस दैवी गुणोंका वर्णन करते हुए भगवान कृष्ण उपदेश दे रहे हैं। १—निर्भयता अर्थात् आत्माको अनादि अनन्त अखंड जानकर अविद्या जनित होनेसे प्रलयसे भी भय न करना तथा सर्वात्मा होनेसे दूसरोंको भी भय न देना बल्कि आत्मज्ञान द्वारा निर्भय करना। २—तमोगुण तथा रजोगुण रूप मल विक्षेप आवरणका तथा विषयासक्ति, मन्द बुद्धि, कुतर्क, दुराग्रह और संशय विपर्यय ज्ञानके प्रतिबन्धक दोषोंका अन्तःकरण में अभाव होना रूप अन्तःकरणकी शुद्धि। ३—ज्ञानयोगमें व्यवस्थिति अर्थात श्रवण मनन निदिध्यासनमें तत्परता। ये तीन दैवी गुण केवल सांख्य योगीके तथा शेष लक्षण

कर्म योगीके भी समझना चाहिए। ४—सात्विक दान अर्थात पात्रको श्रद्धा पूर्वक यथा शक्ति धन, अन्न आदि पदार्थोंका निष्काम भावसे समर्पण करना। ५—दम अर्थात इन्द्रियों रूपी घोड़ोंका बुद्धि रूपी सारथीके वशमें होना। ६—अग्नि होत्र आदि श्रौत यज्ञ करना। ७—ब्रह्म यज्ञ रूप स्वाध्याय आदि स्मार्त पंच महा यज्ञ करना। ८—शारीरिक, वाचिक, मानसिक सात्विक तप करना। ९—सरलता अर्थात सदा सीधापन तथा कुटिलताका सदा अभाव होना।

८३

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१६-२॥

भगवान कृष्ण मोक्षके साधन २६ दैवी-गुणोंका वर्णन करते हुए इस श्लोकमें दसवेंसे बीस तक दैवी सम्पत्तियोंका उपदेश दे रहे हैं। १०—शरीर मन वाणीसे किसीका अनहित न करना। ११—प्रिय हितकारी यथार्थ भाषण करना। १२—ताड़ित, अपमानित होने पर भी द्वेष उत्पन्न न होना। १३—कर्तापनका अभिमान तथा कर्म फलका त्याग करना। १४—शान्ति अर्थात् मनमें चिन्ताओंका अभाव होना। १५—चुगली न करना अर्थात परोक्षमें किसीकी बुराई न करना। १६—दीन दुखियों पर कृपा करना। १७—विषयासक्ति न होना। १८—चित्त शीतल रहना तथा क्रूरताका सदा अभाव होना। १९—पाप करनेमें लोक लज्जा होना। २०—शरीर मन इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव होना।

८४

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥१६-३

भगवान कृष्ण मोक्षके साधन बीस दै गुणोंका वर्णन कर लेनेके पश्चात् शेष छः दै गुणोंका भी उपदेश अर्जुनको निमित्त बना मुमुक्षुओंको दे रहे हैं। २१—तेज अर्थात पुरुषोंकी वह दिव्य शक्ति जिसके कारण उन सत्संग से वाल्मीक सरीखे विषयासक्त पा क्रूर मनुष्य भी प्रभावित होकर ईश्वर भक्त जाते हैं। अथवा तेज उस दिव्य प्रकाश कहते हैं जिसके प्रकट होने पर अज्ञान अ म्भावना तथा विपरीत भावनाका उसी प्र अत्यन्ताभाव हो जाता है जैसे सूर्यके उदय हो पर रात्रिका अभाव हो जाता है। २२—बद लेनेकी शक्ति होनेपर भी अपराधीको न्याय चित दण्ड देने दिलानेकी इच्छा भी न हो क्योंकि सुख-दुःख मिलनेमें निज कृत प्रधान कारण हैं तथा अन्य हेतु निमित्त म हैं। २३—धैर्य अर्थात भारी-से-भारी दुःखमें दुःखको पापनाशक समझकर विचलित न हो तथा बड़े-से-बड़े प्रलोभनसे भी अपने धर्म त्याग न करना। २४—मिट्टी और जलसे त धर्माचारणसे शरीरको पवित्र रखना और प कर्मोंसे मैला न करना। २५—अद्रोह अर्थ अपने अपकारी शत्रुसे वैर भावका अत्यन्ता होना क्योंकि शत्रु मित्रके वेषमें अपना परमात्मा ही छिपा हुआ है जैसे सीधी टे तरंगोंमें एक जल छिपा होता है। २६—मा बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा

अभाव होना। ये सब छब्बीस दैवी गुण दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए पुण्यात्मा मोक्षके अधिकारी पुरुषके लक्षण हैं।

८५

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१७।१४॥

भगवान कृष्ण शरीरका तप वर्णन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि देव अर्थात् ईश्वरकी व सूर्य, अग्नि आदि देवोंकी, द्विज अर्थात् ब्राह्मणों को, गुरु अर्थात आचार्य, माता पिता आदि बड़ोंकी तथा प्राज्ञ अर्थात किसी भी जातिवाले शरीरधारी ब्रह्मवेत्ताओं की श्रद्धापूर्वक सेवा पूजा करना तथा शौच अर्थात शरीरकी पवित्रता, आर्जव अर्थात छल कपट रहित दूसरेके साथ सीधा होकर व्यवहार करना, ब्रह्मचर्य अर्थात स्त्री भोगसे रहित होना, अहिंसा अर्थात किसीको कष्ट न देना शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।

८६

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।१७।१५॥

शारीरिक तप वर्णन करनेके पश्चात भगवान कृष्ण वाणीके तपका उपदेश दे रहे हैं कि निन्दा चुगलीसे रहित किसीको भी दुःख न देनेवाले प्रिय हितकारी अर्थात प्रेम युक्त, मीठे कल्याणदायक यथार्थ वचन बोलना तथा वेद शास्त्र पुराण, तथा वेद पुराण सम्मत गीता, रामायण आदिके पठनका अभ्यास करना वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।

८७

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १७– १६ ॥

शारीरिक और वाणी सम्बन्धी तप बतला कर अब भगवान कृष्ण मन सम्बन्धी तपका उपदेश कर रहे हैं क्योंकि जैसे सोनाको तपानेसे सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तप करनेसे शरीर मन इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं। मनका प्रसाद अर्थात राग द्वेष रहित होकर मनको सन्तुष्ट रहना, सौम्यत्व अर्थात मनका सदा सर्वदा शीतल रहना तथा दूसरोंका हित चाहना, मौन अर्थात मनन ध्यान परायण रहना तथा अन्तःकरण उसी प्रकार वशमें होना जैसे बिजलीसे चलने वाला पंखा चलाने वालेके वशमें होता है। ये सब मन सम्बन्धी तप हैं।

८८

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥१७-२०॥

भगवान कृष्ण सात्विक दानका लक्षण बतलाते हुए उपदेश दे रहे हैं कि जैसे बादल का जल देना कर्तव्य है उसी प्रकार दान देना कर्तव्य है ऐसे भावसे लोक परलोकके फलकी इच्छासे रहित होकर देशानुकूल, समयानुकूल और पात्रानुकूल प्रसन्नता पूर्वक सात्विक श्रद्धासे अनुपकारी व्यक्तिको जो दान ईश्वरार्थ दिया जाता है उसको सात्विक दान कहते हैं। जैसे धर्मात्मा ऋणी कर्तव्य समझकर प्रसन्नता पूर्वक ऋण चुकाते हैं अथवा खजांची व पोस्टमैन कर्तव्य समझकर रुपया पात्रोंको बाँटते हैं उसी प्रकार निष्काम दानी अभिमान रहित होकर

सारी सम्पत्ति भगवानकी मानकर और अपने को भगवानका मैनेजर मानकर पात्रोंको सात्विक दान किया करते हैं। परन्तु दान न करने वाले स्वयं भोगों को भोगनेमें आसक्त स्वार्थरत व्यक्तियोंको भी ऋण चुकाना पड़ता है जैसे वेई-मान ऋणी कुर्की होने पर ऋण चुकाया करता है। उन लोभी विषयासक्त पुरुषोंको दूसरे जन्मोंमें वृक्ष, बैल, घोड़े आदि शरीर धारण करके ऋण चुकानेके लिए वाध्य होना पड़ता है। वृक्ष,पशुभी दूसरोंकी सेवामें रत हैं परन्तु उनको कुर्क होने पर चमड़ी हड्डी तक दान करना पड़ता है। राजस तामस दान समुद्रमें वर्षाके समान अथवा बिना जुती हुई भूमिमें बे समय वीज बोनेके समान विशेष लाभप्रद नहीं है। यद्यपि चोर डाकुओंसे राजसी तामसी दानीभी अच्छे हैं जैसे न बरसने वाले बिना पानीके बादलोंसे खेतोंमें न बरसकर मरु भूमिमें बरसने वाले बादल भी अच्छे हैं। अतः परिस्थितिके अनुसार यथाशक्ति सात्विक दान देना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

८९

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥१७-२३॥

भगवान कृष्ण राजस तामस यज्ञ दान तप को भी सात्विक बनानेके लिए परमात्माके तीन नामोंका उपदेश दे रहे हैं जो समस्त पापोंको नाश करनेमें उसी प्रकार समर्थ हैं जैसे अग्नि रुईको जलानेमें समर्थ है। सर्व पाप नाशक ॐ तत् और सत् ये तीन प्रकारके सच्चिदानन्द पर ब्रह्मके नाम हैं। सृष्टिके आदि कालमें इन तीनों नामोंसे ब्राह्मण आदि सम्पूर्ण प्रजा, चारों वेद और यज्ञ तप दानादि समस्त शा[स्त्र] विहित कर्मों की उत्पत्ति हुई। अतः पा[लन] करने वाले ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादि कर्मों [को] उत्पन्न करने वाले सच्चिदानन्द परमात्म[ा के] ॐ तत् और सत् नामोंकी पवित्रता अकथ[नीय] अपार असीम समझनी चाहिए।

९०

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदान तपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७-२[४]

भगवान कृष्ण ॐ, तत् और सत् [इन] नामोंमें प्रत्येककी प्रशस्ता वर्णन करते [हुए] पहले ॐ की प्रशस्ताका उपदेश दे रहे हैं। [ये] तीनों नाम ब्रह्मके वाचक तथा वेदादिके [आदि] होनेके कारण अत्यन्त पवित्र हैं। अतः [ॐ का] उच्चारण करके ही वदिक पुरुषोंकी शा[स्त्र] विधिसे नियत यज्ञ, दान रूप क्रियाएँ आ[रम्भ] होती हैं। यज्ञादिके आरम्भमें ॐके उच्चार[णसे] सब क्रियाएँ सद्गुण सम्पन्न, परम प[वित्र] और सब अंगोंसे पूर्ण हो जाती हैं। [जैसे] पारससे स्पर्श करनेपर लोहा सोना हो जाता [है] अथवा जमुना आदि नदियाँ ही क्या नाले [भी] गंगामें मिलकर पवित्र गंगा बन जाते हैं [उसी] प्रकार मन्त्र आदिके लोपसे किये गए यज्ञा[दि] वैगुण्यके प्राप्त होनेपर भी ॐके कथनसे सब कर्म सद्गुण सम्पन्न और परम पवित्र [हो] जाते हैं।

९१

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥१७-[२५]

भगवान कृष्ण तत् शब्दका प्रयोग [...]

लाते हैं कि ब्रह्मके तत् नामका उच्चारण करके सब क्रियाएँ ब्रह्म रूप हैं ऐसे निश्चय पूर्वक कर्मोंके फलको न चाह कर नाना प्रकारकी यज्ञ दान तथा तप रूप क्रियाएँ मुमुक्षुओं द्वाराकी जाती हैं जिससे वे मोक्षके अधिकारी हो जाते हैं। बिना दूधकी गायके समान बिना भावनाके नामका उच्चारण पूर्ण लाभ नहीं देता। अतः परमात्माके तत् नामके उच्चारणके साथ साथ यह भावना करना भी आवश्यक है कि जैसे जलकी सर्व चेष्टायें जल रूप हैं उसी प्रकार सब वासुदेव है, वासुदेवसे भिन्न समस्त कारक और क्रियाएँ कुछ नहीं।

६२

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥१७-२६॥

भगवान कृष्ण ॐ और तत्का प्रयोग बतलाकर अब सत शब्दका प्रयोग बतलाते हुए उपदेश कर रहे हैं कि सत यह परमात्माका नाम अविनाशी तत्वका वाचक है, इसलिए सत शब्दका प्रयोग नित्य भावमें किया जाता है और श्रेष्ठ भावमें भी किया जाता है क्योंकि अन्तः करणका जो श्रेष्ठ भाव है वह सत परमात्माकी प्राप्तिका हेतु है तथा हे अर्जुन! सतशब्दका प्रयोग ईश्वरार्थ शास्त्र विहित कर्मोंमें भी किया जाता है क्योंकि सतकर्म अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ईश्वर प्राप्तिके हेतु हैं।

६३

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१८-१०॥

भगवान कृष्ण, निष्काम कर्म योगसे किए हुए शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषको क्या फल मिलता है उसका वर्णन करते हैं कि वह शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष कुशल अथवा अकुशल कर्मोंमें उसी प्रकार राग या द्वेष नहीं करता जैसे जाग जानेपर जाग्रत पुरुष स्वप्नके समस्त प्रकारके कर्मोंसे प्रयोजन शून्य हो जाता है। ईश्वर अर्पण बुद्धिसे कर्म करते करते उसका अन्तःकरण कर्म फलकी आसक्ति और पुत्रादिमें ममत्वका त्याग कर देता है जिसके कारण सत्वगुणसे भली-भाँति युक्त हो जाता है। सत्वप्रधान अन्तःकरण होनेपर वह गुरु द्वारा वेदान्त श्रवण मात्रसे आत्मा रूपसे ब्रह्म साक्षात्कार कर लेता है। इसी कारण उसको मेधावी कहते हैं। मेधावी होनेसे वह प्रमाणगत तथा प्रमेय गत संशयसे रहित है। अतः भगवत अर्पण बुद्धिसे शुद्ध अन्तःकरण होनेपर ही ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा कृतकृत्यता प्राप्त होती है।

६४

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृत बुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१८।१६॥

भगवान कृष्ण देहमें आत्मबुद्धि रखनेवाले दुर्मतिका लक्षण बतलाते हुए उपदेश दे रहे हैं कि स्थूल देह, अहंकार, इन्द्रियाँ, प्राण तथा इन्द्रियोंके देवता ये पाँच ही सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भक हैं। परन्तु ऐसा होनेपर भी जो आत्मा और अनात्माके तत्वके विचारसे शून्य होनेके कारण अकर्ता शुद्ध आत्माको कर्ता मानता है देहमें आत्म बुद्धिवाला होनेसे वह दुर्मति आत्माको नहीं जानता। जैसे बादलोंके

दौड़नेपर चन्द्रमाको भी दौड़ता हुआ तथा रेलके दौड़नेसे वृक्षोंको भी दौड़ता हुआ मूर्ख बालक मानते हैं उसी प्रकार अज्ञानी अनात्माके कर्ता भोक्ता आदि धर्म निष्क्रिय आत्मामें आरोपित करते हैं।

६५

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१८। ७॥

भगवान कृष्ण ब्रह्मज्ञानीकी महिमाका वर्णनकर रहे हैं कि जिस ब्रह्मवेत्ताका अन्तःकरण अहंभावसे रहित है और बुद्धिलिपायमान नहीं होती अर्थात धर्मशीलकी भांति धर्माधर्मके संस्कारोंसे युक्त नहीं होती वह ब्रह्मदर्शी पुरुष तीनों लोकोंको मारनेपर भी नहीं मारता है और न बन्धनको प्राप्त होता है। जैसे रस्सीके सर्पको रस्सीरूप जानकर प्रहार करनेवाले पुरुषको रज्जु सर्पके मारनेका फल नहीं होता अथवा जागनेपर जैसे स्वप्नके कर्म फल नहीं देते हैं उसी प्रकार तत्वदर्शीको स्वप्नवत जाग्रतके धर्माधर्म फल नहीं दे सकते। ऐसा दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानी तीनों लोकोंको मारनेपर भी नहीं मारता क्योंकि उसकी दृष्टिमें त्रिलोकी स्वप्नवत अध्यस्त प्रतीति मात्र है। अतः जैसे मनोराजकी सृष्टिको मारनेसे पाप नहीं लग सकता उसी प्रकार मनोमात्र संसारको मारनेपर भी तत्वज्ञानीको पाप नहीं लगता। जैसे नीलमासे आकाश लिपायमान नहीं होता अथवा मृगजलसे बालू गीली नहीं होती। जैसे मेघस्थ तथा घटमें स्थित आकाश मेघ और घटके कर्मोंसे असंग निर्लेप होता है उसी प्रकार अनात्म दे[illegible] विकारोंसे देहस्थ आत्मा निर्लेप, असंग[illegible] निष्क्रिय है। परन्तु ज्ञानी इस रहस्यको ज[illegible] है, अज्ञानी नहीं जानता क्योंकि अ[illegible] घटवत देहोंको ही आत्मा जानता है। आ[illegible] वत असंग आत्माको अपना स्वरूप जानने[illegible] शास्त्र विपरीत लोककी हिंसा करता हुआ आत्म दृष्टिसे कुछ नहीं करता। इसी [illegible] बन्धनको प्राप्त नहीं होता। फिर शास्त्रा[illegible] वर्तता हुआ ज्ञानी कर्म बन्धनको प्राप्त न हो[illegible] इसमें क्या आश्चर्य है।

६६

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो
धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा
रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ १८।५१॥

भगवान कृष्ण ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त क[illegible] उपाय बतला रहे हैं कि संशय और विप[illegible] रहित बुद्धिसे युक्त सात्विक धैर्यसे शरीर, इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिए और शब्[illegible] विषयोंका दोष दर्शन करते हुए त्याग [illegible] चाहिए अर्थात् सुखहीन क्षणभंगुर विष[illegible] ध्यान नहीं करना चाहिए। संसारको मृगज[illegible] भाँति प्रतीतिमात्र विचारकर राग द्वेषका [illegible] करना चाहिए। संसारको अविद्याका परि[illegible] समझकर संसारको स्वप्नसे मिलान करते[illegible] सत बुद्धि, सुख बुद्धिका त्याग करते [illegible] चाहिए।

६७

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१८[illegible]

ब्रह्मनिष्ठाके साधन बतलाते हुए भगवान कृष्ण उपदेश दे रहे हैं कि विवेक वैराग्य पट सम्पत्ति मुमुक्षुतासे युक्त साधकको देह इन्द्रियादि में अहंभाव रूप अहंकारका उसी प्रकार त्याग कर देना चाहिए जैसे रेलके डिब्बेमें अथवा धर्मशालाके कमरेमें ठहरे हुए यात्री डिब्बे और कमरेमें अहंभाव नहीं रखते। जो यात्री रेल और धर्मशालाको सच्चा समझता है वह भी रेलके डिब्बे और धर्मशालाके कमरेमें अहंभाव नहीं रखता फिर जो विवेकी संसाररूपी रेल या धर्मशालाको स्वप्नवत समझता है वह डिब्बे या कमरेकी भाँति देहमें स्थित हुआ भी किस प्रकार अभिमान कर सकता है? अतः अनात्म देहोंको व जगतको जड़ दृश्य तथा स्वप्नवत मिथ्या जानकर अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध तथा परिग्रह अर्थात आसक्तिका त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार अहंकार और ममता रहित स्वरूपानुसन्धान करनेवाला साधक ही ब्रह्मरूप होनेके योग्य होता है। तीनों देहोंसे आत्माको पृथक जानकर देहोंमें अभिमान न करना ज्ञानका फल है। ज्ञानका फल उदय होने पर ही ब्रह्ममें अभिमान करनेकी योग्यता आती है। योग्यता आनेपर ही ब्रह्ममें देहाभिमानकी भाँति सहज अभिमान हो सकता है जो ज्ञानकी अवधि है।

९८

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥१८-५४॥

भगवान कृष्ण ब्रह्मभूत पुरुषके स्वभावका वर्णन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा जिस साधकने मैं ब्रह्म हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय प्राप्त कर लिया है तथा जो प्रसन्नात्मा अर्थात कृतकृत्य हो चुका है वह हर्ष शोकसे रहित पूर्ण काम हो जाता है क्योंकि परमार्थ दृष्टिसे वह भोग्यरूप कार्य कारण सम्पूर्ण देह दृश्यका तथा भोक्ता जीवोंका अपने स्वरूप में अत्यन्ताभाव देखता है और अपने स्वरूपको निर्द्वैत परमानन्द घन जानता है फिर शोक और काङ्क्षा किसके लिए और क्यों करे। वह तत्वदर्शी राग द्वेष रहित होने से तथा अपने को सबकी आत्मा जाननेसे सब भूतोंमें सम है। ऐसा ज्ञान निष्ठ पुरुष मुझ परमेश्वरकी ज्ञान लक्षणा चतुर्थ भक्तिरूप पराभक्तिको अर्थात ब्रह्म निष्ठाको प्राप्त होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

९९

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥१८-६१॥

भगवान कृष्ण देहाभिमानीके लिए कर्मकी अवश्य कर्तव्यता बोधन करनेके लिए उपदेश दे रहे हैं कि जैसे यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतलियों को सूत्रधारी घुमाता है उसी प्रकार ईश्वर समस्त प्राणियोंको मायासे घुमाता हुआ अर्थात स्वाभाविक कर्मोंमें प्रवृत्त कराता हुआ हृदयमें अर्थात बुद्धि रूपी गुफामें स्थित रहता है। देह को ही यन्त्र समझना चाहिए और इसमें अभिमानकर बैठना ही इसपर चढ़ना है। इसके पश्चात अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार शुभ

अशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाना ही भ्रमण करना है। पृथ्वी जैसे खट्टे मीठे फलोंके बीजोंके अनुसार उनमें खट्टा-मीठा रस उत्पन्न करती रहती है उसी प्रकार जीवोंके संस्कारोंके अनुसार ईश्वर शुभाशुभ कर्मोंमें प्रेरित करता है। दोष गुण संस्कारोंका है, ईश्वर निर्दोष है। अतः अशुभ संस्कारोंको नाश करनेके लिए यत्न करते रहना चाहिए।

१००

सर्वं धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८।६६॥

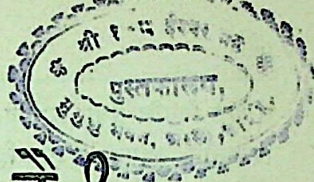
भगवान कृष्ण अर्जुनको निमित्त बनाकर मुमुक्षुओंको मोक्षके अन्तरङ्ग साधन ज्ञान योग का सार सुना रहे हैं कि जैसे स्वप्न और स्वप्न का कारण निद्राके त्यागके बिना जाग्रतकी शरण प्राप्त नहीं हो सकती उसी प्रकार सर्व धर्मोंके त्यागके बिना निरुपाधिक परम् ब्रह्म परमात्माकी शरण प्राप्त नहीं हो सकती। अतः वर्ण आश्रम, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि आदिके समस्त धर्मोंका त्याग कर अर्थात मिथ्या तीनों देहोंका अभिमान छोड़कर मेरी अनन्य शरण प्राप्त करो अर्थात मुझ परम्ब्रह्ममें ही आत्मबुद्धि करो क्योंकि घटाकाशवत आत्मा का महाकाशवत मुझ ब्रह्मसे भेद अविद्याजनित है। जैसे रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्प दण्ड आदि रज्जुसे अन्य कुछ नहीं हैं उसी प्रकार मुझ सर्वाधिष्ठान परमेश्वरसे भिन्न अन्य कुछ नहीं है। इस प्रकारके निश्चय वालेके हृदयमें ही मेरे ब्रह्म स्वरूपका आत्मारूपसे साक्षा[त्कार] होता है। मैं गुरुरूपसे अपने सच्चिदा[नन्द] स्वरूपका आत्मारूपसे साक्षात्कार कराकर तु[झे] समस्त धर्माधर्म बन्धन रूप पापोंसे उसी प्र[कार] मुक्त कर दूँगा जैसे जाग्रत पुरुष सोये पुरुषको जगाकर स्वप्नके समस्त शुभाशुभ बन्धनोंसे मुक्त कर देता है। अतः हे अ[र्जुन] मुझ जगद्गुरु परमेश्वरकी शरणमें आ जा [और] अब जन्म-मरण आदि दुःखोंकी चिन्ता [न] कर। इसी प्रकार मुमुक्षुको सद्गुरुकी श[रण] प्राप्त होने पर जन्म-मरणसे निश्चिन्त हो [जाना] चाहिए।

१०१

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञान यज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ १८[।७०॥]

भगवान कृष्ण इस गीताके पढ़नेका [फल] बतला रहे हैं कि जो मनुष्य हम दोनोके स[म्वाद] रूप सर्व-उपनिषदोंका सार इस धर्मयुक्त [गीता] ग्रन्थको नित्य पढ़ेगा। उसके द्वारा मैं सर्व[यज्ञों] में श्रेष्ठ मोक्षदायक ज्ञान यज्ञसे पूजित हूँ[गा।] गीता पढ़ने वाला भी वही मोक्ष रूप फल [ज्ञान] द्वारा प्राप्त करता है जो पढ़ानेवाले को प्रा[प्त हु]या होता है। ऐसा मेरा निश्चय है। [अतः] भगवान कृष्ण और अर्जुनके सम्वादरूप अत्यन्त गोप्य गीता ग्रन्थका नित्य श्रद्धा [भक्ति] पूर्वक पारायण करना चाहिए। घरमें [गीता] रहते हुए भी गीता न पढ़ना उतनी ही नासमझी है जितनी नासमझी पारस रहते [हुए] प्रमादवश लोहेको सोना न बनाने में है।

* हरिः ॐ तत्सत् *



आत्म-पुराण क्या है ?

श्री वेदान्ती जी

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'
(बृ० उ० ३।९।२६)

ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता— जैसे निद्रित स्वप्नद्रष्टाको जाग्रतका ज्ञान करना एकमात्र कर्तव्य है क्योंकि जाग्रतके ज्ञान बिना जाग्रतमें सुख सम्पति प्राप्त रहने पर भी उससे वंचित रहना पड़ेगा उसी प्रकार परब्रह्म परमात्माको भूले हुए जाग्रतके दृष्टाको भी ब्रह्मज्ञान एकमात्र कर्तव्य है क्योंकि ब्रह्मज्ञान बिना नित्य प्राप्त परमानन्दसे वंचित रहना पड़ेगा। जाग्रत जगतके सुखसे अपनेको सुखी मानना उतनी ही मूर्खता है जितनी मूर्खता स्वप्नके सुखसे सुखी मानने में है क्योंकि जैसे स्वप्न निद्रा जनित होनेसे भ्रममात्र है उसी प्रकार अनादि कालीन जाग्रत भी अविद्याजनित होनेसे भ्रममात्र है परन्तु अज्ञान पर्यन्त दीखता रहेगा। अतः परमानन्द प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मज्ञान परम आवश्यक है।

ब्रह्मज्ञानकी अपूर्वता—जैसे सोये हुए पुरुषको जाग्रत पुरुष ही जगा सकता है अन्य कोई भी सोया हुआ पुरुष नहीं जगा सकता उसी प्रकार मोह निद्रामें जन्म-मरणका स्वप्न देखनेवाले अज्ञानी पुरुषोंको वेदोंके अंतिम उपदेश ज्ञानकाण्ड उपनिषदके वाक्योंको गुरु द्वारा सुनाकर ही जगाया जा सकता है अन्य प्रमाणोंसे नहीं, क्योंकि वेदान्त अर्थात उपनिषदके अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रमाण सोये हुए पुरुषोंके समान हैं। जैसे ध्रुवतारा सर्व नेत्रवाले पुरुषोंको अपरोक्ष होने पर भी तब तक ज्ञात नहीं होता जब तक कोई ज्योतिषी बतलानेकी कृपा नहीं करता तथा ज्योतिषी भी ज्योतिष-शास्त्रके बिना ध्रुवताराका निश्चय नहीं कर सकता उसी प्रकार स्वतः अपरोक्ष होने पर भी उपनिषदोंको पढ़े बिना महासिद्ध भी अपनी इन्द्रिय मन बुद्धिसे अन्य सर्व शास्त्रोंका सहारा लेने पर भी औपनिषद पुरुष परमब्रह्म परमात्मा को नहीं जान सकता। अतः जैसे रूप ज्ञान नेत्रगम्य है उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान उपनिषद गम्य है। ब्रह्मज्ञान होने पर प्रपंचका उसी प्रकार अत्यन्ताभाव हो जाता है जैसे रस्सीके ज्ञानसे रज्जुसर्पका अत्यन्ताभाव हो जाता है।

उपनिषदोंका अनुबन्ध—सर्व-उपनिषदोंका अधिकारी मलविक्षेपसे रहित शुद्ध अन्तःकरणवाला, विवेक वैराग्य षट सम्पत्ति मुमुक्षता चतुष्टय साधन सम्पन्न जिज्ञासु भक्त है। अविद्या तथा अविद्याकृत द्वैत प्रपंचकी

अत्यन्त निवृत्ति तथा अनादि अनन्त सजातीय विजातीय स्वगत भेदसे रहित परमार्थ तत्व सर्वात्मा सर्वाधिष्ठान निर्द्वैत परमानन्दघन ब्रह्म की प्राप्ति रूप मोक्ष सर्व-उपनिषदोंका प्रयोजन है तथा 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः' विषय है। जिसका उपनिषदोंसे प्रतिपाद्य प्रपिपादक सम्बन्ध हैं। अधिकारी, प्रयोजन, विषय और सम्बन्धको मिलाकर अनुबन्ध कहते हैं।

आत्म-पुराणकी महिमा——सर्व-उपनिषदोंका ही अवतार इस आत्मपुराणको निश्चय करना चाहिए। जैसे श्यामा गऊका दूध रोगी और स्वस्थ दोनोंके लिए स्वास्थ्य वर्धक होनेसे उपयोगी है उसी प्रकार आत्म-पुराणको श्यामागऊके समान समझना चाहिये जो संस्कृतके विद्वान तथा मूर्ख दोनोंके लिए आत्मज्ञान द्वारा उपयोगी है। जैसे राम नाम परमहंस विद्वानोंसे लेकर कीट पतंगोंको भी काशीमें मरने से शंकर द्वारा प्राप्त होकर मुक्ति देनेवाला है उसी प्रकार भाषामें अनुवाद किया हुआ आत्म-पुराण राम नामके समान सभी श्रद्धालु मनुष्योंका कल्याण करनेमें समर्थ है। परन्तु उपनिषदें तथा प्रणव सफेद रंगकी गउओंके समान हैं जिनसे केवल संस्कृतके विद्वान ही लाभ उठा सकते हैं। हिन्दी भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाले उपनिषदोंसे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। सर्व उपनिषदें सफेद गउओंके समान हैं और भगवद्गीता उनसे निकाला हुआ दूध है तथा ब्रह्म सूत्र मक्खन है। अतः जिसे सफेद गउओंकी सेवा करना हो वह उपनिषदोंको पढ़े और गउओंका दूध चाहनेवाला गीता पढ़े मक्खनकी इच्छा करने वाला ब्रह्मसूत्र पढ़े। प स्वामी शंकरानन्द और चिद्घनानन्दजीको के वशमें होकर सफेद गउओंरूप उपनि श्याम गउओंका रूप धारण करके आत्म-पु नाम रख लिया है जिनसे ज्ञानरूपी दूध रहा है और संशय विपर्यय रहित ब्रह्म रूप मक्खन भी मथ-मथ कर निकाला है। अतः जो श्याम गऊ तथा सामने हुआ दूध और उससे निकाला हुआ म सबको सेवन करना चाहते हैं वे शीघ्र आत्मपुराणको पढ़ें क्योंकि परम श्रद्धेय हंस बाबा शारदारामजी रामटेकड़ीकी अ अनुकम्पा तथा प्रेरणासे श्री सम्पादक वीतराग वैद्य भद्रसेनजीने अपने अथक परि से सर्व साधारण लोगोंके लिए भी इस ग्र रत्नको सुलभ कर दिया है। गऊके मक्खनमें संशय हो सकता है कि यह श है या इसमें कुछ मिला है। परन्तु गऊके से बहते हुए दूध व उससे निकलते हुए मक्ख को देखकर इसमें संशय नहीं हो सकता, प्रकार गीता व ब्रह्मसूत्र पढ़नेमें भले ही मन्द बुद्धि संशय करनेमें समर्थ हो परन्तु आत्म पुराणमें संशय विपर्ययके लिए स्थान नहीं है प्रस्थानत्रय उपनिषद गीता ब्रह्मसूत्र पढ़नेसे लाभकी कठिनतासे सम्भावना हो सकती है लाभ केवल इस आत्म पुराणको पढ़नेसे सह होमें हो जावेगा। अतः संस्कृत न जाननेवा मुमुक्षु हताश न हों। उनको इस आत्मपुराण

निश्चय ही आत्म आक्षात्कार होगा। संस्कृतके विद्वानोंको भी जो प्रस्थानत्रयको पढ़ते पढ़ाते हैं इस आत्मपुराणके पढ़नेसे ज्ञाननिष्ठा करनेमें पूर्ण सहायता मिलेगी तथा जीवन्मुक्तोंको इसके अध्ययन अध्यापनसे जीवन्मुक्तिका आनन्द मिलेगा। इस आत्मपुराणके पठन व श्रवण मात्रसे सकामी भक्तोंकी लौकिक पारलौकिक कामनायें पूर्ण होंगी तथा पामरोंका पाप नाश होगा और पाप नाश होनेपर ज्ञान द्वारा मुक्ति भी क्रमशः प्राप्त हो जावेगी। अतः यह आत्म-पुराण सबके पढ़ने योग्य मनोवांछित फल देने वाला कल्प वृक्ष है। परन्तु जैसे उत्तमसे उत्तम भोजनमें भी तीव्र ज्वरसे पीड़ित मनुष्यको स्वाद नहीं आता उसी प्रकार अशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषको विषयासक्ति रोगसे ग्रस्त होनेके कारण इस आत्मपुराणके पढ़ने सुननेमें स्वाद नहीं आवेगा क्योंकि इसमें विषयानन्द रूपी रस का उसी प्रकार अभाव है जैसे सुरक्षित पुष्प वाटिकाओंमें मल मूत्रकी दुर्गन्धिका अभाव होता है। अतः जिन अशुद्ध अन्तःकरणवालों को इस आत्मपुराणके पठन श्रवणमें रुचि न होती हो वे अपने मानसिक रोग निवृत्त करनेके लिए इसका पठन श्रवण मन न लगनेपर भी नियमपूर्वक जबरदस्ती करें क्योंकि यह आत्म-पुराण शुद्ध अन्तःकरण वालोंके लिए अमृत तुल्य है और अशुद्ध अन्तःकरणवाले मानस रोगियोंके लिये अत्यन्त कड़ुई औषधिवत है। लगातार औषधिवत सेवन करते रहनेसे रोग नाश होनेपर यह अमृतके समान तुष्टि-पुष्टि करने लगेगा अर्थात ज्ञान द्वारा मुक्त कर देगा। अतः मानस रोगियोंसे नम्रनिवेदन है कि इस आत्मपुराणमें रुचि न होनेपर भी इसको औषधि समझकर बराबर पढ़ते सुनते रहें। यदि स्वाद न आनेपर औषधिका सेवन छोड़ देना चाहिये तो इस आत्मपुराणको भी मन न लगनेके कारण नहीं पढ़ना चाहिये। परन्तु कोई भी रोग नाशक औषधिका स्वाद न आने पर भी त्याग नहीं करता इसी प्रकार मन न लगने पर भी मानस रोगियोंके लिये रामबाण औषधि इस आत्म पुराणका पठन श्रवण बरा-बर करते रहना चाहिये। मलविक्षेप नाश होनेपर इसके पठन श्रवणमें ऐसी रुचि उत्पन्न होगी कि लाखों विघ्न पड़ने पर भी आप इसका पठन श्रवण त्याग नहीं कर सकते। जैसे काशीमें शरीर छोड़ने वाले प्राणीमात्रको मुक्ति देनेका ठेका शंकर भगवानने ले लिया है उसी प्रकार इस आत्मपुराणको श्रद्धा प्रेमसे पठन श्रवण करनेवाले मनुष्य मात्रको मल विक्षेप आवरण तीनों दोषोंको दूर करके ज्ञान द्वारा मुक्ति देनेका ठेका हिन्दीमें अनुवादक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ स्वामी चिदघनानन्दजी महाराजने ले रक्खा है। यदि आप कहें कि शंकर तो भगवान होनेसे समर्थ हैं तो हम कहेंगे कि स्वामी चिद्घनानन्दजी भी समर्थ हैं क्योंकि ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति, अतः यह आत्मपुराण श्रद्धालु मनुष्योंके लिए साक्षात कामधेनुतथा कल्प वृक्ष समझना चाहिये।

आत्मपुराण का प्रधान विषय—

यद्यपि पुराण कहलानेके कारण यह आत्म-पुराण सर्वाङ्गपूर्ण है परन्तु उपनिषदोंका सार

होनेंसे 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' ही इसका प्रधान विषय है। जिस प्रकार रोगीका रोग दूर होने पर वह स्वस्थ और दुःखसे रहित हो जाता है उसी प्रकार सुषुप्तिमें क्षणमात्रके लिए द्वैत प्रपंचकी निवृत्ति होने पर दुखीसे दुखी जीव दुःख रहित तथा सुखी हो जाता है। अतः द्वैत प्रपंच दुःख रूप तथा अद्वैत भावही परमानन्द रूप है, यह सिद्ध हुआ। इसी कारण वेदान्तका गूढ़ सिद्धान्त जो दृष्टि सृष्टिवाद है उसका स्पष्ट रूपसे इस आत्म पुराणमें वर्णन किया गया है क्योंकि जैसे रज्जुमें सर्पादि विकल्पकी निवृत्ति होने पर ही रज्जु ज्ञान हो सकता है उसी प्रकार द्वैत प्रपंचकी निवृत्ति होने परही अद्वैत तत्व का बोध होता है।

आत्म पुराणका दृष्टि सृष्टिवाद :-

स्वप्नके समान जाग्रत जगत भी मिथ्या है क्योंकि जैसे स्वप्न देशकाल वस्तुके बिना ही मनके फुरतेही निद्राके कारण भासने लगता है जो भासनेके पहले नहीं था तथा भासनेके पश्चातभी नहीं रहता, केवल दर्शन कालमें ही रज्जु सर्पवत अथवा मृगजलवत न होने पर भी प्रतीत होता है उसी प्रकार जाग्रत प्रपंच भी देशकाल वस्तुके बिना ही अविद्याके कारण मनके फुरनेसे केवल दर्शन कालमें ही न होने पर भी भास रहा है। अतः दर्शनके पूर्व तथा दर्शनके पश्चात अभाव हो जानेसे और अविद्या जनित होनेसे जाग्रत प्रपंचभी माया मात्र मिथ्या है अर्थात है नहीं केवल प्रतीत हो रहा है क्योंकि अविद्याका परिणाम और चेतन का विवर्त है। जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प र तीनों कालमें नहीं है केवल रस्सीका होनेसे मनकी भावना कालमें प्रतीत लगता है उसी प्रकार समस्त प्रपंचका में अत्यन्ताभाव है परन्तु आत्माके अज्ञानके कारण मनकी भावना कालमें होने लगता हैं। जैसे जाग्रत प्रपंचकी कालमें स्वप्न प्रपंचका अभाव है उसी स्वप्न प्रपंचकी भावनाके समय मिथ्या प्रपंचका भी अभान ही नहीं बल्कि अभा है तथा सुषुप्तिमें मनके लीन होने पर स्वप्न उसी प्रकार नहीं रहते जैसे घोर कार आ जाने पर रस्सीमें सर्प, दण्ड नहीं रहते। परन्तु जैसे मन्द अन्धकारमें में पुनः सर्प, दण्डादि भावनानुसार अज्ञान पर्यन्त प्रतीत होने लगते हैं उसी मृत्यु, प्रलय तथा सुषुप्तिके पश्चात नुसार आत्माके अज्ञान पर्यन्त कल्पित या स्वप्न रज्जु सर्पवत अनादि कालसे होते चले आ रहे हैं। आत्माके अज्ञान कल्पित प्रपंचकी प्रतीति व अप्रतीतिको सृष्टि प्रलय अथवा जन्म मृत्यु या स्वप्न और अग्रहण अन्यथा ग्रहणभी कहे शून्य वादियोंने अद्वैत आत्माको भी निश्चय कर लिया। परन्तु यह दोष उपनि में नहीं है। अतः सब उपनिषदोंके सार आत्म पुराणमें सर्वात्मा ब्रह्मकी सत्यता तथा जीव ब्रह्मकी एकता का विशद किया गया है। जैसे घटादि असंग आक उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं और

प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार समस्त प्रपंच सच्चिदानन्द ब्रह्ममें मायासे उत्पन्न होता है, स्थित होता है और नाशको प्राप्त हो जाता हैं। जैसे घटकी उत्पत्ति नाशसे आकाश उत्पन्न नाश नहीं होता उसी प्रकार प्रपंचकी उत्पत्ति विनाशसे आत्मा या ब्रह्मका जन्म या नाश नहीं होता। जैसे घटाकाशका महाकाशसे अभेद है उसी प्रकार आत्माका ब्रह्मसे अभेद है क्योंकि ब्रह्मकी भाँति आत्मा भी चेतन है। चेतन आत्माका चेतन ब्रह्मसे भेद नहीं हो सकता। जैसे चेतन होनेसे ईश्वर ब्रह्म रूप है उसी प्रकार चेतन होनेसे जीवभी ब्रह्म रूप है। घटाकाश वत कूटस्थ आत्मा तो महाकाशवत ब्रह्म रूप है ही वल्कि चेतनका प्रतिविम्ब होने से तीनों अवस्थाओं का अभिमानी चिदाभास भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं ब्रह्म रूप ही है तथा चेतनका विवर्त होनेसे सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म कारण जड़ प्रपंचभी ब्रह्म रूप ही है। वही सर्वाधिष्ठान सर्वात्मा निर्द्वैत सच्चिदानन्द घन सबका स्वरूप है। यही इस आत्म पुराणका प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। अद्वैत सिद्धान्तके विरोधी जो अन्य अवैदिक मतान्तर है वे परस्पर विरोधी तथा वेद विरुद्ध होनेके कारण मिथ्या हैं। अतः उन्हीं की उक्तियोंसे उनका खंडन भली प्रकार कर दिया गया है जिसको पढ़नेसे स्वामी चिदघनानन्द जीके प्रगाढ़ पाण्डित्यका दिग्दर्शन होता है।

आत्म पुराण का प्रयोजन :—

सभी श्रद्धालु मनुष्य इस आत्म पुराणके श्रवण मनन निदिध्यासन तथा पठन पाठव द्वारा संशय विपर्य रहित आत्म-ज्ञान प्राप्त करके सर्वं दुःखोंसे सदाके लिए मुक्त होकर नित्य प्राप्त परमानन्द पाकर कृतकृत्य हो जाएँ तथा चौरासी लक्ष योनियोंसे सदाके लिए छुटकारा पा जाएँ। बस यही इस आत्म पुराणका मुख्य प्रयोजन है। वैसे तो कल्पवृक्षके समान सभी मनोवांछित फलोंको देने वाला इस आत्म पुराणको समझना चाहिए।

आत्म पुराण की विशेषता :—

परम श्रद्धेय श्री १०८ परमहंस बाबा शारदा-रामजी महाराज द्वारा चुने हुए एकसौएक भगवद्गीताके श्लोकोंका संग्रह एकोत्तरी गीता इस आत्म पुराणके प्रारम्भमें जोड़ दी गई है तथा अन्तमें सद्गुरु शारदारामजी कृत ब्रह्म-ज्ञानामृतसे इसे सम्पुट कर दिया गया है। जिससे इसकी विशेषता और बढ़ गई है।

अपना परम सौभाग्य :—परम श्रद्धेय परमहंस बाबा शारदारामजी की असीम कृपा से मुझे इस 'एकोत्तरी गीता' के प्रत्येक श्लोक पर अपने विचार प्रकट करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इन विचारोंमें उपयोगी अंश सन्त महात्माओंका प्रसाद समझना चाहिए तथा त्रुटियाँ मेरी समझना चाहिए।

आत्मज्ञानका ठेकेदार

लेखक—जगदीश प्रसाद रिटायर्ड एडवोकेट

आत्म-पुराण अपने ढंगकी अनोखी पुस्तक है जितने विस्तारसे केवल आत्माका विचार इस पुस्तकमें किया गया है शायद ही संसारमें किसी और पुस्तकमें किया गया हो। मुझे तो अभी तक ऐसी पुस्तक नहीं ही मिली। ब्रह्मनिष्ठा कराने का तो मानो इसके रचयिता श्री १०८ स्वामी चिद्घनानन्दजीने ठेका ही ले रखा है। चतुष्टय साधन सम्पन्न मुमुक्षुके लिये तो यह पुस्तक अमृत ही है।

पहली बात जो इसमें विशेष करके सम्पादित है वह यह है कि बिना गुरुके किसी को ज्ञान न कभी आज तक हुआ है और न हो सकता है इसकी पुष्टिके लिये स्वामीजीने चारो वेदके समस्त उपनिषद् भागका मन्थन कर डाला है और मुख्य-मुख्य सभी उपनिषदों की कथाओं द्वारा सिद्ध किया है, केवल स्वाध्याय से ज्ञान नहीं होता जब तक श्रद्धापूर्वक गुरु द्वारा न सुना जावे। अजातशत्रु वालाकि आदि अनेकानेक कथायें यह सिद्ध करती हैं और गुरु भी वही है जो आत्मज्ञान द्वारा शोक मोहकी अत्यान्तिक निवृत्ति करा देवे। और शिष्य भी वही है जो वैराग्यपूर्वक मोक्षकी इच्छासे ही गुरु की शरणमें जावे और अपनी सेवा सुश्रुषासे गुरु को प्रसन्न करे। तब गुरु प्रसन्न होकर उसे ब्रह्मविद्याका दान करता है जिसके पश्चात् कुछ जानना शेष नहीं रहता और शिष्य सदाके कृतकृत्य हो जाता है। दूसरी बात जि[illegible] जोर दिया गया है वह यह कि बिना [illegible] मनन निदिध्यासनके ज्ञान नहीं हो सकता तीनों साधन सत्संगमें एक ही साथ प्राप्त रहते हैं। सत्संग करनेसे अवश्य ब्रह्मनिष्ठा हो जाती है। इसकी आवश्यकता इ[illegible] विशेषकर है कि हमें वह चीज इस जन्म प्राप्त कर लेनी है जिसको हम अपने पूर्व [illegible] जन्मोंमें भी नहीं प्राप्त कर सके। हमारा जन्म होना ही सिद्ध करता है हम वह [illegible] प्राप्त कर सके जिससे जन्म-मरणकी [illegible] निवृत्ति हो जाती है। तीसरी बात यह बत[illegible] है कि ब्रह्मविद्या किसी जाति विशेष [illegible] आश्रम विशेषकी बपौती (अधिकार वि[illegible] नहीं है वरन सभी मानव शरीरधारीका[illegible] अधिकार है, हाँ इतना जरूर है कि बुद्धि [illegible] होनी चाहिए "दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या [illegible] सूक्ष्म दर्शिभिः" मगर यह सुन हम लो[illegible] हताश नहीं होना चाहिए क्योंकि सत्संग [illegible] तार करनेसे बुद्धि भी कुशाग्र हो जाती है। [illegible] बात जो विशेष करके सम्पादित है वह है ब्रह्मकी एकता। जो जीव ब्रह्ममें थोड़ा अन्तर मानता है उसका जन्म-मरणका [illegible]

कदापि नहीं छूटता। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति। अनेक और अनोखी युक्तियों द्वारा "तत" "त्वम्" पदोंका शोधन किया गया है और ऐसा करनेमें सभी मुख्य उपनिषदोंमें दी गई कथाओं और युक्तियोंका विस्तार से वर्णन हो गया है। विशेषकर संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ प्राणियोंके लिये तो यह आत्मपुराण पढ़नेके पश्चात उपनिषदोंकी क्लिष्ट भाषा और क्लिष्ट युक्तियोंके चक्करमें पड़नेकी आवश्यकता ही नहीं होती। "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति" इसको सिद्ध करनेकी युक्तियाँ स्वामीजी की निराली हैं और ठोस है जिसको कोई तार्किक काट नहीं सकता। नैयायिक दृष्टिकोण से उठाये गये तर्कोंका भी समुचित उत्तर दिया गया है। पाँचवी बात जो मुझको सबसे अच्छी लगी वह है वह दृष्टि सृष्टिवादका निराले ढंगसे प्रतिपादन। संसारको असार भ्रममात्र सिद्ध करके यह दिखलाया कि यह मनोविलास है जब मन जाग्रत स्वप्नमें उदय होता है तभी यह संसार दीखता है और जब सुषुप्तिमें लयभावको प्राप्त हो जाता है तो संसार रहता ही नहीं इसलिए—

मनका बना यह विश्व है,
मनका का बना यह देह है॥
मन मात्र कारण दुःख का,
इसमें न कुछ सन्देह है॥

सुषुप्तिमें जाग्रत स्वप्न वैसे ही नहीं रहते जैसे जाग्रतमें स्वप्न नहीं रहता जगतका मिथ्यात्व वर्णन करके अधिष्ठान रूपसे अजातवादका ही निरूपण किया गया है।

यह हम लोगोंका सौभाग्य है कि यह अमूल्य पुस्तक जो लोप प्रायः हो गई थी श्रद्धेय बाबा शारदारामजी महाराजकी अनुकम्पा और प्रेरणासे प्राप्त हो रही है मुझे पूर्ण आशा है कि पाठकगण इससे कृतकृत्यता प्राप्त करेंगे।

——

आत्म पुराणका सार

जो उपनिषदों का सार है वही आत्म पुराण का सार है कि निष्काम कर्मसे अन्तः-करण शुद्ध होता है और निष्काम उपासनासे अन्तःकरण एकाग्र होता है तथा जीव ब्रह्मकी एकताका बोध होने पर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे घटाकाशोंका महाकाशसे अभेद है उसी प्रकार सर्व जीवोंका ब्रह्मका अंश होनेसे ब्रह्मसे अभेद है। जैसे घटाकाश महाकाशका दूध दही-वत विकार नहीं है और न वृक्षके पत्ते फल-फूल की तरह अवयव है उसी प्रकार अन्तःकरण उपहित चेतन जीव ब्रह्मका विकार या अवयव नहीं है क्योंकि ब्रह्म निर्विकार अच्युत तथा निर्वयव है। जैसे घटाकाश महाकाशका सोपा-धिक अंश है स्वरूपतः अंश नहीं है उसी प्रकार जीव ब्रह्मका सोपाधिक अंश है स्वरूपतः अंश नहीं है। अतः जीव ब्रह्म स्वरूप ही है। जीव ब्रह्मका भेद और जगत सच्चा अज्ञानसे प्रतीत होता है।

दोहा—

जिमि अविकृत कौन्तेयमें, राधा पुत्र प्रतीति।
चिदानन्द घन ब्रह्ममें, जीव भाव तेति रीति॥
आतम रूप अज्ञान तैं, ह्वै मिथ्या परतीति।
जगत स्वप्न नभ नीलता, रज्जु भुजंगकी रीति॥

आत्म-पुराण महिमा

लेखक—सूर्यदेव वर्मा, वाराणसी

श्री मद्भगवद्गीताके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः" जैसे उपनिषदोंका सार गीता है उसी प्रकार वेदोंका सार उपनिषद् है। कुल १००८ उपनिषदें हैं उनमें ११ उपनिषदोंका बड़ा महत्व है—उनके नाम हैं :—ईशावास्योपनिषद, केनोपनिषद, कठोपनिषद, प्रश्नोपनिषद, मुण्डकोपनिषद, माण्डूकोपनिषद, एतरयोपनिषद, तैत्तिरीयोपनिषद, श्वेताश्वतरोपनिषद, बृहदारण्यक और छान्दोग्य—इन उपनिषदोंका सार आत्मपुराणमें बड़े मार्मिक तथा रोचक ढंगसे दिया गया है—जिनको उपनिषदोंका गूढ़ और मार्मिक अर्थ तथा रहस्य जाननेकी उत्कंठा हो उनको आत्मपुराणका सावधानता पूर्वक अध्ययन अवश्य करना चाहिए—यदि कोई मुमुक्षु आत्मपुराणका आश्रय लेकर नित्य उसका अध्ययन तथा मनन करेगा तो इसमें सन्देह नहीं कि उसको केवल आत्मपुराणसे ही उपनिषदोंका सार ग्रहण होकर आत्म साक्षातकार भी हो जायेगा। इसी स्थितिको परम गति तथा कैवल्य परमपद कहते हैं जो देवताओंको भी दुर्लभ है—जब केवल एक ग्रंथके अनुशीलन तथा मननसे उस परमपदकी प्राप्ति जीवको हो जाती है जो उसको इससे पूर्व किसी शरीरमें नहीं हुई थी। उस वि[illegible] वन्दनीय आत्मपुराणकी जितनी भी प्रशंसा [illegible] वन्दनाकी जा सके वह थोड़ी है—इसलिये प्रत्[illegible] मुमुक्षुका यह धर्म तथा कर्तव्य है कि आ[illegible] पुराण जो मासिक पत्रिका परमानन्द संदे[illegible] विशेषांकके रूपमें आगामी मासमें प्रका[illegible] हो रहा है उसकी प्रति अपने पास अवश्य [illegible] और इस सुअवसरका लाभ उठाकर पर[illegible] परमानन्द प्राप्त करें क्योंकि इसी पदकी प्रा[illegible] के लिये यह पारसरूपी मानव [illegible] मिला है जो साधन धाम और मोक्षका दर[illegible] है। यदि इस मोक्षके दरवाजेमें कोई प्रवेश [illegible] चाहता है तो उनको आत्मपुराणकी शरण अ[illegible] लेना चाहिए। इस अमूल्य ग्रंथके प्रकाश[illegible] साधक तथा मुमुक्षुओंकी वह माँग जो [illegible] लिये बहुत दिनोंसे थी पूरी हो जाती है क्यों[illegible] आत्मपुराण किन्हीं-किन्हीं महानुभावोंके पा[illegible] भी तो वह मुमुक्षुओं तथा साधकोंको [illegible] सकुचाते थे, वह कमी अब इस नवीन प्रका[illegible] से दूर हो जाती है। इस सुन्दर एवं उपयो[illegible] सम्पादन एवं प्रकाशनके लिये परमानन्द सं[illegible] के सम्पादक जीका सभी मुमुक्षु आभारी [illegible] क्योंकि उन्होंने उस अभावकी पूर्ति की है [illegible] मानवके लिये परम उपयोगी तथा आव[illegible] हैं—मुमुक्षु जनोंके लिये यह अनुपम ग्रन्थ [illegible]

इसमें उपनिषदोंका निचोड़ बहुत ही सरल, रोचक तथा विस्तारसे वर्णन किया गया है— सद्गुरु श्री १००८ योगी राज ब्रह्मनिष्ट बाबा शारदाराम मुनिजी महाराजके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं। क्योंकि उनकी महती कृपा तथा आशीर्वादसे यह अनुपम ग्रंथ सर्व साधारणको उपलब्ध हुआ है। न केवल मुमुक्षुओंको ही इस ग्रंथसे लाभ पहुँचेगा बल्कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि सर्व साधारण को भी इसके अध्ययन तथा मननसे विशेष रूप से लाभ होगा।

अनादि मायासे सोया हुआ जीव सदा उस परमपदकी तलाशमें रहता है मगर मार्गका ठीक ठीक पता न मालूम होनेसे तृषित हो मृग जल की तरह आनन्दके बजाय बार बार दुखको ही प्राप्त होता रहता है। जैसे—

"अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते,
अजम, निद्रम, स्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।

प्रपंच जो दुख रूप है उसकी प्रतीति माया के ही कारण है—मायाकी महिमासे ही आत्मदेव अव्यक्त वासना रूपसे स्थित भेद समूहको व्यक्त करता है। यह माया न सत है, न असत है और न सदसत है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न है, यह न सावयव है न निरवयव है और न उभय रूप है, वस्तुतः स्वरूप विस्मृतिका ही नाम माया है—अतः स्वरूप ज्ञानसे ही उसकी निवृत्ति हो सकती है, जैसे रज्जुके अज्ञानसे ही मन्द अन्धकारमें सर्प, धारा, दंड आदि अनेक प्रकारके विकल्प हो जाते हैं किन्तु रज्जुका ज्ञान होते ही एक मात्र रज्जुही रह जाती है उसी प्रकार माया मोहित जीवको ही भेद प्रपंचकी भ्रांति हो रही है— मायाका परदा हटते ही एक मात्र अखंड अद्वैत वस्तु ही शेष रह जाती है। विज्ञ जन इस अनउत्पन्न हुए प्रपंचको स्वप्न और गन्धर्व नगर के समान देखते हैं—सिद्धान्त तो यह है :—

"न निरोधो न चोतपत्तिर्न वद्धो न च साधकः,
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।

जीवको मायासे छुटकारा पानेके लिये तथा प्रपंच, जीव, ब्रह्म-ईश्वरका सम्बन्ध व भेद जाननेके लिये आत्म पुराणका सावधानता पूर्वक अनुशीलन अवश्य करना चाहिए क्योंकि मानव का यही पुरुषार्थ है—इसी पुरुषार्थके बलपर यह जीव नरसे नारायण हो जाता है और सदाके लिये परमपद जिसको गीतामें भगवानने कहा है कि "यद गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमंमम" में स्थित हो जाता है—



आत्मनिष्ठा का पुष्ट आधार आत्म पुराण

ठाकुर दत्त त्रिपाठी

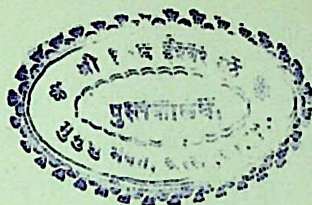
जीवका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है। वह उसे अनादिकालसे भूल गया है। अपने स्वरूप में बिना पूर्ण निष्ठा किये उसका मोक्ष होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि आत्म निष्ठा करानेवाले सद् शास्त्रोंका अध्ययन करें। सद्गुरुके पास जाकर सतसंग करें तथा स्वरूप चिन्तन करके रातदिन अपने प्राचीन अभ्यासका पूर्ण रूपसे परित्याग करें। इस प्रकार धीरे-धीरे मोक्षका पात्र बनकर जीव उसी भाँति ब्रह्मसे मिलकर ब्रह्म ही हो सकता है जिस प्रकार सागरमें मिलकर नदी भी सागर हो जाती है।

सरिता जल जलनिधि मँह जाई,
होय अचल जिमि जिव हरि पाई।

आत्मामें स्थिति करानेके लिए आचार्यों एवं महात्माओंने अनेक ग्रंथ लिखे हैं उनमेंसे आत्म-पुराण एक बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। आत्माका जैसा विस्तृत वर्णन इसमें मिलता है उतना अन्यत्र नहीं।

श्री मद्भागवत महापुराणमें भी आत्माका विवरण बहुत ही कम है। इतना बड़ा ग्रन्थ लौकिक विवरणसे ही पूर्ण है। आत्मपुरा[illegible] लेखकने इस बातकी चुनौती दी है कि [illegible] विस्तृत वर्णन लौकिक विषयोंका हो सक[illegible] उतना ही आत्माका भी हो सकता है। [illegible] पुराणका पूर्ण अध्ययन जो कर लेगा [illegible] मन अवश्य समाप्त हो जायगा क्योंकि [illegible] समुद्रमें एक घड़ा जल डाल देनेपर पता ही[illegible] चलेगा कि वह जल कहाँ और किस [illegible] चला गया। जब मनका अत्यन्ताभाव हो [illegible] है तभी जीव सदाके लिये मुक्त हो जा[illegible] फिर उसके लिये किसी भाँतिका बन्धन [illegible] रहता। सदाके लिये आवागमनका [illegible] छूट जाता है।

पूज्यनीय बाबा शारदारामजीके शुभा[illegible] "शारदा प्रतिष्ठान" आत्म पुराणका [illegible] प्रकाशन कर मानव समाजका अपूर्व कल्याण[illegible] रहा है। इसकी जितनी भी प्रशंसा की [illegible] थोड़ी ही है। इसकी सफलताके लिये मैं [illegible] कामना करता हूँ तथा आशा भी करता हूँ [illegible] इस पावन कार्यमें उसे अवश्यमेव सफल[illegible] प्राप्त होगी।



ॐ

श्री गुरु परमात्मने नमः

आत्म-पुराण

उपनिषदों का सार

अज्ञान तिमिरांधस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥
शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्र भाष्य कृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥

प्रवेश

परम कृपालु परमात्माने सृष्टिके आदि में जीवोंके मोक्षके लिये वेदोंकी रचना की। प्रथम कर्मकाण्डमें जीवोंके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमके धर्मोंका निरूपण किया। द्वितीय, उपासना काण्डमें जीवोंके विक्षेपकी निवृत्तिके लिये नाना प्रकारके उपासनाओंका निरूपण किया। 'तृतीय ज्ञान-काण्ड'में कर्म-उपासनासे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, ऐसे मुमुक्षु जीवों के ब्रह्मभाव की प्राप्ति और जन्म-मरण की निवृत्ति रूप मोक्ष के लिये जीव-ब्रह्म के अभेद (एकता) का निरूपण किया।

सिद्ध है कि सम्पूर्ण वेद जीव-ब्रह्मके अभेदके प्रतिपादक हैं। वेदोंको जीव-ब्रह्मके

भेदका प्रतिपादक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जीव-ब्रह्ममें भेद देखने वाले पुरुषको वेदमें भयकी प्राप्ति कही गई है। और भेदका बोधन करनेसे वेद अप्रमाण हो जायगा। क्योंकि "मैं ईश्वर नहीं हूँ" इस प्रकार जीव-ईश्वरका भेद लोकमें सभी मानते और जानते हैं। जिस फलदायक अर्थको लोकमें लोग नहीं जानते उसका बोध कराने के कारण ही शास्त्रोंमें वेदको प्रमाण कहा गया है।

जीव-ब्रह्मका भेद लोकमें प्रसिद्ध है। इस भेद ज्ञानके कारण ही मोक्ष रूप फलकी प्राप्ति भी नहीं होती, उल्टा जन्म-मरणके बंधन की प्राप्ति होती है। इसलिये भेदको बतलाना वेदोंका तात्पर्य नहीं है। अतः परमेश्वरके तात्पर्यको न जाननेके कारण भेदवादी जन सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य जीव-ईश्वरका भेद निरूपण है ऐसा कहते हैं। फल यह होता है कि जीव भेदज्ञानको निश्चय करके जन्म-मरण रूप दुःखको प्राप्त होता है। उन जीवों को दुःखी देखकर परम कृपालु शंकरजी शंकराचार्यजीके रूपमें अवतार धारणकर उपनिषदों और श्री व्यास सूत्रोंका भाष्य किये। उस भाष्यमें भेदवादियोंका खण्डन कर सभी उपनिषदोंका तात्पर्य जीव-ब्रह्मका अभेद बोधन है, ऐसा निरूपण किए।

श्री शंकराचार्य जीके भाष्यसे उपरि का अर्थ समझनेमें जिनकी बुद्धि समर्थ है, ऐसे मुमुक्षु जनों पर कृपा करके श्री स्व शंकरानन्द जीने मननके लिये उप उपनिषद् वाक्योंके अर्थको 'आत्मपुराण' न ग्रन्थमें निरूपण किए।

'आत्म पुराण' ग्रन्थमें भी लो प्रवृत्ति न देखकर पंडित काकारामजीने उ टीका की। व्याकरण आदिके अभ्य रहित भाषा पढ़नेवाले मुमुक्षु जन उस युक्त आत्मपुराणके समझनेमें असमर्थ उनके हित के लिये श्री स्वामी चिद्घन गिरि जी महाराजने संवत् १९३१ वि प्रारम्भ कर संवत् १९३४ विक्रमी कार्तिक ११को समस्त उपयोगी टीकाओंको मि आत्मपुराण ग्रन्थकी रचना भाषामें पूर्ण ८८ वर्ष पूर्वकी भाषामें होनेके कारण २०१९ विक्रमी के हिन्दी भाषी मुमुक्षु आत्म पुराणके अर्थको समझनेमें कठि का अनुभव करते हैं। साधारण पढ़े हिन्दी भाषा भाषी लोगोंके हितके लिये अत्यन्त उपयोगी आत्मपुराण को हिन्दी में अवतरित किया जाता है। आशा है के संस्कृत ज्ञान से रहित मुमुक्षु जन इस आत्म पुराणके द्वारा श्रुतियोंके अर्थ उनके तात्पर्यका ज्ञान करनेमें समर्थ होंगे

॥ ॐ नमः परमात्मने ॥

आत्म-पुराण

प्रथम अध्याय

इस अध्यायमें ऋगवेदके ऐतरेय उपनिषद्का अर्थ निरूपण करते हैं। सर्व प्रथम गुरु शिष्यके सम्वाद द्वारा अधिकारीका लक्षण कह रहे हैं।

वेदपाठी, गुरु द्वारा बतलाये हुए अर्थको धारण करनेमें समर्थ बुद्धिवाला कोई उदार मुमुक्षु पाँच प्रकारके भेद-ज्ञानसे भयभीत संसारको देखकर विचार करने लगा—

ईश्वर-जीवका भेद, जीवोंका परस्पर भेद, जीव-जड़का भेद, ईश-जड़का भेद, जड़ जड़का भेद ये पाँच प्रकारके भेद ज्ञान अत्यन्त कष्टकर हैं। इस संसार रूपी शूलके द्वारा सम्पूर्ण देहधारी जीव जन्म-मरण रूप दुःखको प्राप्त कर रहे हैं। वे काम, क्रोधादि से युक्त स्त्री रूपी वृकके द्वारा सुख प्राप्त कर रहे हैं। यद्यपि स्त्री सुखका कारण नहीं, उल्टा दुःखका कारण है। जैसे मार्ग चलने के कारण थके हुए मनुष्यको पाद प्रहार भी सुखकर मालूम पड़ता है, उसी प्रकार विषयोंमें प्रीति रखने वाले पुरुषको स्त्री दुःखका कारण होते हुए भी सुखका कारण प्रतीत होती है। ऐसे दुःखरूप संसारशूलसे लोकमें सब प्राणियों को भय क्यों नहीं होता? ऐसा विचार कर उस बुद्धिमान मुमुक्षुने अपने गुरुसे पूछा—"हे भगवन्! इस संसार शूलको परित्याग कर पुरुष किस उपायसे मोक्षको प्राप्त कर सकता है? सत्व, रज, तम इन तीन गुण रूपी शिखाओंसे युक्त अज्ञानरूपी लौहसे निर्मित यह संसार शूल अत्यन्त तीक्ष्ण है।"

शिष्यके प्रश्नको सुनकर कृपासागर

गुरुने कहा—"केवल ज्ञान ही अज्ञानकी निवृत्तिका उपाय है। कर्म, और उपासना अज्ञान निवृत्ति के कारण नहीं हैं।"

शिष्यने पुनः प्रश्न किया—"मैंने संसार रूप शूलकी निवृत्तिका उपाय पूछा था और आपने अज्ञानकी निवृत्तिका उपाय कहा है। अतः यह हमारे प्रश्नका उत्तर नहीं बना।"

गुरुदेवने कहा—"काम-क्रोधादि और स्त्री रूप वृक्षसे युक्त यह सम्पूर्ण संसार रूप शूल परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न हुआ है। जैसे सूत्रके नाश होनेपर वस्त्रका भी नाश हो जाता है, वैसे ही ज्ञानसे मायाका नाश होनेपर मायाका कार्य जो संसार शूल है उसका भी नाश हो जाता है।"

शिष्यने पुनः पूछा—"इससे पहले आपने ज्ञान द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति कही थी और अब ज्ञानके द्वारा मायाकी निवृत्ति कह रहे हैं। अतः दोनों बातोंमें विरोध प्रतीत हो रहा है?"

गुरुजी ने समझाया—"माया और अज्ञान एक ही अर्थके वाचक हैं। जैसे घट और कलश।"

शिष्य बोला—"ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, यह बात बनती नहीं। क्योंकि घट-पट आदिका ज्ञान लोकमें सबको है परन्तु किसीका अज्ञान निवृत्त नहीं होता।"

गुरुदेवने कहा—"वेदान्त शास्त्रके श्रवणसे उत्पन्न ज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक है। इससे भिन्न जितने ज्ञान हैं सब अज्ञान रूप हैं। इसलिए इनसे अज्ञानकी निवृत्ति [illegible] होती। जैसे सन्निपातका रोगी भ्रमवश क[illegible] है—"मुझे भेरीका शब्द सुनाई पड़ता [illegible] परन्तु उसके ज्ञानको लोकमें कोई भी [illegible] नहीं मानता। इसलिये वेदान्त श्रवण [illegible] गुरु कृपासे उत्पन्न "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा [illegible] ही मोक्ष प्राप्तिका मार्ग है। जिस प्रकार [illegible] ज्ञानसे घटका अज्ञान ही नाश होता है, [illegible] प्रकार संसार शूलरूपी अज्ञान नाशके [illegible] ब्रह्मका ज्ञान होना आवश्यक है। हे शि[illegible] संसाररूप शूलका परित्याग करके ब्रह्म [illegible] प्राप्ति रूप मुक्ति मण्डपमें विराजमान अपने स्वरूपके अज्ञानकी निवृत्तिके [illegible] वेदान्त श्रवण आदि साधनोंसे ब्रह्म [illegible] सम्पादन करो और आत्म ज्ञानसे भिन्न रूपी बन्धनके देनेवाले समस्त कर्मोंका त्याग करो। यह आत्म ज्ञान संसार शू[illegible] कारण अज्ञानका नाशक और भेदसे [illegible] आत्म स्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला [illegible] परम पुरुषार्थ है।"

"देश परिच्छेद, काल परिच्छेद [illegible] परिच्छेद इन तीनों परिच्छेदोंका आत्म [illegible] ब्रह्म में अभाव है। समझानेके लिये [illegible] अनात्म पदार्थोंमें तीनों परिच्छेदोंको [illegible] अलग दिखलाते हैं।"

"अत्यन्ताभावकी प्रतियोगिताका देश परिच्छेद है। जैसे पृथ्वीपर पड़े घटका अन्य देशमें अत्यन्त अभाव है। अत्यन्ताभावका प्रतियोगीपना घटमें है।

"प्रागभाव और प्रध्वंसाभावकी

योगिताका नाम काल परिच्छेद है। जैसे-घट की उत्पत्तिके पूर्व कपालमें घटका प्रागभाव रहता है और घटके नाश होने पर उस कपाल में घटका प्रध्वंसाभाव रहता है। इन दो अभावोंका प्रतियोगीपना घट में है।"

"अन्योन्याभावकी प्रतियोगिताका नाम वस्तु परिच्छेद है। जैसे-पट घट नहीं है इस प्रतीतिसे घटका अन्योन्याभाव पटमें भासित होता है। इस अन्योन्याभावका प्रतियोगीपना घटमें है।"

"इस प्रकारसे सभी अनात्म पदार्थ उपयुक्त तीन परिच्छेदोंसे युक्त हैं और आत्मस्वरूप ब्रह्ममें इनका अभाव है। क्योंकि व्यापक होनेसे देश परिच्छेद ब्रह्ममें नहीं, उत्पत्ति, नाशसे रहित होनेसे ब्रह्ममें काल परिच्छेद नहीं और सर्वका आत्मा तथा अधिष्ठान होनेसे वस्तु परिच्छेद ब्रह्ममें नहीं है। इस अभिप्रायसे ही श्रुतिने जीव-ब्रह्मका अभेद कहा है। आत्म-स्वरूप ब्रह्म के प्राप्तिका साधन ज्ञान है। इसलिये श्रुति ज्ञानको ब्रह्मरूप कहती है। ज्ञानको श्रुतिमें सत्यरूप भी कहा है, क्योंकि सत्य ब्रह्मको प्राप्त करनेवाला ज्ञान ही है। यद्यपि अज्ञानके निवर्तक वृत्तिज्ञानको ब्रह्मरूप और सत्य रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रवणादिके द्वारा वृत्तिज्ञानकी उत्पत्ति होती है। तथापि सत्यज्ञानके प्राप्तिका साधन ज्ञान ही है। इसीलिये ज्ञानको ब्रह्मरूप और सत्यरूप कहा है। जैसे आयुकी वृद्धि करने वाले घृतको शास्त्रमें आयु कहते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म और सत्य शब्दका ज्ञान गौण अर्थ और आत्मा मुख्य अर्थ है।"

"आदि अन्त और मध्यमें अपने स्वरूपको न त्यागनेवाले, तीनों कालमें एक रहनेवाले को सत्य कहते हैं। मैं सत्यका स्वरूप हूँ, मुझसे भिन्न समस्त अनात्म वस्तु असत्य हैं, यही सत्यका अर्थ है। जो वस्तु 'है' इस ज्ञानका और 'है' इस शब्दका विषय हो उसे लोकमें सत्य कहते हैं और जो "नहीं है" उसे असत्य कहते हैं। जैसे वन्ध्या पुत्र।"

शिष्य बोला—"घट है, पट है, इस प्रकार से 'है' शब्द और 'है' शब्दका विषय घट, पटादि भी सत्य होना चाहिये, परन्तु सिद्धान्तमें ब्रह्मसे भिन्न कोई पदार्थ सत्य नहीं है, इन दोनोंकी संगति कैसे बैठेगी?"

गुरुने कहा—"सत्-चित्-आनन्दरूप ब्रह्म मैं हूँ इससे मेरी ही सत्यता सभी अनात्म पदार्थों में प्रतीत हो रही है। इसलिये आत्मासे भिन्न कोई सत्य नहीं। उस सत्य स्वरूप आत्माको विषय करनेवाले ज्ञानको भी श्रुतिने सत्य कहा है। जैसे सत्य अर्थको बतलानेवाले विचारवान् पुरुषोंके वचन लोकमें सत्य कहे जाते हैं। अतः सत्य शब्दका परमात्मा ही मुख्य अर्थ और ज्ञान गौण अर्थ है। शत्रुसे रहित हिरण्यगर्भको श्रुतिने सत्य कहा है, उसी प्रकार अज्ञान और अज्ञानके कार्य प्रपंचरूप शत्रुको नाश करनेवाले आत्मज्ञानको भी सत्य कहा है। क्योंकि शत्रुका अभाव ज्ञान और हिरण्यगर्भ दोनोंमें समान है।"

शिष्यने प्रश्न किया—"ज्ञानका शत्रु अज्ञान और उसका कार्य प्रपंचको आप असत्य कह रहे हैं। यह बात ठीक नहीं बनती, क्योंकि

असत्य उसे कहते हैं जिसका तीनों कालमें अभाव हो पर अज्ञान और उसके कार्य प्रपंच-का तीन कालमें अभाव नहीं हैं। यद्यपि ज्ञान-कालमें अज्ञानका नाश हो जायगा तथापि वर्तमान और अतीतकालमें अज्ञान विद्यमान रहेगा, क्योंकि अज्ञान अनादि है और उसका कार्य प्रपंच भी वर्तमानकालमें है। अतः अज्ञान और प्रपंचको असत्य नहीं कहा जा सकता।"

गुरुदेवने कहा—"जो वस्तु किसी काल में हो और किसी कालमें न हो उसे असत्य कहते हैं। तीनों कालमें जिसका अभाव हो वही असत्य है यह नियम नहीं। अज्ञानका तो भविष्यत कालमें अभाव है और प्रपंचका भूत-भविष्यत दोनों कालमें अभाव है। इससे अज्ञान और प्रपंच दोनों असत्य हैं। जैसे वन्ध्या-पुत्र और स्वप्न भूत, भविष्यत् कालमें नहीं हैं इस-लिये वर्तमान कालमें भी कोई उन्हें सत्य नहीं कहता है। अतः आत्मासे भिन्न सभी वन्ध्या पुत्र और स्वप्नके समान असत्य हैं। क्योंकि वन्ध्या पुत्रका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार कार्य सहित अज्ञानका भी ज्ञान कालमें अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है। इससे दोनों समान हैं।"

शिष्य बोला—"गुरुदेव! आत्माके प्रकाशको पाकर कार्य सहित अज्ञान भासता है और वन्ध्या पुत्र नहीं भासता है। इसलिये वन्ध्या पुत्र और कार्य सहित अज्ञानमें विल-क्षणता है।"

गुरुदेवने कहा—मुमुक्षुको यद्यपि वन्ध्या-पुत्रसे अज्ञानमें विलक्षणता प्रतीत होती है तथापि ज्ञानीकी दृष्टिमें दोनों समान हैं। इसलि आत्माके प्रकाशको पाकर अज्ञान भासता और वन्ध्यापुत्र नहीं भासता यह कहना उचि नहीं। क्योंकि यदि आत्माकी सत्ता प्रकाश पाकर अज्ञानको सत्य मानेंगे तो वन्ध्यापुत्र भी सत्य होना चाहिये। जैसे लोकमें दूस धनको देखकर कोई अपनेको धनी नहीं कह उसी प्रकार आत्माके सत्ता प्रकाशसे अज्ञान सत्य कहना ठीक नहीं। अतः कार्य सहि अज्ञान और वन्ध्यापुत्र दोनों ज्ञानीके वि विलक्षणता रहित समान हैं। यदि मुमुक्षु दृष्टिको मानकर आनन्दरूप आत्मामें अज्ञान रज्जु सर्पकी तरह कल्पित मान लें तो भी भे बुद्धि, मिथ्या ही सिद्ध होगी। क्योंकि कल्पि वस्तुका अधिष्ठानसे भेद नहीं होता।

अनेक जन्मोंके पुण्यों द्वारा 'मैं ब्रह्म ऐसा जिसको ज्ञान उत्पन्न हो गया है उसे अ कोई अनात्म वस्तु जानने योग्य नहीं है क्योंकि जीव-ब्रह्मका अभेद ज्ञान ही परमान की प्राप्ति करानेवाला है। अतः वेदान्त उत्पन्न परमानन्ददायक ज्ञानका परित्याग जन्म-मरण रूप बन्धनका कारण कर्म न करना चाहिये। जो जीव सच्चिदानन्द स्वरू अन्तर्यामी, अद्वितीय आत्माका परित्याग क हैं वे पशु आदिके तामसी शरीरोंको पाते हैं परमेश्वर द्वारा उत्पन्न वेदोंको न मानना परमेश्वरका त्याग है। हे शिष्य! तुम्हारे बोध लिये इस विषयमें प्राचीन इतिहासको कहते हैं यह इतिहास मोक्षके साधनोंको बतलानेवाला है सनकादिक मुनियों और प्रजाके सम्वाद रूप

इतिहासको सुनाते हैं। ध्यानपूर्वक श्रवण करो।"

"सृष्टिके आदि कालमें ब्रह्माने सनकादि चार पुत्रोंको उत्पन्न किया। वे सनकादि कुमार अतर्क्य वेदोंके अर्थको जाननेवाले, बाह्य और अन्तर इन्द्रियोंको अपने वशमें रखने वाले, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेवाले, परम संतुष्ट और आत्मज्ञानी थे। लोक कल्याणके लिए ही जिन्होंने शरीरको धारण किया है ऐसे परमोदार सनकादि कुमारोंने प्रजाको मोक्षके साधन आत्मज्ञानसे रहित और विषयोंमें आसक्त देख कृपा पूर्वक प्रजाजनोंसे कहा—"हे प्रजा जनों! आत्मज्ञान ही तुम्हारे लिए सुखका साधन है। इससे भिन्न सब दुःखके साधन हैं।"

पूर्व संस्कारोंके वशीभूत मोह युक्त प्रजाने सनकादि कुमारोंकी अमृतमयी वाणीको सुनी अनसुनी कर दिया। और मुनियोंके वचनोंका अनादर कर विषय सुखके लिए जन्म मरणके कारण कर्मोंको प्रजाजन करने लगे। उन में जो अधम, मध्यम, उत्तम भेदसे तीन प्रकार के तामसी प्रजाजन थे, वे पापयुक्त होकर वेदकी आज्ञाको नहीं माने और पूर्वके मलिन संस्कारों से उत्पन्न बुद्धिके द्वारा शब्द,स्पर्श आदि विषयों को ही सुखका साधन मानने लगे। इस विषयाकांक्षणी बुद्धिसे उनके मन, वाणी और शरीरमें दोष उत्पन्न हो गया। जैसे दूसरेके धनको लेनेकी इच्छा यह मनका दोष है, कठोर वचन और मिथ्या बोलना यह वाणीका दोष है और चोरी आदि अनेक कुकर्म शरीरके दोष हैं। इन तीन दोषों के द्वारा वे तीन प्रकार के शरीरोंको प्राप्त हुए। उनमेंसे कोई आकाशमें विचरनेवाले पक्षी आदि हुए, कोई भूमिमें वृक्ष आदि हुए और कोई सर्पादि हुए। वे पक्षी आदि शरीर मनुष्यों द्वारा खाये और नाश किये जाते हैं। काटे मारे जाते हैं। हस्तपाद वाग्-आदि इन्द्रिय और सुख से रहित अत्यन्त दुःखी हैं। उनमें से भी पक्षी हाथसे रहित हैं और वृक्ष ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियसे रहित हैं। यद्यपि पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण और अन्तकरण रूप लिंगशरीर वृक्षों में भी सूक्ष्मरूपसे है। परन्तु मनुष्योंके समान स्पष्ट प्रसिद्ध न होनेके कारण न होनेके समान ही है। ग्राम और बनमें रहनेवाले पशु स्पष्ट वाणीसे रहित हैं, क्योंकि उनके वाणीके अर्थ का बोध नहीं होता है। सर्पादिक पैरसे रहित होते हैं यह सभी जानते हैं। इस प्रकार तामसी पुरुषोंकी गति बतलायी गयी।

सात्विक पुरुषोंकी गति कहनेके पूर्व राजस सात्विक पुरुषोंकी प्रकृतिको बतलाते हैं—

राजस प्रजाजन आत्मज्ञानका त्यागकर वेदवर्णित यज्ञ आदि कर्म और अग्नि, सूर्य, वायु आदि देवताओंकी उपासनाको ही सुखका साधन मानकर उसमें प्रवृत्त हो गये। इस प्रकार उपासना करनेवाली प्रजा वेदमें कहे हुए भिन्न-भिन्न फलोंको देखकर दो भागोंमें विभक्त हो गई। एक राजसी प्रजा स्वर्गादि सुखके लिये कर्म-उपासनाको करने लगी। दूसरी सात्विक प्रजा उपासनाके पूर्व परस्पर विचार करने लगी—

वेदोंके जाननेवाले सनकादिकुमारोंने हमारे लिये मोक्षका साधन आत्म-ज्ञान कहा था। परन्तु उस ज्ञानमें हमारा अधिकार नहीं है।

क्योंकि जिसका ज्ञान सुखका साधन है, ऐसा जो 'त्वं' पदका लक्ष्य साक्षी कूटस्थ और 'तत्' पदका लक्ष्य परब्रह्म, इनको हमने देहादिसे अलग नहीं किया है। अपने वेदज्ञ पूर्वजोंके वचनोंके द्वारा भी हमने परमात्माको नहीं जाना, अपनी बुद्धि के द्वारा भी उस परमात्माको नहीं जाना, मन-की प्रवृत्तिमें कुशल होनेपर भी हमने अपने मन द्वारा उस परमात्माकी कल्पना नहीं की, इस देहरूपी मन्दिरमें वह परमात्मा है, उसे हमने घ्राण इन्द्रियके द्वारा भी सूंघकर नहीं जाना, चक्षु आदि अन्य इन्द्रियोंके द्वारा स्वप्नमें भी हमने उस परमात्माको नहीं जाना और श्रुति वाक्यों द्वारा भी उस निर्गुण परमात्माको नहीं जाना। अपने श्रद्धालु शिष्योंको भी हमने कभी निर्गुण परमात्माका उपदेश नहीं दिया है। आत्मा स्थूल शरीरसे भिन्न, कर्ता और पुण्य-पापके फलका भोक्ता है यही स्वरूप आत्माका हमने जाना है। श्रुतिने भी आत्माको श्रोता द्रष्टा और विज्ञाता कहा है। वाक्-प्राणके व्यापारमें परस्पर लय-चिन्तनरूप अंतर अग्नि-होत्रको जाननेवाले कवप ऋषिके पुत्र जैसे बाह्य अग्निहोत्रसे वैराग्यको प्राप्त हुए, वैसे हम यज्ञ आदि कर्मोंसे वैराग्यको नहीं प्राप्त हुए हैं। इस-लिये गुरुके पास जाकर अपने स्वरूपके निर्णय करनेमें भी हमारा अधिकार नहीं है। यदि हम उस परमात्माको न जानकर स्वर्ग आदि सुखकी प्राप्तिके लिये कर्मोंको ही करते रहेंगे तो हमारा यह जन्म निष्फल जायगा। क्योंकि सभी जीवों का शरीर परमात्माने निर्गुण ब्रह्मको जाननेके लिये ही रचा है। यह शरीर विषय भोगके लिये नहीं है। इसीलिये श्रुतिमें पादके नखाग्रसे [illegible] मस्तक पर्यन्त सर्वत्र ब्रह्मका प्रवेश कहा [illegible] उन शरीरोंमें भी गुरु और शास्त्र आदि साधन[illegible] युक्त पुरुषका देह ही स्पष्ट आत्मज्ञानके लिये [illegible] क्योंकि श्रुतिने इस पुरुष शरीरमें ही आत्म[illegible] अपरोक्ष ज्ञान कहा है। पहले सनकादि मुनि[illegible] ने कहा था—"मोक्षका साधन आत्मज्ञान [illegible] तुम्हारे लिये करने योग्य है।"

आत्मज्ञानके सम्पादनमें अपने [illegible] असमर्थ देखकर ज्ञान प्राप्तिके अधि[illegible] होनेके लिये चिन्तन करते हुये प्रजाओं[illegible] मौन धारणकर ऐसा निश्चय किया कि [illegible] वैराग्य, षटसम्पत्ति, मुमुक्षुत्व इन चार साधन[illegible] द्वारा अधिकारी बननेके लिये कर्म उपा[illegible] करना चाहिये। ऐसा विचार दृढ़ होनेपर सा[illegible] प्रजा फलकी इच्छासे रहित होकर कर्म [illegible] उपासनाको करने लगी। ३०-१०-६२

कर्म-उपासनासे जिनका अन्तःकरण [illegible] हो गया वे शम, दम आदि साधनोंसे युक्त [illegible] अपनेको आत्मज्ञानसे रहित जान मुमुक्षु [illegible] पुनः सनकादि मुनियोंके पास जाकर ब्रह्मज्ञान[illegible] प्राप्तिके लिये अपना सम्पूर्ण अभिप्राय [illegible] दन किये।

मुमुक्षु प्रजाजनोंकी प्रार्थनाको सुनकर [illegible] सागर सर्वज्ञ सनकादि मुनियोंने आत्मज्ञान[illegible] उपदेश देते हुए कहा—"हे प्रजाजनों! [illegible] और मनका विषय आत्मा नहीं है। [illegible] जाति, गुण और क्रियासे युक्त वस्तुका ही [illegible] बोध कराते हैं। जैसे 'घट' यह शब्द [illegible] जातिवाले घटका बोध कराता है। और '[illegible]

यह शब्द पाक क्रिया करनेवाले पुरुषका ही बोध कराता है। इस प्रकार किसी धर्मको ग्रहण करके ही शब्द अपने अर्थका बोध कराता है। आत्मा जाति आदि धर्मोंसे रहित है, इसलिये उसमें शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

अतः मन-वाणीका अविषय सत्-चित्-आनन्दरूप आत्माको कहनेमें यद्यपि हम समर्थ नहीं हैं और तुम भी जाननेमें असमर्थ हो। तथापि निर्गुण परमात्मामें जगतका आरोपण करके, उस जगतका निषेध रूप अपवाद से सिद्ध भाग-त्याग लक्षणाके द्वारा हम परमात्माके विषयमें तुमसे कहते हैं। जैसे सोये हुए राजाको वन्दीगण जगाते हैं, उसी प्रकार वास्तवमें शुद्ध और अज्ञानरूप निद्रासे मोहित परमात्माको वेदान्त शास्त्र भाग-त्याग लक्षणाके द्वारा बोध कराते हैं।"

प्रजाजनोंने पूछा—"हे भगवन्, पहले आपने कहा है कि वेदान्त शुद्ध आत्माका बोध कराता है। यह बात समझमें नहीं आती। क्योंकि आत्मा अहंकार आदिसे विशिष्ट है। इसीसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा सिद्ध है।"

सनकादि मुनियोंने कहा—"आत्मामें जो [illegible]कारपना है वह माया द्वारा कल्पित होनेसे [मि]थ्या है। सर्व कल्पनाका अधिष्ठान वस्तु ही [आ]त्म शब्दका अर्थ है। शास्त्र संस्कारसे रहित [लौ]किक पुरुषों और शास्त्रके जाननेवाले वादी [पु]रुषोंने लोकमें दो प्रकारके शब्द और दो [प्र]कारके ज्ञान निश्चय किये हैं। उस शब्द और [ज्ञा]नका विषय रूप अर्थ भी दो प्रकारका है। वहाँ "अहं" इस शब्द और 'अहं" इस ज्ञानका अर्थ अन्तरात्मा है। "न अहं" यह शब्द और 'न अहं' इस ज्ञानका अर्थ बाह्य अनात्म वस्तु है। वहाँ "अहं" इस शब्दसे और "अहं" इस ज्ञानसे आत्मरूप अर्थ भिन्न है। "न अहं" यह शब्दसे और "न अहं" इस ज्ञानसे अनात्मरूप अर्थ भिन्न है। इस प्रकारसे परस्पर भिन्न शब्द, ज्ञान, अर्थको एकरूप जान करके भ्रान्त पुरुष आत्माको "अहं" शब्द और "अहं" ज्ञानका विषय मानता है और अनात्म पदार्थोंको "न अहं" शब्द और "न अहं" ज्ञानका विषय मानता है। अतः "अहं" और "न अहं" यह सभी व्यवहार भ्रमरूप है। इसी प्रकार "घट" शब्द और "घट" ऐसा ज्ञानसे घटरूप अर्थ भिन्न है। उसमें "घट" ऐसा जो लोकका व्यवहार है, वह भी शब्द, ज्ञान, और अर्थ रूप है। अतः भ्रमरूप है। क्योंकि लौकिक पुरुषोंसे किसीने पूछा—"यह कौन वस्तु है?" उत्तर मिला—"घट है" पूछा गया—"कैसा ज्ञान तुमको हुआ?" उत्तर मिला—"घटका ज्ञान हुआ" पुनः पूछा गया—"किस शब्दका तुमने श्रवण किया?" पुनः वही उत्तर मिला—"घटका श्रवण किया"। इस प्रकार परस्पर भेदवाले शब्द, ज्ञान और अर्थोंको एक रूप जानना भ्रान्ति बिना नहीं होता। इसलिये सब लोकोंका व्यवहार भ्रमरूप है। यह लोक व्यवहार युक्तिसंगत भी नहीं है, इसलिये भी भ्रमरूप है। क्योंकि वाक्-इन्द्रियमें शब्द, हृदयमें ज्ञान रहता है और भूमिमें घटादि अर्थ रहता है। उस अर्थको शब्द और ज्ञानरूप मानना पुरुषोंकी

भ्रान्ति बिना नहीं होता। शब्द, ज्ञान, अर्थ इन तीनोंको एक माननेमें व्याघात दोष भी होता है। क्योंकि जब शब्द और ज्ञान प्रकाशक तथा शब्द; ज्ञानका अर्थ प्रकाश्य होता है तब शब्द ज्ञान और अर्थ दोनोंका परस्पर भेद सिद्ध होता है, क्योंकि लोकमें प्रकाशक और प्रकाश्यका परस्पर भेद ही देखा जाता है। जैसे किसी पुरुषने पिता और पुत्रको पहले किसी स्थानपर देखा हो और कालान्तरमें दूसरे स्थानपर पुत्रको देखकर उसके पिताका स्मरण हो जाता है। इस स्थानपर पुत्र प्रकाशक और पिता प्रकाश्य है। जिनका भेद लोकमें स्पष्ट है। उसी प्रकार प्रकाशक शब्द-ज्ञानको प्रकाश्यरूप अर्थसे अभेद माननेपर अपनेसे अपना भेदरूप व्याघात दोष हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारकालमें "अहं" शब्द और "अहं" ज्ञानका विषय लोगोंने आत्मा माना है और "न अहं" शब्द और "न अहं" ज्ञानका विषय अनात्म वस्तु माना है। वहाँ 'अहं' इस शब्द और ज्ञानका परित्याग करके उनका जो भेदसे रहित अर्थ, वही भेद रहित सर्व शक्ति सम्पन्न परमात्मा जगतकी उत्पत्तिसे पूर्व था। और लोक प्रसिद्ध शब्द, ज्ञान और अनात्मा पहले नहीं थे। समझानेके लिये दृष्टान्त देते हैं—जैसे अन्धकारका विरोधी सूर्य अन्धकारका नाश कर अन्धकार और उसमें विचरनेवाले सभी पिशाचोंसे रहित दीखता है, वैसे ही परमात्मा भी अपना कार्य प्रपंच अपनेमें लय करके अद्वितीय रूपसे पूर्व स्थित होते हैं। जैसे सूर्यमें अन्धकार लयको प्राप्त होता है वैसे ही सत्य आनन्दस्वरूप आत्मामें यह सम्पूर्ण जगत लय हो जाता है। जैसे सम्पूर्ण रात्रि सूर्यका आच्छादन करके अन्धकार उत्पन्न होता है, वैसे ही सत्-चित्-आनन्द आत्माको आच्छादन करके आत्मासे विरुद्ध भाववाला असत्, जड़, दुःख, अनात्मरूप अविद्यासे उत्पन्न होता है। यहाँ दृष्टान्त देते जैसे रज्जु-सर्पमें सर्पकी उत्पत्तिसे पूर्व रज्जु ही है और सर्प अपने उत्पत्तिसे पूर्व नहीं है, ही अनात्म जगतकी उत्पत्तिके पूर्व आत्म स्वरूप आत्मा ही स्थित था और अनात्म अपनी उत्पत्तिके पूर्व नहीं था।"

प्रजाजनों ने कहा—"आपने सृष्टि अद्वितीय परमात्माको स्थित कहा है, यह संगत नहीं। क्योंकि सृष्टिके पूर्व यद्यपि प्रपंचका अभाव है तथापि सर्व जगतका रूप माया विद्यमान है।"

सनकादि मुनियोंने समझाते हुए "प्रथम-आत्मासे भिन्न होकर माया प्रतीत है, द्वितीय-प्रमाण द्वारा माया सिद्ध है, तुम मायाको सत्य मानते हो। यहाँ दोनों पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अवस्थामें पड़ा हुआ पुरुष जाग्रत स्वप्नके संस्कारोंसे युक्त अविद्याको देखता हुआ अपनेसे उस अविद्याको भिन्न नहीं देखता उसी प्रकार मायावाला महेश्वर आनन्दरूप भी सम्पूर्ण जगत रूप गर्भसे विशिष्ट देखता हुआ भी अपनेसे भिन्न उसको देखता है। सुषुप्तिमें और प्रलयमें संस्कार होके जगत अज्ञानमें रहता है। इसपर देते हैं—जैसे वर्षाके समाप्तिपर मेंढकोंके

अवस्था रूप संस्कार भूमिमें रहते हैं और पुनः वर्षा होनेपर उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे ही संस्कार रूपसे अज्ञानमें रहनेवाला जगत सृष्टि-कालमें प्रगट हो जाता है। इस प्रकार तुम्हारा प्रथम पक्ष खण्डित हो गया। माया प्रमाण करके सिद्ध है, यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि माया जिस मायाकी सिद्धि है वह भी मायासे ही सिद्ध है। इसलिये विवेकी पुरुषोंने मायाकी सिद्धि प्रमाणसे अंगीकार नहीं किया है। इसको अब दृष्टान्तसे समझाते हैं—जैसे सुषुप्त पुरुषकी सुषुप्ति सुषुप्ति द्वारा ही सिद्ध है, इसके लिये किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। इसमें यदि कोई प्रमाण अंगीकार करे तो उससे पूछना चाहिये कि इस सुषुप्ति अविद्यामें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द अथवा इनसे भिन्न कौन प्रमाण है ?"

"जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण है, इस प्रथम पक्षमें भी सुषुप्त पुरुषके प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है अथवा अन्य पुरुषके प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है यह दोनों पक्ष बनता नहीं है, क्योंकि नैयायिक इन्द्रिय जन्य ज्ञानको ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। सुषुप्तिमें इन्द्रियोंका लय हो जाता है, इससे सुषुप्त पुरुष प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा सुषुप्तिको नहीं जानता। उसी प्रकार जागता हुआ अन्य पुरुष भी दूसरेके सुषुप्तिको प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं जान सकता। क्योंकि जैसे एक पुरुषके ज्ञानका दूसरे पुरुषको प्रत्यक्ष नहीं होता वैसे ही अज्ञान रूप सुषुप्तिका भी दूसरेको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे सुषुप्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती।"

प्रजाजनोंने शंका किया—"यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सुषुप्ति सिद्ध नहीं होती तथापि इन्द्रियों की क्रियासे रहित होनेसे अमुक पुरुष सुषुप्ति वाला है ऐसा अनुमान करके सुषुप्ति रूप अज्ञान सिद्ध होता है।"

सनकादिने शंका निवारण करनेके अभिप्रायसे कहा—"इन्द्रियोंके क्रियाका अभाव रूप हेतु सुषुप्तिका साधक नहीं हो सकता, क्योंकि सुषुप्ति रूप साध्यके अभाववाले स्वप्न-समाधिमें भी इन्द्रियोंकी क्रियाका अभावरूप हेतु रहता है। इसलिए व्यभिचारी है। साध्यको छोड़कर जो हेतु कभी न रहे वही साध्यकी सिद्धि करता है। अतः अनुमान प्रमाण भी सुषुप्तिका साधक नहीं है।"

"शास्त्ररूप शब्द प्रमाण सुषुप्ति रूपी अज्ञानका साधक है। यह तीसरा पक्ष भी नहीं बनता है। क्योंकि शास्त्र दो प्रकारके होते हैं—लौकिक और वैदिक। पुरुषों द्वारा रचित लौकिक शास्त्र प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध पदार्थों का ही प्रतिपादन करते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्याके साधक नहीं है। इसलिये लौकिक शास्त्र भी इसमें प्रमाण नहीं हो सकते हैं। वैदिक शास्त्रोंका प्रमाण भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि फलवाले अर्थमें ही वेद प्रमाण होता है। सुख की प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिको फल कहते हैं। यह फल अविद्याके ज्ञानसे नहीं बल्कि जीव-ब्रह्मके ऐक्य ज्ञानसे प्राप्त होता है। अतः अविद्यामें वेद शास्त्र भी प्रमाण नहीं है।"

प्रजाजनोंने पुनः शंका की—"माया और अविद्याके बोधक वाक्य तथा अविद्यासे जगतकी

उत्पत्तिके बोधक वाक्य वेदमें बहुत देखनेमें आते हैं। इनका क्या अभिप्राय है ?"

सनकादि मुनियोंने समाधान किया—"फलका अभाव होनेके कारण शास्त्रका तात्पर्य अविद्याका बोधन नहीं है। बल्कि अद्वितीय आनन्द रूप आत्माका ज्ञान करानेके लिए ही अविद्या और उससे जगतकी उत्पत्तिका वर्णन वेदमें किया गया है। जैसे दीपकके द्वारा अंधकारका ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही प्रमाणके द्वारा अविद्याका ज्ञान नहीं हो सकता है। अविद्यासे ही अविद्याका ज्ञान होता है।"

"प्रलयकालमें परमात्मा परिणामको न प्राप्त हुई माया से विशिष्ट होने पर भी मायासे रहित कहा गया है। इसको दृष्टान्तके द्वारा समझाते हैं। जैसे—अन्धकारका कारण अज्ञानसे सूर्य भगवान विशिष्ट होते हुए भी दिनमें कार्यरूप अन्धकारसे रहित हैं। इसीलिए सूर्यको अन्धकार रहित कहा जाता है।"

पूर्व-पूर्व कल्पोंमें सृष्टिको विषय करनेवाला, मायाकी वृत्तिरूप ज्ञानसे उत्पन्न संस्कारोंसे युक्त और जीवोंके पाप पुण्यरूप अदृष्ट द्वारा प्रगट संस्कारोंसे युक्त परमात्माने सृष्टिके आदिमें विचार (संकल्प) किया—

माया उपहित मेरे अन्दर पंचभूत और उनका कार्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सूक्ष्मरूपसे स्थित है। अतः स्वर्ग, आकाश और भूमि इन तीनों लोकोंकी रचना होनी चाहिए। ज्ञातव्य है कि यहाँ स्वर्गसे ऊपरके सर्व लोकोंका और भूमिसे नीचेके सभी लोकोंका ग्रहण करना चाहिए।

सत्य संकल्प परमेश्वरने संकल्प मात्रसे पंच सूक्ष्म भूत, पृथ्वी आदि चौदह लो युक्त, चेतनकी सत्तासे अभिन्न नाम-रूप वि युक्त हिरण्यगर्भ रूपसे ब्रह्माण्डकी रचना यही विराट भगवानका शरीर है। यहाँ शब्दरूप प्रपंचका, रूपसे अर्थरूप प्रपंचका क्रियासे नाम-रूपका कारण कर्मका करना चाहिए।

जिस प्रकार असुरोंका बालक राग रहित होकर अपनी मायाके बलसे पद रचना करता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ और शक्तिमान परमेश्वर सम्पूर्ण जगतको विचार करने लगे—

जल प्रधान पंचभूतोंमें स्थित ब्रह्मा अन्दर चौदह लोक सभी अचेतन हैं। ये क्षण मात्रमें नाश हो जायेंगे। जैसे से रहित घर और प्राणसे रहित शरीर न है, वैसे ही यह ब्रह्माण्ड लोक सहित जायगा।

अतः पिता की तरह पालन का परमेश्वरने अपने-अपने सत्वगुणादिक का उत्पन्न इन्द्रिय और देवतादिक जगतको करनेके लिए उस अङ्गमें नाना प्रकारके को कर दिया। मुख छिद्ररूप गोलकमें होकर शब्द व्यवहार करनेवाली वाक्-इ प्रगट हुई। उस वाक्-इन्द्रियसे वैदिक य कर्मोंको सिद्ध करनेवाले अग्नि देवता प्रकट

नासिका छिद्र रूप गोलकमें प्रविष्ट घ्राणेन्द्रिय प्रकट हुई और उस घ्राण-इन्द्रि गन्ध उपाधिवाले वायुदेव प्रकट हुए।

आँख रूपी छिद्रमें प्रविष्ट होकर चक्षु-इ

प्रगट हुई और उस चक्षु-इन्द्रियसे सूर्य देवता प्रकट हुए।

कर्णरूपी छिद्रमें प्रविष्ट होकर श्रोत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई और उस श्रोत्र-इन्द्रियसे सम्पूर्ण दिशा प्रकट हुई।

सम्पूर्ण देहमें अति सूक्ष्म अनन्त छिद्रोंसे सर्व शरीरमें व्यापक त्वचा प्रकट हुई। इस त्वचा रूप गोलकको प्राप्त कर लोम और केश सहित स्पर्शन-इन्द्रिय प्रगट हुई और उस स्पर्श-इन्द्रिय सहित लोम और केशोंसे सम्पूर्ण औषधि आदि स्थावर रूप उपाधिवाले वायु देवता प्रकट हुए। ये स्थावर सभी जीवोंके उपकारके लिए दिन-रात क्लेश उठाते हैं।

मांसका कमलके समान पाँच छिद्रोंसे युक्त हृदय गोलक उत्पन्न हुआ। हृदय रूप गोलकमें प्रविष्ट होकर मन प्रकट हुआ। मनसे जगतको आनन्द देनेवाले चन्द्रमा देवता प्रकट हुए।

नाभि छिद्र रूप गोलकको प्राप्त होकर अपान वायु प्रकट हुआ। दुःखसे सहन होने वाला प्राणायामरूप होकर अतिशय कठिन और मुख द्वारा प्राप्त अन्न-जलको ग्रहण कर नीचे ले जानेके कारण इसे अपान कहते हैं। इस अपानसे सबको भय देनेवाला मृत्यु प्रकट हुआ। यह लोक प्रसिद्ध है कि अपान ही मृत्युका कारण है। क्योंकि अन्नोंके दोष विना प्राणी मरते नहीं। अन्न दोषसे ही प्राणी मरते हैं और यह अपान अन्न जलको ही ग्रसता है। इसीलिए अपानसे मृत्युका प्रगट होना कहा गया है।

उपस्थ छिद्र रूप गोलकमें प्रविष्ट होकर वीर्य सहित उपस्थ इन्द्रिय प्रकट हुई। इस वीर्यका स्वरूप बतलाते हैं—यह जरायुज और अडंज देहोंका विस्तार करनेवाला, पंचम आहुतिका साधन षट्कोशों वाले शरीरका कारण है। त्वचा, रुधिर और मांस ये तीन कोश माताके अंशसे होते हैं। नाड़ी, अस्थि, मज्जा ये तीन कोश पिताके अंशसे उत्पन्न होते हैं। उस उपस्थ इन्द्रियसे जल प्रधान पंचभूत शरीर-वाले प्रजापति प्रकट हुए।

इसके पूर्व हृदयसे मनका प्रकट होना कहा है। वहाँ मनके प्रगट होनेसे बुद्धि, अहंकार और चित्तका भी प्रकट होना जानना चाहिए। क्योंकि श्रुतियोंमें मनसे ही सर्व जगतकी उत्पत्ति कही है। इसीमें बुद्धिके देवता ब्रह्मा, अहंकारके रुद्र और चित्तके देवता महेशका भी सन्निवेश कर लेना चाहिए।

अंडमें अनेक छिद्रोंको रचकर परमेश्वरने दो हाथ और दो पैर प्रकट किया। हस्तसे इन्द्र और पादसे उपेन्द्र देवता प्रगट हुए। उपर्युक्त प्रकारसे विराट भगवान शरीरके अनेक छिद्रों-में परमेश्वरने सम्पूर्ण देवताओं और वाक् आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको प्रगट किया। यह वार्ता एतरेय उपनिषद् आदि श्रुतियोंमें वर्णित है।

अतः कर्म उपासनाके द्वारा प्राप्त देव शरीर भी जब दुखसे युक्त है तब फिर अन्य शरीरोंकी क्या गणना है? इस अभिप्रायसे ही उस विराट शरीरको समुद्र रूपसे वर्णन किया गया है। अनन्त कोटिको अनन्त कोटिसे अनन्त कोटि बार गुणा करनेपर जो संख्या

आवे उतने योजन विस्तारवाला विराटका देह रूप समुद्र है। यद्यपि समुद्रके संख्याका नियम शास्त्रमें लिखा है तथापि प्रलय कालमें नियम नहीं है। क्योंकि प्रलय कालमें योजनोंकी गणना करनेवाला कोई रहता ही नहीं है। यद्यपि ईश्वर प्रलय कालमें रहता है लेकिन उसे गणनासे कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे समुद्रको देखनेसे भय मालूम पड़ता है, वैसे ही "मैं सर्वात्मा विराट हूँ" इस ज्ञानसे परिच्छिन्न दृष्टिवाला अज्ञानी पुरुष भयभीत होता है। वह समुद्ररूपी विराट शरीर पंचभूत रूपी जलसे सुशोभित है। उसमें चतुर्दश लोकरूपी तरंगे उठ रही हैं। जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज इन चार प्रकारके शुक्ति-शंखोंसे वह समुद्र सुशोभित है। इसमें काम क्रोधादि रूप मगर निवास करते हैं। ये मगर पुरुषोंको वासनामें फँसाकर समुद्रमें गिरा देते हैं। समुद्रमें अनेक बाधायें होती हैं। पार जानेमें प्रतिबन्धक, जैसे छायाको ग्रहणकर यात्रीको खानेवाले राक्षसने हनुमानका मार्ग रोका। तैरकर पार जानेमें प्रतिबन्धक, जैसे–जलकी भँवर और तूफान। जलसे बाहर निकलनेमें प्रतिबन्धक, जैसे-ग्राह आदि जलचर। इसी प्रकार इस समुद्र रूपी विराट शरीरमें भी संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध रूप कर्म-राक्षस भँवर और ग्राहकी भाँति संसार सागरसे पार जानेमें प्रतिबन्धक हैं।

विराट शरीरमें प्रविष्ट हुए वाक् आदि इन्द्रियाँ और अग्नि आदि देवता भूख और प्याससे व्याकुल हुए और शरीरको तृप्त करनेके लिये अन्न-जलको न देखकर परमपितासे बोले—"हे पिता, यहाँ हम विराट शरीरसे कि खाने पीनेकी कोई भी वस्तु नहीं देखते। हमारे सुखके लिये थोड़े अन्न जलसे होनेवाले किसी अन्य शरीरको उत्पन्न कीजि ताकि उसमें स्थित होकर हम अन्न जल प्रा कर अपनी क्षुधा पिपासाको शान्त कर सकें।

इन्द्रिय और देवताओंके प्रार्थनापर मात्माने उनके सुखके लिये "गौ" के शरी रचना की। परन्तु उसमें उन देवताओंकी प्री नहीं हुई क्योंकि गौ आदि शरीरोंमें पूर्व कर्मोंको ही भोगना पड़ता है। नये बुद्धि कर्मका सम्पादन नहीं होता है।

अपने पुत्रोंकी प्रीति गौमें न देख परमात्माने अश्वका शरीर बनाया। यह पुत्रोंको पसन्द नहीं आया क्योंकि अश्वमें और ज्ञानकर्मोंका अभाव है।

इसी प्रकार पुत्रोंकी प्रीतिके लिये क्रम परमात्माने चौरासी लाख प्रकारके शरीरों रचना की परन्तु किसी भी शरीरमें उनकी प्री नहीं हुई। इसके बाद परमात्माने मनुष्य शरी की रचना की। इस मनुष्य शरीरको देख देवता प्रसन्न हुए और प्रीति करने लगे। मनुष्य शरीर विशिष्ट गुणोंसे युक्त है। वस्तु जानकर कथन करनेकी शक्ति है। ज्ञानेन्द्रि और कर्म इन्द्रियोंसे युक्त है। यद्यपि वा आदि शरीरोंमें भी ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान होता तथापि उनके इन्द्रियोंका वस्तुके साथ सम्ब होनेपर भी सभी अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। अतः मनुष्य वानर आदिसे श्रेष्ठ है।

मनुष्य शरीर लोकके समस्त सुख औ

उनके साधनोंको जानता है। स्वर्गादिक लोकोंके सुख और उनके साधन यज्ञादिक कर्मोंको शास्त्रसे जानता है। भूतकाल और भविष्य कालके कार्योंको जानता है। सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके साधनोंको जाननेके लिये उन साधनोंको जाननेवाले सिद्ध महात्माओंका समागम और सत्संग करनेका ढंग मनुष्यको मालूम है। महात्माओंका समागम होनेपर करणीय और अकरणीयको प्रमाणसे जानता है।

वेद वाक्योंसे आत्म साक्षात्कार करनेमें समर्थ इस मनुष्य शरीरको देखकर सभी देवता अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। इस प्रकार अपने पुत्रोंको प्रसन्न और सन्तुष्ट देकर परमात्माने कहा—"हे देवताओं! इस व्यष्टि शरीरमें अपने-अपने गोलक रूप स्थानोंमें छिद्र द्वारा प्रवेश करो।"

यहाँ देवताओंने शंका किया—"इन्द्रियोंके रहने योग्य स्थानमें हमारा प्रवेश नहीं हो सकता क्योंकि हम व्यापक हैं और यहाँ स्थान थोड़ा है। इन्द्रियोंके द्वारा ही अर्थकी सिद्धि हो जायेगी अतः हमारे प्रवेशका क्या प्रयोजन है?"

परमात्माने देवताओंकी शंकाका समाधान करते हुए कहा—"अपने सम्बन्धी इन्द्रियोंमें भेद भाव छोड़ एकताका अभिमान करके प्रवेश करो। इन्द्रिय और देवताओंको परस्पर अपेक्षा है। क्योंकि चक्षुके बिना प्रकाश रूप सूर्य सिद्ध नहीं होता और सूर्यके बिना इन्द्रिय सिद्ध नहीं होती। सूर्यके द्वारा ही चक्षुइन्द्रिय रूपादिक वस्तुओंके ज्ञानको उत्पन्न करती है। अन्धकारमें रूपका चक्षुजन्य ज्ञान नहीं होता। रूपादिक वस्तुके ज्ञानरूप कार्यसे ही चक्षु इन्द्रिय का अनुमिति ज्ञान होता है क्योंकि इन्द्रियोंका इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि सूर्य देवताके होनेपर ही रूपादि प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उन ज्ञान रूप कार्यसे करणरूप चक्षुका अनुमितिरूप ज्ञान होता है। अतः परम्परासे सूर्य चक्षु-इन्द्रियका साधक है। इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रिय और देवताओंका सम्बन्ध समझना चाहिए।"

परमात्माकी आज्ञा पाकर संशय रहित सभी देवता और इन्द्रिय एकताका अभिमान करके अपने अपने गोलकोंमें छिद्र द्वारा प्रवेश कर गये। इस प्रकार व्यष्टि शरीरमें प्रवेश करनेसे आधिदैव अध्यात्म, आधिभूत यह त्रिपुटि सिद्ध हुई। सूर्यादि देवताओंको आधिदैव' चक्षु आदि इन्द्रियोंको अध्यात्म और रूपादि उनके विषयोंको अधिभूत कहते हैं। यही नियम सभी इन्द्रियों पर लागू होता है।

सभी देवताओंको यथा योग्य स्थान प्राप्त कर लेनेके बाद असना और पिपासा देवता अपने लिए परमात्मासे स्थानकी याचना करने लगे। इनके लिए कोई अलग स्थान खाली न देखकर परमेश्वरने इन्हें अध्यात्म-अधिदैवरूप देवताओंमें ही रहनेका आदेश देकर कहा—"इन देवताओंकी तृप्ति करके ही तुम्हारी तृप्ति होगी।"

लोकमें देखा जाता है कि बिना कहे ही पिता अपने पुत्रोंका अन्न-वस्त्रसे भरण-पोषण करता है। इसी प्रकार परमपिता परमात्माने भी इन्द्रिय और देवतारूप अपने पुत्रोंके लिए पंचभूतोंके द्वारा अनेक प्रकारके अन्नोंको उत्पन्न

किया। सभी प्राणियोंकी तृप्ति एक प्रकारके अन्नसे नहीं होती इसलिये बहुत प्रकारके अन्नों की रचना करनी पड़ी।

परमात्माकी आज्ञा होने पर भी सब देवता अन्नको ग्रहण करनेमें असमर्थ रहे। अपान वायुका आश्रय लेने पर भी अन्नको ग्रहण न कर सके। जैसे चेतन पुरुषके बिना कुठार लकड़ीको नहीं काट सकता, वैसे ही देवता अपने आप कुछ करनेमें असमर्थ सिद्ध हुए। पुत्रोंकी ऐसी दशा देख परमात्माने विचार किया- यह अधिदैवादि रूप जगत प्राण वायुसे युक्त प्रकट हुआ तो भी प्रकाश रूप मुझ परमात्माके बिना यह जड़ जगत किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः प्रत्येक जड़ वस्तुको प्रकाशकी अपेक्षा है। दृष्टान्तके द्वारा समझाते हैं—जैसे यह अन्न भोजन करने योग्य है, यह शब्द कहने योग्य है, यह रूप देखने योग्य है।" इस प्रकारका ज्ञान भोक्ता, वक्ता, द्रष्टा रूप प्रकाशक आत्माके बिना सिद्ध नहीं हो सकता। एक ही आत्मा प्राणविशिष्ट होकर भोक्ता, वाक् इन्द्रियविशिष्ट वक्ता और चक्षु विशिष्ट द्रष्टा होता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंको भी जानना चाहिए।

यहाँ पुनः शंका करते हैं—"आपने पहले यह नियम कहा है कि जड़ वस्तु अपनी सिद्धि में प्रकाशकी अपेक्षा करती है। यद्यपि यह नियम घटादिमें तो ठीक है। तथापि अन्धकार में उस नियमका व्यभिचार है। क्योंकि अन्ध- कार जड़ तो है परन्तु अपनी सिद्धिमें प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता उल्टा प्रकाशसे निवृत्त होता है।"

शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं "यद्यपि अन्धकार सूर्यके प्रकाशकी अपेक्षा [नहीं] करता तथापि चक्षु रूप प्रकाशकी अपेक्षा [करता] है। इसलिये चक्षुहीन पुरुष अन्धकारको [नहीं] देख सकता।"

"अन्धकारको प्रकाशकी अपेक्षा है, [इस] अर्थको अब अनुमान प्रमाणसे सिद्ध करते [हैं]। जैसे घट आदि पदार्थोंके ज्ञानमें घटसे [भिन्न] सूर्यादिक प्रकाश कारण हैं वैसे ही अन्धकारसे भिन्न चक्षुका प्रकाश उस अन्धकारके ज्ञानमें कारण है। अन्धकार प्रकाशकी अपेक्षा [करता] है क्योंकि अन्धकार जड़ है। जैसे जड़ अन्ध- कार चक्षुकी अपेक्षा करता है तैसे ही [चक्षु] आदि भी जड़ हैं, इसलिये उनको भी [जिस] प्रकाशने प्रकाशित किया है और वह प्रकाश आत्मा है।"

शिष्यने शंका किया—"चक्षुका प्रकाश[क] आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्य द्वारा चक्षुका प्रकाश होता है।"

गुरु समाधान करते हैं—"जैसे विषय [रूप] घटमें सूर्यका प्रकाश नहीं होता तैसे विषय [रूप] सूर्यमें भी चक्षुका प्रकाश नहीं होता। इससे [यह] अनुमान सिद्ध होता है कि चक्षु आदि [के] प्रकाश जड़ होने के कारण अपनी सि[द्धिमें] अन्य प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं। जो [अपनी] सिद्धिमें दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा न करे वह [जड़] नहीं है। जैसे स्वयं प्रकाश आत्मा [अन्य] प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता इसलिये वह [जड़] नहीं वरन् चेतन है।"

पुनः शंका करते हैं—"भगवन्! [आपने] आपने यह कहा है कि चक्षु आदि प्रकाश [जड़]...

होने से अन्य प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं। यह ठीक नहीं! चक्षु आदि प्रकाश अपनी सिद्धिमें दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करते, क्योंकि वे दीपककी तरह प्रकाश रूप हैं। यहाँ अनुमान प्रमाणका विरोध होता है।"

समाधान करते हैं—"जैसे दीपक सजातीय किसी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही सभी प्रकाश सजातीय दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करते, यह नियम नहीं। क्योंकि मणि आदिके प्रकाशोंमें प्रकाश-रूपता तो है परंतु फिर भी दूसरे सजातीय प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं। यह सर्व-सम्मत है।"

शंका—"प्रकाशपना मणि और चक्षु आदि सबमें समान है। परंतु कोई प्रकाश दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं और कोई नहीं करते हैं। इसमें क्या कारण है?"

समाधान—"प्रकाश्यपना और प्रकाशकपनामें परिच्छिन्नपना और व्यापकपना कारण है। जो-जो प्रकाशक परिच्छिन्न हैं वे प्रकाश्य भी हैं। जैसे दीपककी अपेक्षा मणि परिच्छिन्न है। इसलिये प्रकाश्य भी है। जो-जो व्यापक प्रकाश हैं वे प्रकाशक ही हैं। जैसे मणिकी अपेक्षा दीप प्रकाश व्यापक है, इसलिये मणिका प्रकाशक है। अतः सिद्ध हुआ कि जो व्यापक और प्रकाशरूप होता है वही अन्य परिच्छिन्न प्रकाश का प्रकाशक है। वह प्रकाशपना और व्यापकपना 'मैं' कूटस्थ में है। इसलिये मैं ही सभी प्रकाशों का प्रकाशक हूँ। अब यह अनुमान सिद्ध हुआ कि अपनेसे भिन्न सभीका प्रकाश करनेवाली बुद्धि मुझ कूटस्थ द्वारा प्रकाश्य है। क्योंकि वह परिच्छिन्न है। व्यापक और प्रकाश स्वरूप बुद्धि द्वारा सूर्य और घटादि रूप जगत प्रकाश्य है। जिसका प्रकाश होता है उसे प्रकाश्य कहते हैं। पंच भूतोंके सत्वगुणका कार्य होने से बुद्धि प्रकाश रूप है। और हिरण्य गर्भकी उपाधि होनेके कारण व्यापक है। असंभावना आदि दोषोंके कारण श्रुतिमें कही हुई आत्माकी व्यापकता बुद्धिमें आरूढ़ नहीं होती। इसलिये उन दोषोंकी निवृत्तिके लिये तीन परिच्छेदोंका अभाव आत्मामें पुनः दिखलाते हैं—जैसे गो व्यक्ति रूप एक देशमें गोत्व जाति रहती है, अश्वादिमें नहीं रहती, वैसे मैं परमात्मा किसी एक देशमें स्थित नहीं हूँ। क्योंकि यदि मैं किसी देशमें न रहूँ तो उस देशके पदार्थोंकी सत्ता और प्रकाश नहीं रहेगा। इसलिये मैं सर्वत्र व्यापक हूँ। इस प्रकार आत्मामें देश परिच्छेदका अभाव है। जो पदार्थ भूत, भविष्य, वर्तमान किसी कालमें रहे, किसी कालमें न रहे उसे काल परिच्छेद वाला कहते हैं। मैं परमात्मा तीनों काल में हूँ इसलिये मुझमें काल परिच्छेद का अभाव है। जैसे "है" यह शब्द और ज्ञान का विषय भूमि घटसे भिन्न प्रतीत होती है और "नहीं है" इस शब्द और ज्ञानका विषय बन्ध्यापुत्र घटसे भिन्न प्रतीत होता है। इसलिये घटादि वस्तु परिच्छेद वाले हैं, तैसे मैं परमात्मासे भिन्न "है" "नहीं है" इस शब्द और ज्ञानका विषय कोई नहीं है। क्योंकि मैं ही सबका आत्मा हूँ। इस प्रकार वस्तु परिच्छेदका अभाव आत्मा में सिद्ध हुआ। तीन परिच्छेदों के विषयमें इसके पूर्व भी एक स्थान पर कह आये हैं।"

"अब प्रपंचको मिथ्यारूप करके अद्वितीय आत्माको सिद्ध करते हैं–मुझ परमात्मामें यह सम्पूर्ण जगत कल्पित है। वह जगत देश कालादिक स्वरूप और नाम, रूप, क्रियासे युक्त है। जैसे रज्जुमें सर्प कल्पित है वैसे ही परमात्मामें जगत कल्पित है। इसलिये मैं परमात्मा ही सर्वत्र व्यापक हूँ मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है।"

यहाँ शंका उत्पन्न हुई—"जगतका भेद आत्मा में न होवें, परन्तु जैसे घटके रूपादिक गुणोंसे घट भिन्न होता है, वैसे सत्-चित्-आनन्द धर्मोंसे आत्मा भिन्न है। इसलिये वस्तु परिच्छेद आत्मामें सिद्ध होता है।"

समाधान—"मुझ अन्तर्यामी परमात्माके भिन्न होनेसे सत्-चित्-आनन्द ये धर्म अपने स्वरूपसे ही रहित हो जायेंगे। क्योंकि मुझ व्यापक परमात्मासे यदि आनन्द भिन्न हो तो वस्तु परिच्छेद वाला हो जायगा। जो परिच्छिन्न है वह आनन्दरूप नहीं हो सकता है। श्रुतिने व्यापकको ही सुखरूप कहा है।"

"इसी प्रकार यदि सत् मुझ प्रकाशस्वरूप आत्मासे भिन्न हो तो असत् माना जायगा। और चित् यदि मुझ सत् स्वरूप आत्मासे भिन्न हो तो वह भी असत माना जायगा। क्योंकि मुझसे भिन्न इनकी सिद्धि करने वाला कोई नहीं है। इसलिये सत्-चित्-आनन्द आत्मास्वरूप है, आत्मासे भिन्न नहीं।"

शंका—"यदि सत्-चित्-आनन्द धर्मको आत्मासे भिन्न माना जाय तो आत्मा धर्मी है और सत्-चित्-आनन्द धर्म है, यहाँ धर्म-धर्मी व्यवहार नहीं होगा। क्योंकि भिन्नका ही धर्मी भाव लोकमें देखा जाता है।"

समाधान—"अत्यन्त भिन्नका और अ[illegible] अभिन्नका धर्म-धर्मी भाव नहीं होता। [illegible] अत्यन्त भिन्नका यदि धर्म-धर्मी भाव हो[illegible] गौसे अश्व अत्यन्त भिन्न है इसलिये [illegible] गौका धर्म होना चाहिए। ऐसे ही अ[illegible] अभिन्नका यदि धर्म-धर्मीभाव होवे तो घ[illegible] कलशका अत्यन्त अभेद है। इसलिये [illegible] घटका धर्म होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये परस्पर भिन्न और अ[illegible] स्थलमें ही धर्म-धर्मी व्यवहार होता है।"

शिष्यने कहा—"एक अधिकरणमें वस्तुका भेद और अभेद विरुद्ध है।"

गुरुदेवने उत्तर दिया—"एक सत्ता [illegible] भेद और अभेदका परस्पर विरोध होता [illegible] और भिन्न सत्ता वाले भेद और अभे[illegible] परस्पर विरोध नहीं होता। यहाँ सत्[illegible] आनन्द धर्मोंका आत्मासे अभेद परम[illegible] सत्ता वाला और भेद कल्पित सत्ता वाला [illegible] इसलिए उनका परस्पर विरोध नहीं है। कल्पित भेदको स्वीकार करके ही धर्म-धर्मी व्यवहार सिद्ध होता है। यहाँ दृष्टान्तसे सम[illegible] हैं—जैसे किसी राजाने दूसरे राजाको [illegible] कारागारमें रखके कुछ दिन बाद एक ग्राम [illegible] छोड़ दिया। मुक्त होकर राजा प्रसन्न [illegible] संतुष्ट हुआ। दोनों राजाओं में परस्पर क[illegible] भेद है। ऐसे ही कल्पित भेदको अंगीकार [illegible] धर्म-धर्मीभाव सिद्ध होता है। सत्य [illegible] अपेक्षा नहीं करता। इसलिए मुझ पर[illegible]

से कल्पित भेदवाले व्यावहारिक सत्-चित्-आनन्द धर्म रज्जुसर्प की तरह भेद को नहीं उत्पन्न करते हैं।"

"परमार्थ सत्तासे सत्-चित्-आनन्द मेरा स्वरूप है। इसलिए व्यापक और प्रकाश स्वरूप मैं परमात्मा ही सूर्यादि और घटादि सर्व जड़ प्रपंचका प्रकाशक हूँ। सर्वका प्रकाशक मुझमें दूसरे वस्तुका प्रकाश नहीं है। सम्पूर्ण इस जड़ संघातकी सिद्धि मेरे अधीन है। असत्, जड़, दुःख रूप देहोंको अपने तादात्म्य अध्यास से सत्-चित-आनन्दरूप करनेके लिए इस शरीरमें ही प्रवेश करूँगा, ऐसा परमात्माने संकल्प किया—

इस संघातमें परमेश्वरके प्रवेशका मुख्य दो प्रयोजन है—एक भोगकी सिद्धि और दूसरा अपने स्वरूपका ज्ञान। जिसमें प्रथम प्रयोजनका विचार पहले कर आये हैं अब दूसरे मुख्य प्रयोजनका निरूपण करेंगे।"

परमेश्वर पुनः चिंतन करने लगे—'ज्ञान-शक्ति रूप बुद्धि वाला मैं परमात्मा इस संघातमें कौन द्वारसे प्रवेश करूँ।

शंका—"किसी भी मार्गसे प्रवेश कीजिए, इसमें विचार करनेकी क्या आवश्यकता है?"

समाधान—पाँवके नखके अग्रभाग मार्गसे पहले इस शरीरमें क्रियाशक्तिसे युक्त और ज्ञान-शक्तिसे रहित प्राणने प्रवेश किया है। इस निम्न मार्गसे प्राणका प्रवेश ठीक है। मैं ज्ञान-शक्ति परमात्मा सबसे उत्कृष्ट हूँ। इसलिए प्राण-इन्द्रियोंके प्रवेश मार्गसे हमारा प्रवेश शोभा नहीं देता। मैं चेतन हूँ। ये सब जड़ हैं। मेरे बिना इनसे चेष्टा नहीं हो सकती। जैसे चेतनके बिना रथमें चेष्टा नहीं होती, वैसे ही ये सब हमारे बिना निश्चेष्ट हैं। प्रवेश मार्ग सम्बन्धी विचार करनेके बाद परमात्माने पुनः विचार किया—

मैं ज्ञानशक्ति वाला हूँ। अतः अपने ईश्वर स्वरूपको विचार करके ही प्रवेश करना चाहिए। अपने स्वरूपको जाननेकी इच्छासे परमात्मा चिन्तन करने लगे।

यहाँ शंका पैदा होती है—"प्रसिद्ध है कि देह अनात्म है। अतः विचारकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि अप्रसिद्ध वस्तुका ही विचार किया जाता है।"

समाधान—"यद्यपि शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवाले विद्वानोंकी दृष्टिमें देह अनात्मा प्रसिद्ध है। तथापि मन्दबुद्धि पुरुषोंके उपकारके लिए दृश्यत्वादि हेतुओंके द्वारा देहकी अना-त्मताका बोधन आत्मज्ञानी पुरुषोंने किया है। अतः यह विचार सार्थक है।"

यह अनुमान सिद्ध हुआ कि यह देह दृश्य, परिच्छिन्न अनिर्वचनीय और जड़ होनेसे अनात्मा है। जो अनात्मा नहीं है वह दृश्य परिच्छिन्न और जड़ भी नहीं है। जैसे आत्मा।

मुमुक्षु जनोंके आत्मबोधके लिए प्रत्येक इन्द्रियादिकोंकी अनात्मताका विचार करेंगे। विद्वान पुरुषोंने इन्द्रियोंकी आत्मता कहीं भी अनुभव नहीं की है। क्योंकि जो सबसे अन्तर हो उसे आत्मा कहते हैं। इन्द्रियाँ बाह्य हैं इसलिए घटादिकी तरह अनात्मा हैं। ऐसा विद्वानोंका अनुभव प्रमाण है।

अब अनुमान प्रमाणसे इन्द्रियोंकी अना-

त्मता सिद्ध करते हैं। दृश्य और परिच्छिन्न होनेके कारण वाकादिक इन्द्रियाँ अनात्मा हैं।

शंका करते हैं—"शास्त्रमें कर्ताको आत्मा और स्वतन्त्रको कर्ता कहा गया है। अपने-अपने व्यापारोंमें इन्द्रियाँ भी स्वतन्त्र हैं। अतः इन्हें भी आत्मा कहना चाहिए।"

समाधान—"जो स्वतन्त्र है वह चेतन होता। जैसे अग्निके बिना धूआँ नहीं रहता वैसे बिना चेतनके स्वतन्त्रता नहीं है। इसलिये मुझ परमात्माके बिना इन्द्रियोंमें चेतनताका अभाव है। अचेतन इन्द्रियोंकी अपने व्यापार-में स्वतन्त्रता नहीं है। जैसे अचेतन रथ चेतन अश्वके बिना स्वतन्त्र गति नहीं करता, उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरणके ज्ञानरूप व्यापार और कर्मेन्द्रिय एवं प्राणोंके क्रियारूप व्यापार आत्माकी चेतनताके बिना सिद्ध नहीं होते। इसलिये स्वतन्त्रपना चेतन आत्मामें ही कही जा सकती है। जड़ इन्द्रियों में स्वतन्त्रता नहीं है।"

"जैसे राजा भिन्न-भिन्न कार्योंमें नौकरोंको लगाता है, वैसे ही परमात्माने विभिन्न कार्योंमें इन्द्रियोंको लगाया है। जड़ इन्द्रियोंके व्यापारकी नियमितता मुझ अन्तर्यामी आत्माका बोधन करती है। क्योंकि चेतनके बिना जड़की नियमसे प्रवृत्ति न होकर वायुसे उड़ाये हुए पत्तोंकी भाँति अनियमित प्रवृत्ति होती है। अन्य इन्द्रिय एवं प्राणादिकोंके विषयमें भी ऐसा ही जानना चाहिये।"

शंका—"इन्द्रियाँ स्वतन्त्र न होनेके कारण आत्मा नहीं हैं, यह मान लिया। परन्तु ज्ञान-शक्तियुक्त होनेके कारण सर्वज्ञ पर[illegible] उपाधि बुद्धि स्वतन्त्र है। अतः फिर बु[illegible] आत्मा कहनेमें क्या दोष है?"

समाधान—"यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि सर्वज्ञ परमेश्वरकी उपाधि है, तथापि वह [illegible] नहीं है। क्योंकि बुद्धिमें सभी विषयोंके [illegible] करनेकी सामर्थ्य मुझ परमात्माके सामीप्य[illegible] है, स्वतन्त्र केवल बुद्धिमें नहीं। जैसे [illegible] अपने सम्बन्धसे अस्वच्छ घटमें सूर्यके [illegible] बिम्ब ग्रहण करनेकी योग्यता प्रकट [illegible] है, वैसे ही बुद्धि भी अपने सम्बन्धसे [illegible] पदार्थोंमें चेतनका प्रतिबिम्ब ग्रहण [illegible] योग्यता प्रकट करती है, आवरणकी [illegible] करती है और स्वयं भी चेतनके प्रति[illegible] ग्रहण करती है। इसलिये बुद्धि ज्ञान [illegible] गौण अर्थ है। यह सिद्ध हुआ कि जैसे [illegible] के प्रतिबिम्बसे युक्त दर्पण भित्ति [illegible] पदार्थोंको प्रकाशित करता है, तो भी वह [illegible] स्वयं प्रकाशरूप नहीं है, वैसे ही [illegible] प्रतिबिम्बको ग्रहणकर बुद्धि सभी [illegible] प्रकाशित करते हुए भी स्वयं प्रकाशरू[illegible] है। अतः मुझ परमात्माकी समीपताके [illegible] बुद्धिमें सामर्थ्य है और मेरे बिना [illegible] नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण भगवानके सामीप्य[illegible] अर्जुनमें सामर्थ्य है, उनके बिना वह [illegible] असमर्थ है। इसलिये बुद्धिको आत्मा नहीं [illegible] सकते। बुद्धि विषयाकार परिणामको प्राप्त [illegible] से जड़ है। जो परिणामको प्राप्त होता है [illegible] जड़ है। जैसे मिट्टी आदि। चेतन परिणा[illegible] प्राप्त नहीं होता।

"अपनी समीपतासे जो वाकादिक इन्द्रियों-को अपने अपने व्यापारमें प्रवृत्त करावे और ये इन्द्रियादिक जिसके लिये व्यापारमें प्रवृत्त हों, उसे ही आत्मा कहते हैं। यह लक्षण सम्पूर्ण वाकादिक इन्द्रियोंमें नहीं हैं, क्योंकि ये सर्व अर्थकी साधक नहीं किन्तु अपने अपने व्यापार की सिद्धि करती हैं, इसलिये ये आत्मा नहीं हैं। वाकादिक सभी मिल करके संघात रूप हैं। प्रत्येक वाकादिक अपने वास्ते नहीं किन्तु मैं परमात्माके वास्ते हैं। इसलिये सम्पूर्ण वाका-दिक मेरा स्वरूप नहीं है। जब सब मिलकर संघात रूपसे मेरा स्वरूप न हो सके तब एक एक मेरा स्वरूप कैसे हो सकते हैं?"

शंका—"ये सम्पूर्ण वाकादिक आप ईश्वर के नौकर हैं। आपकी प्रेरणाके विना ही भयवश अपना-अपना व्यापार करेंगे। जैसे राजाके भयसे नौकर अपना कार्य करते हैं। अतः संघातमें आपके प्रवेशका कोई प्रयोजन नहीं है।"

समाधान—"यह ठीक है कि ये वाकादिक मेरे भयसे अपने अपने व्यापारोंको करेंगे। तथापि ये मुझ परमात्माको "त्वं पद"का अर्थ रूपसे और सम्पूर्ण जगतका कारण "तत् पद" का अर्थ रूपसे नहीं जानते हैं। जब ये वाका-दिक 'त्वं' पदार्थ और 'तत्' पदार्थको ही नहीं जानते तब फिर ये उनकी एकताको कैसे जान सकेंगे? इनको एकत्व ज्ञान नहीं हो सकता। अतः मुझ परमात्माको ही इस संघातमें प्रवेश करके "मैं कौन हूँ" ऐसा विचार करना चाहिये।"

"वाकादिक इन्द्रियोंके साथ तादात्म्य अध्यास करके "मैं शब्द उच्चारण करता हूँ, मैं देखता हूँ" इस प्रकारका अभिमान ही पर-मेश्वरका प्रवेश है। इसीको प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद शास्त्रोंमें कहा गया है।"

प्रश्न करते हैं—"अपने जिस स्वरूपका विचार आपको करना है उसको बिना शरीरमें प्रवेश किए ही कीजिए। इस दुःखरूप शरीरमें किसलिए प्रवेश करते हैं?

समाधान—"जैसा मेरा स्वरूप है वैसा हो जाय, इस समय अपने स्वरूपका चिन्तन करके भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अतः संघातमें प्रवेश करके इन वाकादिकोंको सुखी और अपने स्वरूपका निर्णय करूँगा। वाका-दिकोंको सुखकी प्राप्ति और स्वस्वरूपका निर्णय यह दो प्रयोजन संघातमें प्रवेशका है।"

इस प्रकार अपने स्वरूपके चिन्तनको समाप्तकर अपने लिये प्रवेश द्वारके विषयमें परमात्माने निश्चय किया। नौकरोंके प्रवेश द्वार मुखादि छिद्रोंको अपने प्रवेश योग्य न देखकर अपनी समीपतासे मूर्ध सीमाको भेदन करके देवताओंके पिता परमेश्वरने शरीरमें प्रवेश किया। सिरमें वाम, मध्य और दक्षिण इन तीन कपालोंके मध्यका नाम मूर्ध सीमा है। इसे केश रहित दुर्बल मनुष्यके सिरमें देखा जा सकता है। स्त्रियों की केश विभाजक मांगकी रेखा जहाँ समाप्त होती है उसे मूर्ध सीमा कहते हैं। यह सर्व विदित है।

जैसे प्रसिद्ध द्वारिकापुरीमें प्रवर्षण नामक पर्वतसे कूदकर आकाशरूप उर्ध्वमार्गसे श्रीकृष्ण

ने प्रवेश किया, वैसे ही इस मनुष्य शरीर रूपी पुरीमें कृष्णस्वरूप परमात्माने उर्ध्वमार्गसे प्रवेश किया। इस प्रकार सभी मनुष्योंका शरीर द्वारिकापुरी है। इस मनुष्य शरीरमें ही आत्म साक्षात्कारकी योग्यता है। इसलिये मनुष्य शरीरमें प्रवेश कहा। मनुष्य शरीरसे सभी शरीरोंका ग्रहण करना चाहिये।

शंका—"श्रुति और स्मृतिमें नवद्वार प्रसिद्ध हैं, मूर्धद्वार अप्रसिद्ध है। अतः इस द्वारके कारण इस शरीरको द्वारिकापुरी क्यों कहा?"

समाधान--"मस्तकको भेदनकर शरीर रूप पुरीमें प्रवेश करनेके कारण मस्तकके उर्ध्वभागमें स्थित द्वारको उपासक पुरुषोंने दशम् द्वार नामसे कहा है। मूढ़ पुरुष श्रीकृष्ण और उनके द्वारको जाननेमें असमर्थ हैं। इसलिये परमेश्वरका द्वार अप्रसिद्ध नहीं कहा जा सकता है। परमेश्वरका यह द्वार भृत्योंके द्वारके समान साधारण न होने के कारण इसकी गणना नव द्वारोंके साथ शास्त्रों में नहीं की गई है। इस द्वारसे योगी पुरुष निकलकर ब्रह्मलोक और मुक्तिका कारण देव-मार्गको प्राप्त करते हैं। इसलिये इस उर्ध्वद्वारको नन्दन कहा गया है। जिसके द्वारा आनन्दकी प्राप्ति हो उसे नन्दन कहते हैं। यद्यपि इन्द्रके बनका नाम नन्दन है, तथापि इसमें नीचे पतन का भयरूप दुःख विद्यमान है। इसलिये यहाँ नित्य सुखमें संशय है। अब यहाँ इस उर्ध्वद्वार का नन्दन वनसे तुलना करते हैं। जैसे स्वर्गको प्राप्त हुये कर्मी पुरुषोंके सुखका कारण नन्दनवन है, तैसे ही यह उर्ध्व द्वार भी ब्रह्म लोक द्वारा मुक्ति रूप सुखका कारण है।"

"प्रसिद्ध नवद्वार, नाभि और उर्ध्वद्वा ग्यारह द्वारोंसे युक्त शरीर रूप पुरीको प्रा अग्नि आदिक देवताओंके प्रभु परमात्मा का निवास तीन स्थानोंमें है। चक्षु इन्द्रि निवासका गोलक प्रथम स्थान, चित्तका नि हृदय गोलक यह दूसरा स्थान, और कमलके अन्दर आकाशमें तीसरा स्थान। इन स्थानोंमें अहंकार रूप शय्या पर परमात्माके प्रतिबिम्ब रूप गर्भको धारण वाली ज्ञान शक्तिरूप स्त्रीके साथ इन्द्ररूप शयन करके जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप स्वप्नोंको देखता है।"

शंका—"स्वप्न तो स्वप्नरूप है, जाग्रत-सुषुप्तिको स्वप्न कहना ठीक नहीं।

समाधान—यह इन्द्ररूप जीवात्मा स्वरूप ज्ञानसे रहित है। इसलिये जाग्रत सुषुप्ति यह तीनों इसके लिये स्वप्न स्वरू क्योंकि जिसका जैसा स्वरूप हो उसको देखनेका नाम जाग्रत है। और यह जीव अद्वितीय आनन्दरूप अपने स्वरूपको भू अपनेको दुःखी, कर्ता, भोक्ता मानता है, प्रकार अज्ञानरूपी निद्राके द्वारा जो-जो देखता है वह सब स्वप्न है। अब जाग्रतरूप का निरूपण करते हैं—वास्तवमें शुद्ध पर शब्द स्पर्शादिक बाह्य-स्थूल भोगोंकी प्र लिये अनादि अज्ञान द्वारा भोगका कारण अधर्मको जिस कालमें अंगीकार करता है, उ नाम जाग्रत है। उस जाग्रत कालमें भग वाम-दक्षिण नेत्रोंमें स्त्री-पुरुष रूपसे प्रगट हैं। दक्षिण नेत्रमें रहनेवाला रूप अधिक प्र

रूप-बलवाला है। इसलिये भोक्ता पुरुषरूप है। और वाम नेत्रमें रहनेवाला रूप अल्प प्रकाशरूप बलवाला होनेसे भोग्य स्त्रीरूप है। इस प्रकार भोक्ता और भोग्य रूपसे परमेश्वरकी उपासना श्रुतिमें कहा है। व्यष्टि शरीरके अभिमानसे अपनेको परिच्छिन्न मानता हुआ भगवान वाकादिक इन्द्रियोंको अंगीकार करके कर्मके फल स्वीकाररूप भोगको प्राप्त हुआ।

नाना प्रकारके बाह्य भोगोंको बतलाते हैं— "ये मेरे माता-पिता हैं इनसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ। ये मेरे भाई, भगनी, बान्धव, भृत्य, स्त्रियाँ, पुत्र-पुत्रियाँ हैं, ये मेरे शत्रु है, ये मेरे मित्र हैं, ये मेरे प्रति मित्र-शत्रुभावसे रहित उदासीन हैं, ये धर्म मर्यादाके स्थापन करनेवाले पिता गुरु और राजा हैं, ये यज्ञ कार्य सम्पन्न कराने-वाले ऋत्विक् हैं, ये स्त्री, पुरुष, नपुंसक हैं। ये सभी चेतन शरीरमय भोग हैं।

यह ग्रह, भूमि, अन्न, सुवर्ण, पशु, वस्त्र, भूषण, शय्या मेरी है। यह सुन्दर, असुन्दर, थोड़ा, अधिक, समीप, दूर है। ये सब जड़मय भोग हैं।

यह शब्द स्पर्श, गन्ध, रस, रूप हैं, यह शब्द कहने योग्य है, यह हाथसे ग्रहण करने योग्य है. चलने योग्य है, आनन्द है, मल परित्याग है। ये सब ज्ञान-कर्म-इंद्रियोंके विषय रूप भोग हैं।

ये हमारे सुखके कारण हैं, ये हमारे दुःख कारण हैं, ये पुरुषके विषय बन्धन भोग हैं।

यह सुख है, यह दुःख है। ये विषयोंके फल रूप भोग हैं।

ऐसा पहले हुआ था. यह वर्तमान है, ऐसा भविष्यमें होगा यह काल भोग है। इस प्रकार अपनेमें स्वामीपनेका अध्यासरूप बाह्य भोगोंको ऊपर कहा गया है।

अब तादात्म्य अध्यासरूप शरीरके भोगों को बतलाते हैं—मैं पुरुष, स्त्री, और नपुंसक हूँ। मैं मनुष्य पशु, जरायुज, स्वेदज उद्भिज, अंडज हूँ।

अज्ञानरूप निद्रामें सोया हुआ आत्मा शरीरमें स्थित अन्नके परिणाम सम्पूर्ण विकारों को मायासे अपना स्वरूप मानता है। वस्तुतः वह देश-काल-वस्तु परिच्छेदसे रहित है।

अब शरीरके धर्मोंका अध्यास बतलाते हैं— मैं बालक, जवान, वृद्ध, रोगी, निरोग, रूपवान, कुरूप, शास्त्र विहित आचरण वाला, विरुद्ध आचरण वाला आदि हूँ। ऐसा देह धर्मोंको अज्ञानसे आत्मामें मानना शरीर धर्मोंका अध्यास है।

मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हूँ। मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी हूँ। ऐसा आत्माको मानना वर्णाश्रमका अध्यास है।

अब इंद्रिय धर्मोंका अध्यास आत्मामें निरूपण करते हैं—मैं अधिक दृष्टिवाला हूँ और मैं मन्द दृष्टिवाला हूँ इत्यादिक इंद्रियोंके धर्म अपनेमें मानता है। क्योंकि मैं अन्धा हूँ, मैं काना हूँ, मैं बधिर हूँ इत्यादि बचनोंके द्वारा अन्तर अध्यासको प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तुको मनसे ध्यान करता है उस वस्तुको वाक् इंन्द्रिय द्वारा कहता है। यह नियम शास्त्रमें कहा है। मैं अन्धा हूँ, मैं काना

हूँ, पुरुषका ऐसा कथन चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ आत्माके अध्यास बिना सिद्ध नहीं होता। इसलिये मैं अन्धा हूँ इत्यादिक कथन पुरुषों के भीतर अध्यासका अनुमान कराता है। यही रीति सभी अध्यासमें जाननी चाहिये। और व्यापक आत्माको परिच्छिन्न मानना देहादिक अध्यासके बिना नहीं बनता है। क्योंकि यह पुरुष एक देहका अभिमान करके दूसरे देहका अभिमान नहीं करता। जैसे मैं ब्राह्मणत्व जाति वाला क्षत्रियत्व जातिवाला नहीं हूँ और ब्राह्मणत्व जातिवाले जो दूसरे ब्राह्मण हैं वह भी मैं नहीं हूँ। सब मेरेसे भिन्न हैं। यह परिच्छिन्नपना भी देहोंके अध्यासको बोधन करता है।

"अहं" इस शब्दका लक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा है। और "अहं" इस वृत्ति ज्ञानका विषय भी शुद्ध आत्मा है। वह आत्मा "अहं" इस शब्द और ज्ञानसे वास्तवमें भिन्न है। क्योंकि शब्द और ज्ञानसे अर्थ भिन्न होता है। इस प्रकार आत्म साक्षात्कारसे रहित पुरुष आत्माके बोधक "अहं" शब्दका अर्थ देहादिक मानते हैं। और आत्मा विषयक "अहं" इस ज्ञानका भी देहादिक विषय मानते हैं।

यह सिद्ध हुआ कि अन्य वस्तुके वाचक शब्दका अन्य वस्तुमें कथन करना, यह अध्यास के बिना नहीं होता। जैसे रजतरूप अर्थके वाचक रजत शब्दका सन्मुख शुक्तिमें यह रजत है, ऐसा अध्यासके बिना नहीं कहा जाता, तैसे यह पुरुष भी आत्माके वाचक "अहं" शब्दका देहादिकोंमें "अहं गौरः" ऐसा कहता है। इसलिये शरीरादिकोंमें 'अहं' शब्दका कथन "मैं गौर हूँ" इस प्रकारके ज्ञानकी भ्रमरूपता [illegible] करता है। इस प्रकार देहादिकोंके साथ ता[illegible] अध्यास करके आत्मामें भेदका निरूपण कि[illegible]

अब उस अध्यास द्वारा बाहरी वस्तुओं [illegible] विषय करनेवाले भेद ज्ञानका निरूपण करते [illegible] यह पिता मेरा है और यह माता मेरी [illegible] इनसे भिन्न कोई मेरा पिता और माता नहीं [illegible] ये देवताओंके मन्दिर और नदी तीर [illegible] वस्तु सभी लोगोंके लिये है। इत्यादिक भे[illegible] अज्ञान रूप निद्रामें सोया हुआ आत्मा स्वप्न[illegible] तरह देखता है और किसी स्थानमें अकारण [illegible] शोक हर्षको प्राप्त होता है।

अब प्राणोंके धर्मोंका आत्मामें अ[illegible] निरूपण करते हैं—मैं क्षुधा वाला हूं मैं [illegible] वाला हूँ। इस प्रकार प्राणोंके धर्म क्षुधा, पिपा[illegible] को आत्मामें मानना।

काम संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्र[illegible] धैर्य, अधैर्य, लज्जा, वृत्ति ज्ञान, भय आदि [illegible] के धर्मोंको आत्मामें मानकर पुरुष तापयु[illegible] होता है। यह मन-धर्मोंका आत्मामें अ[illegible] है। वास्तवमें आत्मा, असंग, निर्गुण देश-का[illegible] वस्तु परिच्छेदसे रहित आनन्द चेतनरूप है।

आत्मा अपने स्वरूपके अज्ञानसे आका[illegible] आदि पंचभूतों और उनके कार्य प्रपंचमें [illegible] वस्तु समीचीन है यह समीचीन नहीं है, [illegible] नाना प्रकारकी भेद बुद्धि द्वारा इस लो[illegible] अनेक सुख-दुःखको प्राप्त करता है। यह [illegible] ज्ञानका अवान्तर फल है मुख्य फल तो श्रुति[illegible] कहा हुआ जन्म-मरणका प्रवाह है। [illegible] पूर्वोक्त ज्ञान-कर्म-इंद्रियोंके व्यापार, आका[illegible]

आदि पंचभूतोंके व्यापार और भूतोंके कार्य प्रपंच व्यापारको आत्मा अज्ञान द्वारा अपनेमें मानता है। पूर्वोक्त सभी जाग्रत अवस्थाके ज्ञान अध्यास द्वारा व्याप्त हैं। अतः सत्-चित्-आनन्द, अनन्त रूप आत्माका यह जाग्रतकाल सम्पूर्ण स्वप्न है। क्योंकि जहाँ प्रबोधका अभाव और मिथ्या वस्तुका दर्शन हो उसे स्वप्न कहते हैं। यह स्वप्नका लक्षण जाग्रतमें भी घटता है। क्योंकि अज्ञान अवस्थामें आत्म-ज्ञानरूप प्रबोधका अभाव है और "मैं क्षत्रिय हूं, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अन्धा हूँ" इस प्रकार अनात्म देहादिकोंके धर्मोंका आत्मामें आरोपण रूप मिथ्या दर्शन भी है। इसलिये जाग्रत स्वप्नरूप है। लोकमें भी ऐसा देखा जाता है— यदि कोई पुरुष ज्ञानेन्द्रिय और प्रत्यक्ष ज्ञानके समस्त साधनसे युक्त होने पर भी घटको पट कहता है, तब उस भ्रान्त पुरुषको जाग्रतमें भी लोग सोया हुआ कहते हैं। अतः लोक व्यवहार में भी विपरीत दर्शनका नाम स्वप्न प्रसिद्ध है। यह लक्षण पूर्वोक्तरीतिसे जाग्रतमें भी घटता है। इस प्रकार यह आनन्दरूप आत्मा भी विपरीत दर्शन विशिष्ट है। इसलिये उसका जाग्रत भी स्वप्न रूप है। यद्यपि स्वप्नमें इन्द्रियोंकी उपरामता होती है और वह जाग्रतमें नहीं है। तथापि मिथ्या दर्शन रूप धर्म जाग्रत स्वप्नमें समान होनेसे जाग्रत भी स्वप्न है। यह मिथ्या जाग्रत अवस्थाका निरूपण समाप्त हुआ।

अब स्वप्न अवस्थाका निरूपण करते हैं— इस प्रकार जाग्रत अवस्थामें नाना प्रकार के स्वप्नोंको देखकर इन्द्राणी सहित परमात्मा रूप इन्द्र द्वितीय स्थान हृदय कमलदलमें प्रवेश किये। यहाँ आत्मामें कर्ता भोक्तापनेकी उपाधि बुद्धिका नाम इन्द्राणी है। इस स्थानमें इन्द्र और इन्द्राणीके पास पूर्व कर्मोंके अनुसार मन नटकी तरह अनन्त प्रकारके अपने रूपोंको दिखलाता है। तात्पर्य यह है कि वह मन ज्ञानाकार और विषयाकार परिणामको प्राप्त होता है। और अनन्त जन्मोंमें उत्पन्न पदार्थोंके संस्कारसे युक्त होनेके कारण ही मनमें ऐसा सामर्थ्य है।

जाग्रतसे स्वप्नमें इन्द्रियोंकी उपरामता रूप विलक्षणता दिखलाते हैं—स्वप्न अवस्थामें मन से उत्पन्न नाना प्रकारके कार्य रूप स्वांगको परमात्मारूप इन्द्र देखता है। वह परमात्मा ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियसे रहित है। जाग्रतके संस्कारसे विशिष्ट और स्वप्नभोगके देनेवाले कर्मोंसे विशिष्ट है।

यहाँ शास्त्रमें दो प्रक्रिया कही गई है— स्वप्नमें मन ही रथ आदि विषयाकार और ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होता है। ऐसा कोई ग्रन्थकार मानते हैं। कोई ग्रन्थकार मनमें रहने वाली वासनासे विशिष्ट अज्ञान ही स्वप्नमें रथादि विषयाकार और ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होता है ऐसा मानते हैं।

अब जाग्रतसे स्वप्नमें दूसरी विलक्षणता भी दिखलाते हैं—उस स्वप्न अवस्थामें द्रष्टा अपने स्वरूपमें और दृश्य पदार्थोंमें स्वरूप नियम, देशनियम, कालनियम, कारणनियम इन चार प्रकारके नियमोंके अभावको देखता है।

दृश्य पदार्थोंमें स्वरूपनियमका अभाव निरूपण करते हैं—स्वप्नमें प्रतीत होने वाला हाथी क्षणमें वृक्ष प्रतीत होता है और वह वृक्ष क्षण भरमें पर्वत, पर्वत पुनः क्षणमें तृण हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार स्वप्नमें दृश्य पदार्थोंके स्वरूपका कोई नियम नहीं है।

द्रष्टामें स्वरूपनियमके अभावका निपरूण करते हैं—स्वप्नमें ब्राह्मण द्रष्टा क्षणमें अपनेको शूद्र देखता है और क्षण भरमें अपनेको पशु, क्षणमें पुनः देवता देखता है। और फिर क्षण-मात्रमें अपनेको महाराजा हुआ देखता है। इस प्रकार द्रष्टाके स्वरूपमें भी नियमका अभाव है।

स्वप्नमें अब देश नियमके अभावको दिखलाते हैं—सूक्ष्म नाड़ियोंमें स्थित हुआ द्रष्टा उस सूक्ष्म स्थानमें समुद्र, सुमेरु पर्वत, सप्तद्वीपोंसे युक्त पृथ्वीको देखता है। इस प्रकार स्वप्नमें देश नियमका अभाव है।

काल नियमका अभाव—शय्या पर सोया हुआ पुरुष रात्रिमें सूर्य सहित दिनको देखता है। अतः कालनियमका भी स्वप्नमें अभाव है।

अब कारण नियमके अभावका निरूपण करते हैं—इस भारत खण्डमें स्थित पुरुष स्वप्न में इस पुरुष शरीरसे ही सूर्य चन्द्रका भक्षण करता है और भक्षणका कोई कारण नहीं है। क्योंकि वस्तुके भक्षणमें तीन कारण होते हैं—एक भक्षण करने योग्य वस्तुका मुखके साथ सम्बन्ध—दूसरा मुखकी अपेक्षा खाद्य वस्तुका छोटी होना—तीसरा भोक्ता पुरुषका सामर्थ्य। इन तीनों कारणोंका अभाव है तो भी पुरुष स्वप्नमें सूर्य-चन्द्रका भक्षण करता है। स्वप्नमें रथके कारण लौहकाष्ठ आदिकोंका [illegible] है तो भी संकल्पमात्रसे रथको उत्पन्न क[illegible] अतः कारणका भी स्वप्नमें नियम नहीं [illegible]

इसीलिये मायाके अतिरिक्त स्वप्न[illegible] दूसरा कारण नहीं है। माया ही उसका [illegible] है। श्रुतिके तात्पर्यको जाननेवाले [illegible] भगवान् आदिने स्वप्नको मायामात्र कहा [illegible]

अब सुषुप्ति अवस्थारूप तीसरे [illegible] निरूपण करते हैं—उस इन्द्ररूप आत्माने [illegible] एवं जाग्रतको देख करके इन्द्राणी सहित [illegible] अन्दर आकाश रूप तीसरे स्थानमें प्रवेश [illegible] तात्पर्य यह है कि जाग्रतके उत्तरकालमें [illegible] होता है और कभी स्वप्नसे उत्तर सुषुप्ति [illegible] है यह नियम नहीं है। क्योंकि कभी तो [illegible] के उत्तर सुषुप्ति, कभी सुषुप्तिसे उत्तर [illegible] कभी जाग्रतसे उत्तर स्वप्न और स्वप्नसे [illegible] सुषुप्ति होती है।

उस हृदय आकाशमें प्रवेशके बा[illegible] भोग्य रूप इन्द्राणीको आलिंगन करके इ[illegible] इन्द्राणीके साथ अभेदको प्राप्त होता है। [illegible] यह है कि वहाँ भोक्ता भोग्यपना भिन्न [illegible] नहीं होता।

शंका उत्पन्न होती है—"सुषुप्तिमें [illegible] अज्ञानका कार्यरूप भोग्य नहीं है तथापि [illegible] रूप भोग्य है। इसलिये भोक्ता भोग्यका [illegible] नहीं बनता है।"

समाधान—"सुषुप्तिमें आवरणरूप [illegible] यह द्रष्टा देखता हुआ भी नहीं देखता [illegible] यहाँ तात्पर्य यह है कि जैसे दीपकसे अन्[illegible] का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही किसी प्र[illegible]

अज्ञान की सिद्धि नहीं होती। साक्षी चेतन द्वारा ही अज्ञानकी सिद्धि होती है। वह साक्षी सुपुप्ति अवस्थामें भी है इसलिये द्रष्टा चेतन सुपुप्तिमें अज्ञानको देखता है और सुपुप्तिसे जाग्रत हुआ पुरुष "मैं कुछ नहीं जानता" ऐसा अज्ञानका स्मरण करता है। जो जो स्मृति-ज्ञान होता है वह पूर्व अनुभव जन्य होता है ऐसा नियम है। इसलिये "मैं कुछ नहीं जानता" ऐसा अज्ञानका जाग्रतमें स्मरण सुपुप्ति-के अज्ञानके अनुभवको सिद्ध करता है। इस प्रकार सुपुप्तिमें सामान्यतया अज्ञानको देखता हुआ भी स्पष्ट अज्ञानको नहीं देखता। इसलिये सुपुप्तिमें भोक्ता भोग्यका अभेद कहा है।"

शंका—"जब अज्ञानरूप आवरण सुपुप्ति-में स्पष्ट नहीं है तब प्रतिबन्धकके अभाव होनेसे इस पुरुषको सुपुप्तिमें अपने स्वरूपको जानना चाहिए, इसलिये सुपुप्ति मात्रसे ही सब जीवोंका मोक्ष होना सम्भव है।"

समाधान—"सुपुप्ति अवस्थामें यह द्रष्टा अद्वितीय आनन्दरूप अपने स्वरूपको नहीं जानता है। क्योंकि सुपुप्तिमें विशेष ज्ञानका अभाव है। तात्पर्य यह है कि सुपुप्तिमें प्रति-बन्धका यद्यपि अभाव है तथापि शास्त्र-गुरु आदि ज्ञानकी सामग्री वहाँ नहीं है। इसलिये सुपुप्तिमें मोक्षका साधन आत्मज्ञान नहीं होता और सुपुप्तिमें अपने स्वरूपका अज्ञान विद्यमान है। इस कारणसे आत्म साक्षात्कारके अभाव तथा साक्षी भास्य मिथ्या अविद्याके विद्यमान होनेसे सुपुप्ति स्वरूप है, ऐसा श्रुतिका कथन है। क्योंकि जहाँ प्रबोधका अभाव हो और मिथ्या वस्तुका दर्शन होवे उसे स्वप्न कहते हैं। यह लक्षण सुपुप्तिमें भी घटता है।

जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति इन तीन स्वप्नोंको देखनेवाला, चक्षु-हृदयकमल-हृदयाकाश तीन स्थानोंमें रहनेवाला, पिताका शरीर, माता शरीर, पुनः पिता का शरीर इन तीन गृह वाला, शरीररूप द्वारावती पुरीमें स्थित देहादिकोंमें अहं-मम अभिमान वाला, अहं, मम, अभि-मान रूप जन्मको प्राप्त परमात्मदेव गुरुकी कृपासे अज्ञानरूप निद्रासे जागकर विचार करने लगा—

वास्तवमें उत्पत्तिसे रहित मैं परमात्मा जिन पंचभूतोंसे प्रकट हुआ हूं वे आकाश आदि मुझ परमात्माके उपाधिरूपसे उत्पन्न हुए हैं। ये पंचभूत शरीरआदिक भेदसे अनन्त प्रकारके हैं। संक्षेपसे इन्हें दो प्रकारका मानते हैं—कोई जड़ रूप और कोई अजड़ रूप हैं। भोग्यरूपसे जड़ हैं और भोक्तारूपसे अजड़ हैं।

अब विस्तारसे भूतोंमें भोग्य-भोक्तापनाका निरूपण करते हैं—बाह्य आकाश आदि पंच-भूत स्थावर जंगमों द्वारा केवल भोग्य हैं और वृक्षादि स्थावरोंका तथा मनुष्यादिक जंगमोंका परस्पर भोक्ता भोग्यपना नियमसे नहीं है। कभी स्थावर भोक्ता और जंगम भोग्य होता है और कभी स्थावर भोग्य और जंगम भोक्ता होता है। यहाँ जो उपकार करे उसे भोग्य और जिस पर उपकार किया जाय उसे भोक्ता सम-समझना चाहिए। जैसे मनुष्य वृक्षों पर जल सिंचनरूप उपकार करते हैं, अतः मनुष्य जंगम

भोग्य और वृक्ष स्थावर भोक्ता हैं। और वृक्ष छाया काष्ठ फल आदि देकर मनुष्य पर उपकार करते हैं, अतः मनुष्यादि जंगम भोक्ता और वृक्षादि स्थावर भोग्य हैं। इस प्रकार भोक्ता-भोग्य रूप दो प्रकारका प्रपंच हुआ।

विचार करके देखा जाय तो मुझ चेतन में ही भोक्ता और भोग्यपना घटता हुआ मुझ अद्वितीयका बोध कराता है। जड़ वस्तुओंमें तीनों कालमें भोक्तापना नहीं होता है। क्योंकि कर्ता ही भोक्ता होता है। जड़ वस्तुओंमें भोग रूप क्रियाका कर्तापना नहीं है इसलिये भोक्तापना भी नहीं बनता है। तात्पर्य यह है कि अमुक वस्तु मेरे सुखका साधन है, अमुक वस्तु मेरे दुःखका साधन है इस प्रकारके ज्ञानका नाम भोग है। वह चेतन आत्मामें ही घटता है। क्योंकि सभी जड़वस्तु चेतन आत्माके सुखके साधन हैं। जड़ वस्तु जड़के सुखका साधन नहीं होती। अतः भोगका आश्रयरूप भोक्ता आत्मा है। भोगरूप क्रियाका कर्ता भी जड़ वस्तु नहीं होती। क्योंकि स्वतंत्रको कर्ता कहते हैं। वह स्वतन्त्रता आत्मासे भिन्न जड़वस्तुमें हो नहीं सकती, इसलिये कर्ता भी आत्मा ही है।

अब जड़वस्तु भोग्य भी नहीं है, इस भावको समझाते हैं—चेतन-जड़के सम्बन्धको करने वाला अज्ञान विचारकालमें निवृत्त होता है। इसलिये यह वस्तु मेरे सुखका साधन है इस अन्तःकरणकी वृत्तिमें आरूढ़ जो फल चेतनरूप प्रकाश वह मैं आत्मा हूँ। मेरेसे भिन्न कोई प्रकाशरूप नहीं। अन्तःकरणकी वृत्तिमें जो प्रकाश वह भी मुझ परमात्माके स[...] है। स्वतन्त्र अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रका[...] है। बुद्धि भी परमात्माके प्रकाशसे ही प्र[...] है। यह पहले कह आये हैं। अतः समष्टि[...] देहोंका मैं परमात्मा प्रकाशक हूँ और [...] दृश्य मेरे अधीन हैं। जैसे महाराजकी [...] राजाकी आज्ञा बिना कोई पुरुष स्वतन्[...] बोल सकता, वैसे ही मुझ परमात्मासे [...] कोई दृश्य वस्तु स्वतन्त्र चेष्टा नहीं करती।

तीन परिच्छेदोंसे रहित मुझ [...] भोक्ता-भोग्य स्वरूप प्रपंच कल्पित है। [...] मुझ परमात्माके अज्ञानसे सम्पूर्ण जगत [...] हुआ है, जैसे रज्जुके अज्ञानसे प्रतीत[...] वाला सर्प कल्पित है। तात्पर्य यह है कि [...] से भिन्न किसी वस्तुकी सिद्धि नहीं होती[...] यद्यपि श्रुतियाँ प्रपंचको मिथ्या कहती हैं, [...] असंभावनाकी निवृत्तिके लिये युक्तिसे भी [...] के मिथ्यापनेपर विचार करना चाहिये। [...] शादि पंचभूतोंका मिथ्यापना सिद्ध है। [...] जैसे स्वप्नके पदार्थ प्रतीति कालमें ही हैं, [...] से पूर्व और उत्तरकालमें नहीं हैं। अतः [...] हैं। तैसे आकाश आदिक भूत भी जिस-जिस [...] द्वारा प्रतीत होते हैं उस पुरुषके प्रतीति [...] हैं और प्रतीतिसे पूर्व और उत्तरकालमें न[...] अतः मिथ्या हैं। जब आकाश आदि प[...] ही असत्य हो गये तब उन भूतोंका कार्य [...] कैसे सत्य हो सकेगा। अतः प्रपंच भी [...] है, जैसे असत्य वन्ध्यापुत्रका पुत्र भी असत्य [...] है वैसे ही असत्य पंचभूतोंका कार्य प्रपं[...] असत्य होगा। अतः सिद्ध हुआ कि आ[...]

भिन्न पंचभूत और उसका कार्य प्रपंच वन्ध्या-पुत्रकी तरह असत्य है।

अब आकाशादिक प्रपंचका कारण माया के असत्यरूपका निरूपण करते हैं—कार्य-प्रपंचकी मायाके विना अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाणसे मायाकी सिद्धि है अथवा श्रुतिप्रमाणसे अथवा अनुभव प्रमाणसे मायाकी सिद्धि है? इन तीन पक्षोंमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि जैसे असत्य वंध्यापुत्रकी मायासे भी उत्पत्ति नहीं हो सकती तैसे ही प्रपंचके असत्य होने पर उस प्रपंचकी मायासे भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

शंका करते हैं—"लोकमें असत्यकी भी मायासे उत्पत्ति देखी गई है। जैसे भूमिमें स्थित मायावी नट अपनी मायासे आकाशमें स्थित अपना असत्य दूसरा स्वरूप दिखलाता है। तैसे ही असत्य प्रपंचकी भी माया द्वारा उत्पत्ति हो सकती है।"

समाधान—"उस स्थलमें भी निमित्त कारणरूप मायासे सत्य मायावी पुरुपका ही नाना रूप करके प्रादुर्भाव देखा जाता है। तात्पर्य यह है कि आकाशमें स्थित स्वरूपका परिणामी उपादान कारण माया नहीं है किन्तु मायाका विपय नटका आत्मा ही उस स्वरूपसे प्रतीत होता है। इसलिये असत्य वस्तुकी उत्पत्तिमें माया कहीं भी समर्थ नहीं देखी जाती। अतः माया स्वतन्त्र नहीं बल्कि परतन्त्र है।

माया श्रुतिके प्रमाणसे सिद्ध है। यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि श्रुतियों ने मायाको जगतके उत्पत्ति स्थिति और नाश का कारण कहा है, तथापि वह जगतका कारण नहीं है। माया तो स्वयं असत्य है। असत्य किसीका कारण और कार्य नहीं होता है। मायासे जगतकी उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतिका तात्पर्य मायाका बोधन नहीं बल्कि अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान कराना है। क्योंकि फलवाले अर्थ-को ही श्रुति बोधन करती है। और फलकी प्राप्ति अद्वितीय आत्माके ज्ञानसे ही होती है। मायाके ज्ञानसे फल प्राप्ति नहीं होती।

माया अनुभवसे सिद्ध है। यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस कालमें अवि-वेकी पुरुप अपने सत्-चित्-आनन्द स्वरूपको नहीं अनुभव करता उस कालमें यह पुरुप माया को 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकारके अपरोक्ष ज्ञानका विपय मानता है। जैसे सोया हुआ बालक अपने देहको राक्षस मानकर भयभीत होता है तैसे ही आनन्दरूप आत्मा भी अपने सत्-चित् स्वरूपको भूलकर आत्मा स्वरूपको आवरण करनेवाली मायाकी कल्पना करता है। विचार रहित भ्रान्त पुरुपके अनुभवसे मायाकी सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि यदि भ्रान्तिज्ञान से वस्तुकी सिद्धि होने लगे तो शुक्तिमें चाँदीकी और रस्सीमें साँपकी भी सिद्धि होनी चाहिये। और विचार सहित अनुभवके उत्पन्न होने पर माया ठहरती नहीं है, जैसे सूर्यके उदय होने पर अन्धकार नहीं ठहरता। इस प्रकार माया अनुभवसे भी सिद्ध नहीं होती है। अतः किसी प्रमाणसे माया सिद्ध न होनेके कारण मुझ अद्वितीय आत्मामें माया नहीं है। यह सिद्ध हुआ।"

शंका—"यदि माया चैतन्य आत्मामें नहीं है तो 'मैं अज्ञानी हूँ" यह अनुभव किसको विषय करता है ?"

समाधान—"यह माया मुझ परमात्मासे भिन्न नहीं, किन्तु मेरा ही स्वरूप है। जैसे बालकके शरीरसे राक्षस भिन्न नहीं, किन्तु अपने शरीरको ही राक्षस मानकर बालक भयभीत होता है। तात्पर्य यह है कि यथार्थ ज्ञानका अविषय आत्माका स्वरूप ही माया, अज्ञान, अविद्या इस प्रकारके शब्दों द्वारा कहा गया है। अतः माया स्वतन्त्र नहीं है।"

शंका—'माया, अविद्या, अज्ञान इस प्रकार के शब्द और ज्ञानके बलसे चैतन्य आत्मासे भिन्न स्वतन्त्र मायाकी सिद्धि क्यों नहीं होती है ?"

समाधान—"जब शब्द और ज्ञानमें ही प्रमाणता नहीं है तब फिर उनके बलसे माया की सिद्धि कैसे हो सकती है। शब्द और ज्ञान प्रमाण रूप नहीं हैं। क्योंकि वस्तुके असत्य होने पर भी शब्द और ज्ञान रहते हैं। इस कारणसे ही असत्य वन्ध्या पुत्रमें "वन्ध्यापुत्र है" इस प्रकारका शब्द और ज्ञान दिखाई पड़ता है। अतः शब्द और ज्ञानमें अपने विषयको सिद्ध करनेका सामर्थ्य नहीं है।

अब ज्ञान स्वरूप बुद्धिका खण्डन करते हैं—सर्व प्रथम बुद्धिका स्वरूप क्या है ? इसपर विचार करना चाहिए। वह बुद्धि बोधरूप है अथवा अबोध रूप है ? अबोध रूप बुद्धि है यह दूसरा पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे अबोध रूप होनेसे घटादिक स्वतन्त्र नहीं है वैसे ही बुद्धि भी अबोध रूप होनेसे स्वत[illegible] होकर परतन्त्र हो जायेगी।

बुद्धि बोध रूप है। इस प्रथम पक्ष[illegible] दो पक्ष है। वह बोध धर्म रूप है अथ[illegible] का अधिष्ठान धर्मीरूप है ?

धर्म स्वरूप बोध है। इस प्रथम [illegible] यदि बोध धर्म स्वरूप सिद्ध हो तो बुद्धि [illegible] स्वरूप सिद्ध होगी। परन्तु विचार पूर्वक [illegible] जाय तो बोधकी ही धर्म रूपता सिद्ध नहीं [illegible] है। और धर्मी स्वरूप बोध है। इस दूसरे [illegible] बोधको अधिष्ठानमय परमात्मासे अभिन्न [illegible] बोधरूप बुद्धि स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होती। [illegible] निर्णय करनेके लिए प्रथम बोधके स्व[illegible] विचार करना चाहिए। बोधके स्वरूपका [illegible] करनेसे ही बोध स्वरूप बुद्धिका भी [illegible] होगा।

"धर्म रूप बोध है" इस पक्षमें [illegible] करते हैं। वह बोध घट पटादि विषयोंका [illegible] है, अथवा ज्ञानके कारण चक्षु आदि इन्द्रि[illegible] धर्म है अथवा आत्माका धर्म है अथवा [illegible] का धर्म है ?

"बोध घट पटादि विषयोंका धर्म है" यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि [illegible] बोध घटादिक विषयोंका धर्म हो तो घ[illegible] चेतन होने चाहिए। बोधवाला चेतन होता [illegible] यह नियम है।"

शंका—"घटादिक विषय चेतन स्वरू[illegible] इसे हम अंगीकार करते हैं।"

समाधान—घटादिकको यदि चेतन मा[illegible] तो उन्हें अपने ज्ञानमें अन्यकी अपेक्षा [illegible]

होनी चाहिए। क्योंकि चेतन स्वप्रकाश होता है। जो अपनी सिद्धिमें दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा न करे उसे स्वप्रकाश कहते हैं। घट आदि अपनी सिद्धिमें अन्य प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं। इसलिए घटादिक विषयका धर्म बोध नहीं है। अथवा—घटादिक विषयका धर्म बोध मानने पर भोक्ता भोग्यका विपरीत भाव प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि भोग्य रूपसे प्रसिद्ध घटादि विषय भोक्ता स्वरूप हो जायेंगे। और घटादिक विषयोंसे भिन्न भोक्ता भोग्य स्वरूप होगा। क्योंकि बोधवाला भोक्ता होता है। यह भोक्ता का लक्षण है। और घटादिक विषयोंको भोक्ता कहना अनुभव विरुद्ध है। अतः घटादिक विषयका धर्म बोध नहीं है।

इन्द्रियोंका धर्म बोध है यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो जिसका धर्म होता है वह सदा उसके भीतर प्रतीत होता है। जैसे अग्निका उष्ण स्पर्श धर्म है, किसी कालमें अग्नि उष्ण धर्मसे रहित नहीं होती है। वैसे ही यदि बोध इन्द्रियका धर्म हो तो जहाँ जहाँ इन्द्रिय हो वहाँ वहाँ नियमसे बोध प्रतीत होना चाहिये। परन्तु नियमसे बोधकी प्रतीति नहीं होती है। कभी इन्द्रियके होनेपर बोध प्रतीत होता है, कभी नहीं प्रतीत होता है। इसलिये इन्द्रियोंका धर्म बोध नहीं है। शब्दके विद्यमान होनेपर भी बहरे पुरुषकी चक्षुइन्द्रिय शब्दको नहीं जानती। रूपके विद्यमान होनेपर भी अन्ध पुरुषकी श्रोत्र इन्द्रिय रूपको नहीं जानती है और जिस कालमें मन असावधान रहता है उस कालमें भी सम्मुख अथवा पृष्ठ देशमें स्थित पुरुषको चक्षु इन्द्रिय नहीं जानती है। इसी प्रकार श्रोत्रादि अन्य इन्द्रियाँ भी शब्दादिक विषयोंको नहीं जानती हैं। इसलिए इन्द्रियोंका धर्म बोध नहीं, किन्तु बोधका उपकरण इन्द्रियाँ हैं। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणकी वृत्तिमें आरूढ़ चेतनका नाम बोध है। वह वृत्ति इन्द्रि-यादिकोंसे उत्पन्न होती है। इसीलिए इन्द्रियाँ बोधका उपकरण है।

इन्द्रियोंमें स्थित बोध उन इन्द्रियोंका धर्म होगा, परन्तु वह बोध किसी इन्द्रियमें प्रतीत नहीं होता वरन् घटादिक अर्थमें स्थित प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि स्फुरणका नाम बोध है। वह घट स्फुरण और पट स्फुरण होता है इस प्रकारके अनुभवसे विषयमें स्थित हुआ प्रतीत होता है।

परोक्ष ज्ञानके विषयभूत इन्द्रियोंमें बोध है, इसमें कोई प्रमाण नहीं।

शंका—जैसे नैयायिकोंके मतमें आत्ममें स्थित बोध घटादिक पदार्थोंको विषय करता है तैसे इन्द्रियोंमें स्थित बोध भी घटादिकोंको विषय करेगा। बोधका घटादिक विषयके साथ नैयायिकोंकी भाँति विषयता रूप सम्बन्ध यहाँ भी बनता है।

समाधान—अन्य वस्तुमें स्थित बोध यदि अन्य वस्तुको प्रकाशित करता हो तो तादात्म्य सम्बन्धसे घटमें स्थित हुआ बोध पटको क्यों नहीं प्रकाशित करता है। जैसे इन्द्रियोंमें स्थित बोधका घटादि विषयके साथ विषयता सम्बन्ध तुमने अंगीकार किया है वैसे ही घटमें स्थित बोधका पटादिकोंके साथ विषयता सम्बन्ध भी

किसीसे निवारण नहीं होगा। अतः इन्द्रियोंका धर्म बोध नहीं। अथवा—यदि चक्षुइन्द्रियमें स्थित बोध द्वारा घटादिकोंका भान अंगीकार करोगे तो तुम्हारे मतमें चक्षुइन्द्रियका जैसे घटके साथ संयोग सम्बन्ध और घटमें स्थित रूपके साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध है, तैसे घटमें स्थित रसादिकोंके साथ भी चक्षुका संयुक्त समवाय सम्बन्ध सम्भव है। इसलिये जैसे घटका रूप चक्षुइन्द्रियमें स्थित बोधमें प्रतीत होता है तैसे घटमें स्थित रसादिक चक्षुइन्द्रियमें स्थित बोधमें क्यों नहीं प्रतीत होता है? प्रतीत होना चाहिए। हमारे मतमें इस दोषकी प्राप्ति नहीं है। क्योंकि रूपाकार वृत्तिमें आरूढ़ चेतन रूप बोधका तादात्म्य रूप विषयता सम्बन्ध रूप और रसमें नहीं है। और चक्षुइन्द्रियके द्वारा रसादिकोंकी प्रतीति होती नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआकि अन्य पदार्थमें स्थित हुआ बोध अन्य पदार्थको प्रकाशित नहीं करता। यदि ऐसा अंगीकार करोगे तो घटमें स्थित बोध पटका भी प्रकाश करेगा। इस अति-प्रसंग दोषकी प्राप्ति होगी। यदि घटादिकोंमें धर्मरूप से बोध रहे तो घटादिकोंका बोध द्वारा प्रकाश होना ठीक है, परन्तु घटादिकोंमें धर्म रूपसे बोध रहता नहीं है। यदि घटादिकोंका धर्म बोध हो तो घटादिक भोक्ता होने चाहिए। यह पहले कह आये हैं। अतः इन्द्रियोंका धर्म बोध नहीं यह सिद्ध हुआ।

आत्माका धर्म बोध है। यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि अन्यमें स्थित हुआ बोध अन्यको प्रकाशित नहीं करता। इस दोष की यहाँ प्राप्ति होती है। इसलिये शुभ आ में धर्म रूपसे बोध नहीं रहता है।

शंका—"आत्मामें स्थित हुआ बोध घटा को प्रकाशित न करे तो भी आत्माके प्रका लिए आत्माका धर्म बोध हम स्वीकार लेते हैं।"

समाधान—शुभ आत्माका धर्म यदि हो तो धर्मसे धर्मी भिन्न होनेके कारण बो भिन्न शुभ आत्माको जड़ता प्राप्त हो जाय अथवा—जैसे घटादिकोंको बोध प्रकाशित है, तैसे शुभ आत्माको बोध प्रकाशित करता। क्योंकि घटादिक पदार्थ बोधमें क हैं। इसलिए अधिष्ठान स्वरूप बोध उ प्रकाशित करता है। तात्पर्य यह है कि उपहित चेतनमें घट कल्पित है। जिस का अन्तःकरणकी वृत्ति नेत्र द्वारा निकल कर कार होती है उस कालमें घट उपहित के साथ वृत्ति उपहित चेतन रूप बोधका होता है। क्योंकि चेतनमें परमार्थसे तो नहीं है, किन्तु उपाधि द्वारा भेद है। वे धियाँ जब तक भिन्न-भिन्न देशमें स्थित हैं तब तक चेतनमें भेद करते हैं। और उपाधियाँ एक देशमें स्थित हो जाती हैं उपाधिवाले चेतनोंमें भेद नहीं करते हैं। चेतनोंका अभेद हो जाता है। जैसे मठसे देशमें जब तक घट रहेगा तभी तक घटा और मठाकाशमें भेद है, परन्तु घटको जब म अन्दर ले आते हैं तब मठाकाशके साथ काशका अभेद हो जाता है। इस प्रकार से उपहित चेतनके साथ अभेद भाव प्राप्त घटाक

वृत्ति उपहित चेतन रूप बोधमें घटादिक कल्पित हैं। उन कल्पित घटादिकोंको अधिष्ठान स्वरूप बोध प्रकाशित करता है। मुझ आत्माका कोई भी अधिष्ठान नहीं है, किन्तु मैं स्वयं अपनी महिमामें स्थित होकर सर्व अनात्म वस्तुका अधिष्ठान हूँ। और यदि बोधको मुझ आत्मा-का अधिष्ठान मानोगे तो वह बोध ही आत्मा सिद्ध होगा। क्योंकि सबका अधिष्ठान आत्मा ही है। मुझ आत्मा से भिन्न बोधको यदि प्रकाश स्वरूप मानोगे तो उस बोध द्वारा मुझ आत्माका भान नहीं होता है, जैसे पुत्र के पंडित होने पर पिता पंडित नहीं होता है। अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा का धर्म बोध नहीं है।

बुद्धिका धर्म बोध है, यह चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह बुद्धि बोधसे भिन्न नहीं है। बोधके साथ तादात्म्य भावको प्राप्त हुई बुद्धि ज्ञान पदवीको प्राप्त होती है। अन्तःकरणका परिणाम रूप बुद्धिको स्वतः ज्ञानरूपता नहीं है। जब भी बोधको बुद्धिका धर्म मानोगे तब बोधसे भिन्न हुई बुद्धि ज्ञान पदवीसे रहित होगी। अथवा यदि बुद्धिका धर्म बोध हो तो बोधसे भिन्न हुई बुद्धिका क्या स्वरूप है? बोधसे भिन्न होने पर बोध स्वरूप तो हो नहीं सकती किन्तु अबोध स्वरूप बुद्धि घटादिकोंकी तरह मुझ आत्मामें कल्पित होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं, वरन् मुझ आत्माके अधीन है। अतः बुद्धिका धर्म भी बोध नहीं हो सकता है।

बोधके अनन्त होनेसे बुद्धि भी बोध स्वरूप है। वादीके इस प्रकारकी शंका निवृत्ति के लिये और बोधको एक आत्म स्वरूपता सिद्ध करनेके लिये बोधके स्वरूप पर विचार करते हैं—यह बोध जगतमें एक है अथवा अनेक है? यहाँ बोध एक है यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं। क्योंकि यदि बोध एक होगा तो संस्कार भेद, प्रमाणभेद और प्रमाज्ञान, स्मृत-ज्ञान और अप्रमाज्ञान इनका परस्पर भेद नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि नाश अवस्थाको प्राप्त हुए ज्ञानसे संस्कार उत्पन्न होता है। ज्ञानभेदके बिना उन संस्कारों में भेद नहीं होता और प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति, अनुपलब्धि इन चार प्रमाणोंका भेद भी प्रमाज्ञानके भेद बिना नहीं बनता है। इसलिए बोध एक नहीं। यद्यपि आगे बोधकी एकता ही सिद्ध करनी है, तथापि उस एकताकी दृढ़ताके लिये प्रथम एकता खंडन का विकल्प किया है।

बोध अनेक हैं, इस दूसरे पक्षमें भी यह विचार करना चाहिये कि जैसे स्वरूपसे घट पटका भेद है तैसे बोधोंका परस्पर स्वरूपसे भेद है अथवा जैसे घटाकाश और मठाकाशका महाकाशसे घट-मठरूप उपाधिकृत भेद है तैसे उपाधिसे बोधोंका परस्पर भेद है।

स्वरूपसे बोधोंका भेद है यह प्रथम पक्ष बनता नहीं है। क्योंकि बोध स्वरूपता सम्पूर्ण बोधोंमें समान है। इसलिये एक बोधमें दूसरे बोधका भेद नहीं रहता है, जैसे घटमें घटका भेद नहीं रहता। इसलिये स्वरूपसे बोधका भेद नहीं है।

उपाधिके भेदसे बोधोंका भेद है। यह दूसरा पक्ष मुझे अंगीकार है। क्योंकि जैसे घट मठ रूप उपाधिमें स्थित भेदका आकाशमें आरोपण होता है। तैसे ही अबोध स्वरूप अन्तःकरणकी वृत्तिके भेद होने पर भी वह भेद बोधमें परमार्थसे नहीं है। किन्तु वृत्तिरूप उपाधिमें स्थित भेदका बोधमें आरोपण होता है। उस आरोपित भेद द्वारा ही प्रमाज्ञान, अप्रमाज्ञान, स्मृतिज्ञान इस प्रकारका भेद व्यवहार होता है। और बोधके उपाधिवृत्ति रूप ज्ञानके भेदसे संस्कारों और प्रमाणोंका भेद भी बनता है। जैसे कल्पित मृग-तृष्णाके जलसे पृथ्वी गीली नहीं होती और जैसे कल्पित सर्प से रस्सी विषैली नहीं होती वैसे ही आरोपित भेदसे बोधमें नानापना सिद्ध नहीं होता है।

जो लोग वास्तवमें परस्पर बोधोंका भेद मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिये कि बोध परस्पर अपेक्षावाले हैं अथवा परस्पर अपेक्षा रहित हैं ? अन्तिम पक्ष माननेमें बोधोंका भेद सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि अन्य बोधकी अपेक्षासे रहित एक बोधसे ही सर्व व्यवहारकी सिद्धि हो सकती है। अनन्त बोध माननेका कुछ प्रयोजन नहीं है।

बोध परस्पर अपेक्षावाले हैं, यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है। क्योंकि यदि बोध अपने प्रकाशके लिये दूसरे बोधकी अपेक्षा करे तो वह अबोध स्वरूप हो जायगा। जैसे घट अपने प्रकाशके लिये बोधकी अपेक्षा करता है, इसलिये अबोध-रूप है। अतः यह सिद्ध हुआ कि बोध एक है।

अब बोधके स्वप्रकाशताकी सिद्धिके लिये अन्य विचार करते हैं—बोध अज्ञात अथवा ज्ञात हुआ सर्व व्यवहारका कारण यहाँ अज्ञात हुआ बोध व्यवहारका का[रण] यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं। क्योंकि [अ]विषयताके अभावका नाम अज्ञातता है। [दो] प्रकारकी है—एक स्वप्रकाशता रूप औ[र] जड़त्व धर्म विशिष्ट चेतन सम्बन्धका[ा] रूप। बोधमें स्वयं प्रकाशता रूप प्रथम[अज्ञा]तताकी सिद्धान्तरूपता आगे कहेंगे। य[हाँ] दूसरी अज्ञाततका खण्डन करते हैं। [जैसे] अज्ञात हुआ भी जलका आधार रूप [घट] कारण है तैसे यह बोध अज्ञात हुआ भी [कार्यका] कार्यका कारण नहीं है और यदि बोधको [ऐसा] मानोगे तो बोध भी जड़ होनेसे बो[ध] घटादिकोंके समान होगा।

बोध ज्ञात हुआ व्यवहारका कारण है [यह] दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि [ज्ञान] विषय जो वस्तु उसे ज्ञात कहते हैं। [तो] बोधको विषय करनेवाला दूसरा बोध मान[नेसे] बोधमें घटादिकोंकी तरह अबोधरूपता [का] दूषण प्राप्त होगा। दूसरा अनवस्था रूप [दोष] भी प्राप्त होगा। क्योंकि प्रथम बोध दूसरे का विषय हुआ व्यवहारका साधक है। [दूसरा] बोध यदि अज्ञात हुआ प्रथम बोधकी [सिद्धि] करेगा तो अज्ञात पक्षमें पूर्वोक्त दूषण होंगे। इसलिये वह दूसरा बोध भी तीसरे का विषय होकर ही प्रथम बोधकी [सिद्धि] करेगा।"

शंका—"बोधको सिद्ध करनेवाला को[ई] नहीं है" इसलिये अनवस्था दोष नहीं

समाधान—"बोधका साधक यदि बोध नहीं मानोगे तो जगतमें अंधताकी प्राप्ति होगी। अर्थात् किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं होगी, इसलिये यह बोध बोधसे रहित नहीं है।"

शंका—"बोधके ज्ञात-अज्ञात दोनों पक्षमें पहले आपने दोष कहा है। अतः उन दोषोंकी निवृत्तिके लिये बोधकी स्वयं प्रकाशता हम अंगीकार करते हैं।"

समाधान—"वह अद्वितीय बोध स्वयं प्रकाश है। यह विचारपूर्ण अर्थ जो तुम्हारी बुद्धिमें आरूढ़ हुआ है, वह हमें भी मान्य है। बोधकी स्वयं प्रकाशता मैं स्वीकार करता हूँ।"

शंका—"बोधको स्वयं प्रकाश माननेसे आपको क्या लाभ प्राप्त होगा?"

समाधान—"वह स्वयं प्रकाश बोधस्वरूप मैं आत्मा हूँ। बोध मेरेसे भिन्न नहीं है। अर्थात् यदि बोध मुझ आत्मासे भिन्न होगा तो घटादिकोंकी तरह मैं आत्माका दृश्य होऊँगा। दृश्य वस्तु स्वयं प्रकाश नहीं होती, वरन् अन्यके द्वारा प्रकाशित होती है। बोधको अन्यके द्वारा प्रकाशित मान लेनेसे पूर्व कथित अनवस्थादिक दोष लगते हैं। अतः मुझ आत्मासे अभिन्न बोधको आत्मस्वरूपता होनेपर भूमा आनन्दकी प्राप्ति ही लाभ है।"

शंका—"भूमा आनन्दके प्राप्त होनेपर आपको उसके रक्षाकी चिन्ता भी प्राप्त होगी।"

समाधान—"रक्षा अनित्य वस्तुकी होती है, नित्य वस्तुकी रक्षा नहीं होती। सत्यस्वरूप-आत्मामें अनित्यता नहीं है। इसलिये मुझ आत्मासे अभिन्न भूमा आनन्दमें भी अनित्यता संभव नहीं है। भूमा व्यापकको कहते हैं।

आनन्द स्वरूप आत्मामें अनित्यताके अभावकी सिद्धिके लिये तीन परिच्छेदोंके अभावका निरूपण करते हैं—

जो वस्तु आदिकाल और अन्तकालमें न हो उसे अनित्य कहते हैं। मैं आनन्द स्वरूप आत्मा तीन कालमें विद्यमान हूँ। अतः मैं आनन्दस्वरूप आत्मा अनित्य नहीं हूं, नित्य हूँ। मेरेसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। मैं ही सर्व हूँ। इस प्रकार वस्तु परिच्छेदका अभाव आत्मामें सिद्ध हुआ।

जो वस्तु किसी एक कारण अथवा किसी एक देश अथवा किसी एक कालमें रहती है वह वस्तु उस अपने आधारसे और जगतसे भिन्न होती है। इस भेदसे उस वस्तुको अनित्यता प्राप्त होती है। क्योंकि भेद युक्त प्रत्येक वस्तु अनित्य होती है। ऐसा नियम व्यास भगवान् ने सूत्रमें कहा है। जैसे घटादिक पदार्थ भेद युक्त होनेसे अनित्य हैं। घट पटादिककी तरह मैं आनन्द स्वरूप आत्मा किसी कारण अथवा देश, कालमें नहीं रहता। अर्थात् सम्पूर्ण देश काल आदिक कल्पित वस्तुका मैं आनन्द स्वरूप आत्मा आधार हूँ। मुझ आत्माका आधार कोई कल्पित वस्तु नहीं हो सकती। इसलिये मुझ आनन्द स्वरूप आत्मामें किसी प्रकार भी अनित्यता नहीं है। इस प्रकार आत्मामें देश परिच्छेद और काल परिच्छेद का अभाव दिखलाया गया।

देश-काल, उस देश कालसे उत्पन्न हुई वस्तुएँ और उस देश कालमें स्थित सत्य-असत्य स्वरूप जड़ वस्तु ये सम्पूर्ण मुझ अधिष्ठान

स्वरूप आत्मामें रहते हैं और मैं सबका अधिष्ठान आत्मा किसी अनात्मवस्तुमें नहीं रहता, अपने महिमामें स्थित हूँ।

नाना प्रकारके प्रपंचोंका अद्वितीय आत्मा आधार है इस अर्थको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

जैसे मालाके मणि तथा पुष्प सूत्रमें रहते हैं वैसे ही यह स्थूल प्रपंच मुझ सूत्र आत्मामें रहता है। जैसे पृथ्वीके सूक्ष्म कण पृथ्वीमें रहते हैं वैसे ही यह सूक्ष्म प्रपंच कारण स्वरूप मुझ ईश्वरमें रहता है। जैसे गंगादिक नदियोंके जल अपने नाम रूपका परित्याग करके समुद्रमें स्थित हो जाते हैं वैसे ही यह अव्याकृत रूप कारण मुझ ब्रह्ममें स्थित होता है। जैसे अग्नि में धूम रूप अन्धकार रहता है वैसे ही सृष्टिकाल में अनित्य, जड़, दुःख रूप यह प्रपंच सत्-चित-आनन्द स्वरूप मुझ आत्मामें रहता है। जैसे गन्ध और तृण वायुके आधार रहते हैं वैसे ही यह प्रपंच स्थिति कालमें मुझ आत्मामें रहता है। यहाँ गन्धसे तात्पर्य गन्धका आधार पृथ्वी के सूक्ष्म भागसे है। जैसे शरद ऋतुमें मेघ आकाशमें लीन रहते हैं तैसे ही प्रलयकालमें यह प्रपंच मुझ परमात्मामें लयभावको प्राप्त रहता है।

इस प्रकार आत्माकी तत्पदार्थ ईश्वर रूपता द्वारा जगतकी आधारताका वर्णन किया। अब त्वंपदार्थ जीवरूपतासे कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक प्रपंचकी आधारता आत्मामें तीन दृष्टान्तों द्वारा दिखलाते हैं—

जैसे सुहृद् पुरुषमें दुष्टता कल्पित है, दुष्ट पुरुषमें साधुता कल्पित हैं, बालकके शरीर में राक्षस भाव कल्पित है इसी प्रकार आत्मामें सम्पूर्ण जगत कल्पित है।१ मैं स्वयं प्रकाश और सुख रूप हूँ। मुझमें को भी दुःख नहीं है।"

शंका—"सम्पूर्ण जगतकी आत्मा हैं, तब फिर जगतमें विद्यमान दुःखके आपका सम्बन्ध क्यों नहीं है?"

समाधान—अद्वितीय आत्माके स्व विचार करने पर इस जगतमें कभी भी नहीं है। क्योंकि उत्पन्न होने वाली वस्तु होती है और दुःख की उत्पत्ति होती है यह विदित है। इसलिये दुःख भी जड़ है। चेतन आत्मामें परमार्थतया जड़ वस्तु है नहीं। अतः जड़ दुःख स्वरूप मैं नहीं हूँ।

शंका—"दुःख उत्पन्न होने के कारण जड़ है, तब सुख भी उत्पन्न होता है, सुख को भी जड़ मानना पड़ेगा। जड़ परमार्थतया आत्मामें नहीं होती यह आप कह आये हैं। इसलिये सुखके जड़ हो कारण आत्मामें सुख रूपता नहीं होगी।"

समाधान—"जैसे दुःख उत्पन्न है वैसे सुखकी उत्पत्ति आत्मस्वरूप होने से पुरुषोंने स्वीकार नहीं किया है। किन्तु नित्य मानते हैं। मूढ़ पुरुष तो आनन्द आत्माके प्रतिबिम्ब युक्त अन्तःकरणकी सुखरूप मानकर उसकी उत्पत्ति और अंगीकार करते हैं।"

शंका—"वह अन्तःकरणकी वृत्ति ही सुखरूप क्यों नहीं है?"

समाधान—"अन्तःकरणकी वृत्तिको

रूप मानना श्रुति और युक्तिके विरुद्ध है। क्योंकि श्रुति तो व्यापक आत्माको ही सुखरूप कहती है और परिच्छिन्न वस्तुकी सुख रूपता का खण्डन करती है। अनुमान रूप युक्तिसे भी वृत्तिकी सुखरूपता सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि उत्पत्ति वाला सुखरूप नहीं हो सकता। जैसे दुःख उत्पत्तिवाला होनेसे सुखरूप नहीं है। तैसे अन्तःकरणकी वृत्ति भी उत्पन्न होती है यह प्रसिद्ध है। अतः वृत्ति सुखरूप नहीं है।

वैराग्य

आत्म साक्षात्कारका कारण वैराग्य उत्पादन के लिये विषय जन्य सुखमें दुःखरूपता दिखलाते हैं—

यहाँ दो पक्ष हैं। एक पक्ष कहता है कि विषयसे उत्पन्न फल सुखरूप है और दूसरा पक्ष कहता है कि उस फलके साधन विषय ही सुखरूप हैं। यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं। क्योंकि विषयसे उत्पन्न फल तीनों कालमें सुख रूप नहीं, बल्कि दुःखरूप है।

शंका—"यदि विषय जन्य फल सुखरूप नहीं होगा तो "विषयसे मुझको सुख मिला" यह लोक कथन असंगत हो जायगा। सब लोग जब कहते हैं तब विषय जन्य फल ही सुखरूप होना चाहिये।

समाधान—"विषयसे सुखरूप फल उत्पन्न न होकर दुःखरूप फल उत्पन्न होता है। उस दुःखमें पूर्वके भ्रम जन्य संस्कारोंके कारण पुरुषोंको सुख प्रतीत होता है। दुःखमें वह सुख बुद्धि भ्रम रूप है। क्योंकि अन्य वस्तुमें अन्य बुद्धिका नाम ही भ्रान्ति है। इसलिये विषय जन्य फल सुखरूप नहीं है।

विषय ही सुखरूप है। इस दूसरे पक्षका खण्डन करने के लिये सर्वप्रथम स्त्रीरूप विषय में सुख रूपताका खण्डन करते हैं। इसके खण्डन होने पर सभी विषयोंकी सुखरूपताका स्वयं खण्डन हो जायगा। जैसे सम्पूर्ण पहलवानोंमें प्रधान पहलवानको जय कर लेने पर शेष सब विजित हो जाते हैं। वैसे ही सभी विषयोंमें प्रधान सर्वमान्य स्त्रीरूप विषयमें सुखरूपताका खण्डन हो जाने पर अन्य सभी विषयोंकी सुख रूपताका खण्डन सिद्ध हो जायगा। अतः सर्वप्रथम स्त्रीरूप विषयमें ही सुखरूपताका अभाव कहना चाहिये।"

खून, मल और मूत्रसे युक्तपेट फट कर मरे हुए दुर्गन्धित मेढकके समान स्त्रीकी योनि को भी कामी पुरुष भ्रान्ति वश सुन्दर देखता है। विचार पूर्वक देखा जाय तो स्त्री और पुरुषके शरीरमें किञ्चित मात्र भी भेद नहीं है। परन्तु अविवेकी कामी पुरुष भ्रान्ति वश भेद देखते हैं।"

शंका—"स्त्री और पुरुषके शरीरमें स्पष्ट भेद दृष्टिगोचर होता है। इनमें अभेद कहना ठीक नहीं है।"

समाधान—तत्व और आत्माकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पंचभूत, पंचप्राण, और चार अन्तःकरण ये कुल चौबीस तत्व स्त्री पुरुष दोनोंमें समान हैं। आत्माके भेदसे भी भेद नहीं बनता, क्योंकि स्त्री पुरुषादिक सम्पूर्ण प्राणीमात्रके हृदय देशमें सत्-चित्-आनन्द रूप में आत्मा स्थित हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुषके शरीरमें तत्व

और आत्माका अभेद होते हुए भी काम पिशाच के वशीभूत होकर स्त्री और पुरुष परस्पर भेद मानकर भ्रान्तिवश आसक्त होते हैं। और मेष आदि पशुओंकी भाँति परस्पर संघष करते हैं। काम शास्त्र आदि भी सुखकी लारको अधरामृत कहकर कामियोंका उपहास करते हैं। उनका तात्पर्य नालीके गन्दे पानीको गंगाजल समझने वाले कामी पुरुषोंको उससे विरक्त करना है।"

शंका—"मैथुनसे यद्यपि सुखकी प्राप्ति नहीं होती, तो भी कामकी शान्ति रूप दुःखकी निवृत्ति होती है।"

समाधान—"जैसे घृत और काष्ठ आदिसे अग्नि शान्त नहीं होती बल्कि और बढ़ती है, उसी प्रकार मैथुनसे कामकी निवृत्ति रूप दुःखकी निवृत्ति नहीं होती है, उल्टा कामकी वृद्धि होती है। मैथुनसे यदि कामकी शान्ति होती तो पुनः मैथुनकी इच्छा नहीं होना चाहिए। परन्तु देखा जाता है कि दिन प्रतिदिन कामकी वृद्धि होती जाती है। अतः सिद्ध हुआ कि मैथुनसे कामकी शान्ति नहीं हुई। वीर्यके बाहर निकलनेमें किञ्चितमात्र भी सुख नहीं होता, उल्टा दुःख पश्चाताप और बलकी हानि होती है। पर भ्रान्तिवश पुरुष उसमें सुख मानता है। यदि वीर्यके त्यागमें सुख माना जाय तो उससे लाख गुना अधिक सुख मल और मूत्रके त्यागमें मानना चाहिए।

जो पुरुष तुच्छ वस्तुकी प्राप्तिके लिए चिन्तामणिका परित्याग करते हैं उन बुद्धिहीन पुरुषोंको चिन्तामणि शाप देती है। इसी प्रकार अपान वायुके निगर्मन जन्य सुखसे भी अति-निकृष्ट सुन्दरी स्त्री जन्य तुच्छ सुखके लि चित्त शुद्धि द्वारा मोक्षका साधन यज्ञादिक को जो पुरुष करता है, उस अल्पबुद्धि पुरु यज्ञादिक कर्म भी शाप देते हैं।

जो वादी विषय जन्य सुखको मानते उनसे यह पूछना चाहिए कि उस सुखका का स्त्री तथा पुरुष शरीर है अथवा सुखका का दोनों शरीरोंका सम्बन्ध है अथवा प्रज उत्पत्ति अथवा समान जातिके प्रजाकी उत उस सुखका कारण है?

स्त्री तथा पुरुषका शरीर सुखका का है। यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि शरीरमें सुखउत्पन्न होता तो स्त्री पुरु दूसरेके पास क्यों जाते? सुखका साधन अ शरीर विद्यमान रहने पर अन्यके पास जाना चाहिए। अतः स्त्री पुरुष किसीके सुख नहीं है।

स्त्री पुरुषका संयोग सुखका कारण यह दूसरा पक्ष भी नहीं बनता है। क्यों यदि दोनोंके शरीरोंका संयोग ही सुखका का हो तो मैथुनके बाद भी उस संयोगमें सुख चाहिएं। परन्तु सुख नहीं होता उल्टा पश्चा ताप होता है। इसीलिए महात्माजनोंने कहा

> भोजनान्ते श्मशानान्ते मैथुनान्ते च यामति
> सामतिः सर्वदा चेत्स्यात् नरो नारायणो भवे

भाव यह है कि भोजनके अन्तमें श्मशा भूमिमें तथा मैथुनके अन्तमें पुरुषकी जैसी दृष्टि होती है, वैसी यदि सदा रहे तो साक्षात परमेश्वर रूप है। परन्तु ऐसी

सदा नहीं रहती है। अतः स्त्री पुरुषका संयोग भी सुखका कारण नहीं है।

प्रजाकी उत्पत्ति सुखका कारण है। यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि प्रजाकी उत्पत्ति सुखका कारण होती तो खटमल जूआँ, कीटादिकी उत्पत्तिसे भी हमें सुख होना चाहिए। परन्तु इनसे हमें सुख नहीं दुःख होता है। अतः प्रजाकी उत्पत्ति भी सुखका कारण नहीं है।

सजातीय प्रजाकी उत्पत्ति सुखका कारण है। यह चौथा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि लोकमें पुत्रादि सजातीय प्रजावाले पुरुषभी अपने पुत्रोंसे दुःखी देखे जाते हैं। प्रतिकूल पुत्र तो प्रत्यक्ष दुःखका कारण है। और अनुकूल पुत्रों के लिए भी पालन पोषणकी चिन्ताका दुःख उठाना पड़ता है। अतः जिसे हम भ्रान्तिवश सुखका कारण समझते हैं, वे सभी दुःखरूप हैं।

रसना इन्द्रियके विषय रसादिकोंमें सुख नहीं है। जैसे स्त्री रूप विषय इस पुरुषके सुख के कारण नहीं हैं, वैसे ही अन्नजल भी इसके सुखके कारण नहीं हैं। क्योंकि भोजनोत्तर अन्न दुःखका कारण होता है। जैसे भोजन करके तृप्त हुए पुरुषकी थालीमें जब और भोजन परोसा जाता है तब वह ऊँचे स्वरसे उसका विरोध करता है। इससे उसका अन्नके प्रति द्वेष प्रकट होता है। द्वेषका विषय सिंह सर्पादिकी तरह दुःखका साधन होता है। अतः अन्नादिक सुख के कारण नहीं हैं।"

शंका—"यदि अन्न जल सुखके कारण न होते तो सुखके लिए अन्नजलमें लोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु उनमें सर्व लोकोंकी अतिशय प्रवृत्ति होनेसे वे सुखके कारण हैं।"

समाधान—"अन्न और जल सुखके कारण नहीं, केवल उनसे कुछ कालके लिए क्षुधा पिपासाकी शान्ति होती है। जैसे प्रज्वलित अग्निमें पड़ा हुआ काष्ठ क्षणमात्रके लिये उस अग्निकी ऊँची ज्वालाको कम करता है। वैसे ही थोड़ी देरके लिये अन्नजलसे क्षुधा पिपासा शान्त होती है। प्राण क्षुधाको उत्पन्न करता है और अग्नि प्यासको उत्पन्न करती है। अन्न और जलके पड़नेसे प्राण अग्निका निरोध होनेसे क्षणमात्रके लिये क्षुधा पिपासाकी शान्ति होती है। उस क्षुधा पिपासाकी सहनरूप शांति में ही अल्पबुद्धि भ्रांत पुरुष सुख मानते हैं। अतः रसना इन्द्रियके विषय अन्नादि सुखके कारण नहीं हैं।

रसना इन्द्रियके विषयकी तरह शब्दादिक विषयोंके प्राप्त होने पर भी पुरुषोंको सुख नहीं उत्पन्न होता है। बल्कि क्षणमात्रके लिये इच्छा की निवृत्तिमात्र होती है। तात्पर्य यह है कि शब्दादिक विषयोंकी इच्छासे प्रथम चित्त चंचल रहता है। और उन विषयोंके प्राप्त होने पर क्षणमात्रके लिये उसकी चंचलता निवृत्त हो जाती है। चंचलताकी निवृत्तिरूप चित्तकी अवस्थाको ही मूढ़ पुरुष सुखरूप मानते हैं और ज्ञानी पुरुषकी मान्यता इस प्रकार है कि चित्त भूतोंके सत्वगुणका कार्य होनेसे निर्मल है, तथापि शब्दादिक विषयोंकी इच्छासे क्षुब्ध हुआ चित्त आनन्दरूप आत्माके प्रतिबिम्बको नहीं ग्रहण कर पाता है। शब्दादिक विषयोंकी प्राप्ति

होने पर कुछ कालके लिए इच्छापूर्तिसे चित्त स्थिर होता है। उस स्थिर चित्तमें आनन्दरूप आत्मा प्रतिबिम्बित होता है। जिस आनन्दरूप आत्माके प्रतिबिम्ब द्वारा दुःखरूप चित्त भी सुखकी तरह प्रतीत होता है वह बिम्बरूप आत्मा ही मुख्य सुख स्वरूप है। इस अभिप्राय से ही शास्त्रमें कहा गया है कि विषय प्राप्तिकाल में भी ज्ञानीको नित्य सुखका अनुभव होता है और अज्ञानीको क्षणिक सुखका अनुभव होता है। इसलिये शब्दादिक विषयोंमें किंचितमात्र भी पुरुषोंको सुख नहीं उत्पन्न होता। किन्तु दुःखरूप अन्तःकरणके परिणाममें ही भ्रान्त पुरुषोंने सुखबुद्धि कर लिया है।

अथवा—विषय जन्य अन्तःकरणका परिणामरूप फलमें उत्पत्ति, नाश तथा परिच्छिन्नतारूप दोष रहते हैं। इसलिये उसमें बुद्धिमान पुरुषोंको सुख बुद्धि नहीं होती है। क्योंकि श्रुतिमें व्यापक आत्माको ही सुखरूप कहा है।

अथवा—व्याकरणसे सुख शब्दका अर्थ करने पर भी अन्तःकरणके परिणामकी सुख स्वरूपता नहीं सिद्ध होती है। क्योंकि जिससे इंद्रियोंके गोलक प्रसन्न होते हैं उसे सुख कहते हैं और विषय जन्य सुखके विचार करनेसे उलटा दोष-चिन्ता द्वारा हृदय रूप गोलक तप्त होता है। अतः जितने विषय जन्य सुख है, सभी दुःखरूप हैं।

"मैं आत्मा नित्य सुख स्वरूप हूँ। सत्‌चित अद्वितीय स्वरूप हूं।"

शंका—"सत्-चित्-आनन्द इस प्रकारके शब्द भेदसे आत्माके स्वरूपका भेद क्यों नहीं होता है?"

समाधान—"बुद्धिमान पुरुषोंको शब्द के [illegible] सत्-चित्-आनन्दरूप अर्थोंकी भेदबुद्धि कभी नहीं उत्पन्न होती है। क्योंकि शब्दोंका [illegible] होते हुए भी अर्थकी एकता लोकमें देखी [illegible] है, जैसे पुत्र, पिता, पति और भ्राता। एक पुरुष व्यक्तिको पिता, पुत्र, पति, भ्राता [illegible] कहकर पुकारते हैं। तो भी यहाँ शब्दोंके [illegible] पुरुष व्यक्तिका भेद नहीं होता। चार शब्दों [illegible] अर्थको धारण करनेवाला व्यक्ति पुरुष [illegible] ही है। वैसे ही मुझ आत्माको भी शास्त्रमें [illegible] चित-आनन्द इस प्रकार भिन्न भिन्न शब्दों [illegible] कहा गया है तथापि इन सत्-चित् आदि श[illegible] के भेदसे मुझ आत्मामें भेद नहीं होता है।

जिस निमित्तको ग्रहण करके सत्-[illegible] आदिक शब्द आत्माका बोधन करते हैं [illegible] निमित्तको दिखलाते हैं—

बन्ध्या पुत्रकी भाँति मैं आत्मा असत्य [illegible] किन्तु असत्यसे विलक्षण हूँ। उस विलक्षण [illegible] रूप निमित्तको ग्रहण करके सत्यादिक [illegible] मुझ आत्मामें प्रवृत्त होते हैं। घटादिक [illegible] पदार्थोंकी भाँति मैं आत्मा किसी अन्यके [illegible] प्रकाशित नहीं हूँ। अतः मैं आत्मा जड़ [illegible] बल्कि घटादि जड़ पदार्थोंसे विलक्षण हूँ। [illegible] विलक्षण रूप निमित्तको ग्रहण करके [illegible] शब्द मुझ आत्मामें प्रवृत्त होता है। प्रति[illegible] वस्तु सुखकर नहीं बल्कि सिंह सर्पादिकी [illegible] दुःखकर होती है। ऐसा दुःखरूप आत्मा [illegible] नहीं हूँ, मैं दुःखसे विलक्षण हूँ। इसलिये [illegible] विलक्षणता रूप निमित्तको ग्रहण करके आन[illegible] शब्द मुझ आत्मामें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार[illegible]

ही आत्म शब्द, एक शब्द, अद्वितीय शब्द, अस्थूल शब्द, अनणु शब्द आदि भेदरहित सच्चिदानन्दमय आत्मामें प्रवृत्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि आत्माके प्रतिपादक शब्द दो प्रकारके हैं—एक विधिमुख। दूसरा निषेध मुख। विधिमुख सत्यादिक शब्द तो प्रथम आत्माका बोधन करके उसके बाद असत्यादिकोंसे व्यावृत्तिका बोधन करते हैं और निषेधमुख अद्वितीयादिक शब्द तो प्रथम साक्षात् व्यावृत्तिको बोधन करके अर्थसे आत्माका बोधन करते हैं। व्यावृत्ति भेदको कहते हैं। अतः सत्यादिक शब्दोंके भेद होनेपर भी उनके अर्थका भेद नहीं है। यह सिद्ध हुआ कि सभी सत्यादिक शब्द एक ही आत्माका बोधन करते हैं।

सत्यादिक शब्दोंके अर्थका भेद अब युक्तिसे निरूपण करते हैं—

सुखसे प्रकाश भिन्न नहीं है, क्योंकि यदि सुखसे प्रकाश भिन्न होगा तो दुःख और दुःखके साधन सर्पादिकी भाँति प्रकाश भी प्रतिकूल हो जायगा। अनुकूलतम होने से प्रकाश प्रतिकूल नहीं है। अतः प्रकाश सुखसे भिन्न नहीं है। तात्पर्य यह है कि सुखके साधन चन्दनादि अनुकूल विषयोंसे उत्पन्न अन्तःकरणकी वृत्तिको अनुकूलतर कहते हैं। और उनका प्रकाशक आनन्द-स्वरूप आत्मा अनुकूलतम कहलाता है। इसलिये प्रतिकूलता प्रकाशमें नहीं बनती है। यहाँ तर और तम शब्द अधिकताके वाचक हैं।"

शंका—"प्रकाश और सुखका परस्पर भेद न हो तथापि उन दोनों धर्मोंसे आत्मारूपी धर्मी भिन्न क्यों नहीं होता है?"

समाधान—"आत्मा प्रकाश स्वरूपसे भिन्न नहीं, क्योंकि वह सर्वअन्तःकरणकी वृत्तियोंका प्रकाशक है। जो प्रकाशसे भिन्न होता है वह सभी वृत्तियोंको प्रकाशित नहीं करता, जैसे बुद्धि आदि हैं। यदि आत्मा प्रकाशसे भिन्न होगा तो अप्रकाश स्वरूप होने के कारण घटादिकोंकी तरह अनात्म स्वरूप हो जायगा। और घटादिकी तरह आत्माकी अनात्म स्वरूपता वादीको भी अंगीकार नहीं है। अतः प्रकाशसे आत्मा भिन्न नहीं, वरन् प्रकाश स्वरूप है। जैसे पहले कह आये हैं कि सुखसे प्रकाश भिन्न नहीं, तैसे ही प्रकाशसे सुख भी भिन्न नहीं है। क्योंकि प्रकाशसे भिन्न होने पर अप्रकाश स्वरूप हो जायगा। और अप्रकाशमान सुखकी सुखरूपता नहीं बनती है।"

शंका—"दीपक द्वारा घटादि प्रकाशमान होते हैं, परन्तु यहाँ घटादिसे दीपक भिन्न है। ऐसे ही सुखसे भिन्न प्रकाश द्वारा भी सुख प्रकाशमान हो सकता है। अतः सुख और प्रकाशका अभेद मानना कोई अर्थ नहीं रखता है।"

समाधान—"जैसे रज्जु आदि व्यवहारिक पदार्थ और सर्पादिक कल्पित पदार्थ अपनेसे भिन्न प्रकाश द्वारा प्रकाशमान होते हैं, तैसे अपने भिन्न प्रकाशसे सुख प्रकाशमान नहीं होता है। किन्तु अपनेसे अभिन्न प्रकाश द्वारा सुख प्रकाशमान होता है। इसलिये सुख-प्रकाशका अभेद है। तात्पर्य यह है कि रज्जु आदिक दृश्य पदार्थ चेतनमें कल्पित हैं, इसलिये उनकी भिन्न प्रकाश द्वारा प्रकाशमानता सम्भव है।

और आत्म स्वरूप सुख कल्पित नहीं है किन्तु सर्वका अधिष्ठान है, इसलिये भिन्न प्रकाश द्वारा उसकी प्रकाशमानता नहीं बनती है। और जैसे प्रकाशसे आत्मा भिन्न नहीं है, तैसे सुखसे भी आत्मा भिन्न नहीं है, वल्कि अभिन्न है।

प्रकाश स्वरूप सुखसे यदि आत्मा भिन्न हो तो घटादिकोंकी तरह अनात्मा होगा। और आत्माकी अनात्मता किसीको अङ्गीकार नहीं है। इसलिये प्रकाश, सुख, आत्मा इन तीनोंका अभेद सिद्ध हुआ। यहाँ प्रकाश शब्दसे चैतन्य का ग्रहण और सुख शब्दसे आनन्दका ग्रहण करना चाहिये। आत्मा आनन्द प्रकाश यह तीनों सत्तासे भिन्न नहीं हैं। क्योंकि जैसे सत्तासे भिन्न होनेसे वन्ध्यापुत्र असत्य है तैसे ही सत्तासे भिन्न होनेपर आत्मा, आनन्द, प्रकाशकी भी वन्ध्यापुत्रकी तरह असत्यता सिद्ध हो जायगी और आत्माकी असत्यता कोई भी अङ्गीकार नहीं करेगा। जैसे आत्मा, आनन्द, प्रकाश ये तीनों सत्तासे भिन्न नहीं, तैसे ही सत्ता भी इन तीनोंसे भिन्न नहीं है। क्योंकि सत्ता यदि आत्मा, आनन्द, प्रकाशसे भिन्न हो तो वह घटादिकोंकी तरह अनात्मा, दुःख, जड़ स्वरूप हो जायगी। और अनात्मा स्वरूप हुई सत्ता वन्ध्यापुत्रके समान असत्य सिद्ध होगी। तात्पर्य यह है कि आत्मा नाम अपने स्वरूप का है। अपने स्वरूपसे जब भी सत्ता भिन्न होगी तब ही वन्ध्यापुत्रकी तरह असत्य हो जायगी। अतः सत्ता आत्मासे भिन्न नहीं।

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप मैं परमात्मा हूँ। देश-काल-वस्तु परिच्छेदसे रहित मैं अनन्त हूँ। रज्जुमें सर्पकी तरह मुझ अनन्त आत्मा[illegible] प्रपंच कल्पित है। कारण, कार्य, देश, [illegible] दिकोंके वाचक सभी शब्दों और ज्ञानोंका विषय मैं परमात्मा ही [illegible] इस कारणसे ही वेदान्त वाक्यों [illegible] तद्जन्य ज्ञानसे परिपूर्ण आत्माको भी मैं [illegible] रहा हूँ। इसलिये मैं कृतकृत्य हूँ। उ[illegible] कथनका तात्पर्य यह है कि जिस आत्म[illegible] निश्चय करनेके लिये इस दुःखरूप शरीर[illegible] प्रवेश किया था वह आत्म साक्षात्कार [illegible] हमें प्राप्त हुआ है। इसलिये किंचित [illegible] हमारे लिये कर्तव्य नहीं है। परमात्म दे[illegible] और वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञानसे अपरोक्ष [illegible] स्वरूपको देखनेके कारण "अयं इन्द्रः" नामको प्राप्त हुआ यह आनन्द आत्मा [illegible] हो गया है। क्योंकि श्रुतिमें प्रसिद्ध [illegible] ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मरूप होता है।

उस इन्द्र नामक परमात्माको अग्नि[illegible] देवता तथा देव भाववाले मनुष्य "इन्द्र" परोक्ष नामसे सम्बोधित करते हैं। इसी [illegible] से ये देवता प्रत्यक्ष नाम लेनेसे बुरा मान[illegible] जैसे लोकमें भी महान पुरुषोंको आचार्य[illegible] परोक्ष नामसे सम्बोधित करनेसे वे प्रसन्न [illegible] हैं और देवदत्त, यज्ञदत्त इस प्रकार [illegible] नामसे संबोधित करनेपर अप्रसन्न होते [illegible] तात्पर्य यह कि जब देवता और शिष्ट पु[illegible] प्रत्यक्ष नाम ग्रहणसे अप्रसन्न होते हैं त[illegible] मेश्वर प्रत्यक्ष नामसे द्वेष करे तो क्या [illegible] है। और इन्द्रनामक परमेश्वरको इन्द्र नाम[illegible] देवता कथन करते हैं और आप भी प्रत्य[illegible]

ग्रहणसे बुरा मानते हैं। इस कारणसे विवेकी पुरुषोंने देवताओंको परोक्ष प्रिय कहा है। इस लोकमें भी जो सत् मार्गपर चलनेवाले पुरुष देवताके समान हैं, उनमें भी देवताओंकी तरह नियमसे परोक्ष नामसे सम्बोधन करनेपर प्रसन्नता देखी जाती है। इसीलिये पिता और आचार्यके साक्षात् देवदत्तादिक नामोंको बुद्धिमान पुरुष नहीं लेता है। बहुधा स्त्रियाँ भी अपने पतिका साक्षात् नाम न लेकर स्वामी आदि परोक्ष नाम ही ग्रहण करती हैं।"

सात्विकी प्रजाको इस प्रकारसे आत्माका उपदेश करके सनकादि मुनियोंने कहा—"आत्म ज्ञानमें अधिकारी प्रजाजनों! अबतक हमने तुमको अध्यारोप अपवाद द्वारा आत्माका स्वरूप बतलाया है। वह आत्मा महावाक्यों तथा महावाक्य जन्य वृत्ति ज्ञानका विषय है, तथापि तुम घटादिकोंकी तरह स्वरूपसे आत्माको विषय रूप मत समझ लेना। परन्तु वह आत्मा वेदान्तके तात्पर्य ज्ञान द्वारा अविषय रूपसे ही जानने योग्य है। जैसे सींग पकड़कर गौ दिखाई जाती है, वैसे आत्माको दिखलानेमें कोई समर्थ नहीं है।"

प्रजाजनोंने कहा—"हे भगवन! आप सर्वशक्तिमान हैं। अतः हमें गौकी तरह आत्माको साक्षात् दिखलाकर बोध करानेकी कृपा करें।"

प्रसन्न मूर्ति सनकादि मुनियोंने कहा—"अध्यारोप अपवादरूप मायाके बिना अद्वितीय आत्माका कथन और श्रवण कर सकनेमें कौन ऐसा पुरुष समर्थ है? किन्तु अध्यारोप अपवाद द्वारा ही गुरु-शास्त्र आत्माका कथन करते हैं। और अधिकारी श्रवण करते हैं। इसीलिये तैतरीय उपनिषद्में आत्माको मन वाणीका अविषय कहा गया है। केन उपनिषद्का कहना है कि तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके मतमें आत्मा अविषय है और बुद्धि आदिको आत्मा माननेवाले अविवेकी पुरुषोंके मतमें घटादिकी तरह आत्मा भी विषय है। कठोपनिषद्में कहा है—वाणीके अविषय आत्माको कहनेवाला वक्ता आश्चर्यरूप है। इन्द्रियके अविषय आत्माको जो श्रवण करे वह श्रोता भी आश्चर्य रूप है और मनके अविषय आत्माको आचार्यके उपदेश द्वारा साक्षात् करनेवाला लब्धा भी आश्चर्य रूप है। हे सात्विक प्रजाजनों! इसके आगे आत्माका स्वरूप कहनेमें हम असमर्थ हैं। फिर भी दिशामात्र द्वारा आत्माका उपदेश हमने तुमको कर दिया है। आगे तुम वेदशास्त्र और सभी युक्तियोंको जाननेवाले हो। अतः अपनी बुद्धि द्वारा विचारकर उस आत्माको प्राप्त करो। इस कथनको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे यात्रा कर रामेश्वर प्राप्त करनेकी इच्छावाले किसी मनुष्यने किसी जानकारसे पूछा—"रामेश्वरकी प्राप्ति हमें कैसे होगी?" तब उस पुरुषने दक्षिण दिशाकी ओर संकेत कर दिया। अब जानेवाले पुरुषको अपने बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा रामेश्वरकी प्राप्ति करनी चाहिए। वैसे ही हमने तुमको आत्माको दिशामात्र द्वारा संकेत कर दिया है। अब तुम अपनी बुद्धि द्वारा आत्माको जानो। वशिष्ठजीने भी रामचन्द्रको इसी प्रकार कहा था—

उपदेश क्रमोराम व्यवस्थामात्रपालनम् ।
ज्ञप्तेस्तुकारणंशुद्धा शिष्यप्रज्ञैव केवला ॥

चतुष्टय साधन सम्पन्न मुमुक्षु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाकर वेदान्त श्रवण करे। यह श्रुतिकी आज्ञा है। इस आज्ञाके पालनार्थ ही गुरुका शिष्यके प्रति उपदेश है और आत्म साक्षात्कारका कारण तो शिष्यकी केवल शुद्ध बुद्धि ही है। अशुद्ध बुद्धिवाले शिष्यको ब्रह्माके उपदेशसे भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है। इस कारणसे ही विरोचनको ब्रह्माके उपदेशसे भी आत्मज्ञान नहीं हुआ था।

हे सात्विक प्रजा! वैराग्य रहित पुरुषों द्वारा यह परमात्मा नहीं जाना जाता। वैराग्यवान पुरुषों द्वारा ही यह जाना जाता है। अतः आत्माके साक्षात्कारके लिये तुम वैराग्यका सम्पादन करो।"

शंका—"हे भगवन्! वैराग्य साधन का क्या उपाय है? जिसके द्वारा हम उसका सम्पादन करें।"

समाधान—"हे प्रजा! वैराग्य प्राप्ति का उपाय हम पहले ही कह आये है। सुखके साधन स्त्री-पुत्रादिकोंमें सर्वदा दोषोंको देखना ही वैराग्यके उत्पत्तिका कारण है।"

इस प्रकार अधिकारी प्रजाको उपदेश करके लोकोंके शोकको हरनेवाले सनकादि महात्मा लोग पुनः प्रश्न करनेकी इच्छावाले अधिकारियोंको छोड़कर अन्तर्धान हो गये।

दुर्लभ गुरुओंके प्राप्तिके लाभसे प्रसन्न मन वाले अधिकारी प्रजाजन सनकादिक मुनियोंके जानेके बाद परस्पर कहने लगे—"हमारे अहो भाग्य हैं, जिसके कारण हम लोगोंने प्राणियोंमें समान दृष्टिवाले, काम क्रोधसे [illegible] वायुके समान सर्व पुरुषोंके अन्दर बाहर [illegible] करनेवाले, परोपकारी, शीत उष्णको सह[illegible] पर दोष कथनमें मौन वृत्तिको धारण करने[illegible] सर्वदोषोंसे रहित, आत्मज्ञानी सनकादि मु[illegible] को गुरुरूपमें प्राप्त किया है। गुरुदेवकी [illegible] अपार है। ये सनकादि शरद् ऋतुके [illegible] भाँति क्षोभ रहित निश्चल है।

पूर्णचन्द्रकी कान्तिसे युक्त निर्म[illegible] महात्मा सनकादि मुनियोंने हम पर अपार [illegible] करके हमारे हितके लिए आत्माका उ[illegible] किया है, तो भी हम सबमें वैराग्यके अ[illegible] कारण उनका उपदेश वैसे ही व्यर्थ हो [illegible] जैसे बधिर पुरुषके पास गीत गाना व्यर्थ [illegible] जाता है। सनकादिकोंके वचनसे हमें आत्[illegible] अपरोक्षज्ञान उत्पन्न न होकर, केवल परोक्[illegible] मात्र उत्पन्न हुआ है। जैसे विद्याध्ययन[illegible] सामान्यतया अर्थका ही ज्ञान होता है वै[illegible] आत्माका केवल परोक्ष ज्ञान हमें प्राप्त हुआ।

सनकादिकोंके वचनसे यज्ञादि [illegible] कर्ता-भोक्ता हम अद्वितीय आत्मस्वरूप [illegible] हैं। इस प्रकारका महान संशय हम लोगों[illegible] उत्पन्न हुआ है।

गुड़ मीठा होता है, परन्तु पित्तरोगवाले [illegible] को उसमें कटुताका अनुभव होता है। इसी [illegible] सनकादि मुनियोंके वाक्य यद्यपि यथार्थ [illegible] ज्ञानके कारण हैं, तथापि हमारे दोषोंसे वे [illegible] संशयको उत्पन्न करते हैं। और उनके वच[illegible] हमारा मन स्थिर नहीं होता है। क्योंकि उन[illegible]

हम लोगोंको अद्वितीय आत्मस्वरूप कहा है। यह ठीक नहीं प्रतीत होता है! कारण, हम कर्म के कर्ता और भोक्ता हैं। इसलिए हम अद्वितीय आत्मस्वरूप कैसे हो सकते हैं? पूर्वमें सनकादि मुनियोंने 'अहं' इस ज्ञानका विषय और 'अहं' इस शब्दका लक्ष्य आत्मा कहा था। यह भी ठीक नहीं जँचता। क्योंकि 'अहं' इस ज्ञानकी विषयता और 'अहं' इस शब्दकी लक्षता हमारेमें नहीं है। अतः हे अधिकारी भाइयों, हम लोगोंको आत्मा में दृढ़ असम्भावना उत्पन्न हो गई हैं। इसी लिए हमारी असंभावनाको देखकर पूछे विना ही आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए हमें वैराग्यका उपदेश और पदार्थोंमें दोष दृष्टि रूप वैराग्य साधनका उपाय सनकादि मुनि बतला गये हैं।

अब हम सब अधिकारियोंको मिलकर पदार्थोंमें दोषोंका विचार करना चाहिए।

शरीर दोषमें गर्भ-दुःखका निरूपण करने के लिए सर्वप्रथम कर्मके वश होकर जीवोंका स्वर्गलोकमें गमन और आगमन पर विचार करते हैं।

सायंकाल तथा प्रातःकालमें हवनकी हुई आहुतियों पर अग्नि होत्र करने वाले अधिकारी विचार करते हैं—ये दोनों आहुतियाँ कैसी है? जल प्रधान दुग्धादिकोंका परिणाम होनेसे जल उनमें प्रधान है। और हवनके अनन्तर अग्निसे सूक्ष्म रूप होकर आकाशको प्राप्त होती हैं, कर्मको करनेवाले हम प्रमाताके व्यापक जीवात्मासे युक्त हैं। इस प्रकार अन्तरिक्ष लोकको प्राप्त हुई सायं-प्रातःकालकी दो आहुतियाँ और शरीरके दाह कालमें स्वर्गकी प्राप्तिके लिये दी गई तीसरी आहुति, ये तीनों आहुतियाँ हम कर्मी पुरुषोंको लेकर प्रथम स्वर्ग-लोककी अग्निको प्राप्त करती हैं। वहाँ पुण्य कर्मोंको भोगनेके बाद मेघ रूप दूसरी अग्निको प्राप्त करती हैं। इसके बाद वर्षा द्वारा पृथ्वी रूप तीसरी अग्निको प्राप्त होती हैं। अन्तमें अन्न द्वारा पुरुष रूप चतुर्थ अग्निको प्राप्त करती हैं।

स्वर्गलोकसे मेघ द्वारा जीवको भूमिलोक पर आनेमें इतना भेद है कि पुण्य पापसे युक्त जीव पुण्य कर्मके उदयसे प्रथम स्वर्ग सुख भोगकर पुण्य कर्मके क्षय होने पर उस स्वर्गसे गिरता है। फिर पाप कर्मके उदयसे नरक दुःखको भोग करके उस नरकसे भूमि पर गिरता है। उस गिरनेके समय जैसा-जैसा इस जीवका कर्म उदय होता है, उस कर्मके अनुसार पराधीन होकर यह जीव नाना प्रकारके जन्तुओं की योनिको प्राप्त करता है। केवल पुण्य कर्म के प्रभावसे यह पुण्यवान जीव स्वर्गलोकमें सभी पुण्य कर्मोंके फलको भोगकर नरकके प्राप्तिके बिना ही वर्षा द्वारा इस भूमि लोकको प्राप्त होता है। यह भूमिलोक औषधियोंसे पूर्ण है।

मनुष्य शरीरका कारण पुण्य पापसे युक्त मूढ़ अवस्थाको प्राप्त हुआ पराधीन जीव अन्न के साथ एकरूप होकर पुनः पुरुषके शरीरमें प्रवेश करता है। जैसे रस्सीसे बाँधा हुआ घट कूपमें प्रवेश करता है वैसे ही कर्म रूप रस्सी द्वारा बँधा हुआ जीव पिता शरीरमें प्रवेश करता है। इस पर एक और दृष्टान्त देते हैं—जैसे धन, घर और बान्धवोंसे रहित कर

हथकड़ी वेड़ी लगा अपराधीको रक्षापुरुष ले जाते हैं, तैसे ही कर्मरूपी हथकड़ी वेड़ी द्वारा बँधा हुआ वान्धवोंसे रहित अकेला यह जीव भी इन्द्रियादिकोंके अभिमानी देवताओं द्वारा पिता शरीरको प्राप्त करता है। वह पिताका शरीर भयानक सर्पोंके समान क्रमियोंसे युक्त अंधकूपकी तरह जीवोंको भयकारक है। जैसे धन हरनेके लिये राजाके आदमी प्रजाको संताप देते हैं वैसे ही पिताके उदरमें रहनेवाली जठराग्नि अन्न द्वारा आये हुए जीवको सन्तप्त करती है। उदरमें स्थित इस जीवको पिताका प्राणवायु झंझावातकी तरह शोषण करता है। यद्यपि पिताके शरीरमें जीव मूर्छित रहनेके कारण दुःख का अनुभव नहीं करता तथापि वैराग्यके उत्पादन निमित्त दुःखका अनुभव कहा है।

जैसे योनि द्वारा माताके गर्भमें यह जीव प्रवेश करता है, तैसे ही मुखरूप छिद्र द्वारा पिताके गर्भमें यह जीव प्रवेश करता है। जैसे काम पीड़ित स्त्री गर्भ धारणकी इच्छा करती है, वैसे ही क्षुधा-तृषा द्वारा पीड़ित पुरुष भी जीव युक्त अन्नरूप गर्भके धारणकी इच्छा करता है। अतः माताके समान पिता शरीरमें भी जीव गर्भ भावको प्राप्त होता है।

शंका—"यदि स्त्रीके समान ही पुरुष रूप पिता जीवरूप गर्भको धारण करता है तब जैसे स्त्रीके गर्भाधानमें पुरुष रूप पिता और उसका मैथुन रूप व्यापार कारण है वैसे ही पुरुषके गर्भाधानमें भी पुरुष रूप पिता और उसका व्यापार होना चाहिए।"

समाधान—"अन्न द्वारा पुरुष शरीरमें प्राप्त हुए जीवरूप गर्भका लोक प्रसिद्ध पिता [illegible] रूप है। क्योंकि गर्भको धारण करनेवा[illegible] माता कहते हैं। अतः पिता माता है और [illegible] विशिष्ट ईश्वर रूप पुरुष उसका पिता ईश्वर और पिताका संयोग मैथुन धर्मको इस गर्भका कारण है। जिस प्रकार मा[illegible] गर्भमें यह जीव दुःखको अनुभव करता है [illegible] ही पिताके गर्भमें भी उदरस्थ होकर दुःख [illegible] है। सर्व प्रथम अन्नके साथ एकरूप हुआ [illegible] पुरुषके मुखको प्राप्त होकर दाँतों द्वारा [illegible] किया जाता है। मुखकी यातना और दुर्ग[illegible] अत्यन्त दुःखी जीव अल्प स्थान वाले [illegible] व्याप्त कण्ठ स्थानमें प्रवेशकर क्रमिकी [illegible] व्याकुल हो छटपटाकर अतिशय दुःखी [illegible] है। कण्ठ स्थानसे जीव नीचे आकर पि[illegible] अग्निमें जलाया जाता है। कष्टसे घब[illegible] जीव भागता है. परन्तु पुनः उसे पित्तरूपी [illegible] में डालकर पकाया जाता है। तत्पश्चात [illegible] रूक्ष और दुःखदायी उदरस्थ वायु द्वारा जी[illegible] छेदन किया जाता है। पुनः जठराग्निमें [illegible] मिलित अन्नको पकाया जाता है। इ[illegible] यातना सहने पर भी प्रारब्ध कर्मके वश [illegible] यह जीव मृत्युको नहीं प्राप्त होता है।

जठराग्नि द्वारा पाक होने पर वह [illegible] उत्तम, मध्यम, अधम भावको प्राप्त होता [illegible] अन्नका उत्तम भाग मन भावको, अधम [illegible] विष्ठा भावको और मध्यम भागके साथ एक[illegible] हुआ जीव क्रमसे त्वचा, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा इन षट धातुओंको प्राप्त होता [illegible] एक धातुसे दूसरी धातुमें जानेमें जीवको [illegible]

यातना और पीड़ाका अनुभव होता है। अन्तमें जीव हड्डियोंमें रहने वाली मज्जा धातुमें स्थित होता है। यह मज्जा सार रूप वीर्यसे युक्त रहती है।

जब पिताके मनमें स्त्री सम्बन्ध रूप निमित्तसे काम रूप अग्नि उत्पन्न होती है, तब जैसे अग्निके सानिध्यसे घृत द्रव होता है वैसे कामाग्निके प्रभावसे सर्व शरीरकी हड्डियोंमें स्थित मज्जा वीर्य रूप सार का परित्याग करती है। जैसे पारा देहमें नहीं ठहरता है वैसे ही सम्पूर्ण अंगोंसे निकला हुआ मज्जासारवीर्य पिता द्वारा सहन नहीं किया जाता है। कामाग्निसे द्रव हुआ वीर्य शरीरमें स्थित नहीं होता है। इस प्रकार वीर्यरूप जीव पिताके गर्भसे बाहरकी ओर उन्मुख होता है।

यद्यपि माताके उदरसे गर्भके प्रसवका कारण वायु ही गर्भको बाहर चलाती है। और पिताके शरीरसे गर्भको कामाग्नि चलाती है। अतः दोनोंकी समानता नहीं है तथापि जैसे यह जीव माताके शरीरमें गर्भरूप होकर स्थित रहता है वैसे पिताके शरीरमें भी गर्भरूप होकर स्थित रहता है। जैसे प्रसव कालमें यह गर्भ माताको व्यामोह करता है, वैसे ही यह वीर्यरूप गर्भ पिताको भी व्यामोह करता है। इस प्रकार दोनों में जीवकी गर्भरूपता समान है।

अन्य वस्तुमें अन्य बुद्धि होनेका नाम व्यामोह है। यहाँ वीर्यरूप गर्भके निर्गमन कालमें पिताके व्यामोहको दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं—जैसे कफ दोपसे निम्ब आदि कटु वस्तु भी मधुर लगती है, तैसे कामाग्नि दोपके उत्पन्न होने पर इस कामी पुरुपको दुःखका साधन स्त्री शरीर सुखका साधन प्रतीत होता है। यदि विवेक पूर्वक विचार कर देखा जाय तो स्त्रीका दुर्गन्धित मुख, मैल भरे स्त्रीके नेत्रोंका कटाक्ष, श्लेष्मासे भरी नासिका, पायु इन्द्रियके समान स्त्रीके अधर, अन्धकारके प्रतीक केश, रक्त, मांस, मलसे भरे स्तन और उदर, विष्ठा मूत्रसे लेपित दुर्गन्धित योनि, चमड़ीसे ढँका हुआ हड्डी मांसका ढाचा, यह स्त्रीका शरीर अत्यन्त ग्लानिको उत्पन्न करता है। तथापि कामाग्निसे क्षुभित कामी पुरुपको यह अत्यन्त विभत्स आकारका स्त्री शरीर अत्यन्त सुन्दर अमृतके समान प्राणोंसे प्रिय प्रतीत होता है।

काम दोपसे जिस प्रकार कामी पुरुपको स्त्री अमृत तुल्य प्रतीत होती है, उसी प्रकार काम दोपसे स्त्रीको भी पुरुप अमृत समान प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि कोई एक दोष कार्य प्रतिबन्धक होता है। जैसे नेत्रमें स्थित पित्त दोप शंखमें श्वेतज्ञानरूप कार्यका प्रतिबन्धक है और कोई एक दोप विपरीत कार्यको उत्पन्न करता है जैसे भस्मक रोगसे दूपित जठराग्नि अधिक अन्नको पचाती है। इसी प्रकार काम दोप भी विपरीत कार्यका आरम्भक तथा कार्यका प्रतिबन्धक है।

इसके पहले स्त्रीके अवयवोंमें प्रिय बुद्धि रूप विपरीत कार्यकी आरम्भकताका वर्णनकर आये हैं। अब काम दोपको सर्वज्ञानोंका प्रतिबन्धक दिखलाते हैं। कामाग्नि जन्य वीर्य रूप गर्भके क्षुब्ध होने पर कामी पुरुप शास्त्र, धर्म,

अधर्म, दिन, रात, अपना, पराया, सुहृद्, मित्र को नहीं जानता है। स्त्रीके शरीरमें दोषोंको अपनी आँखोंसे देखते हुये भी काम दोपके कारण अन्धेकी तरह नहीं देखता है। दोपको सुनता हुआ भी बधिरकी तरह नहीं सुनता है। दुर्गन्धको सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों द्वारा अप्रिय दोपका अनुभव करता हुआ भी इन्द्रियहीनकी तरह नहीं करता है।

बल, ऐश्वर्य, प्रभुताकी प्रतिवन्धकता भी काम दोपमें है। वलशाली कामी पुरुप वलरहित, ऐश्वर्यवान कामी पुरुप दरिद्रकी तरह, और प्रभुता युक्त कामी पुरुप भृत्यकी तरह प्रतीत होता है।

कामदोप अन्तःकरणमें भी प्रतिबन्धकता उत्पन्न करता है। कामी पुरुप बुद्धिमान होते हुए भी बुद्धिहीन, मन सहित होते हुए भी मन रहित, अहंकारी पुरुप अहंकार रहित, चित्त रहते हुए भी चित्त रहित प्रतीत होता है।

इस प्रकार कामरूप ज्वरके वश हुआ वीर्य रूप गर्भको धारण करनेवाला कामी पुरुप विवेकी पुरुषों द्वारा निन्दित और पश्चातापका विषय पूर्वोक्त अवस्थाको प्राप्त होता है।"

शंका—"कामदोपने स्त्रीसे भिन्न पदार्थों में सर्व इन्द्रियोंके व्यापारकी प्रतिबन्धकता किसलिये किया है?"

समाधान—"कूटस्थ आत्माको मोह रूप फाँसीसे बाँधकर महामोह स्वतन्त्र राज्य करना चाहता है। उस महामोहने विवेकसे भयभीत होकर कामको अपना मंत्री बना लिया है। कामने अपने प्रभु महामोहको यह आज्ञा दिया है कि आप विवेकसे बिल्कुल भ[illegible] करें। क्योंकि जिस पुरुप शरीरमें वि[illegible] उत्पन्न होनेकी आशा है उस शरीरको इन्द्रियों सहित मैं निन्दित स्त्री शरीरमें प्र[illegible] करूँगा।

कामने प्रतिज्ञानुसार इन्द्रियोंके व्यापा[illegible] प्रतिबन्ध करके उनको केवल स्त्रीमें प्र[illegible] किया है। फलस्वरूप कामी पुरुप कामके उत्प[illegible] होनेपर नेत्रोंसे स्त्रीको ही देखता है और का[illegible] ही एकाग्र मन होकर सुनता है; सूंघता चाटता है, स्पर्श करता है, वाणीसे उस[illegible] स्तुति करता है, हाथसे ग्रहण करता है, पां[illegible] स्त्रीको ही देवता गुरु समझकर कामी पु[illegible] उसके पास जाता है। इस प्रकार कामी पुरु[illegible] उपहास किया गया है। विवेकी पुरुप भ[illegible] देवताका स्मरण करता है, परन्तु कामी पु[illegible] मनसे केवल स्त्रीका ही स्मरण करता है। वि[illegible] पुरुप बुद्धिसे आत्माका निश्चय करता है कामी पुरुप बुद्धिसे स्त्री सम्बन्धका ही निश्चय क[illegible] है। शुद्ध बुद्धिवाले पुरुप रात दिन वि[illegible] विष्णुका चिन्तन करते हैं तो कामी पुरुप स्त्री[illegible] ही चिन्तन करता है। यह कामी पुरुप का[illegible] दोपके प्रभावसे स्त्रीको ही आत्मा मानता है इसी कारण स्त्री द्वारा ताड़न एवं अपमानि[illegible] होनेपर भी उसको ही सबसे अधिक मानता है।

स्त्रीकी अधीनतामें रहनेके कारण पुरु[illegible] उत्पन्न होनेवाले दोपोंको बतलानेके लिये प[illegible] स्त्रीके दोपोंको दिखलाते हैं—स्त्री अ[illegible] अधीन वशमें हुए कामी पुरुषकी बन्दरकी [illegible]

नचाती है। तात्पर्य यह है कि अपनी इच्छानुसार ही पुरुषसे सम्पूर्ण कार्य कराती है। स्त्रीका स्वभाव भी सदा एक सा नहीं रहता है। कभी वह पतिका आदर करती है, कभी अनादर करती है। कर धनकी याचना करती है, कभी स्वयं धन देती है। कभी पर पुरुष में आसक्त होकर अपने पतिकी स्वयं हत्या करती है अथवा अन्य पुरुषसे कहकर पतिका नाश करवाती है। व्यभिचारिणी स्त्री स्नेहसे रहित होकर अपने पुत्र, पति आदि परिवारका नाश कराती है। वह स्त्री शिष्ट साधु पुरुषोंको भी झूठा लाञ्छन लगाकर उपहासके योग्य कर देती है। स्त्रियोंके उपर्युक्त दोष लोक प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार स्त्रीमें आसक्त कामी पुरुषको इस जन्ममें निश्चयही दुःख और परलोकमें नरककी प्राप्ति होती है। अतः कौन ऐसा विवेकी पुरुष है जो स्त्रीमें आसक्त होगा? केवल मूढ़ पुरुषही स्त्रीको सुखका साधन समझ उसमें आसक्त होते हैं। राजा तो स्नेहसे रहित होने पर पुरुषोंका नाश करता है, डाकिनी स्नेह युक्त होने पर नाश करती है और स्त्रीतो स्नेह युक्त, स्नेह रहित दोनों अवस्थाओंमें पुरुषका नाश करती हैं। स्त्री दो प्रकारकी होती है—एक अपनी स्त्री और दूसरी परायी स्त्री। ये दोनों भयको देने वाली दोष युक्त हैं। अतः अपनी स्त्री स्नेह युक्त होने पर अपने पुरुषको पर स्त्रीमें आसक्त देख स्वयं अथवा अन्यके द्वारा विष आदि देकर मार डालती है। स्नेहसे रहित अपनी स्त्री दूसरे पुरुषमें आसक्त होकर अपने पिता, भ्राता अथवा प्रेमी द्वारा पतिकी हत्या करवा देती है। और परायी स्त्री स्नेह रहित होने पर तत्काल मरणका कारण है। और स्नेह युक्त होने पर भी परायी स्त्रीके संरक्षक प्राण लेनेमें तत्पर रहते हैं। इस प्रकार अपनी और परायी स्त्रीमें अनेक दोष हैं जिन्हें कामी पुरुष दिन रात अनुभव करते रहते हैं।

जैसे कामी पुरुषके दुःखका कारण स्त्री है, तैसेही काम युक्त स्त्रीके दुःखका कारण पुरुष है। अतः सिद्ध हुआ कि समस्त दुःखका कारण काम ही है। स्त्री और पुरुष दुःखके कारण नहीं हैं। यदि स्त्रीही दुःखका कारण हो तो काम रहित स्त्री दुःखका कारण होना चाहिये, परन्तु काम रहित स्त्री पुरुषके दुःखका कारण नहीं है। इसी प्रकार यदि पुरुषही स्त्रीके दुःखका कारण हो तो काम रहित पुरुष भी स्त्रीके दुःखका कारण होना चाहिए, परन्तु काम रहित पुरुष स्त्रीके दुःखका कारण नहीं है। अतः कामकी उत्पत्ति से दुःखकी उत्पत्ति और कामके अभावसे दुःखका अभाव है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा कामही सर्व दुःखका कारण है। इस प्रकार दुखका कारण काम रूप शत्रुको जानकर बुद्धिमान विवेकी पुरुषोंको उसका परित्याग करना चाहिए। इस विषयमें विद्वानों का अनुभव करते हैं—

काम किंकरतां प्राप्य जनोनोकस्य किंकर।
एकं कामं परित्यज्य जनोसौकस्य किंकर॥

एक कामके अधीन होकर पुरुष सबका दास हो जाता है और इस एक कामका त्याग कर देने पर किसीका भी दास नहीं रहता है।

अब कामका मूल और उसकी निवृत्तिका उपाय बतलाते हैं—"यह स्त्री रमणीक है।" ऐसी बुद्धिसे काम उत्पन्न होता है। रमणीक बुद्धि सौन्दर्यादिक गुण-बुद्धिसे उत्पन्न होती है। अतः गुण-बुद्धि रमणीक बुद्धि द्वारा काम का कारण है। उसके नाशके बिना कामका नाश सम्भव नहीं है। उस गुण-बुद्धिका नाश पूर्व कथित स्त्रियोंमें रहने वाले दोषोंके ज्ञानसे होता है। स्त्रीमें दोष दर्शनसे गुण-बुद्धिका कारण मोह भी नष्ट हो जाता है। यह मोह कुरूप स्त्रीमें भी सुन्दर-बुद्धिका कारण और जगतको अन्धा करने वाला है। यह मोह आवरण शक्ति और मोह शक्तिसे युक्त अति-विस्तृत काम रूप वृक्षका बीज है। अतः उस मोहके नाश होने पर काम भी क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है। इच्छास्वरूप कामके नष्ट होने पर क्रोध भी नष्ट हो जाता है। क्योंकि इच्छा रूप कामका जब भी कोई पुरुष विरोध करता है तभी वह इच्छा रूप कामही द्वेष रूप क्रोधमें परिणित हो जाता है। जो व्यक्ति इच्छासे रहित है उसको किसी कारणसे भी क्रोध नहीं उत्पन्न होता है।

काम और क्रोधके निवृत्तिका फल कहते हैं—

विवेक वह्निना दग्धे कामक्रोधे समूलके।
संसारे भगवानेष आनन्दात्मा प्रसीदति ॥

महावाक्यसे उत्पन्न आत्मज्ञान रूप अग्नि द्वारा मूल अज्ञान सहित काम क्रोधके नाश होने पर इसी शरीरमें महावाक्यके अर्थरूप आनन्दात्माका प्रादुर्भाव होता है।

इस विषयमें स्मृतिका भी वचन है—

काम जानामिते मूलं संकल्पात्किल जा[...]
संकल्पेतुमयात्यक्ते कथं त्वंमयि जा[...]

हे काम! मैं तेरा मूल जानता [...] संकल्पसे तुम उत्पन्न होते हो। इ[...] संकल्पका हमने परित्याग कर दिया है। [...] हमारे यहाँ किसी प्रकार भी तुम्हारी उ[...] सम्भव नहीं है।

इस प्रकार सर्व अनर्थका मूल [...] निवृत्तिका उपाय नहीं जाननेके कारण [...] गर्भसे युक्त, कामरूप ग्रहसे व्याकुल होकर [...] पुरुष इस वीर्यरूप गर्भके त्यागकी इच्छा [...] है। शरीरका सारभूत सर्व अंगोंसे निक[...] वीर्यरूप गर्भको सह न सकनेके कारण [...] पुरुष मैथुन धर्म द्वारा स्त्रीकी योनिमें [...] परित्याग करता है। इस प्रकार पिताका [...] स्वरूप वीर्यरूप गर्भ स्त्रीकी योनिको प्राप्त [...] है। जैसे भारवहनसे दुःखी मनुष्य भार त्या[...] सुखी होता है, तैसे वीर्यरूप गर्भको त्या[...] यह गर्भी पुरुष अपनेको सुखी मानता है। [...] वीर्यके निर्गमनसे सुखकी प्राप्ति लौकिक [...] कही गयी है। विचार पूर्वक देखा जा[...] वीर्यके निर्गमनमें पुरुषोंकी महान हानि [...] है। जैसे बिना पचा हुआ अन्न प्राणान्त [...] को उत्पन्न कर वमन द्वारा बाहर निकल[...] वैसे ही वीर्यभी प्राणान्त दुःखको उत्पन्न [...] हुआ निकलता है। जैसे अतिसार रोग पु[...] बल और तेजको हरण करता है, वैसे ही [...] बाहर निकलना भी बलहीन बनाता है।

वीर्यके बाह्य निर्गमनसे पुरुषोंको

हानि बतला कर अब वीर्यके निरोधसे प्राप्त होने वाले महाफलका वर्णन करते हैं—

पुरुषों द्वारा निरोध करनेसे वीर्यरूप सप्तम् धातु ओज नामक आठवीं धातुमें परिवर्तित हो जाती है। हृदय देशमें स्थित पीतवर्ण वाला जीवके निवास स्थानको ओज नामसे योगवाशिष्ठ में कहा है। उस ओजसे यह जीव तेज युक्त होकर जीवित रहता है। वीर्य निरोध करनेवाले पुरुषोंको विरूप करनेवाली वृद्धावस्था और मृत्यु शीघ्र नहीं प्राप्त होती है। बल और पुरुषार्थ अन्त तक बना रहता है। वीर्य निरोध करनेवाले ब्रह्मचारी पुरुषोंको परलोकमें ब्रह्मलोक की प्राप्ति और इस लोकमें महाकीर्ति होती है। वीर्य निरोधसे योगी पुरुष अणिमा आदिक अष्टसिद्धियोंसे युक्त आकाशमें इच्छानुसार गमन करनेवाला होता है।

महाफलदायक वीर्यके त्यागसे कामी पुरुष लोक परलोकको भ्रष्ट करके महाहानिको प्राप्त होता है। जैसे इक्षुदण्ड दो बेलनोंके बीचमें पीड़ित होकर निःसार हो जाता है, वैसे ही कामी पुरुष स्त्रीकी दो भुजाओंसे पीड़ित होकर साररूप वीर्यसे रहित हो जाता है। आयु और बलको बढ़ानेवाले इस अमूल्य वीर्यको मूढ़ कामी पुरुष अज्ञानसे आवृत होकर स्त्रीमें परित्याग करता है।

इस प्रकार पुरुष शरीरसे निकलकर स्त्रीकी योनिमें स्थित होना वीर्यरूप जीवका यह प्रथम जन्म कहलाता है। उस योनिमें पहुँचकर यह जीव नाना प्रकारकी सहस्र अवस्थाओंको प्राप्त करते हुए असह्य दुःख भोगता है। गर्भ उपनिषद्में इस अवस्थाका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

वीर्यरूप गर्भको धारण करनेवाला यह पुरुष स्त्रीके उदरमें गर्भरूपसे प्रवेश करता है, इसलिये वीर्यरूप गर्भको धारण करनेवाली स्त्रीका सर्व प्रकारसे भरण, पोषण, रक्षा पुरुषको करना चाहिए। चतुर्थ मासमें जब गर्भ हृदय देशमें स्थित होता है तब स्त्री जिस जिन पदार्थोंकी इच्छा करे उन्हें पुरुषको लाकर देना चाहिए। इस कालमें स्त्रीकी इच्छा पूर्ति न करनेसे बालकको दुःखकी प्राप्ति होती है। अतः गर्भिणीकी सर्व इच्छा पूर्ति करके रक्षा करनी चाहिये। गर्भिणी स्त्रीका पालन करना पुरुषको उचित है, क्योंकि लोकमें यह मर्यादा प्रसिद्ध है कि जो पुरुष उपकार करता है उसपर दुर्जन भी उपकार करता है, फिर सज्जन पुरुषोंके उपकारका क्या कहना है। वैसे नारी भी पुरुषके वीर्यरूप गर्भको धारण करके पुरुषपर उपकार करती है। क्योंकि पुरुषके दुःखका कारण वीर्यरूप गर्भको स्त्रीने अपने उदरमें धारणकर उसके दुःखको हल्का किया है। इसलिये कृतघ्नता दोषकी निवृत्तिके लिये पुरुषोंको सर्व प्रकारसे गर्भिणी स्त्रीकी रक्षा करनी चाहिये। वीर्यरूप गर्भविशिष्ट पुरुष गर्भरूपसे स्त्रीमें प्रवेश करता है और पुनः नवीन होकर उस स्त्रीसे उत्पन्न होता है, इसी कारणसे स्त्रीको पुरुषकी जननी कहा गया है। गर्भाधान कालसे लेकर जीवके प्रसव कालतक स्त्रीके रजके साथ तादात्म्य भावको प्राप्त हुआ पुरुष अंशको स्त्री अपने शरीरकी तरह धारण करती है, इसलिये स्त्रीकी रक्षा करनी चाहिये।

इसके पूर्व पुरुषके शरीरमें प्रवेशरूप प्रथम

गर्भ द्वारा जीवको प्राप्त होनेवाले दुःखोंका वर्णन किया गया है। अब स्त्रीके शरीरमें प्रवेशरूप द्वितीय गर्भ द्वारा जीवको प्राप्त होनेवाले दुःखों-का वर्णन करते हैं—विष्टा मूत्रका घर जो जननीका उदर है, उसमें निवाससे जीवको दुसह दुःख प्राप्त होता है। इस गर्भ दुःखके भयसे ही सभी मुमुक्षु ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये आलस्य रहित होकर शास्त्रोक्त निष्काम कर्म करते हैं। जैसा मरण कालमें और नरकमें दुःख होता है, उससे करोड़ोंगुना अधिक दुःख और पीड़ा जीवको योनि यन्त्रमें प्रवेश और निर्गमन कालमें होती है। इस मार्गसे ही जीव माताके उदरमें स्थित पूय, रक्त और कफसे लिप्त गर्भाशयमें प्रवेश करता है। इस गर्भाशयमें जीवको आठ मास तक मूर्छारूप अज्ञान रहता है। वह अज्ञान सर्व दुःखोंका कारण है। गर्भमें जीवको अपनी क्षुधा-पिपासासे अथवा माताकी क्षुधा पिपासासे अत्यन्त सन्ताप और शरीरमें अस-मर्थता होती है।

नवम मासमें जीवको अपने अनन्त जन्मों-के दुःखोंकी स्मृति हो जाती है। उन दुःखोंको स्मरण करके जीव कहता है—

आहारा विविधाभुक्ताः पीताश्चविविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टा पितरः सुहृदस्तथा।
यदि योन्याः प्रमुच्येयं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥

नवम मासमें पूर्व दुःखोंका स्मरण करके यह जीव ऐसा कहता है कि चौरासी लाख शरीरोंमें मैंने अनन्त प्रकारके आहारोंका भोजन और अनन्त प्रकारके स्तनोंका पान किया है। मैंने अनन्त प्रकारके माता-पिता और सुहृ[illegible] देखा है। अब इस योनिसे जब मैं [illegible] निकलूँगा तब परमेश्वरकी शरण जाकर [illegible] उद्धार करूँगा। इस प्रकारका निश्चय [illegible] परिपूर्ण हुआ बालक गर्भासन छोड़कर मा[illegible] पीड़ा उत्पन्न करता है। तब प्रसूतिक[illegible] प्राणवायु उस बालकको उदरसे अत्यन्त [illegible] साथ बाहर निकालती है। प्रसवकालमें [illegible] और पैदा होनेवाले जीवको असह्य वेदना [illegible] है। जिसका वर्णन नहीं किया जा सक[illegible] पके हुए फोड़ेको चीरकर मवाद निकाल दे[illegible] जैसे रोगी सुखका अनुभव करता है, वै[illegible] गर्भ त्यागकर स्त्री सुखी होती है। इस प्र[illegible] जीव अनेक उपमा रहित दुःखोंको सहता [illegible] और पिताका आत्मा स्वरूप पुत्र लोक प्रवा[illegible] अविच्छेदके लिये माताके उदरसे बाहर [illegible] लता है। इस पुत्रके दर्शनसे पिताको आ[illegible] होता है।

गर्भाधानसे लेकर जन्मतक और [illegible] बाद भी पिता अपने पुत्रमें जो जो सं[illegible] करता है, वे सम्पूर्ण संस्कार अपनेको ही [illegible] है। क्योंकि वह पिता पुनः पुत्र रूपसे [illegible] होकर स्त्रीमें उत्पन्न हुआ है। सन्तति [illegible] रूप पिताके कार्यको यह पुत्र पौत्रादिकोंके [illegible] विस्तार करता है। सद्मार्गवर्ती पुत्र [illegible] स्वर्गका कारण होता है। यह सिद्ध है [illegible] इहलोक और स्वर्गलोककी प्राप्ति पुत्रद्वारा [illegible] है, परन्तु मोक्षकी प्राप्ति पुत्रसे नहीं होती है।

चौरासी लाख शरीरोंमें मनुष्य शरी[illegible] अत्यन्त दुर्लभ है। अतः इस शरीरसे [illegible]

कर्मोंका ही सम्पादन करना चाहिये। इस मनुष्य शरीरकी प्राप्तिके लिये देवता भी इच्छा करते हैं। तात्पर्य यह कि देवता और पशुके शरीरमें नवीन पुण्य तथा पापका सम्पादन नहीं होता है। इन योनियोंमें पूर्वकृत पाप पुण्योंको भोगा जाता है।

मनुष्य शरीरमें भी विवेकादिक साधन चतुष्टयरूप अधिकारके सम्पादन योग्य जिस जीवका शरीर है, उससे ही अष्ट दोषोंको निवृत्ति करनेवाली ब्रह्म-विद्या सम्पन्न होती है। अधिकारी मनुष्य शरीरको प्राप्तकर ब्रह्मात्मज्ञान ही पुरुषोंको सम्पादन करना चाहिये। क्योंकि आत्मज्ञान ही सर्व अनर्थोंके निवृत्तिका साधन है। सभी यज्ञादिक कर्मोंके फलका भी आत्म-ज्ञानमें अन्तर्भाव है।

अष्ट दोषोंका निरूपण करते हैं :—

१—इच्छा २—द्वेष ३—भय ४—मोह ५—क्षुधा ६—तृषा ७—निद्रा ८—विष्ठा मूत्र जन्य पीड़ा ये आठ दोष समस्त जीवधारियों में होते हैं। इनका नाश केवल आत्मज्ञानसे ही होता है।

इच्छा अनुगम निरूपण

सात्विक पुरुष मोक्षकी इच्छा, राजस पुरुष मोक्ष और विषय दोनोंकी इच्छा और तामस पुरुष केवल विषयोंकी इच्छा करते हैं। अतः इच्छासे रहित कोई भी देहधारी नहीं है।

द्वेष अनुगम निरूपण

सात्विक पुरुष विषयोंमें द्वेष करते हैं, राजस वैरियोंमें और तामस शत्रु मित्र दोनोंमें द्वेष करते हैं। अतः द्वेष सभी देहधारियोंमें है।

भय अनुगम निरूपण

सात्विक पुरुषोंको प्रमादसे भय होता है। राजस पुरुषोंको यमसे भय होता है और तामस पुरुषोंको केवल राजादिकोंका भय होता है।

अज्ञानरूप मोह अनुगम निरूपण

सात्विक पुरुषोंको आत्माका अज्ञान होता है और राजस पुरुषोंको शास्त्र-विद्याका भी अज्ञान होता है और तामस पुरुषोंको सर्व वस्तु का अज्ञान रहता है। अतः मोह रहित कोई भी जीवधारी नहीं है।

क्षुधा, तृषा, निद्रा, विष्ठा-मूत्रके वेग ये चारों सर्व देहधारियोंमें समान होते हैं।

आत्मज्ञान सत्व-रज-तम इन तीनों गुणोंके अभिमानको नाश करनेवाला है। बिना आत्म-ज्ञानके अष्ट दोषोंका नाश नहीं होता है। अंडज पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज चार प्रकारके देह-धारियोंमें अष्ट दोष सदा वर्तमान रहते हैं। केवल यह मनुष्य शरीर ही परमेश्वरने ब्रह्म विद्या द्वारा अष्ट दोषोंको विजय करने के लिये दिया है। पर अज्ञानी मूढ़ पुरुष इस दुर्लभ शरीरको ब्रह्म विद्यामें न लगाकर अष्टदोषोंमें ही लिप्त हो रहा है। बालकपनसे लेकर मृत्यु पर्यन्त यह जीव अनेक कष्टोंको भोगता हुआ अष्ट दोषोंके पंकमें फँसा रहता है। जीवके दुःखोंका अन्त नहीं है। बाल्य अवस्थामें इच्छादिक अष्ट दोष जन्य कोटि कष्टोंको अनुभव करके बालक कुमार अवस्थाको प्राप्त करता है। तत्पश्चात् अनेकों दुःखोंको जन्म देनेवाली युवा अवस्थाको प्राप्त करता है। इस अवस्थामें यह जीव स्त्रीभाव और पुरुषभाव करके नाना

प्रकारके दुःख सहन करता है। और अष्टदोष जन्य तीव्र दुःखको अनुभव करता है। काम, पाप, कुकर्म और अहंकार बढ़ जाने पर जैसे मेढकको सर्प निगल जाता है वैसे ही युवावस्था में ही काल भगवान ग्रस लेते हैं। युवावस्थामें कालके हाथसे बचे हुये लोग अष्ट दोष जन्य नरक तुल्य यातना भोगनेके लिये वृद्धावस्थाको प्राप्त होते हैं। यह अवस्था बाल्यकालसे अब तककी सभी अवस्थाओंसे अत्यन्त दुःखकर और निन्दनीय है। मल-मूत्रमें लिप्त रोगी वृद्धकी हालत अवर्णनीय है। वृद्धोंको विषय भोगकी इच्छा अधिक होती है। परन्तु शक्तिके अभाव और इन्द्रियोंकी शिथिलताके कारण असमर्थ हो अत्यन्त दुःखी होते हैं। इस उमरमें अष्ट-दोषोंका प्रभाव तीव्रतर रहता है।

वृद्धावस्थाके कष्टोंसे त्रस्त जीवको ले जानेके लिये काल भगवान रथ तैयार कर आते हैं। यह रथ सूक्ष्म शरीर रूप है। पाप-पुण्यके दो पहिये लगे हुये हैं। सूक्ष्म इन्द्रिय रूप दुष्ट घोड़े उसमें जुते हुये हैं। अन्तःकरण रूपी काष्ठसे इस रथका निर्माण हुआ है। रास्तेमें भोजन करनेके लिए दुःख रूप पाथेय रखा हुआ है। कास स्वाँस, और हिचकी रूपी आवाज करके यह रथ आगे चलना चाहता है। परन्तु यह जीव अध्यासके कारण इस स्थूल शरीरका त्याग नहीं करना चाहता है और उस मरणकालमें अत्यन्त दुःखी होकर अपने पुत्रों, बान्धवोंको पुकारता है, स्मरण करता है, मरनेके भयसे अत्यन्त त्रासको पाता है और शरीर काँपता है। स्त्री पुत्रादिक भी इसे घेर लेते हैं, परन्तु मृत्यु दुःखसे इसकी कर सकनेमें सभी असमर्थ होते हैं और कर रोते, चिल्लाते हैं।

मरणकालके यम यातनाका वर्णन म्भव है। असह्य दुःखकी पीड़ासे पुरुष कभी मूर्छित होता है, कभी होशमें है और कभी-कभी भयानक यमदूतोंको देख भीत होकर विष्टामूत्रका त्याग करता है। है, चिल्लाता है, मुखसे फेनका वमन करता।

जैसे व्याधा बाणसे मारकर अपने को पासमें बाँध लेते हैं, वैसे ही यमदूत बाँधनेके लिए आगे बढ़ते हैं और बाँध जानेके पूर्व उस पापी जीवको अनेक दुर्वच सुनाते हैं—"हे पापी जीव! तुम्हें धिक्कार तुमने मनुष्य शरीरको पाकर भी नरकके पाप कर्मोंका ही सम्पादन किया है। मुख्यहित मोक्ष और गौणहित स्वर्ग इन दोनों आत्मज्ञान और यज्ञादिकके द्वारा सम्पादन किया। गुरुशास्त्र आदि आत्मज्ञानकी प्राप्त करके भी तुमने जन्ममरणके बन्धन निवृत्ति नहीं की। तुम्हारी भेद बुद्धि ही अनर्थोंका कारण है।" इस प्रकार यमदूत चनोंसे ताड़न करते हुए और उसके देहादिकोंमें आत्मबुद्धि रूप अपराधको करते हुए बाँधकर ले जाते हैं।

पुनः देह दोषोंको दिखलाते हुए यम कहते हैं—"पापिष्ठ! जिस देहमें तुमने बुद्धि किया है, वह देह पिताके वीर्यरूप माताके रजरूप मलसे उत्पन्न हुआ है। मूत्रसे भरा हुआ है। यह लोक प्रसिद्ध है।

शास्त्रोंमें भी कहा है—

यदन्तरस्यदेहस्य बहिः स्याच्चतदेव चेत् ।
दण्डग्रहाच्चारयेयुः शुनः कामान्श्चमानवाः ॥

इस शरीरके अन्दर रहनेवाले विष्टा, मूत्र, मांस आदि मल यदि बाहर ही रहते तो सभी पुरुषोंको दण्ड आदि लेकर अपने शरीरकी काग और कुत्तोंसे सदा रक्षा करनी पड़ती ।

अतः यह शरीर अतिशय निन्दित और विनाशी है । सौ वर्ष तक सेवन करने पर भी यह त्यागकर चला जाता है । अतः कृतघ्न है, और सहस्र परिणामोंसे युक्त है, पुरुषोंके अधीन नहीं है । शरीरमें आत्मबुद्धि द्वारा पुरुषार्थका नाशक, सर्वदा दुःखका कारण है । ऐसे निकृष्ट शरीरमें आत्म अभिमान करके तुमने अनन्त पाप कर्म किया है । उन पापोंसे उत्पन्न अनन्त दुःख तुम्हें भोगने पड़ेंगे ।

व्यास भगवानने भी ऐसा ही कहा है—

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्यविनाशिनः
शरीरकस्यापिकृते मूढाः पापानि कुर्वत इति ।

विष्ठा, मूत्रादिक सर्व अशुचि पदार्थोंका घर, कृतघ्न, विनाशी शरीरके पालन पोषणके लिये मूढ पुरुष पापों को करते हैं ।

हे पापी जीव ! तुमने स्त्री, धनादिके ममता-मोहमें फँसकर किंचित् मात्रभी सुकृत नहीं किया, इसका हमें बड़ा खेद है । यज्ञादिक पुण्य कर्मोंके सम्पादनमें शारीरिक परिश्रम और धनादि खर्च होते हैं इस लिये तुमने उसे सम्पादन नहीं किया, परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ'' इस अभेद ज्ञानमें कोई परिश्रम और खर्च नहीं है, फिरभी इस दुर्लभ आत्म ज्ञानको तुमने संपादन नहीं किया, धिक्कार है तुम्हें ।

यदि तू कहे कि मन चंचल है, निर्गुण ब्रह्मके ध्यानमें नहीं लगता है तो भी पर स्त्री गमन आदि पाप कर्मोंमें जितना तूने परिश्रम और धन खर्च किया है, क्लेश उठाया है, उसका लेश मात्रभी परमेश्वरके कीर्तनमें क्लेश अभ्यास और धन खर्च नहीं होता है । लोक परलोकके सुखको देने वाले परमेश्वरके नाम कीर्तन रूप सुकृतको तुमने क्यों नहीं सम्पादन किया ? जैसे तुमने मनको सावधान करके सदा पर पुरुषों और विषयोंका विचार किया है वैसे ही महतफलको देने वाला आत्म विचार क्षण भर भी क्यों नहीं किया है ? एक क्षण ब्रह्म विचारका भी फल शास्त्रोंमें कहा है ।

स्नातंतेनसमस्ततीर्थसलिले दत्ताचसर्वावनिः ।
यज्ञानांचकृतं सहस्रमखिलादेवाश्चसंपूजिताः ॥
संसाराच्चसमुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योप्यसौ ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपिस्थैर्यमनः प्राप्नुयात् ॥

जिस पुरुषका मन क्षणमात्रभी ब्रह्म विचार में स्थितिको प्राप्त होता है, उसने सर्व तीर्थोंके जलमें स्नान कर लिया, सर्व पृथ्वीका दान किया, उसने सहस्र यज्ञ सम्पादन किया, सम्पूर्ण देवताओंका पूजन किया, संसार सागरसे अपने पितरोंका उद्धार कर लिया है और तीनों लोकोंमें पूज्य है ।

ऐसे फलदायक ब्रह्म विचारको भी तुमने नहीं किया है । पर प्राणियोंके नाशके लिये जितना उद्यम तुमने किया है, उसका एक अंश-मात्र भी उद्यम तुमने स्वर्ग और मोक्ष प्राप्तिके लिये नहीं किया । यदि तुम वृक्षादिकोंकी तरह उद्यमसे रहित रहते तो हम ताना नहीं देते,

परन्तु तुमने सर्व शक्ति सम्पन्न मनुष्य शरीरको पाकर भी शास्त्र विहित पुण्य कर्मोंको नहीं किया, उल्टा पाप कर्मोंको सम्पादित किया है। अतः तू दण्डनीय है।

"तुम मेरे पापोंको कैसे जानते हो?" तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तुमने जो जो पाप किये हैं, उन्हें मैं जानता हूँ। तुम्हारे पाप मर्मान्तक दुःखको देनेवाले हैं। हे पापिष्ठ तू अहंकार करता था कि "इस लोकमें मुझसे बली कोई नहीं है। इस कर्ममें प्रवृत्त मुझे कौन देखता है।" इस प्रकार दुर्बुद्धिसे तुमने शास्त्रोक्त मर्यादाका परित्यागकर सर्व लोकोंको पीड़ित और क्षुभित किया है। अब तुम्हारे कियेका फल देनेके लिये हम यमदूत आये हैं। हम तुमसे बलवान हैं। तुम्हारे पाप कर्मोंको हम जानते हैं। यमराजकी सभामें वासरादिकोंने तुम्हारे सम्पूर्ण पापोंको बतलाया है। सूर्य, चन्द्र, रात्रि, सन्ध्या, ऊषा और पंचभूतोंने भी बतलाया है। यदि तू कहे कि हमारे गुप्त पापोंको कोई नहीं जान सकता तो वह भी तेरी मूढ़ता है। सूर्यादिक सभी सर्वज्ञ हैं। यमराज गुह्य पुरुषके रूपमें सर्व प्राणियोंके साथ विचरण करता है। परमेश्वरकी मायासे मोहित हुए तुम लोग उस यमको नहीं देखते। अतः तुम्हारा भेद छिपा नहीं है।" इस प्रकार दुर्वचनों और उपालम्भोंको कहकर विभिन्न अस्त्रोंसे मारते हुए यमदूत पापी जीवको परलोकमें ले जाते हैं।

जैसे प्रसिद्ध द्वारिकापुरीसे कृष्ण भगवानके स्वधाम आरोहण करनेके बाद वह पुरी समुद्रमें लय हो गई, उसी प्रकार शरीर रूप द्वारि[illegible] का स्वामी जीवको शरीर रूप द्वारावतीसे [illegible] रूप सारथी सूक्ष्म रथ पर परलोकमें ले जात[illegible] तब जीवरूप कृष्ण भगवानके निर्गमनके [illegible] यह शरीररूपपुरीको अग्निरूप समुद्र अ[illegible] लय कर लेता है। श्रीकृष्णके बाद अर्जुन [illegible] बन्धुजन जैसे द्वारिकापुरीकी रक्षा करनेमें [illegible] नहीं हुए, उसी प्रकार इस शरीररूपी पुरीकी रक्षा स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी लोग किसी भी मूल[illegible] नहीं कर पाते हैं।

इस शरीर रूपी पुरीमें जिस द्वारसे परम[illegible] ने प्रवेश किया था उसी मूर्धा द्वारसे जब [illegible] बाहर निकलता है तब उसे ब्रह्मलोककी [illegible] होती है और चक्षु आदिक अन्य मार्गोंसे [illegible] जीव बाहर निकलता है तब पुण्यवानको [illegible] स्वर्गलोक और पापीको नरकलोककी [illegible] होती है।

जीवके परलोक गमनके बाद उसके [illegible] शरीरको स्त्री, पुत्रादि प्रियजन घरमें नहीं र[illegible] चाहते हैं। उससे इतनी घृणा और भय [illegible] हैं कि छूकर स्नान करते हैं और अ[illegible] जलाते हैं, जमीनमें गाड़ते हैं। जो प[illegible] उसके बिना एक ग्रास भोजन नहीं करते थे, [illegible] उसके मरनेके बाद सगे सम्बन्धियोंके [illegible] बैठकर स्वादिष्ट भोजन करते हैं। जिस पु[illegible] पुरुषने अपना खून देकर अनेक कष्टोंसे [illegible] था, वही चिता पर अपने पिताके अ[illegible] शरीरको बाँससे पीटता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष दोषोंसे युक्त संसार [illegible] शूलमें फँसा हुआ यह जीव परमेश्वरकी मा[illegible]

मोहित होकर प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध सर्वविदित दुःखमय संसारको नहीं जानता है।

लोकमें जीवकी दशाका वर्णन संक्षेपसे किया गया। अब परलोककी दशाका वर्णन करते हैं—इस स्थूल शरीरको छोड़कर अत्यन्त कष्टोंको सहन करता हुआ दुःखी जीव परलोकमें प्रवेश करता है। वहाँ यमकी आज्ञासे कर्मानुसार जीवों को दण्ड भोगना पड़ता है।

ये पापी जीव अपनी नरक यातनाको भोगकर कालवश पुनः वृष्टिद्वारा पृथ्वी पर अन्न भावको प्राप्त होकर मनुष्यलोक को प्राप्त होते हैं। जो पुण्यवान जीव हैं वे स्वर्गलोकके सुख को भोगकर वृष्टिद्वारा पूर्वोक्त रीतिसे इस लोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार भूलोकको प्राप्त होकर पहलेकी तरह पाप पुण्यके वशीभूत हो पुनः पिता द्वारा और फिर माता द्वारा जीव गर्भ-भावको प्राप्त होता रहता है।

पितासे जन्म, मातासे जन्म पुनः पितासे जन्म ये तीनों जन्म घटी यन्त्रकी तरह पुण्य पापके वश जीवोंको प्राप्त होते रहते हैं। जब तक इस जीवको आत्म ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तब तक यह जन्म-मृत्युका चक्र चलता रहता है। जैसे रविवार सोमवार आदि सप्तवारोंकी धारा विच्छेद रहित सदा चलती रहती है, उसी प्रकार इस जीवके जन्म मरणादिक षट विकार विच्छेद रहित चलते रहते हैं। जैसे पुराने वस्त्रोंको परित्यागकर पुरुष नवीन वस्त्रोंको धारण करता है, वैसेही आत्मज्ञान रहित जीव एक शरीरके जीर्ण अथवा अनुपयोगी होने पर उसका परित्याग कर दूसरा नवीन शरीर ग्रहण करता है। जैसे सूर्यादिक तेजको प्राप्तकर अन्धकार लय हो जाता है वैसेही जन्म अवस्थाको प्राप्तकर मरण अवस्था लयको प्राप्त होती है। जैसे अन्धकार और प्रकाश इस मनुष्य लोकका परित्याग नहीं करते हैं, किन्तु दोनों रहते हैं, कभी प्रकाश रहता है, कभी अन्धकार रहता है, इसी प्रकार अविवेकी जीवको भी जन्म-मरण परित्याग नहीं करते, बल्कि दोनों बने रहते हैं। अतः सब दुःखोंका कारण अज्ञानको नाश करनेवाला आनन्दरूप आत्माका ज्ञान जब तक पुरुषोंको नहीं होता तब तक जन्म-मरणादिक दुःख जीवों को प्राप्त होते रहेंगे। अतः यह सिद्ध हुआ कि आनन्द स्वरूप आत्माका ज्ञान ही सर्व अनर्थके निवृत्तिका कारण है, इससे भिन्न सभी उपाय जन्म-मरणके हेतु हैं। इसके पहले सनकादिक मुनियोंने भी हमलोगोंको आत्मज्ञानका ही उपदेश दिया था।

गुरुदेवने शिष्यसे कहा—"इस प्रकार सर्व अधिकारी प्रजाजन वैराग्यकी उत्पत्तिके लिए देहादिक सर्व अनात्म वस्तुओंमें दोषोंका विचार किए। इस विचारसे उन अधिकारियोंको देहादि में वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन अधिकारियोंमें केवल वामदेव नामक अधिकारी मृत्युको प्राप्त हुआ। अदृष्टरूप भावी प्रतिबन्धके कारण सनकादि मुनियोंके उपदेशसे उस वामदेवको इस जन्ममें आत्म ज्ञान नहीं हुआ। इसलिए पुनः पिताके गर्भ द्वारा माताके गर्भमें प्रवेश किया। पूर्व संस्कारसे युक्त वामदेव नवम मासके गर्भमें स्थित हुआ। नियमानुसार नवम मासमें वामदेवको अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया

और आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त किया। क्योंकि भावी प्रतिबन्धके कारण ही पूर्व जन्ममें वामदेव को आत्मज्ञान नहीं हुआ था। उस पापरूप प्रतिबन्धके निवृत्त होने पर सनकादिकोंके पूर्व उपदेशकी स्मृति नवम मासमें हो आई। तिससे मनन निदिध्यासनसे सम्पन्न वामदेव गर्भमें ही आत्मसाक्षात्कारको पा लिया। पहले जिन अधिकारियोंके साथ मिलकर सनकादि मुनियोंसे वामदेवने ब्रह्म विद्याका श्रवण और सब विषयोंमें दोषोंका विचार किया था, उन सभी अपने मित्रों से गर्भमें ही स्थित हुआ बोला—"हे मित्रों! पूर्वजन्ममें मैं भी तुम्हारे मध्यमें था। परन्तु पूर्व जन्ममें परिच्छिन्न देहादिकोंमें आत्मबुद्धि करके मैं परिच्छिन्न भावको प्राप्त हो गया था। इस समय गर्भमें मुझे सनकादिकोंके उपदेशके स्मरण से आत्माका ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इसलिये किंचित मात्र भी कोई वस्तु मैं अपने अद्वितीय स्वरूपसे भिन्न नहीं देखता, किन्तु सबको अपना रूप जानता हूँ। आठो दिशायें और आकाश मुझसे ही पूर्ण हैं। सृष्टिके आदि कालमें स्वायंभुवादिक मनु भी मैं ही पूर्वमें होता आया हूँ। सूर्य भगवान भी मैं ही हूँ। शक्तिसम्पन्न इन्द्रादिक लोक पाल भी मेरे ही स्वरूप है। मेरेसे भिन्न उनकी सत्ता नहीं है। अंडज जरायुज, स्वेदज, उद्‌भिज ये चार प्रकारके प्राणी भी मुझसे भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह की हिरण्यगर्भसे लेकर स्थावर तक पुण्य-पाप युक्त समस्त जीव मेरे ही स्वरूप हैं।"

शंका—"जब सब वस्तु तुम्हारेसे भिन्न नहीं, तब जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, नाश ये षट विकार आत्मामें जायेंगे।"

समाधान—"जन्मादिक षट्‌विकार [illegible] सहित देहके धर्म हैं। वह षट्‌विकार युक्त [illegible] मुझमें कल्पित है। इसलिये कल्पित देहके [illegible] मुझ अधिष्ठानको स्पर्श नहीं करते। जैसे [illegible] शीत निवृत्तिके लिये गुंजापुञ्जमें अग्नि[illegible] कल्पना कर लेते हैं, परन्तु उस अग्निके [illegible] स्पर्शसे गुंजा पुञ्ज नहीं जलता है, वैसे ही [illegible] देहादिकोंके धर्म मुझ अधिष्ठानका स्पर्श [illegible] करते हैं। मैं आनन्दस्वरूप आत्मा इन्द्रि[illegible] और उनके देवताओंके जन्मादिको जानता [illegible] परन्तु उनके जन्मादिक षट् विकारसे [illegible] रूप मैं आत्मा सुखी-दुःखी नहीं होता हूँ, [illegible] वे सम्पूर्ण मेरेमें कल्पित हैं। जैसे पूर्व [illegible] अवस्थामें शरीर इन्द्रियादिकोंके अध्यास[illegible] ब्राह्मण हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं बधिर हूँ, मैं [illegible] आदि जो शरीर इन्द्रियोंके धर्म मुझमें [illegible] होते थे, वे सम्पूर्ण धर्म और इन्द्रियादि[illegible] देवता इस समय हमको स्पर्श नहीं करते [illegible] क्योंकि अद्वितीय आत्माके ज्ञानसे [illegible] अध्यास निवृत्त हो गया है।

हे मित्रो! जैसे लोहेसे बना [illegible] पुरुषोंके बन्धनका हेतु है, वैसे ही अज्ञान [illegible] लोहेसे बनी चौरासी लक्ष पुरियाँ भी पहले [illegible] बन्धनका कारण थीं। जैसे लोकमें [illegible] शरीरवाले श्येन पक्षीको पाशबद्ध करना [illegible] है, फिर भी मजबूत पाशमें बाँधकर [illegible] पिंजड़ेमें रखते हैं। वैसे ही अज्ञान रूपी [illegible] बनी चौरासी लक्ष पुरियाँ भी बन्धन रहि[illegible]

अद्वितीय आत्माको देहादिकोंमें आत्मबुद्धि रूप पाशों से बाँधकर रखती हैं। जैसे पिंजड़ामें निरुद्ध श्येन पक्षी वज्र समान अपने तुण्डसे पिंजरेके निचले भागको भेदनकर बाहर निकल जाता है, वैसे ही मैं भी ब्रह्मज्ञान रूप तुण्डसे चौरासी लक्ष शरीररूप पुरियोंको तथा काम क्रोधादिक कीलोंसे युक्त देहादिकोंमें आत्म बुद्धिरूप पाशको छेदकर बाहर आ गया हूँ।

विषयोंमें वैराग्य और गुरु कृपा यह दोनों आत्म ज्ञानके मुख्य कारण हैं। किसी प्रतिबन्ध के कारण ही तुम लोगोंको आत्म ज्ञान नहीं हुआ है। अतः वैराग्य और गुरुकृपा आत्म-ज्ञानका कारण नहीं, ऐसी असंभावना तुम्हें नहीं करनी चाहिए। गुरु कृपासे प्राप्त ज्ञानके बलसे मैं संसार, काल और मृत्युके भयसे रहित हो गया हूँ। श्रुतिमें द्वितीय वस्तुसे भयकी प्राप्ति कही गयी है। और मैं अद्वितीय हूँ। सभी प्रपंच मेरेमें रज्जु-सर्पकी भाँति कल्पित हैं। कल्पित प्रपंचसे मुझमें द्वैत भाव नहीं होता है। अतः मैं अद्वितीय हूँ। मैं मृत्युसे रहित हूँ। क्योंकि मुझमें कल्पित मृत्यु मुझ अधिष्ठान-की कुछ भी हानि नहीं करती है। जैसे लोकमें कोई भी अपने आपको नाश नहीं करता है वैसे ही मृत्यु आत्मस्वरूप मुझको नाश नहीं करती। जन्म मरण, बाल्यावस्था, युवा, जरा अवस्था ये सब देहमें ही देखे जाते हैं, मुझ अद्वितीय आत्मामें नहीं हैं। जैसे दूसरेके सुख-दुःखसे दूसरा सुखी-दुखी नहीं होता है, तैसे देहादिकोंसे भिन्न मुझ आनन्द स्वरूप आत्माको देहादिकोंके धर्म जन्म-मरणादिक नहीं प्राप्त होते हैं। इच्छा-द्वेष आदि अष्ट दोष भी मुझे स्पर्श नहीं करते हैं। क्योंकि ये सब मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीरके धर्म हैं। और मैं साक्षी आत्मा मन इन्द्रियादिक सभी दृश्यका प्रकाशक हूँ। अतः प्रकाश्य दृश्यके धर्म मुझ प्रकाशकको स्पर्श नहीं कर सकते हैं।

मोक्ष, स्वग और इस लोकमें विषयजन्य सुखकी मन इच्छा करता है, परन्तु मैं आत्मा उनकी इच्छा नहीं करता। अज्ञान और नरकमें इस लोकके दुःख और दुःखके साधन सिंह-सर्पादिकोंमें मन ही द्वेष करता है, मैं आनन्दरूप सबका आत्मा किसीमें द्वेष नहीं करता हूँ। विषयकी कामनावाला और भेद दृष्टिवाला पुरुष कामनाके प्रतिबन्धक अन्य पुरुषमें द्वेष करता है, यह लोक प्रसिद्ध है, परन्तु मैं आप्तकाम और अभेददर्शी हूँ। अतः हमारा किसीके साथ द्वेष सम्भव नहीं है।

भय और मोह मनके धर्म हैं। मैं अद्वि-तीय आत्मा हूँ। अतः भय मेरा धर्म नहीं है। बोध स्वरूप मैं हूं इसलिये मोह भी मेरा धर्म नहीं है। लोकमें जो पुरुष शत्रुको अपनेसे भिन्न और प्रतिकूल जानता है, वही भय और मोहको प्राप्त होता है। मैं अपने स्वरूपसे भिन्न किसीको मित्र, शत्रु, उदासीन नहीं जानता और प्रतिकूल भी नहीं जानता, इसलिये क्योंकर मुझे भय और मोह प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि भय और मोहका कारण भेद बुद्धि और प्रति-कूलता ज्ञान मुझमें नहीं है, अतः कारणके अभावसे भय मोह मेरेको स्पर्श नहीं करते हैं।

प्राणके धर्म क्षुधा-तृषा भी प्राणसे रहित

मुक्त आत्माके धर्म नहीं है। कारणमें लय रूप निद्रा भी जिस कालमें स्वप्न नहीं होता है उस कालमें मनका धर्म है और वाकादिक इन्द्रियका तो स्वप्नदर्शनकाल और अदर्शनकाल दोनों में नित्य ही धर्म है। अतः मन और इन्द्रियका धर्म निद्रा मन-इन्द्रियसे रहित मुक्त आत्मामें नहीं है। विष्ठा मूत्रकी बाधा शरीरका धर्म है इसलिये शरीरसे रहित मुक्त आत्माको वह बाधा नहीं होती है। इस प्रकार मुक्त आत्मामें अष्ट दोषोंका पूर्णतया अभाव है।"

अधिकारी प्रजाजनोंने वामदेवसे पूछा—"अद्वितीय अजर, अमृत, आत्मा है, इस प्रकार निषेध मुखसे हम मित्रोंके प्रति आत्माका उपदेश किसलिये करते हो? जैसे कोई पुरुष गायकी सींग पकड़कर दिखलाता है,वैसे ही विधि-मुखसे आत्माको क्यों नहीं दिखला देते हो?"

वामदेवने उत्तर दिया—"मित्रों! तुम्हारे हितके लिये अनेक प्रकारसे मैंने जो आत्माका स्वरूप कहा है, वह आत्माका स्वरूप वास्तवमें गौ आदिकी तरह "यह गौ है" इस ज्ञानका विषय नहीं है। अद्वितीय अजर अमृत आदि निषेध वाक्य भी लक्षणावृत्तिसे आत्माका बोधन करते हैं। अतः वह अद्वितीय आत्मा इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारसे भी जाना नहीं जाता है।"

अधिकारीजनोंने कहा—"इन्द्रियोंका यद्यपि आत्मा विषय नहीं है तथापि वेदान्त वाक्यसे उत्पन्न हुई बुद्धिकी वृत्ति और अज्ञानका आत्मा विषय होना चाहिए।"

वामदेव बोला—"बुद्धिकी वृत्ति और अज्ञान का प्रकाश करनेवाला साक्षी आत्मा है। इ
आत्मा उनका विषय नहीं हो सकता। इ
बुद्धिकी वृत्ति और अज्ञान आत्मासे भास्य
होनेके कारण आत्माके विषय हैं। इसके
सनकादिक मुनियोंने देश-काल-वस्तु परि
रहित सबका प्रकाशक आनन्द स्वरूप आत्म
उपदेश किया था। उसका भली प्रकार वि
करके तुम आत्म साक्षात्कार करो। तात्पर्य
है कि भावी प्रतिबन्धकी शंकासे तुम
विचारसे निवृत्त न होना। क्योंकि पुरुष
रूप अदृष्टका नाम भावी प्रतिबन्ध है।
वर्तमान प्रतिबन्धकी सहायता बिना वि
प्रतिबन्धक नहीं होता है। जब वर्तमान प्रति
का अभाव होगा तब अदृष्ट रूप भावी
बन्धका भी अभाव निश्चय जानना चाहि
अतः विषयमें आसक्ति, बुद्धिकी मन्दता,
विपर्ययमें दुराग्रह इन चार प्रकारके प्रति
का परित्याग करके तुम शीघ्र ही आत्म वि
में प्रवृत्त हो जाओ। जिससे हमारी तरह
भी पुनर्जन्मकी प्राप्ति न हो।"

अधिकारीजनोंने कहा—"आत्म वि
तो हम प्रवृत्त हो जायँ, परन्तु तत्त्ववेत्ता
भी गर्भ दुःखकी प्राप्ति देखकर दुःखकी
रूप आत्मविचारके फलमें हमें संशय
होता है। आत्मविचार करके भी दु
निवृत्ति होगी या नहीं होगी? यह संशय
विचारके प्रवृत्तिमें प्रतिबन्धक है।"

वामदेवने समझाया—"मित्रों! दु
दृष्टिसे मैं गर्भमें स्थित हुआ गर्भ दु
भोग रहा हूँ, परन्तु अपनी दृष्टिसे मैं

इन्द्रियादिकसे रहित हूँ। पूर्वजन्ममें हमने मिल कर जो गर्भके दुःखका विचार किया था, उतना ही दुःख तथा उससे भी अधिक दुःख यहाँ है, परन्तु सबमें आत्मबुद्धिरूप पूर्णिमाके चन्द्रकी शीतलतासे गर्भ-दुःखरूपी ग्रीष्मऋतुका सूर्य मुझे संतप्त नहीं करता है। अतः हे मित्रों! आत्मज्ञानको ही तुमलोग सम्पादन करो।"

इस प्रकार आत्मज्ञानमें श्रद्धा करानेके लिये अनेक वचनोंको कहकर वामदेव मुनि माताके गर्भसे बाहर निकल आये और भूमिसे लेकर ब्रह्मलोक तक जीवनमुक्त होकर सनकादि मुनियोंकी तरह विचरने लगे। लोक परलोकके सुखसे निवृत्त इच्छा वाले, उद्यमसे रहित, निर्मल चित्त वामदेव मुनि प्रारब्ध कर्मकी समाप्तिके लिये मनुष्यलोक और स्वर्गलोकमें प्राप्त भोगोंको भोगने लगे। उन भोगोंके भोगनेके बाद प्रारब्ध कर्मके नाश होने पर वामदेव मुनि विदेह मोक्षको प्राप्त हुए।

गर्भमें स्थित वामदेवकी बातोंको सुनकर सभी अधिकारीजन आश्चर्यचकित हो गये और आपसमें परस्पर कहने लगे—"बड़ा आश्चर्य है! यह वामदेव किसी पुण्यके प्रभावसे हम अधिकारियोंको छोड़कर मुक्त हो गया। जैसे कीचड़में फँसी गौवोंके समूहमें से एक गौ किसी पुण्य प्रभावसे निकल जाय, जैसे पाशमें बँधे पक्षियोंके समूहसे कोई एक पक्षी सभी साथियोंको त्यागकर बाहर निकल जाय, वैसे ही काम क्रोधादि रूपी पाशसे बँधे हुए हम सब लोगोंको परित्यागकर वामदेव मुक्त हो गया है।

मार्गमें एक साथ बहुतसे पुरुष चलते हैं परन्तु किसी एकको ही पुण्यसे भूमिमें गड़ा हुआ धन प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही हम सभी अधिकारियोंमें वामदेवको साक्षात्काररूप धनकी प्राप्ति हुई है। इसलिये यह वामदेवही पुरुष हैं, हम सभी नपुंसकके समान हैं। जैसे बहुतसे लोग मंत्रके जपमें प्रवृत्त होते हैं, उनमें किसी एक पुरुषको ही सिद्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार विचारमें प्रवृत्त हम सबमें इस वामदेवको ही विचार जन्य आत्मज्ञान रूप फल प्राप्त हुआ है। हम सब दुःखीजनोंके बीच एक वामदेवही सुखरूप हुआ है। इस बुद्धिमान वामदेवका कोई अद्भुत पुण्य है, जिसके प्रभावसे गर्भमें स्थित वामदेवको आत्म-साक्षात्कार उत्पन्न हुआ है। हमलोगोंको गुरु-शास्त्रादिक साधनोंसे सम्पन्न भूमिलोकमें भी आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ।

गर्भमें स्थित होकर वामदेवने हम लोगोंको उपदेश किया है। इसे हम उसका स्नेह नहीं बल्कि कृपा समझते हैं। क्योंकि यदि हम लोगोंके प्रति ऐसा उसने स्नेहवश किया होता तो अपने माता पिताको भी स्नेहवश उपदेश करता। परन्तु यह वामदेव तो जन्म होते ही माता पितादिक सभी संबंधियोंकी उपेक्षा करके जड़ उन्मत्तकी तरह अज्ञात देशको चला गया। अतः इसे हमलोगों पर वामदेवकी कृपा ही कहनी चाहिये।

वामदेवने जो हमारे प्रति उपदेश किया है उसका दो प्रयोजन है—एक यह कि जो हमने गर्भ दुःखोंका विचार किया था वह सत्य है और दूसरा आत्मज्ञानके बलसे गर्भ-दुःख सन्ताप नहीं देता है।

हम सब नपुंसककी तरह निरादरके पात्र हैं। क्योंकि मनुष्य शरीरको पाकर भी हमने आत्म ज्ञानका सम्पादन नहीं किया। अज्ञानसे व्यर्थ ही समयको व्यतीत किया। इस मनुष्य लोकमें अनन्त प्रकारके दुःख हमने भोगा है और स्वर्गादि लोकोंमें भी किंचित मात्र सुख प्राप्त नहीं हुआ। क्योंकि वहाँ तीन प्रकारके दोष रहते हैं।

१—सातिशय दोष—जिसके अधिक पुण्य होते है उसको स्वर्गमें अधिक सुख मिलता है और कम पुण्यवालेको कम सुख मिलता है। अपनेसे अधिक सुखवाले देवताको देखकर कम सुखवाले देवताको ईर्ष्याका दुःख होता है।

२—इन्द्र आदि देवताओंकी अधीनता रूपी दुःख रहता है। इससे जीव भयभीत रहता है।

३—नीचे पतनरूप दोष—स्वर्गमें कर्मी देवताओंको अपने पुण्य कर्मका ज्ञान रहता है कि इतने समयतक हमें स्वर्गमें रहना है अमुक समय पुण्य समाप्त हो जायगा और उसके बाद नीचे पतन होगा। इस ज्ञानसे स्वर्गवासी जीव-को महाशोक होता है।

उपर्युक्त तीन दोषोंकी स्वर्गमें निवृत्ति नहीं होती। अतः स्वर्ग भी दुःख रूप है। इस प्रकारके विचारसे सभी अधिकारियोंको वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे पुनः सनकादि मुनियों के उपदेश पर श्रद्धायुक्त होकर आत्म-विचार करने लगे—

श्रेष्ठजनों ! सनकादि मुनियों और वामदेव के उपदेशसे हमलोग जिस आत्माको जानने लिये उद्यम कर रहे हैं, वह आत्मा कौन है चक्षु आदि इन्द्रियोंके समुदायसे युक्त प्रत्य प्रतीत होनेवाली यह देह ही आत्मा है अथ शास्त्रसे प्रतीत होनेवाला सत्-चित्-आन स्वरूप आत्मा है ? इस पर पहले विचार क चाहिये। देह तो आत्मा नहीं हो सकती क्यों वह उत्पत्ति और नाशवान है। घटादिकोंको त उत्पत्ति-नाशवाले पदार्थ आत्मा नहीं होते। यदि देह आत्मा हो तो स्वर्ग प्राप्तिके साध यज्ञादि कर्मोंको कोई नहीं करेगा, क्योंकि उत्प होनेवाली वस्तु नाशवान होती है। नष्ट देहका स्वर्ग-नरकमें जाना सम्भव नहीं, इसलि वेद वर्णित पुण्य और पाप कर्म सब व्यर्थ जायेंगे। देहको आत्मा माननेसे शास्त्रोक्त क ही नहीं बल्कि लौकिक कर्म भी व्यर्थ जावेंगे। क्योंकि बाल्यावस्थामें अध्ययन हुई विद्याका फल युवा और वृद्धावस्था भी प्राप्त होता है, जिसे नहीं हो चाहिये था। बाल्यावस्थाका देह युवा औ वृद्धावस्थामें नहीं रहता है। अवयवोंकी वृद्धि तथा क्षयसे देहका नाश सभी मानते हैं। चैत्र पुरुषके किए हुए कर्मका फल मैत्र पुरुष प्राप्त नहीं होकर चैत्र पुरुषको ही प्राप्त होता क्योंकि कर्मका कर्ता ही भोक्ता होता है, वैसे बाल्यदेह रूप आत्माका किया विद्याध्ययन रूप कर्मका फल युवादेह तथा वृद्ध देह आत्माको नहीं प्राप्त होना चाहिए, परन्तु प्र होता है, इसलिये देह आत्मा नहीं है।"

शंका—"कर्ता ही भोक्ता हो यह नि

सम्भव नहीं है। क्योंकि लोकमें फलका भोक्ता कर्तासे भिन्न देखा जाता है। जैसे सेवकों द्वारा किए गये युद्धका फल राजा भोगता है। शास्त्रमें भी कर्तासे भोक्ता भिन्न देखा गया है जैसे पिता द्वारा किए हुए वैश्वानर यज्ञका फल पुत्र भोगता है और पुत्र द्वारा किये गये गया-श्राद्धका फल पिता भोगता है। ऐसे ही बाल्य-देहरूप आत्माके किये विद्याध्ययन रूप कर्मके फलको युवा और वृद्ध देहरूप आत्मा भोगता है, यह बात सम्भव है। अतः देहको आत्मा माननेमें कर्मकी व्यर्थता रूप दोष नहीं बनता है।"

समाधान—"सेवकका राजाके साथ स्वामित्व सम्बन्ध है, इसलिये सेवक कृत युद्धके फलको राजा भोगता है। पिताका पुत्रके साथ पुत्रत्व सम्बन्ध और पुत्रका पिताके साथ पितृत्व सम्बन्ध है, इससे पिता पुत्र एक दूसरेके किए कर्मोंका फल भोगते हैं। इस प्रकार स्वामित्व पुत्रत्व आदिक सम्बन्ध युवादेहके साथ बाल्य-देहका तथा वृद्धदेहके साथ युवा देहका नहीं है। अतः देहको आत्मा माननेमें कर्मोंकी व्यर्थता निश्चित रूपसे सिद्ध है। अथवा यदि देह ही आत्मा हो तो मैं पहले जो बालक था वही मैं इस समय वृद्ध हूँ। यह बालक वृद्ध आत्माके अभेद को विषय करनेवाली प्रत्यभिज्ञा (पुनः ज्ञान) नहीं होनी चाहिए। क्योंकि बाल्यदेह तथा वृद्ध देहका भेद प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है। और परस्पर भिन्न पदार्थोंका अभेद ज्ञान होता नहीं है। जैसे पिता और पुत्र परस्पर भिन्न हैं इसलिये उनका अभेद ज्ञान होता नहीं, अतः आत्मा देह नहीं है।

अथवा, अनुमान प्रमाणसे भी देह अनात्मा ही सिद्ध होती है। जैसे घटादि जड़ होनेसे अनात्मा हैं। घट और देहमें जड़त्व धर्मकी समानता होनेके कारण यदि देहको आत्मा मानोगे तो घटको भी आत्मा मानना पड़ेगा और घट आत्मा हो नहीं सकता।"

शंका—"नेत्रादि इन्द्रियोंका आधार देहमें है, घटमें नहीं, इसलिये देह ही चेतन है घट नहीं।"

समाधान—"इन्द्रियोंकी आधारता रूप हेतु से देहमें घटसे विलक्षणता कहनी सम्भव नहीं। क्योंकि जैसे देहमें इन्द्रियोंकी आधारता है, तैसे घटमें भी परम्परा सम्बन्ध द्वारा इन्द्रियोंकी आधारता है। वहाँ विषमता सम्बन्धसे इन्द्रियों के आधाररूप रसादिकोंकी आधारता घटमें है। इस परम्परा सम्बन्धसे इन्द्रियोंकी आधारता घट में भी है। साक्षात्सम्बन्धकी तरह परम्परा सम्बन्ध भी आधारताका नियामक होता है। जैसे चारपाई पर सोये हुए पुरुषके लिए "घरमें सोया है" ऐसा लोक व्यवहार होता है। इस स्थानमें पुरुषका साक्षात्सम्बन्ध चारपाईके साथ है। चारपाई द्वारा घरके साथ परम्परा सम्बन्ध है। उस परम्परा सम्बन्धको लेकर घरमें पुरुष की आधारता प्रतीत होती है। ऐसे ही घटमें भी परम्परा सम्बन्धसे इन्द्रियोंकी आधारता सम्भव है। अतः देहकी तरह घट भी चेतन होना चाहिए।

अथवा, इन्द्रियोंकी आधारता द्वारा देहमें चेतनता तभी होती है जब इन्द्रियोंमें प्रथम चेतनता सिद्ध हो और इन्द्रियोंमें

चेतनता सम्भव नहीं। क्योंकि चक्षु आदिक समस्त इन्द्रियोंमें एक-एक इन्द्रिय चेतन है या सर्वइन्द्रियोंका समुदाय चेतन है? यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि यदि सभी इन्द्रियोंमें एक चक्षु इन्द्रियको ही चेतन माननेपर चक्षु इन्द्रियसे रहित अन्धे पुरुषको कोई भी ज्ञान नहीं होना चाहिए, परन्तु अन्धेको शब्दादिकोंका ज्ञान होता है। ऐसे ही अन्य सभी इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिए। अतः सबमें एक इन्द्रिय चेतन है, यह संभव नहीं। सभी इन्द्रियों का समुदाय आत्मा है यह दूसरा पक्ष भी संभव नहीं क्योंकि यदि सर्व इन्द्रियोंका समूह आत्मा हो तो एक चक्षु-इन्द्रियके नाश होनेसे सर्व इन्द्रियोंका समूह रूप आत्मा रहा नहीं, इसलिये अन्धे पुरुषका शरीर आत्मासे रहित होना चाहिये। जैसे नैयायिकोंके मतमें सहस्र तन्तुओंसे उत्पन्न हुआ पट एकतन्तु के नाश होनेसे नाश हो जाता है। इसलिये एक चक्षु इन्द्रियके नाशसे अन्धाका शरीर आत्मा रहित होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं है, इसलिये इन्द्रियोंका समुदाय आत्मा नहीं है।"

शंका—"जैसे ग्राम प्रधानकी मृत्युके बाद गाँवका दूसरा जीवित व्यक्ति ग्राम प्रधान हो जाता है, वैसे ही चक्षु इन्द्रियके नाश होनेपर श्रोत्रादिक इन्द्रियोंमें प्रधान रूप आत्मता रहती है। इसलिए इन्द्रिय ही आत्मा है।"

समाधान—"दृष्टान्तमें एक प्रधानके मृत्युके बाद उसके निर्णय रूप व्यवहारको दूसरा जीवित प्रधान सम्पन्न करता है। तैसे यहाँ भी चक्षु-इन्द्रियके नाश होनेपर उसका कार्य श्रोत्रादिक इन्द्रियोंके द्वारा होना चाहिए। नेत्रका कार्य नील-पीत आदिरूप ज्ञान श्रो द्वारा होते नहीं देखा गया है। अतः तुम दृष्टान्त विषम है।"

शंका—"हमारा दृष्टान्त विषम नहीं क्योंकि किसी किसी स्थानमें प्रधान पुरु मृत्युके बाद उसके निर्णयरूप व्यवहारका भी देखा गया है।"

समाधान—"तुम्हारी बात मान लें किसी-किसी अन्धेको श्रोत्रादि इन्द्रियोंके रूपका ज्ञान होना चाहिये, परन्तु लोकमें भी अन्धेको रूपका ज्ञान होते नहीं देखा है। अतः प्रधान पुरुषके दृष्टान्तसे इन्द्रि आत्मता सम्भव नहीं।"

शंका—"इन्द्रियोंसे आत्माको भिन्न मा में भी अन्ध पुरुषको नील पीतादिक रू ज्ञानकी प्राप्तिरूप दोष क्यों नहीं होता है।"

समाधान—"इन्द्रियोंसे भिन्न आत्मा इस पक्षमें अन्ध पुरुषको नीलादिक रूपके की प्राप्तिरूप दोष नहीं होता है। क्योंकि श स्पर्श, रूप, रस, गन्धके ज्ञानमें क्रमसे श्रो त्वक, चक्षु, रसन, घ्राण ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। अन्ध पुरुषमें चक्षुइन्द्रियका अभाव है लिये उसको नीलादिक रूपका ज्ञान नहीं हो है। जैसे मणि आदि पदार्थोंके चाक्षुष दीपादिके प्रकाश उपकरणके अभावमें चक्षु भी मणि आदिको नहीं देख पाता है, वैसे चक्षुइन्द्रियके नष्ट होनेपर अन्ध पुरुष रूपको देखता है।

अथवा—जैसे एक दीपकके नाश होनेपर उसी स्थानमें दूसरे दीपककी उत्पत्ति होती है तैसे एक इन्द्रियके नाश होने पर दूसरे इन्द्रियकी उत्पत्ति किसी आस्तिक पुरुषने अंगीकार नहीं किया है। क्योंकि आस्तिकोंके मतमें धर्म-अधर्मरूप अदृष्टके विना किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है।

देहसे भिन्न कोई आत्मा है नहीं, ऐसा माननेवाले नास्तिक चार्वाकके मतमें एक इन्द्रियके नाश होनेपर उसी स्थानमें दूसरी इन्द्रियकी उत्पत्ति होनी चाहिये। और यदि देहात्मवादी कहे कि हमारे मतमें भी अदृष्ट रूप कारणका अभाव होनेसे एक इन्द्रियके नष्ट होनेपर उसी स्थानमें दूसरी इन्द्रियकी उत्पत्ति नहीं होती है। ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वजन्ममें संपादित पुण्य-पाप रूप अदृष्ट उत्तरोत्तर जन्ममें कार्यकी उत्पत्ति करते हैं, यह नियम है। और पूर्वजन्म देहात्मवादियोंके मतमें सम्भव नहीं, जिससे अदृष्टकी उत्पत्ति हो। इसलिये एक इन्द्रियके नष्ट होनेपर द्वितीय इन्द्रियकी उत्पत्ति देहात्मवादीके मतमें अवश्य होनी चाहिये। देहात्मवादीके मतमें एक इन्द्रियके नष्ट होनेपर द्वितीय इन्द्रियकी उत्पत्तिरूप दोष होता है, वैसे ही इन्द्रियात्मवादीके मतमें भी यह दोष प्राप्त होता है। क्योंकि पूर्वजन्मके अभाव होनेसे पुण्य-पाप रूप अदृष्टकी उत्पत्ति इन्द्रियात्मवादीको भी सम्भव नहीं। इसलिये एक चक्षुइन्द्रियके नष्ट होनेपर भी शेष श्रोत्रादिक इन्द्रियोंके द्वारा द्वितीय चक्षुइन्द्रियकी उत्पत्ति होनी चाहिये। जैसे एक ग्राम प्रधानकी मृत्यु होनेपर शेष सदस्य लोग दूसरे प्रधानकी नियुक्ति करते हैं। जैसे एक राजाकी मृत्युके बाद उस स्थान पर दूसरे राजाको अङ्गीकार करते हैं।"

शंका—"एक चक्षुइन्द्रियके नष्ट होनेपर उसके स्थानमें दूसरी चक्षुइन्द्रियकी स्थापना सर्व इन्द्रियोंको एक सम्मति होनेपर ही श्रोत्रादिक करते हैं। यहाँ इन्द्रियोंकी एक मति नहीं है, अतः श्रोत्रादिकों द्वारा द्वितीय चक्षुइन्द्रियकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।"

समाधान—"यदि इन्द्रियोंकी एक मति न हो तो कोई भी इन्द्रिय सक्रिय नहीं होगी। जैसे ग्राममें प्रधान पुरुषोंकी जबतक एक मति नहीं होती तब तक कोई कार्य नहीं होता है। इसलिये किसी प्रकारसे भी इन्द्रियोंमें चेतनता सम्भव नहीं है। रूप रसादिक विषयोंके साथ चक्षु आदि इन्द्रियोंका केवल सम्बन्ध मात्र होता है। इन्द्रियोंसे किसी भी अर्थका प्रकाश नहीं होता, इसलिये रूपादिक विषयोंको प्रकाशित करनेवाला इन्द्रियोंसे भिन्न ही कोई चेतन है। इस प्रकार इन्द्रियोंके अचेतन होनेसे देहमें चेतनकी आधारता सम्भव नहीं है। इसलिये घट और देहकी विलक्षणता सिद्ध नहीं होती है। अतः दोनों समान हैं।"

शंका—"जैसे कत्था और चूना युक्त तांबूलमें रक्तता उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही आकाशादिक पंचभूतोंके समुदाय रूप शरीरमें चेतनता उत्पन्न होती है। वही चेतनता शरीरमें घटसे विलक्षणता है।"

समाधान—"पंचभूतोंके मिलनेसे शरीरमें चेतनता उत्पन्न होती है, यह कहना उचित

नहीं, क्योंकि पंचभूत तो घटमें भी मिले हुए हैं उसमें चेतनता क्यों नहीं उत्पन्न होती है? तुम्हारे कथनानुसार अवश्य होना चाहिए।"

शंका—"घटमें पृथ्वी आदि भूत तो हैं परन्तु वायु घटमें नहीं है, इसलिये घटमें चेतनता उत्पन्न नहीं होती है।"

समाधान—"घटमें वायुका अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वत्र आकाशमें वायुके अवयव परस्पर मिले हुए रहते हैं। इस कारणसे ही पंखेके चलानेसे उन अवयवोंका परस्पर विभाग होता है। आकाश घटमें है इसलिये वायु भी घटमें है। अतः शरीरकी तरह घटमें भी चेतनता होनी चाहिए।

अथवा, वायुके सम्बन्धसे देहमें चेतनता सम्भव नहीं, क्योंकि मृतक शरीरमें तथा घटमें वायुका संयोग होनेपर भी चेतनता नहीं देखी जाती है। इसलिये पंचभूतोंके मिलनसे देहमें चेतनता उत्पन्न होती है, यह तुम्हारा कहना मिथ्या है।

अथवा, यदि इन्द्रियोंमें चेतनता हो तो इन्द्रियोंमें मुख्य आत्मता और इन्द्रियोंके आधार शरीरमें गौण आत्मता होनी चाहिए। परन्तु इन्द्रियोंमें चेतनता है नहीं, इसलिये उनमें मुख्य आत्मता और गौण आत्मता यह दोनों संभव नहीं हैं। यहाँ तात्पर्य यह है कि वेद विरोधी नास्तिकोंके अनन्त मत हैं। उनमें एक चार्वाक है। ये चार्वाक भी चार प्रकारके होते हैं—एक तो देहको ही आत्मा मानता है। दूसरा इन्द्रियोंको, तीसरा हृदयको और चौथा प्राणको ही आत्मा मानता है।

इनमेंसे देहात्मवादी और इन्द्रियात्म[...] का तो इसके पूर्व खण्डन कर चुके हैं। हृदयात्मवादी और प्राणात्मवादीका [...] करते हैं। यद्यपि हृदय देशमें सर्व [...] जीवोंको ज्ञान होता है तथापि वह हृ[...] मांसरूप देहके समान होनेके कारण [...] नहीं है। जैसे बाह्य वायु आत्मा नहीं है, [...] प्राण वायु भी आत्मा नहीं है।"

शंका—"जिसके अदर्शनसे मृत्यु हो[...] है उसे आत्मा कहते हैं। यह लक्षण [...] सम्भव है। जबतक शरीरमें प्राण रहते हैं [...] तक मृत्यु व्यवहार नहीं होता, अतः प्रा[...] आत्मा कहना ठीक है।"

समाधान—"शरीरमें प्राणोंके अद[...] मृत्यु होती है, ऐसा तुम्हारे कहनेसे यह [...] हुआ कि प्राणोंके अप्रत्यक्षसे मृत्यु होती [...] क्योंकि चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाणको ही [...] हैं। अतः प्राणोंके अप्रत्यक्षसे मृत्यु नहीं [...] क्योंकि स्थावर वृक्षादिकोंमें प्राणोंका [...] ज्ञान किसीको नहीं होता, तो भी वृक्षादि[...] मृत्यु नहीं होती है। यदि प्राणात्मवादी [...] कहें कि जंगम मनुष्यादिक शरीरोंमें प्रा[...] अप्रत्यक्षसे मृत्यु होती है, तो यह भी ठीक [...] क्योंकि जंगम मनुष्यादिमें भी मूर्छाके [...] प्राणोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिये [...] अवस्थामें मृत्यु होनी चाहिये, परन्तु ऐसा [...] होता है। अतः प्राण आत्मा नहीं।"

शंका—"जिसके निकलनेसे मृत्यु हो[...] आत्मा कहते हैं। यह आत्माका लक्षण प्रा[...] सम्भव है। क्योंकि प्राणोंके निकलनेसे ही [...]

होती है। मूर्छा अवस्थामें प्राण निकलते नहीं हैं, किन्तु शरीरके भीतर ही प्राणोंकी गतिका निरोध हो जाता है। इसलिये मूर्छा कालमें मृत्यु नहीं होती है। अतः प्राण ही आत्मा है।"

समाधान—"जिसके निकलनेसे मृत्यु हो उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा कहना व्यर्थ है। क्योंकि जठराग्निके निकलने पर भी प्राणियोंकी मृत्यु देखी जाती है। अतः तुम्हारे मतमें जठराग्नि भी आत्मा होना चाहिये। पर इसे आत्मा प्राणात्मवादी अंगीकार नहीं करेंगे।"

शंका—"अग्निका निकलना किसीको प्रत्यक्ष हो तभी यह मृत्युका हेतु हो सकता है। अन्यथा नहीं।"

समाधान—"जठराग्निके निर्गमनका यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, तथापि जैसे नाकके आगे हाथ रखनेसे प्राणवायुका अभावरूप हेतुसे प्राणोंके निर्गमनका अनुमान होता है, वैसे ही शीतल स्पर्शरूप हेतुसे जठराग्निके निर्गमनका भी अनुमान होता है।"

शंका—"प्राण और जठराग्निके निकल जानेसे प्राणीकी मृत्यु होती है, अतः प्राण और जठराग्नि दोनों आत्मा हैं।"

समाधान—"अग्नि और प्राण दोनों आत्मा नहीं हो सकते। क्योंकि दोनोंको आत्मा माननेसे एक शरीरमें दो आत्मा सिद्ध होगा, जो अत्यन्त विरुद्ध और अमान्य है। अथवा, जिसके निर्गमन से मृत्यु होती है वह आत्मा है। ऐसा लक्षण करनेसे रुधिरको भी आत्मा मानना चाहिए। क्योंकि रुधिरके भी निकल जानेसे प्राणियोंकी मृत्यु लोकमें देखी जाती है। परन्तु अग्नि और प्राणको आत्मा कहनेवाला रुधिरको आत्मा अंगीकार नहीं करेगा। जड़वस्तु अनात्मा होती है, जैसे घट आदि। शरीरके बाहर स्थित प्राण, अग्नि, रुधिरमें जड़ता प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः शरीरके भीतर स्थित प्राण, अग्नि और रुधिर भी जड़ हैं। और जड़ वस्तु आत्मा हो नहीं सकता, किन्तु चेतन ही आत्मा होता है। सिद्ध हुआ कि प्राण-अग्नि-रुधिर आत्मा नहीं हैं।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार यह चार प्रकार का अन्तःकरण भी आत्मा नहीं है। क्योंकि एक शरीरमें अनन्त आत्मा माननेमें "जो मैं पूर्व पिता मातादिकोंको देखता था वही मैं अभी स्मरण करता हूँ" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान नहीं होना चाहिये।"

शंका—"चार अन्तःकरण समुदाय आत्मा न हो, परन्तु एक-एक अन्तःकरण आत्मा क्यों नहीं है?"

समाधान—"एक-एक अन्तःकरण आत्मा नहीं हो सकता। क्योंकि अन्तःकरण वृत्तिरूपसे चक्षुआदिक इन्द्रिय द्वारा बाहर निकल कर घटादिक विषयावच्छिन्न चेतनके आश्रित आवरणकी निवृत्ति करता है। और वह वृत्ति उपहित साक्षी चेतन उस घटका प्रकाश करता है। अतः साक्षी चेतन द्वारा जो घटादिकोंका प्रकाश है उसमें अन्तःकरण उपकरण है। अतः उपकरण आत्मा नहीं होता है। यदि उपकरण भी आत्मा हो तो दीपादिक प्रकाश तथा चक्षुआदि इन्द्रिय भी विषयके प्रकाशनमें उपकरण हैं। अतः इन्हें भी आत्मा होना चाहिये। क्योंकि प्रकाशके बिना अन्धकारमें स्थित घटादिकोंका चक्षु द्वारा

ज्ञान नहीं होता है, तैसे ही चक्षु आदि इन्द्रियसे हीन पुरुषको रूपादिक विषयका ज्ञान नहीं होता है। इसलिये अन्तःकरणकी तरह दीपादि प्रकाश तथा चक्षु आदि इन्द्रिय ये सब विषय प्रकाशनमें उपकरण हैं। उपकरण आत्मा नहीं, अतः अन्तः-करण भी आत्मा नहीं हो सकता।"

शंका—"इन्द्रियोंकी तरह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ज्ञानमें उपकरण नहीं, बल्कि कर्ता हैं। और कर्ता आत्मा ही होता है।"

समाधान—"मन आदिमें कर्तापन स्वीकार करने पर भी उनमें आत्मता सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि यहाँ मन, बुद्धि, चित्त अहंकार इन चारोंमेंसे कोई एक कर्ता है अथवा चारों कर्ता हैं? इनमें एक कर्ता है, यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि जड़त्व धर्म चारोंमें समान है। उनमें एकको कर्ता मानना और दूसरेको अकर्ता माननेमें कोई युक्ति नहीं है। चारों कर्ता है यह दूसरा पक्ष भी मान्य नहीं है। क्योंकि एक शरीरमें अनेक कर्ता आत्मा मान लेनेपर पहले दोष कह आये हैं। अतः अन्तःकरण आत्मा नहीं है।

अथवा, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार इन चारोंको आत्मा माननेवालेसे यह पूछना चाहिये कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार शब्द आत्मा हैं? या इन चार शब्दोंसे उत्पन्न अर्थ विषयक अन्तःकरणकी चार वृत्तियाँ आत्मा हैं? या इन चार शब्दोंके चार अर्थ आत्मा हैं। यह उपर्युक्त प्रथम पक्ष और द्वितीय पक्ष सम्भव नहीं हैं, क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार शब्द और उनसे उत्पन्न अन्तःकरणकी चार वृत्तियाँ ये सब अर्थ प्रकाशके उपकरण इसलिये आत्मा नहीं और तीसरा पक्ष भी नहीं। क्योंकि वे चारों अर्थ जड़ हैं अथवा हैं? प्रथम जड़ पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि जो जड़ होगी वह परिच्छिन्न होती है और जो परिच्छिन्न होगी वह अनित्य होती है। अनित्य वस्तु अनात्मा होती है। जैसे घट पदार्थ हैं वैसे मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार रूप को जड़ माननेमें अनात्मता ही सिद्ध होती और अनेक जड़ पदार्थोंको आत्मा मानने कथित प्रत्यभिज्ञा ज्ञानका विरोध भी होता इसलिये मन-बुद्धि-चित्त-अहंकाररूप आत्मा नहीं।"

शंका—"अभी आपने कहा है कि जो वस्तु जड़ होती है वह परिच्छिन्न होती है। नियम सम्भव नहीं, क्योंकि आकाश, दिशा ये तीनों जड़ तो हैं परन्तु परिच्छिन्न किन्तु व्यापक हैं। अतः आकाश नित्य हैं।"

समाधान—"आकाशादिकोंमें परिच्छिन्न का अभाव संभव नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें आ आदिकी उत्पत्ति कही गयी है। जो-जो त्तिमानका कार्य होता है, वह अपने उप कारणके एक देशमें रहता है। इसलिये आ शादिक भी अपने कारणकी अपेक्षासे च्छिन्न हैं।"

शंका—"यदि आकाश परिच्छिन्न हो शास्त्रमें आकाशके दृष्टान्तसे आत्मामें जो कता सिद्ध की गई है, वह असंगत हो जायगी।"

समाधान—"व्यापकता दो प्रकारकी

है–एक निरपेक्ष व्यापकता और दूसरी सापेक्ष व्यापकता है। सापेक्ष व्यापकताको अंगीकार करके ही आत्मामें आकाशका दृष्टान्त दिया है। आत्माकी अपेक्षा तो आकाशादिक परिछिन्न ही हैं। अतः नित्य नहीं। और जो नैयायिक आकाश आदिको विभु मानते हैं। उनकी रीति से भी आकाशादिक नित्य सिद्ध नहीं होते हैं। क्योंकि नैयायिकोंने आकाशादिक विभु पदार्थों में भी अन्योन्याभावकी प्रतियोगिता रूप वस्तु-परिच्छेद अंगीकार किया है। परिछिन्न वस्तु नित्य नहीं होती, इसलिये आकाशादिक अनित्य हैं। यह कहनेसे सिद्ध हुआ कि सभी अनात्म पदार्थोंमें वस्तु परिच्छेद, देश परिच्छेद और काल परिच्छेद विद्यमान है। इसलिये सभी अनात्म पदार्थ अनित्य हैं। इनमें आकाशादिक नित्य और घटादिक अनित्य है ऐसा लोगोंको जो प्रपंचमें भेद प्रतीत होता है, वह केवल अविवेकसे प्रतीत होता है। इसलिए मन-बुद्धि-चित्त-अहंकारको जड़ मानकर उन्हें नित्य मानना अत्यन्त विरुद्ध है।

विचार करनेसे सत्-चित्-आनन्द-आत्मा इन चारोंमें परस्पर भेद सिद्‌ध नहीं होता है। और जो वादी इन चारोंमें भेद मानते हैं, उनसे हम पूछते हैं कि "सत्से सत् भिन्न है, चित्से चित् भिन्न है, आनन्दसे आनन्द भिन्न है, आत्मासे आत्मा भिन्न है, इस प्रकार परस्पर भिन्न हैं अथवा सत्से चित् भिन्न है, चित्से आनन्द भिन्न है और आनन्दसे आत्मा भिन्न इस प्रकार चारोंका परस्पर भेद है। यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि जैसे लोकमें घट पटादि वस्तु अपने स्वरूपसे आप भिन्न नहीं होती, वैसे ही सत्का सत्से भेद, चेतनका चेतन-से भेद कहना संभव नहीं है और सत्-चित्-आनन्द-आत्मा इन चारोंका परस्पर भेद यह दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है। क्योंकि प्रकाश स्वरूप चैतन्य आनन्दसे भिन्न नहीं। यदि आनन्दसे चैतन्य भिन्न हो तो प्रतिकूल होगा। जो प्रतिकूल हो वह जड़ होता है। अतः आनन्दसे चैतन्य भिन्न नहीं, क्योंकि यदि प्रकाश रूप चैतन्यसे आनन्द भिन्न हो तो दुःख रूप होगा। इसी प्रकार सत् भी आनन्द और चैतन्यसे भिन्न नहीं। यदि सत् आनन्द और चैतन्यसे भिन्न हो तो असत्य रूप होगा। इसलिये आनन्द और चैतन्यसे सत्य भिन्न नहीं, वैसे ही आनन्द और चैतन्य भी सत्यसे भिन्न नहीं है। क्योंकि यदि आनन्द और चैतन्य सत्यसे भिन्न हों तो वन्ध्यापुत्रकी तरह असत्य हो जायेंगे। इसी प्रकार सत्-चित् आनन्द से आत्मा भी भिन्न नहीं है। क्योंकि यदि आत्मा सच्चिदानन्दसे भिन्न होगा तो असत्, जड़, दुःखस्वरूप हो जायगा। यह सम्भव नहीं। क्योंकि सभी प्राणियोंको "मैं हूँ" इस प्रतीतिसे मैं आत्माकी सत्यरूपता प्रतीत होती है। "मैं कभी भी अप्रिय नहीं हूँ" इस प्रतीतिसे मैं आत्माकी आनन्दरूपता प्रतीत होती है। और "मैं जानता हूँ" इस प्रतीतिसे मैं आत्माकी चैतन्यता प्रतीत होती है। इसलिये सत्-चित्-आनन्दसे आत्मा भिन्न नहीं।

अथवा, सभी प्राणीमात्रको अनन्त आत्माका अहंरूप करके तथा आत्मरूप

करके संशय रहित ज्ञान होता है। "मैं हूँ" अथवा "नहीं हूँ" इस प्रकारका संशय किसीको नहीं होता है। किन्तु "मैं सर्वदा हूं" ऐसा निश्चय सभी प्राणियोंको होता है। इसलिये सत्-चित्-आनन्द ये तीनों भी आत्मासे भिन्न नहीं हैं। यदि आत्मासे सत्-चित्-आनन्द भिन्न हों तो सत्यका सत्यरूपसे, चित्का चित् रूपसे और आनन्दका आनन्द रूप से ज्ञान किसीको भी नहीं होगा। क्योंकि आत्मासे भिन्न नरसृंगमें सत्यबुद्धि, आत्मासे भिन्न घटादिमें चैतन्य बुद्धि और आत्मासे भिन्न सिंह सर्पादिकोंमें आनन्द बुद्धि किसीको भी नहीं होती है। इसलिये आत्मासे सत्-चित्-आनन्द भिन्न नहीं।"

शंका--"सत-चित्-आनन्द, आत्मा इन चारोंका यद्यपि परस्पर भेद नहीं है, तथापि घट-पटादिक जड वस्तुओं द्वारा आत्मामें वस्तु-परिच्छेद क्यों नहीं होता है?"

समाधान--"आत्मासे भिन्न कोई भी वस्तु जगतका कारण नहीं है। क्योंकि आत्मा नाम अपने स्वरूपका है। अपने स्वरूपसे जो भिन्न हो वह नर-शृङ्गकी तरह निःस्वरूप होता है। इसलिये आत्मा ही सर्व जगतका कारण है। कारणसे कार्य भिन्न होकर प्रतीत नहीं होता है। जैसे मिट्टीसे घट भिन्न होकर प्रतीत नहीं होता, तैसे ही कार्यरूप जगत भी कारणरूप आत्मासे भिन्न होकर प्रतीत नहीं होता है।"

शंका--"जड़ जगतका कारण आत्मा नहीं, किन्तु जगत अपना कारण आपही है।"

समाधान--"किसी भी स्थानमें कोई भी वस्तु अपना कारण आप नहीं होती। कार्य उत्पत्तिके पूर्वक्षणमें जो वस्तु [illegible] उसे कारण कहते हैं और कारणके बाद [illegible] रहे उसे कार्य कहते हैं। इसे दृष्टान्तद्वारा [illegible] हैं--जैसे मिट्टी घटके उत्पत्तिके पूर्व [illegible] थी, इसलिये मिट्टी घटका कारण है। घट [illegible] पश्चात भावी है इसलिये मिट्टीका घट का[र्य] [illegible] यदि जड़ जगत अपना कारण आपही [illegible] जगत आपही अपनेसे पूर्ववर्ति और [illegible] अपनेसे पश्चात भावी भी हैं, ऐसा कहना [illegible] जो अत्यन्त विरुद्ध है।

शंका--"अज्ञानके बलसे जड़ जगत [illegible] कारण आपही क्यों नहीं हो सकता है?"

समाधान--"अज्ञानके बलसे भी [illegible] अपना कारण आप नहीं हो सकता। [illegible] अज्ञानके बलसे रज्जु आदिमें कल्पित सर्पा[दि] की ही कारणता देखी जाती है। रज्जुमें [illegible] प्रति कारणता अज्ञानके बलसे भी सम्भव [illegible] है। इसलिए आत्मासे भिन्न किसी जड़ व[स्तु] सत्ता नहीं है। यह कहकर आत्मामें वस्तु[परि]च्छेदका अभाव दिखलाया। अब देश-काल[परि]च्छेदका अभाव आत्मामें दिखलाते हैं-- गोत्व जाति गौ व्यक्तिमें रहती है, तैसे [illegible] किसी देशमें नहीं रहता, किन्तु सर्व देशमें [illegible] है। जैसे वर्षादिक सर्वकालमें नहीं रहते, [illegible] किसी-किसी कालमें रहते हैं, तैसे आत्मा [illegible] एक कालमें नहीं बल्कि सर्वकालमें वि[द्यमान] रहता है। क्योंकि देश-कालादिक [illegible] लौकिक आधार हैं उन सबकी प्रकाश[illegible] आत्माके बिना सिद्धि नहीं होती है, अतः [illegible] देश-काल-वस्तु परिच्छेदसे रहित है।"

शंका—"जब आत्माका स्वरूप देश-काल-वस्तु परिच्छेदसे रहित है, तब प्रपंचका भान किससे होता है।"

समाधान—"देशकाल आदिसे लेकर समस्त अनिर्वचनीय जगत आत्मामें अज्ञानी पुरुषोंने कल्पना किया है। जैसे मध्याह्नके सूर्यमें घूकादिक पक्षी रात्रिकी कल्पना करते हैं और जैसे सोये हुये पुरुषको स्वप्नमें निद्रा दोषसे नाना प्रकारका जगत प्रतीत होता है, तैसे ही आत्माके अज्ञानसे सम्पूर्ण जगत हमको प्रतीत होता है। और सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मामें देश-काल वस्तु परिच्छेदका अभाव है, इस कारणसे आत्मा अनन्त है। सृष्टिकालके आदिमें सनकादिक मुनियोंने इसी आत्माका हम लोगोंको उपदेश किया था और अभी वामदेवने भी इसी आत्मा का उपदेश किया है।

इसी अद्वितीय आत्माको जाननेकी इच्छासे हम सब अधिकारियोंका समाज यहाँ उपस्थित है और इसीको जाननेके लिए विचारके आरम्भ में हमने इस संघातमें कौन आत्मा है? यह प्रश्न किया था। उसी अद्वितीय आत्माका निश्चय हमलोगोंने अन्तःकरणादिकोंका विचार करके किया है। अतः हम सब अधिकारी कृतकृत्य हैं।

हमने आनन्द स्वरूप आत्माको अन्तःकरणके विवेकसे निश्चय किया है। इसलिए जितने हृदयादिक नाम अन्तःकरणके वाचक हैं, उन सम्पूर्ण नामोंको शुद्ध आत्मामें हम समर्पण करते हैं। तात्पर्य यह है कि जितने हृदयादिक नाम हैं वे सब अन्तःकरण विशिष्ट चेतनके तथा अन्तःकरण विशिष्ट चेतनके वाचक हैं। वहाँ भाग त्याग लक्षणासे अन्तःकरण तथा वृत्तिरूप जड़ भागके त्याग करनेसे सम्पूर्ण हृदयादिकपद शुद्ध आत्माके बोधक हैं।"

शंका—"मन वाणीके अविषय शुद्ध आत्मा में विशिष्ट चेतनके वाचक हृदयादिक पदोंका प्रयोग करना व्यर्थ है।"

समाधान—"शुद्ध आत्मामें हृदयादिक पदों का प्रयोग करना व्यर्थ नहीं, किन्तु अर्थवान है। क्योंकि जैसे हम अधिकारियोंने हृदयादिक पदों द्वारा शुद्ध आत्माका निश्चय किया है, तैसे सब अधिकारियोंको हृदयादिक पदों द्वारा शुद्ध आत्मा का बोध करना चाहिए। इस प्रकार अधिकारियोंको बोध करानेके लिए हृदयादिक पदोंका शुद्ध आत्मामें प्रयोग किया है।

उपासनासे तथा पंच कोशोंके विचारसे हृदयदेशमें आत्माका अपरोक्ष ज्ञान होता है। इस कारणसे आत्माको **हृदय** कहते हैं। यह आनन्द स्वरूप आत्मा सम्पूर्ण विश्वका प्रकाशक है, इसलिये आत्माको **मन** कहते हैं। अथवा, सभी मुमुक्षुओंने मन द्वारा आत्माका निश्चय किया है, इसलिये आत्माको मन कहते हैं। आत्मामें कल्पित सर्व प्रपंचोंको यह आत्मा जानता है इसलिये आत्माको **संज्ञान** कहते हैं। आत्माकी आज्ञामें वाकादिक सभी इन्द्रियाँ और अग्नि आदिक सभी देवता रहते हैं, इस कारणसे आनन्द स्वरूप आत्माको **अज्ञान** कहते हैं। यह आनन्द स्वरूप आत्मा जड़ चेतनरूप प्रपंचके भेद विचार पूर्वक अपने स्वरूपको तथा परमात्माको विशेप

करके जानता है, इस कारण आत्माको **विज्ञान** कहते हैं। यह आनन्द स्वरूप आत्मा सर्व प्रपंच का प्रकाशक अपने स्वरूपको "मैं हूँ" इस प्रकार से सदा जानता है, इसलिये आत्माको **प्रज्ञान** कहते हैं। यह आनन्द स्वरूप आत्मा एकबार जाना हुआ अपना स्वरूप तथा अन्य किसी आत्मवस्तुको भूलता नहीं है, इसलिये आत्मा को **मेधा** कहते हैं। चक्षु आदिक इन्द्रियों द्वारा सभी वस्तुको देखता है इसलिये आत्माको **दृष्टि** कहते हैं। जिस प्रकार स्तम्भ अपने उपर घरको धारण करता है वैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी सब शरीरोंमें प्रवेश करके देह इन्द्रियोंको धारण करता है, इस कारण आत्माको **धृति** कहते हैं। अथवा—जैसे काष्ठ मिट्टी द्वारा बना हुआ बाँध क्षेत्रादिकी मर्यादाको धारण करता है तैसे ही यह आत्मा भी वर्ण-आश्रमकी मर्यादा और उनके धर्मकी मर्यादाको धारण करता है, इस कारण से भी आत्माको **धृति** कहते हैं। जैसे काष्ठा-दिकोंका पात्रमें जो प्रस्थ है वह यवादिक अन्न के परिणामको निश्चय करता है और जैसे रज्जु अविच्छिन्न चेतन अपनेमें कल्पित सर्प दण्डा-दिकोंके परिणामको जनाता है तैसे यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी सम्पूर्ण विश्वके परिणामको निश्चय करता है, इस कारण आत्माको **मति** कहते हैं। अथवा, सभी प्राणियोंमें स्थित हुआ यह आत्मा सर्व प्राणियोंके हित तथा अहितको भली प्रकार निश्चय करता है इसलिये भी आत्माको मति कहते हैं। यह आनन्द स्वरूप आत्मा "अमुक वस्तु मुझे प्राप्त हो, अमुक मुझे न प्राप्त हो" इस प्रकारके मनको ... समर्थ है इसलिए आत्माको **मनीषा** कहते ... यह आनन्द स्वरूप आत्मा देह, इन्द्रियाँ, ... करण, अज्ञानादिकोंका प्रकाशक है, इस ... आत्माको **जूति** कहते हैं। अथवा—अध्या... दुःख, अधिदैव दुःख, अधिभूत दुःख इन ... प्रकारके दुःखोंको विषय करनेवाली अन्तः... की वृत्तियोंका प्रकाशक होनेसे भी आत्मा... जूति कहते हैं। अथवा—आत्माके प्रकाश... सम्पूर्ण जगत अपने-अपने कार्यकी सिद्धि ... है, इस कारणसे भी आत्माको जूति कहते ... जैसे माता अपने पुत्रोंको स्मरण करती है, ... ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी "मेरे ... यह सम्पूर्ण जगत कैसे सिद्ध होगा" इस प्र... का स्मरण करता है, इसलिये आत्माको स्... कहते हैं। यह आनन्द स्वरूप आत्मा जा... स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंकी ... कल्पना करता है, इसलिये आत्माको सं... कहते हैं। इस आनन्द स्वरूप आत्माकी इ... यह सम्पूर्ण जगत उत्पन्न होता है इस... आत्माको **क्रतु** कहते हैं। यह आनन्द... आत्मा अपनी समीपता द्वारा प्राणोंको ... अपने व्यापारमें प्रवृत्त करता है, इसलिये ... को **असु** कहते हैं। यह आनन्द स्वरूप ... सुख प्राप्तिकी इच्छा और दुःख निवृत्तिकी ... का प्रकाशक है, इसलिए आत्माको **काम** ... हैं। यह आनन्द स्वरूप आत्मा प्रजाकी उ... का कारण स्वस्त्री संगमकी अभिलाषाका ... शक है, इसलिये आत्माको **वश** कहते हैं।

इस प्रकार हृदयदेशमें स्थित अन्तःकरण और उसकी वृत्तियोंके ही उपर्युक्त सम्पूर्ण हृदयादिक शब्द वाचक हैं। उस अन्तःकरणमें हम अधिकारियोंने आनन्द स्वरूप आत्माको जाना है। इस कारणसे वृत्ति सहित अन्तःकरणके जितने हृदयादिक नाम हैं उन सबको आनन्द-स्वरूप आत्माका नाम हमने कहा है और अन्तः-करणके हृदयादिक नाम परमात्मामें संभव भी हैं, क्योंकि परमात्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। और वास्तवमें विचार किया जाय तो जितने भी घट-पटादिक नाम हैं, वे सब परमात्माका ही बोधन करते हैं। क्योंकि परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है जो वस्तुको घट-पटादि नामसे बोधन करे।

वार्तिक ग्रन्थके कर्ता श्री सुरेश्वराचार्यजीने भी कहा है—

अतोऽनुभवएवैको विषयोऽज्ञात लक्षणः।
अक्षादीनां स्वतः सिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता॥

स्वप्रकाश और अज्ञात चेतन ही प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंका विषय है। उस चेतनमें ही प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंकी प्रमाणता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञात अर्थका जो बोधक हो उसे प्रमाण कहते हैं। अज्ञानका जो आश्रय और अज्ञानका जो विषय उसे अज्ञात कहते हैं। अज्ञानका आश्रय और विषय चेतन है। चेतन से भिन्न जड़ वस्तु अज्ञानका आश्रय-विषय नहीं होती है। इसलिये आत्माके बोधनसे ही सम्पूर्ण प्रमाणोंमें प्रमाणता सिद्ध होती है।

यह आनन्द स्वरूप आत्मा ही शुद्ध ब्रह्म है। जगतका कारण माया विशिष्ट ईश्वर भी आनन्द स्वरूप आत्मा ही है। समष्टि सूक्ष्म शरीरका अभिमानी हिरण्यगर्भ भी यह आनन्द स्वरूप आत्मा ही है और समष्टि स्थूल शरीरका अभिमानी विराट भगवान भी यह आनन्द स्वरूप आत्मा ही है। विराट भगवान्के शरीर तथा अस्मदादिक सर्वप्राणियोंके शरीरमें भोक्ता, तीन लोकोंको धारण करनेवाला और सबका प्रकाशक परमात्मा इन्द्र भी यह आनन्द स्वरूप आत्मा ही है। जगत प्रसिद्ध देवताओंका राजा इन्द्र, मरीचि आदि प्रजापति, शरीरके आश्रित वाक्-आदि इन्द्रिय और उनके अग्नि आदिक देवता ये सब आनन्द स्वरूप आत्मा ही हैं। आत्मासे भिन्न किंचित् मात्र भी नहीं है, जैसे स्वप्नमें भिन्न-भिन्न कल्पना करने वाला प्रमाता हम ही हैं, हमसे भिन्न स्वप्नमें कोई प्रमाता नहीं है।

आत्मामें सजातीय भेदका खण्डन कर चुके अब विजातीय भेदका खण्डन करते हैं—

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पंच-भूत मैं आनन्द स्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं हैं। अंडज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज ये चार प्रकार के भूत स्थावर-जंगम तथा कार्य कारण रूपसे दो प्रकारके हैं। ये सम्पूर्ण आनन्द स्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं हैं। जैसे अग्निसे उष्णता और प्रकाश भिन्न नहीं, तैसे ही आनन्द स्वरूप आत्मासे स्थूल-सूक्ष्म रूप प्रपंच भिन्न नहीं हैं। जैसे जलसे शीतलता और द्रवत्व भिन्न नहीं, पृथ्वीसे कठिनता और गन्ध भिन्न नहीं, वायुसे क्रिया और स्पर्श भिन्न नहीं और आकाशसे अवकाश एवं शब्द भिन्न नहीं, तैसे ही आनन्द

स्वरूप आत्मासे यह सूक्ष्म-स्थूल प्रपंचरूप जगत भिन्न नहीं है।

जैसे दोष रहित सूर्य प्रकाशमें अंधकारका यद्यपि अभाव है तथापि उल्लूक, चमगादड़ आदि सूर्यमें अन्धकारकी कल्पना करते हैं, वैसे ही जगतसे रहित आनन्द स्वरूप आत्मामें अज्ञानी जन जगतकी कल्पना करते हैं। जैसे अमूर्त आकाशमें मेघ आदि मूर्त पदार्थ रहते हैं, तैसे ही आनन्द स्वरूप आत्मामें यह सम्पूर्ण जगत रहता है। जैसे आकाशमें नाना प्रकारके मेघादिक कभीकाल प्रतीत होते हैं, सदा नहीं, वैसे ही आनन्द स्वरूप आत्मामें यह सम्पूर्ण जगत कदाचित प्रतीत होता है, सदा नहीं प्रतीत होता। जैसें मायावी राक्षसोंके बालक प्रयोजन विना ही माया द्वारा पदार्थोंको रचते हैं, वैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा विना प्रयोजनके ही जगतको रचता है। जैसे मदिरा पानसे अन्धा हुआ पुरुष आवरण रहित स्थानमें दीवाल और पर्दा आदिक आवरणोंको देखता है, वैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा असत जगतको देखता है। जैसे कोई पुरुष अपने चित्तके दोषसे दोष रहित पिता और गुरुमें दोषों को देखता है, वैसे ही यह आनन्दस्वरूप आत्मा प्रपंच रूप दोषसे रहित अपने स्वरूपमें प्रपंचको देखता है। जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्नमें अपनी एकताको नहीं जानता है, किन्तु अपने को नानारूपसे जानता है, तैसे यह आनन्द स्वरूप आत्मा जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप तीन स्वप्नोंको देखता हुआ अपनी एकताको नहीं देखता है। जैसे घूमती हुई नलिकाके ऊपर चढ़ा हुआ शुक नलिकामें बँधा हुआ न... पर भी अपनेको बँधा हुआ मानकर घूम... तैसे ही यह जीवात्मा नित्यमुक्त आनन्द-... के अज्ञानसे संसार रूप शूलमें भ्रमण करता... जैसे गन्धके लोभसे भ्रमर कमलको नहीं छो... है और रात्रि होने पर कमल संकुचित हो... है तब कमलके भीतर बन्द हुआ भ्रमर ... दुःखी होकर विचारता है कि रात्रिगत हो... प्रातःकाल मैं बाहर निकल जाऊँगा, ... समय हाथी उस कमलको खा जाता है। ... प्रकार यह जीवात्मा स्त्री आदिक ... आसक्त हुआ अनंत प्रकारके दुखोंको ... करता है। जैसे कोई धनी पुरुष भ्रांतिसे ... धनीपनेको भूलकर दरिद्र होकर दुःखी हो... वैसे ही यह आत्मा आनन्दका समुद्र ... स्वरूपको भूलकर तुच्छ विषय सुखकी ... लिये अत्यन्त दीन दशाको प्राप्त होता है। ... सर्व गुणोंसे सम्पन्न कोई पुरुष किसी ... चारिणी स्त्री पर मोहित होकर दीनताको ... होता है, वैसे ही यह आनन्दस्वरूप आत्मा ... द्वारा मोहित होकर नाना प्रकारसे दीन हो... है। जैसे त्रिलोकीनाथ इन्द्र जो सब देवताओं ... अधिपति है और कामदेवको वश करनेमें ... होते हुये भी कामिनीको वश करने में ... नहीं होता है, किन्तु काम द्वारा कामिनीके ... हो जाता है, वैसे ही माया आदि ... अधिष्ठान आत्मा मायाको वश करनेमें ... नहीं होता है। जैसे प्रिय पुत्र द्वारा ... होकर भी पिता उस निरादरमें दोष नहीं ... है, वैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा ...

दोषोंको नहीं देखता है। जैसे बारहसिंहा मृग अपने शृंगोंके भारको प्रसन्न होकर धारण करता है, तैसे यह आत्मा अपने स्वरूपके अज्ञान से मायाके भारको धारण करता है। जैसे दुर्जन पुरुषके संगसे साधु पुरुष दोषयुक्त हो जाता है वैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा मायाके संग से दोषको प्राप्त होता है। जैसे दुर्जन पुरुषकी दृष्टिमें निर्दोष पुरुष भी दोषी प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुषकी दृष्टिसे आत्मामें अनन्त दोषयुक्त संसार प्रतीत होता है। जैसे अपनी प्रजामें स्थित दुःखोंको राजा अपनेमें मानता है वैसे ही जड़ अन्तःकरणमें स्थित दुःखको तादात्म्य अध्यास करके आत्मा अपनेमें मानता है। जैसे कारण-सामग्रीसे रहित एक स्वप्न पुरुषमें अकस्मात सम्पूर्ण जगत उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही आनन्द स्वरूप आत्मामें अकस्मात् स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे यह पुरुष स्वप्नमें अकारण ही अपने को आपही दुःखी मानता है वैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा जाग्रतमें व्यर्थ ही अपनेको दुःखी मानता है। जैसे स्वप्नसे जागे हुए पुरुषके स्वप्न-दुःखका नाश हो जाता है और वह पुरुष ऐसा जानता है कि मुझको पहले दुःख नहीं था, वर्तमानमें भी दुःख नही है और आगे भविष्यमें भी दुःख नहीं होगा, इस प्रकार तीनों कालमें स्वप्नके दुःखका अभाव निश्चय करता है, वैसे ही जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप संसार स्वप्नसे आत्म-साक्षात्कार रूप जाग्रतके प्राप्त होने पर इस आनन्द स्वरूप आत्माके सब दुःखोंका नाश हो जाता है और उस ज्ञान अवस्थामें आत्मा ऐसा जानता है कि मुझको उसके पहले भी दुःख नहीं हुआ, अब वर्तमान में भी दुःख नहीं है और आगे भी दुःख नहीं होगा। इस प्रकार तीनोंकालमें विद्वान अपने स्वरूपमें दुःखको नहीं मानता है। किन्तु दुःख को अन्तःकरणादिकोंका धर्म जानता है।

इस प्रकार हम सब अधिकारियोंको जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप संसार स्वप्नसे ब्रह्म साक्षात्कार रूप जाग्रत अवस्था प्राप्त हुई है। इस कारण हम सब महान पुण्यवान हैं। इसके पूर्व जो हमने अन्तःकरणके वाचक हृदयादिक नाम अद्वितीय आत्मामें कहा है, उन सब नामोंमें प्रज्ञा नाम अत्यन्त शोभायमान है। क्योंकि "प्रज्ञा" इस नाममें दो शब्द हैं। एक "प्र" दूसरा "ज्ञा" शब्द। "प्र" शब्दका अर्थ सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदसे रहित है और "ज्ञा" शब्दका अर्थ प्रकाश है। इन दोनों शब्दका अर्थ आनन्दस्वरूप आत्मामें ही घटता है, आत्मासे भिन्न अनात्म वस्तुमें नहीं घटता। इस प्रकार तीन भेदसे रहित प्रकाश स्वरूप आत्माको प्रज्ञा नामसे हमने इसके पूर्व कहा है। प्रज्ञा और प्रज्ञान शब्दका एक ही अर्थ है। प्रज्ञान शब्दका अर्थ आनन्द स्वरूप आत्मा ही ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सबके शरीरमें काष्ठमें अग्निकी तरह व्यापक है। आकाशादिक पंच भूतोंका कार्य सम्पूर्ण स्थावर-जंगमोंका प्रज्ञा रूप नेत्र ही निर्वाहक है, जैसे अस्मदादिक पुरुषोंके मांसमय नेत्र निर्वाहक हैं। यहाँ केवल इतना ही भेद है कि मांसमय नेत्र तो केवल निमित्त कारण होनेसे निर्वाहक है

और यह प्रज्ञा रूप नेत्र उपादान कारण होने से प्रपंचके निर्वाहक हैं। क्योंकि श्रुतिने सम्पूर्ण जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आत्मामें ही कहा है। उस उत्पत्ति, स्थिति, लयकी कारणता उपादान कारणमें ही होती है। जैसे घटकी उत्पत्ति-स्थिति-लय मिट्टीमें होता है, इसलिये घटका उपादान कारण मिट्टी है।

अथवा—तीन लोकोंके भीतर सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदिका प्रकाश भी प्रज्ञा रूप नेत्रसे भिन्न नहीं, किन्तु प्रज्ञा स्वरूप हैं। प्रज्ञा स्वरूप चैतन्यके विना सूर्यादिकोंकी भी सिद्धि नहीं, यह बात सभीके अनुभवसे सिद्ध है। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणीमात्र किसी कालमें, किसी देशमें सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रज्ञारूप नेत्रसे ही जानते हैं। प्रज्ञा के विना किसी वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता है।

अब चैतन्य रूप प्रज्ञाकी सर्वव्यापकता बतलानेके लिये वृक्षादिक स्थावर पदार्थोंमें प्रज्ञा का सद्भाव दिखलाते हैं—

जैसे अस्मदादिक पुरुषोंको अन्नादिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुखका ज्ञान होता है और उस सुखके ज्ञानसे शरीरकी वृद्धि होती है तथा शस्त्रादिकोंके प्रहारसे दुःखका ज्ञान होता है और उस दुःखके ज्ञानसे शरीरका क्षय होता है, ऐसे ही वृक्षादिकोंमें भी जल सिंचनसे वृद्धि देखी जाती है और जड़ काटनेसे, अत्यन्त गर्मी तथा अत्यन्त शीतसे वृक्षादिकोंका क्षय देखा जाता है। यह वृद्धि और क्षय सुख-दुःखके ज्ञानके विना नहीं होता है। इसलिये वृद्धि रूप हेतुसे वृक्षादिकोंके सुखज्ञान तथा क्षयरूप हेतुसे दुःखज्ञानका अनुमान होता है। इस प्रकार स्थावरोंमें चैतन्यरूप प्रज्ञा अनुगत है।

ग्राम तथा वनके पशुओंकी भी हरित [illegible] को देखकर प्रवृत्ति और हाथमें दण्ड दे[illegible] निवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति दुःखके ज्ञानके विना नहीं होती है। य[illegible] मेरे सुखका साधन है इस प्रकारके ज्ञानसे [illegible] और यह वस्तु मेरे दुःखका साधन है इस [illegible] निवृत्ति होती है, यह जगत प्रसिद्ध है। [illegible] पशु आदिमें भी प्रवृत्ति रूप हेतुसे सुख [illegible] और निवृत्ति रूप हेतुसे दुःख ज्ञानका अ[illegible] होता है। इस प्रकार चीटींसे लेकर मनुष्य [illegible] जितने जंगम प्राणी हैं उन सबमें अनुकूल [illegible] में प्रवृत्ति और प्रतिकूल वस्तुमें निवृत्ति [illegible] व्यवहार समान है। अतः सम्पूर्ण जंगम [illegible] दुःखके ज्ञानसे युक्त है। वशिष्ठ आदि [illegible] और ब्रह्मादि देवताओंके दुःख-सुखका ज्ञान [illegible] प्रमाणसे होता है अथवा चेतना हेतुसे [illegible] किया जाता है। जो चेतन होता है व[illegible] दुःख ज्ञानवाला होता है। यह चेतना [illegible] और देवताओंमें भी है। इसलिये वे भी [illegible] सुख ज्ञानवाले हैं। इस प्रकार सभी प्राणि[illegible] जो दुःख-सुखका अनुभव है, उस अनुभव [illegible] प्रज्ञा शब्दसे कहा जाता है। सुख और [illegible] में कोई भी क्रिया नहीं है, किन्तु जब तक [illegible] दुःखरूप फलकी उत्पत्ति नहीं होती तब [illegible] सम्पूर्ण कारक क्रियाको करते हैं, [illegible] रूप फलकी उत्पत्तिके बाद क्रिया नहीं [illegible] इसे दृष्टान्त देकर समझाते हैं—जैसे [illegible] तृप्तिरूप फलकी उत्पत्ति नहीं हो जाती [illegible] कर्ता आदिक कारक भोजन रूप क्रिया [illegible] हैं। तृप्ति रूप फलके उत्पन्न हो [illegible] कारकोंके विद्यमान रहते हुए भी और [illegible]

क्रिया नहीं होती है। सुख-दुःख रूप फलके भोक्ता मुझको प्रज्ञारूप नेत्रके बिना सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होता है और प्रज्ञारूप नेत्रके बिना सुख-दुःखकी स्थिति भी संभव नहीं है। क्योंकि यदि प्रज्ञारूप नेत्रसे सुख-दुःख भिन्न हो तो खरगोशकी सींगकी तरह असत्य हो जायगा। इसलिये प्रज्ञारूप नेत्रसे सुख-दुःख अभिन्न हैं। जैसे अस्मदादिकोंके सुख-दुःख प्रज्ञास्वरूप हैं तैसे ही सर्व देहधारी जीवोंके सुख-दुःख प्रज्ञा स्वरूप हैं, प्रज्ञासे अतिरिक्त नहीं। जैसे सभी देहधारी जीवोंके सुख-दुःख प्रज्ञा स्वरूप हैं और प्रज्ञासे अलग करने पर खरगोशकी सींगकी तरह असत्य हो जाते हैं, तैसे ही जितने कार्य कारण रूप प्रपंच हैं वे सब प्रज्ञास्वरूप हैं, क्योंकि उस प्रज्ञा रूप नेत्रके विद्यमान रहने पर ही प्रपंचका स्फुरण होता है। जैसे रज्जुके विद्यमान होने पर ही सर्प प्रतीत होता है, रज्जु से अलग किया हुआ सर्प खरगोशकी सींगकी तरह असत् होता है, तैसे ही प्रज्ञासे अलग किया हुआ सुख-दुःखादि प्रपंच असत् होता है।"

शंका—"सभी अर्थोंका प्रकाशक बुद्धि है इसलिये बुद्धि ही प्रज्ञा है?"

समाधान—"जैसे सुख-दुःखादिक प्रपंच जड़ होनेके कारण अपनी सिद्धिके लिये प्रज्ञा-रूप प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं, तैसे ही बुद्धि भी जड़ है और अपनी सिद्धिमें चैतन्य रूप प्रज्ञाकी अपेक्षा करती है और पंचभूतोंके सत्व गुणका कार्यरूप बुद्धिमें चेतनका प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की योग्यता है, इसलिये बुद्धिमें प्रज्ञा शब्द गौण है। जैसे सूर्यके प्रकाशमें प्रकाश शब्द गौण हैं और सर्व प्रकाशकोंका प्रकाशक भेद रहित आनन्द स्वरूप आत्मामें ही प्रज्ञा शब्द मुख्य है और माया सहित भूत-भौतिक सकल प्रपंच-का स्वप्रकाश चेतन द्वारा ही प्रकाश होता है। इस कारणसे ही श्रुतिने सभी प्रपंचका निर्वाहक प्रज्ञा-नेत्र कहा है और वह प्रज्ञा ही सर्व प्रपंचके स्थितिका आधार है। क्योंकि प्रज्ञा प्रपंचका उपादान कारण है। उपादान कारणमें ही लोकमें कार्यकी स्थिति देखी जाती है, जैसे मिट्टीरूप उपादान कारणमें ही घटकी स्थिति होती है। यह सम्पूर्ण जगत अपनी उत्पत्तिसे पूर्व मध्य-काल तथा नाशके बाद स्पष्ट नामरूपसे प्रज्ञामें रहता है। अतः सम्पूर्ण जगत प्रज्ञारूप उपादान कारणमें रहता है।

उपादान कारण तीन प्रकार का होता है—एक परिणामी उपादान कारण, दूसरा—आरम्भक उपादान कारण और तीसरा—विवर्त उपादान कारण। यहाँ चैतन्य रूप प्रज्ञाका प्रपंचके प्रति परिणामी उपादान कारण सम्भव नहीं। क्योंकि प्रज्ञा निरवयव है। अवयव सहित दुग्ध आदि ही दधि आदिक परिणामको प्राप्त होते हैं। अथवा, परिणामी उपादान कारण कार्यके समान सत्तावाला होता है जैसे दूध और दहीमें व्यावहारिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता समान है। तैसे चैतन्यरूप प्रज्ञा और प्रपंचकी समान सत्ता नहीं, वरन विषम सत्ता है। चैतन्यमें तो पारमार्थिक सत्ता होती है और प्रपंचमें व्यावहारिक सत्ता अथवा प्रातिभासिक सत्ता होती है। अतः प्रपंचका प्रज्ञा परिणामी उपादान कारण नहीं है।

चैतन्य रूप प्रज्ञा प्रपंचका आरम्भक उपादान कारण भी नहीं है। क्योंकि आरम्भ एक से नहीं अनेक पदार्थोंसे होता है। जैसे नैयायिकोंके मतमें अनन्त परमाणु मिलकर जगत का आरम्भ करते हैं। प्रज्ञा एक है इसलिये यह जगतका आरम्भक उपादान कारण नहीं हो सकती है। किन्तु प्रज्ञा प्रपंच का विवर्त उपादान कारण है। अपने वास्तव स्वरूपको न त्यागकर जो अन्यथा प्रतीत हो उसे विवर्त उपादान कहते हैं। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे विशुद्ध आकाशमें नीलिमा प्रतीत होती है, जैसे बालकको अपने मनमें दुःख देनेवाले राक्षस आदि प्रतीत होते हैं तैसे ही चैतन्य रूप प्रज्ञामें सम्पूर्ण जगत प्रतीत होता है। इस कारणसे ही वेदान्त शास्त्रको जाननेवाले महात्मा प्रज्ञाको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस महावाक्यमें प्रज्ञानको ब्रह्मस्वरूप कहा गया है।

प्रज्ञान और प्रज्ञा शब्दका एक ही अर्थ है। प्रज्ञासे पृथक स्थूल-सूक्ष्मरूप प्रपंच नहीं हैं, इसलिये प्रज्ञाको ब्रह्म स्वरूप कहना सम्भव है। जैसे शंकु द्वारा सम्पूर्ण पत्र व्याप्त होता है, तैसे ही चैतन्य स्वरूप प्रज्ञा द्वारा देशकाल आदि सम्पूर्ण भाव-अभावरूप प्रपंच व्याप्त है। जैसे एक ही आकाश, स्वर्ग-भूमि-पाताल इन तीन लोकों तथा इनके बाह्य देशको व्याप्त करके स्थित है, तैसे ही चैतन्य रूप प्रज्ञा सर्वजगतको व्याप्त करके स्थित है। जैसे आकाशमें कल्पित गन्धर्व नगर, मेघ और नीलिमा आदिक सभी आकाशरूप है, उससे अलग नहीं, वैसे ही चैतन्य स्वरूप प्रज्ञामें कल्पित जड़-चेतन रूप प्रपंच स्वरूप ही हैं, उससे अलग नहीं।"

इस प्रकार विचार कर सभी अधि प्रजाजन विवेक-वैराग्य आदि साधनोंसे स हो जीव-ब्रह्मके अभेदका निश्चय कर लिए। उस निश्चय द्वारा शरीर आदिमें अहं अभि का परित्याग और गृह, पुत्रादिकोंमें मम अ मानका परित्याग कर दिए। प्रारब्ध क भोगके बिना निवृत्ति नहीं होती है, अतः प्र कर्मकी समाप्तिके लिए इच्छा, अनिच्छा, इच्छा पूर्वक भोगोंको भोगने लगे। तात्पर्य कि सम्पूर्ण अधिकारीजन जीवनमुक्त हो विचरने लगे। और जैसे वामदेव मुनि प्र कर्मको भोग द्वारा समाप्त करके विदेह मोक्ष प्राप्त हुए, वैसे ही सभी अधिकारी प्रजाजन द्वारा प्रारब्ध कर्मकी समाप्ति करके "आन स्वरूप आत्मा हम हैं" ऐसा अद्वितीय आत्म अनुभव करते हुए सुख स्वरूप ब्रह्ममें अभेद विदेह मोक्षको प्राप्त हो गए।

इस प्रकार सनकादि मुनियों और जनोंका प्राचीन इतिहास रूप सम्वाद शि सुना चुकनेके बाद गुरुदेवने कहा—"हे शि सनकादि मुनियों, वामदेव तथा अधिकारी जनोंका यह परस्पर सम्वादरूप इतिहास इ पुत्र ऋषिने अपने शिष्योंके प्रति वेद वचनों कहा था। इस कारणसे इस उपनिषद्का ऐ नाम पड़ा है। इस इतिहासके कहनेका प्रयो आरम्भमें ही कह चुके हैं। अद्वितीय आत्म ज्ञान ही मोक्षका मार्ग है और आत्मज्ञा पुरुषको सम्पादन करना चाहिए। सत्यक

प्राप्ति करानेवाला आत्मज्ञान है, इसलिए यह सत्यस्वरूप और ब्रह्मरूप है। ऐसे आत्मज्ञानमें पुरुषोंको प्रमाद नहीं कर उसको अवश्य सम्पादन करना चाहिये। और आत्मज्ञानकी उपेक्षा करके मोक्षकी प्राप्तिके लिए अन्य साधन मुमुक्षुको सम्पादन नहीं करना चाहिये। जो पुरुष इस आत्मज्ञानकी उपेक्षा करते हैं, वे सब दुर्बुद्धि पराभवको प्राप्त होते हैं।"

शिष्य ने प्रश्न किया—"गुरुदेव! जैसे लोकमें एक पहलवानका दूसरे पहलवान द्वारा पराभव होता है, तैसे यहाँ आत्मज्ञान रहित पुरुषोंका किसके द्वारा पराभव होता है?"

गुरुदेवने कहा—"श्रुतिका कहना है कि द्वैतके ज्ञानसे भ्रमकी प्राप्ति होती है। इसलिए अन्तर्यामी ईश्वर ही यमराजकी तरह आत्मज्ञान रहित पुरुषोंका पराभव करनेवाला है और माया कार्य अहं-मम अभिमान रूप संसार यमदूतकी तरह आत्मज्ञान रहित पुरुषोंका पराभव करता है। इसलिए आत्मज्ञानका मुमुक्षुको अवश्य ही सम्पादन करना चाहिए। आत्मज्ञानमें श्रद्धाकी उत्पत्तिके लिए ही एतरेय मुनिने इस इतिहासको कहा है। वामदेव आदिक पूर्व कालमें जितने भी अधिकारी हुए हैं, वे सभी आत्मज्ञान द्वारा ही मोक्षको प्राप्त किये हैं। इसलिए आज कलके मुमुक्षु जनोंको भी मोक्ष प्राप्तिके लिए आत्मज्ञान का सम्पादन करना चाहिए। यही इस इतिहास का प्रयोजन है। मनुष्य शरीरको प्राप्त करके भी जो इस इतिहासके प्रयोजनको नहीं जानते उन पुरुषोंको संसार रूप सुभट व्याध द्वारा मारे गये मृगकी भाँति हनन करता है।"

शिष्यने पुनः प्रश्न किया—"व्याध मृगको बाणों द्वारा मारता है, परन्तु यहाँ संसार रूप सुभट किन अस्त्रों द्वारा अज्ञानी जीवोंका हनन करेगा?"

गुरुदेवने उत्तर दिया—"संसाररूप सुभटके अस्त्रोंका वर्णन हम पीछे विस्तारसे कर आये हैं। उन्हें संक्षेपमें यहाँ फिर कहते हैं—प्रथम पिता-माताके उदरमें त्वचा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य इन सप्त धातुरूप गड्ढेमें अज्ञानी जीवोंको डालने रूपी अस्त्रोंसे संसार सुभट हनन करता है। गर्भमें विष्ठा मूत्रादि लेपन रूप अस्त्र, गर्भमें बाँधनेवाले जरायुज, स्नायु तथा अस्थि रूप अस्त्रोंसे हनन करता है। उदरमें स्थित सर्पके समान कृमिरूप पाश, जठराग्नि, प्राणवायु जन्य ताप-प्रदाह, गर्भमें अनेक जन्मोंकी स्मृति तथा मूर्छा आदि अनन्त प्रकारकी यातना रूप अस्त्रोंसे संसार सुभट जीवोंको हनन करता है। गर्भ कष्टके बाद बाल्यावस्थामें असामर्थ्य, पराधीनता, युवावस्थामें कामदेव जन्य स्त्री मूर्ति में आसक्तिके कारण उत्पन्न अनन्त कष्ट तथा वृद्धावस्थाके असह्य कष्टों द्वारा यह संसार सुभट भयंकर नरक तुल्य कष्टको देकर पुनः मरणकाल के तीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा हनन करता है। तत्-पश्चात् स्वर्गसे पतनको प्राप्त कर नरकादि पर-लोकोंमें अनन्त प्रकारके असह्य दुःखोंको भोगकर पुनः इस मनुष्य लोकमें देहादिकी प्राप्तिके लिये पिता-माताके गर्भमें प्रवेश रूप शस्त्रों द्वारा जीव का हनन होता है। जैसे लोकमें एक पहलवान किसी निर्बल पहलवानको कभी नीचे कभी उपर गिराता है फिर आठों दिशाओंमें गिरा-गिराकर

अपने हाथोंसे मर्दनकर उसका पराभव करता है। इसी प्रकार यह संसार सुभट भी आत्मज्ञान से रहित दीन जीवोंको चौरासी लाख शरीररूप दस दिशाओंमें गिरा-गिराकर पूर्वोक्त पिता-माता के शरीरमें प्रवेश आदि अस्त्रोंसे मर्दन करके उनका पराभव करता है। जैसे खटमल, मच्छड़, यूकादि क्षुद्र जीवोंको मारनेमें अस्मदादिक पुरुषों को कोई आयास नहीं होता है, तैसे ही आत्म ज्ञानसे रहित पुरुषोंके पराभव करनेमें संसार सुभटको भी किंचित मात्र आयास नहीं होता है।

हे शिष्य! संसार सुभटसे प्राप्त जन्म मरणादिक पराभवोंको जानकर और उनके ज्ञानका फल वैराग्यको जो पुरुष सम्पादन करते हैं, वे पुरुषही इस वेदान्त शास्त्रके अर्थको जानते हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक आत्माका साक्षात्कार नहीं होता तब तक ही संसार सुभट यूकादिक क्षुद्र जन्तुओंकी तरह जीवोंका पराभव करता है। और जब इस जीवको गुरुमुखसे वेदान्तके श्र मनन आदि के द्वारा आत्माका साक्षात्कार जाता है तब क्षुद्र जन्तुकी तरह यह संसार पराभवको प्राप्त हो जाता है।"

शिष्यने कहा—"आपने पहले कहा है ऐतरेय उपनिषद्का अर्थ जीव-ब्रह्मका अभेद परन्तु वह हमारी बुद्धिमें आरूढ़ नहीं हुअ क्योंकि शेष दूसरे उपनिषद् जीव ब्र अभेद रूप अर्थका बोधन करते हैं अथवा का बोधन करते हैं? यह संशय मुझे रहा है।"

गुरुजीने समझाया—"सभी उपनिषद् ब्रह्मके अभेदका ही बोधन करते हैं। जीव का भेद बोधन किसी उपनिषद्का तात्पर्य है। सर्वप्रथम ऋगवेदके ऐतरेय उपनिषद् अर्थ जीव ब्रह्मका अभेद हमने तुम्हारे कहा है। इसके बाद ऋगवेदका कौषी उपनिषद्के अर्थको भी तुम्हें सुनना चाहिए

* इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः *



॥ ॐ नमः परमात्मने ॥

आत्म-पुराण

द्वितीय अध्याय

प्रथम अध्यायमें ऋग्वेदके ऐतरेय उपनिषद्के अर्थका निरूपण करनेके बाद अब कौशीतकी उपनिषद्के अर्थको कहते हैं।

गुरुदेवने कहा—हे शिष्य! "मैं ब्रह्म हूँ" यह जीव-ब्रह्मके अभेदका ज्ञान यद्यपि अनन्त कोटि जन्मोंमें भी दुर्लभ है, तथापि विवेकी पुरुष गुरुसेवा, श्रद्धा आदि साधनों द्वारा प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्योंके लिए इस आत्मज्ञानके अतिरिक्त कोई भी पदार्थ हिततम अर्थात् अत्यन्त हितकर नहीं है। आत्मज्ञान ही अत्यन्त हिततम है। क्योंकि निरतिशय सुखकी प्राप्ति और मूल सहित सर्व दुखोंकी अत्यन्त निवृत्तिका साधन एकमात्र आत्मज्ञान ही है। इससे भिन्न सभी पदार्थ बन्धनके कारण हैं। इस विषयमें प्रतर्दन राजा और देवराज इन्द्रका सम्वाद रूप इतिहास सुनाते हैं—

मुक्तिको देनेवाली अयोध्यापुरी, मथुरापुरी, मायापुरी आदि सप्तपुरियोंके मध्य स्थित काशीपुरीमें दिवोदास नामक प्रसिद्ध राजा हो चुका है। उसके पुत्रका नाम प्रतर्दन था। वह अपने पिता पितामहोंकी भाँति श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त था। उसने धर्म युद्धसे पृथ्वीके सभी राजाओंको और संयमसे अपने भीतरके काम-क्रोधादि सभी शत्रुओंको जीतकर वशमें कर लिया था।

सबको विजित करनेके बाद प्रतर्दन राजा इन्द्रको विजय करनेके लिए स्वर्गमें उपस्थित हुआ। और दूतके द्वारा अपना संदेश इन्द्रके पास भिजवा दिया।

दूतने इन्द्र सभामें जाकर अपने राजाका संदेश निवेदन करते हुए कहा—"स्वर्गसे भी पवित्र श्री गंगाजीसे सुशोभित महादेव श्री विश्वनाथ और उमाकी प्रियभूमि काशीपुरीके नरेन्द्र राजा प्रतर्दनका संदेश वचन है—"हे देवराज, यद्यपि सम्पूर्ण लोक तुम्हें देवताओंका इन्द्र कहते हैं और मुझे मनुष्योंका इन्द्र कहते हैं, तथापि हम दोनोंमें इन्द्रत्व संभव नहीं है। क्योंकि परम ऐश्वर्यवानको ही इन्द्र कहते हैं। जिस ऐश्वर्यके समान तथा उससे अधिक दूसरा ऐश्वर्य न हो उसे परम ऐश्वर्य कहते हैं। ऐसा ऐश्वर्य एक ही में सम्भव है, दोनोंमें नहीं। इस लिए हमारे तुम्हारेमें इन्द्र शब्द मुख्य नहीं गौण है। हे देवराज! तुमसे भिन्न जितने भी पृथ्वी पर राजा हैं, उन्हें मैं जीत आया हूँ। अपने इन्द्रभावकी गौणताकी निवृत्तिके लिए तुम्हें भी जीतनेकी इच्छासे मैं स्वर्गमें आया हूँ। युद्ध करनेके लिए सेना सहित शीघ्र तुम आओ। और यदि युद्धकी सामर्थ्य न हो तो मेरे समक्ष आकर ऐसी वाणी कहो जिससे हम पराजित हो जाय। हमारे प्रभावको विचारकर दोनों पक्षमें जो उचित समझो उसे करो।" दूत बोला—"वही वीर प्रतापी प्रतर्दन राजा तुम्हारे पुरीके द्वार पर विजयकी इच्छासे अकेला उपस्थित है।

दूतके मुखसे प्रतर्दन राजाके भय रहित पुरुषार्थको विचारकर देवराज इन्द्रको आश्चर्य और अपने क्षत्रिय धर्मको स्मरणकर क्रोध उत्पन्न हुआ। क्रुद्ध देवताओंकी विशाल सेना लेकर इन्द्र स्वर्गपुरीके द्वार पर उपस्थित हुआ। युद्धकी इच्छासे आये हुए देवताओंको देखकर वीर राजा प्रतर्दन भी शस्त्रास्त्रोंसे सज्जित एकाकी देव सेनाके सम्मुख निर्भय उपस्थित हुआ।

प्रतर्दन बोला—"देवराज, पहले शस्त्र प्रहार करो। शत्रु पर प्रथम शस्त्र प्रहार मेरा नियम नहीं है। तुम्हारे आक्रमणके बाद मैं देव सेनाका तीक्ष्ण बाणोंसे हनन करूँगा।"

प्रतर्दनकी प्रतिज्ञा सुनकर क्रुद्ध देवताओंने बाण वर्षा की। उसके बाद उसने भी सहस्र बाणों द्वारा देवताओंकी भुजा, उरु और मस्तक का भेदन किया। सभी देवता राजा प्रतर्दनके बाणोंसे बिद्ध और पीड़ित होकर भूमि पर गिर पड़े।

देवराज इन्द्रने प्रतर्दन राजाके पराक्रम, युद्ध कौशल और आयुधोंको देखकर कहा—"हे पृथ्वी पति! मैं तुम्हारे युद्ध और पुरुषार्थसे बहुत संतुष्ट हूँ। इच्छानुसार तुम मुझसे वरदान माँग लो। मैं तुम्हें इसी समय वर देनेके लिए उत्सुक हूँ। स्वर्गमें आकर देवताओं सहित मुझे पराजित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। क्षणमात्रमें बाणों द्वारा सभी देवताओंको घायल करने वाला तुम्हारा आयुध महान है।

इन्द्रको प्रणाम करके प्रतर्दन राजाने गद्‌गद् वाणीसे कहा—"देवताओं सहित अपनी पराजयको स्वयं कहकर आपने हमारी प्रतिज्ञाको पूर्ण किया है। यह आपकी महानता है। हे देवराज! मुझ दुर्बुद्धि बालकके अपराधको क्षमा करें। आप लोग हम सबके पूज्य हैं। सत्य गुण युक्त होनेके कारण ही आप हमारे अपराधको न विचारकर वर देनेको उद्यत हैं। और

रजोगुणसे युक्त होनेके कारण देवताओंको हनन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। सबमें आत्मदर्शी साधुजनोंको "यह वस्तु हमारी है, यह वस्तु परायी है" इस प्रकारकी विषम बुद्धि कभी नहीं होती है। इसीलिए आप अपराधीको भी वर प्रदान करते हैं। इस लोकमें आप जैसे महात्मा ही पुरुषोंमें उत्तमपुरुष हैं। क्योंकि हमारे जैसे अपकारी पुरुषोंके साथ भी आप उपकार करते हैं। अपकारमें उपकार करना ही उत्तम पुरुषोंका लक्षण है। जैसे स्तम्भ घरको धारण करता है, वैसे ही आप जैसे उत्तम पुरुषोंके द्वारा स्तम्भकी तरह यह तीनों लोक धारण किया हुआ है। उपकारीके साथ तो सभी उपकार करते हैं, परन्तु अपकारीके साथ उपकार आप जैसा कोई विरला महात्मा ही करता है।"

"हे देवराज! हम मनुष्य रजोगुण युक्त होनेके कारण लोकमें अपने हित-अहितको नहीं जानते हैं। क्योंकि यदि इतना ही ज्ञान होता तो आपसे युद्ध करने क्यों आते। युद्धकी इच्छासे यहाँ आना ही हमारे अज्ञानका बोधक है। जैसे मशक आदि कोई क्षुद्र जन्तु अज्ञानसे हाथीके साथ युद्ध करने जाता है, वैसे ही अपने हित-अहितके ज्ञानसे रहित मैं आप देवताओंसे युद्ध करने आया था। हित-अहितके ज्ञानसे रहित होनेके कारण हम मनुष्य अपने हितके लिए आपसे प्रार्थना नहीं कर सकते हैं। अतः हे त्रिलोकीनाथ! सम्पूर्ण दुःखोंका नाश करनेवाली जो हिततम वस्तु है उसीको आप स्वयं विचार कर देनेकी कृपा करें।"

प्रतर्दन राजाकी बातोंको सुनकर इन्द्रने कहा—"बिना मांगे कोई पुरुष किसीको वर नहीं देता है। इसलिये पहले तुम मुझसे वर माँगो।"

प्रतर्दन राजा युक्ति पूर्वक बोला—"आपका कहना सत्य है, परन्तु यह कथन भेददर्शी विषम पुरुषों द्वारा ही कहा जाता है, आप जैसे समान दृष्टिवाले पुरुषों द्वारा नहीं। शत्रुके प्रति भी आपकी उपकार बुद्धि है, अतः आप लोग समदृष्टिवाले हैं। आपने हमको वर देनेकी प्रतिज्ञा की है, इसलिये स्वयं विचार कर मुझे हिततम दीजिए। देवराज! यदि हम अपनी इच्छासे वर मागेंगे तो आपकी प्रतिज्ञाकी हानि होगी। क्योंकि "वर" श्रेष्ठ अथवा हिततमको कहते हैं और हम यह जानते नहीं कि मेरे लिये हिततम क्या है। अतः अज्ञानसे हम जो भी वर माँगेंगे वह सब अश्रेष्ठ ही होगा। अश्रेष्ठ, अहिततमको वर नहीं कहा जा सकता और आपने हमें वर देनेकी प्रतिज्ञा की है इसलिये स्वयं विचार कर मुझे वर दीजिये।"

प्रतर्दन राजाका युक्तिपूर्ण कथन सुनकर उसके बुद्धि चातुर्यसे देवराज इन्द्र सन्तुष्ट हुए।

यहाँ शिष्य अपने गुरुदेवसे शंका करता है—"भगवन्! यदि देवराज इन्द्र अत्यन्त संतुष्ट हुआ तो इन्द्रकी प्रसन्नता ही विद्याकी प्राप्तिमें कारण है। क्योंकि गुरुकी प्रसन्नताके बिना विद्या प्राप्त नहीं होती, ऐसा श्रुतिमें कहा है। इन्द्र अपने सत्य प्रतिज्ञासे चलायमान हुआ, ऐसा कहनेसे यह तात्पर्य निकलता है कि प्रतर्दन राजाको विद्या देनेमें इन्द्रको कोई प्रतिबन्ध प्राप्त हुआ तो भी वे अपनी प्रतिज्ञाको

सत्य करनेके लिए प्रतर्दन राजाको ब्रह्मविद्या प्रदान किए। वह प्रतिबन्ध करनेवाला कौन है ?"

समाधान—"हे शिष्य ! ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों के प्रति कहा हुआ जो ब्रह्मविद्याका वचन है उस वचनकी स्मृति ही प्रतिबन्ध करनेवाली है। अब उस ब्रह्मविद्याके वचनको कहते हैं— एक समय अनधिकारी पुरुषोंमें पहुँच कर ब्रह्म-विद्या अत्यन्त खेदको प्राप्त हुई और वह ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंके पास जाकर कहने लगी—"हे ब्राह्मणों ! जैसे वेश्या सभी पुरुषों द्वारा सेवित, है तैसे ही धनके लोभसे तुम मुझे वेश्याके समान मत करो। बल्कि कुलीन स्त्रीकी तरह हमको गुह्य रखो और श्रद्धासे हमारा सेवन करो। मैं ब्रह्म-विद्या तुम्हारे लिये लोक और परलोकमें अक्षय निधिके समान हूँ। यदि तुम यह कहो कि सम्पूर्ण जनोंका उपकार करना हमें प्रिय है, इसलिये उदारदापूर्वक दीन जनोंपर अत्यन्त कृपा करके ब्रह्मविद्याको हम गुह्य नहीं रख सकते, तथापि गुणहीन पुरुषोंको हमें कभी न देना। क्योंकि अत्यन्त रूपवान अपनी पुत्रीको कोई भी नपुंसकको नहीं देता है।" ब्रह्मविद्या ब्राह्मणोंसे कहती है—"गुणवान पुरुषोंमें दोपा-रोपण रूप निन्दा, कुटिलता, इन्द्रियोंकी अधी-नता, नित्य स्त्रियोंका संग, अनभ्रत। तथा शरीर-मन-वाणी द्वारा गुरुभक्तिसे रहित होना आदिक ये दोष मुझे सर्वदा दुःख देनेवाले हैं। उपर्युक्त दोष जिस पुरुषमें हों उन्हें मुझ ब्रह्म-विद्याको कभी मत देना। दोष रहित शम-दम आदि गुणोंसे युक्त पुरुषको ही मुझे देना अथवा मुझे कुलीन स्त्रीकी तरह गुह्य रखना। इन दोनों पक्षोंमें से किसी भी पक्षको तुम स्वी-कार करोगे तो तुम्हें मैं कामधेनुकी तरह वाञ्छित पदार्थोंको दूँगी और यदि तुम धन लोभसे गुणहीन पुरुषोंको मुझे दोगे तो फल रहित लताकी तरह मैं वन्ध्या हो जाऊँगी। पूर्वोक्त दोषवान् पुरुषको विद्या न देना। इस विषयमें सर्वजनोंके उपकारके लिये एक [illegible] कहती हूँ, ध्यान देकर श्रवण करो—

शिष्यके हृदयमें स्थित अज्ञान रूप अंधकार को सूर्यादिक देवता भी नाश नहीं कर सकते हैं। बिना गुरुके अज्ञान दूर नहीं होता है। जो गुरु आत्मसाक्षात् कराकर शिष्यके अज्ञान अन्धकारको नाश करे, 'तूँ ब्रह्म स्वरूप' इस महावाक्य रूप अमृतको पान करावे, [illegible] वाक्योंसे शिष्योंके कर्णोंको दुःख रहित करे [illegible] सदा अनन्त युक्तियोंसे शिष्योंको आत्माका [illegible] करावे वही गुरु मुमुक्षु पुरुषोंका पिता और [illegible] है। क्योंकि गुरुके ब्रह्मविद्या रूप संग्रह [illegible] प्रवेशसे ही सम्पूर्ण जन्म-मरणादिक दुःखों [illegible] नाश होता है, लौकिक माता पिताके संग [illegible] प्रवेशसे पुत्रको जन्म-मरण आदि दुःखसे [illegible] नहीं होती बल्कि उल्टा जन्म-मरणकी प्राप्ति [illegible] है। अतः जन्म-मरण रूप दुःखके निवृत्ति [illegible] उपाय ब्रह्मविद्यारूप गुरु सम्प्रदायके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। अतः गुरु ही मुमुक्षु [illegible] माता-पिता है। पिता-माताका अर्थ भी [illegible] ही घटता है। क्योंकि रक्षा करने वालेका [illegible] पिता है। पैदा करनेवालेका नाम माता [illegible] यहाँ आत्म साक्षात्कारकी प्राप्ति कराके जन्म [illegible] रूप संसारके भयसे मुमुक्षु जनोंकी गुरु [illegible]

करता है इसलिए पिता है और आनन्द स्वरूप आत्माकी प्राप्ति रूप स्वराज्यमें शिष्यकी गुरु स्थापना करता है इसलिए माता है। ऐसे गुरुके साथ शरीर-मन-वाणी द्वारा कभी भी मुमुक्षुजनों को द्रोह नहीं करना चाहिए। ताड़ना आदि शरीर कृत द्रोह हैं। अनुचित वचनका उच्चारण वाणीकृत द्रोह है। अनिष्टका चिन्तन मन कृत द्रोह है। गुरुके प्रति अपमान सूचक शब्दोंको उच्चारण करनेवाला और ब्रह्मज्ञानी गुरुसे वाद-विवाद करनेवाला शिष्य वाणीकृत द्रोहके कारण महापापका भागी होता है। ऐसा गुरुद्रोही शिष्य श्मशानका वृक्ष होकर चिताग्नि द्वारा तपित और मांसभक्षी गृद्धों द्वारा सेवित होता है। अतः ब्रह्मविद्या देनेवाले गुरुकी सदा सेवा करनी चाहिए। लौकिक विद्याका उपदेश देने वाले शिक्षक-आचार्यके प्रति भी द्रोह नहीं करना चाहिए। गुरु, आचार्य और शिक्षकमें श्रद्धाभक्ति रखनेसे शिष्यकी विद्या सफल होती है।"

ब्रह्मविद्या ने कहा—"हे ब्राह्मण यदि तुझे ब्रह्मविद्याको देनेकी इच्छा हो और मेरी रक्षाका अभिप्राय हो तो ऐसे गुणवान शिष्यको उपदेश देना जो गुरु भक्त, ब्रह्मविद्याके प्रति श्रद्धालु, प्रमाद रहित, कुशल बुद्धि तथा ब्रह्मचारी हो। ऐसे गुणयुक्त शिष्यके अतिरिक्त किसी गुणहीन को मुझ ब्रह्मविद्याका उपदेश न देना।"

ब्रह्मवेत्ताके प्रति कहे हुए ब्रह्मविद्याके उपर्युक्त वचनोंको स्मरण करके सत्यपाशसे बँधा हुआ इन्द्र परम संशयको प्राप्त हुआ और मनमें विचार करने लगा कि, यह प्रतर्दन राजा ब्रह्मविद्या देने योग्य है अथवा नहीं ? अधिकारीके सभी गुण इसमें नहीं हैं। यद्यपि कुछ गुण हैं। लेकिन हमारा शत्रु है। इसे विद्या नहीं देनी चाहिए अथवा मेरे वरको देख कर इसने शत्रुता का त्याग कर दिया है. इसलिए यह अधिकारी के गुणोंसे सम्पन्न श्रद्धावान है, ब्रह्म विद्या इसे देनी चाहिए। अधिक विचार करनेसे क्या लाभ। यह अधिकारी शिष्यके गुणोंसे युक्त है अथवा नहीं है, मैंने वर देनेकी प्रतिज्ञाकी है इसलिए ब्रह्मविद्याके दानसे मुझे अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करना चाहिये। जहाँ परस्पर दो विचारों का विरोध हो वहाँ प्रबल वाक्यको ग्रहण करना चाहिये। जिस वाक्यकी किसी प्रकार गति न हो उसे प्रबल कहते हैं और जिसकी किसी प्रकार गति हो जाय उसे दुर्बल कहते हैं। इस प्रसंगमें ब्रह्मविद्याकी आज्ञाकी गति हो सकती है। क्योंकि अधिकारी उत्तम मध्यम भेदसे दो प्रकार के हैं। यह प्रतर्दन राजा गृहस्थ है और मध्यम अधिकारी है। इस प्रकार ब्रह्मविद्याके वाक्यकी गति हो सकती है। परन्तु मिथ्या वचन नहीं बोलना चाहिए। इस वाक्यकी गति नहीं हो सकती। अपनी वर देनेकी प्रतिज्ञा पूरी न करने से मुझे मिथ्या कथनका दोष लगेगा। शास्त्रका आदेश है—"नानृतं वदेत" झूठ नहीं बोलना चाहिए। अतः प्रतर्दन राजाको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिये बिना दूसरी कोई गति नहीं है।

इस प्रकार विचारकर देवराज इन्द्रने प्रतर्दन राजासे कहा—"हे राजा! तुम मुझ इन्द्रको जानो। मैं सम्पूर्ण जगतका आत्मा हूँ और बुद्धि आदिकोंका साक्षी हूँ। जैसे आकाश सर्वको व्याप्य रहा है वैसे ही सब जगतको बाहर

अन्दर व्याप्य करके मैं स्थित हूँ। स्वप्नके समान सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म जगतसे मैं रहित हूँ। इस कारणसे मैं तुरीय शिवरूप हूँ। देश, काल, वस्तु परिच्छेदसे मैं रहित हूँ। सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रूप बीजको जलानेवाला मैं अग्नि स्वरूप हूं। जैसे कल्पित सर्प, दण्ड आदिकोंका अधिष्ठान रस्सी है, वैसे ही स्थूल सूक्ष्म सभी प्रपञ्चोंका मैं ही अधिष्ठान हूँ। इस कारण एक हूं। तात्पर्य यह कि रज्जुरूप अधिष्ठान अपने विषयके ज्ञान द्वारा कल्पित सर्प, दण्ड आदिका नाश करता है वैसे ही मैं अधिष्ठान आत्मा भी अपने ज्ञान द्वारा सर्व कल्पित प्रपंचका नाश करनेवाला हूँ। माया विशिष्ट हुआ मैं ही ईश्वर हूँ। ऐसा मेरा स्वरूप तुम्हें जानना चाहिये। मेरे स्वरूपका ज्ञान ही तुम मनुष्योंके लिए हिततम है। यज्ञादिक कर्मोंका फल स्वर्ग सुख और उसके साधन अप्सरादिक ये सब बन्धनके कारण हैं। अतः मनुष्योंके लिये हित नहीं। उपासनाका फल ब्रह्म लोकका सुख और उसके साधन ये सब बन्धन के हेतु हैं। अतः यह भी मनुष्योंके लिये हित नहीं हुआ तब मनुष्य लोकका स्त्री आदिक विषय जन्य सुख अत्यन्त तुच्छ और शीघ्र नाशवान है। यह मनुष्योंके लिये हित नहीं हो सकता है। जैसे कदलीका स्तंभ सारसे रहित होता हैं, तैसे सम्पूर्ण शरीर सार रहित है। जलमें उत्पन्न बुदबुदेकी भाँति यह शरीर नाशवान है। ऐसे अनित्य शरीरमें स्त्री आदिक साधनोंसे उत्पन्न सुख सुख नहीं केवल दुःखरूप ही है। आत्मारूप मैं इन्द्र ही सुखरूप हूँ। मुझसे भिन्न सब अनात्म वस्तु दुःखरूप हैं। अतः प्रपंचमें किसी कालमें कोई भी वस्तु हित न[illegible] जब प्रपंचमें कोई वस्तु हित भी नहीं हुआ [illegible] हिततर और हिततमकी आशा कैसे [illegible] सकती है। हितसे अधिकको हिततर [illegible] हिततरसे अधिकको हिततम कहते हैं। आ[illegible] स्वरूप मुझ इन्द्रसे भिन्न कोई भी अ[illegible] पदार्थ हिततम नहीं है।"

प्रतर्दन राजाने शंका किया—"देवरा[illegible] लोकमें यदि कोई पदार्थ हित और हिततर [illegible] हैं तो पहले आपने आत्मज्ञानको हिततम [illegible] है, यह कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि हित [illegible] हिततरकी अपेक्षासे ही हिततम कहा जाता है।"

देवराज समाधान करते हैं—"जैसे कल्[illegible] तीन शरीरोंकी अपेक्षासे शुद्ध आत्माको तु[illegible] कहते हैं, तैसे ही भ्रान्ति ज्ञानसे सिद्ध हित [illegible] हिततरकी अपेक्षासे आत्मज्ञानको हिततम [illegible] है। मनुष्यों और देवताओंका विषयजन्य [illegible] पुरुषोंका हित है और उस विषय जन्य सु[illegible] वैराग्य हिततर है और उस वैराग्यसे आत्म[illegible] हिततम है।"

पुनः शंका करते हैं—"मनुष्यलोक [illegible] स्वर्गलोकके विषयजन्य सुखको हित और वै[illegible] को हिततर आपने कहा है यह सम्भव न[illegible] क्योंकि मनुष्य लोकके सुखसे स्वर्गादिक लो[illegible] के सुख उत्कृष्ट हैं। इसलिये मनुष्यलोकके [illegible] हित और स्वर्ग आदिक लोकोंके सुखको हि[illegible] कहना चाहिए। वैराग्यको हिततर कहना [illegible] नहीं।"

समाधान—"मनुष्य लोकसे स्वर्गलो[illegible]

सुखमें विशेषता स्वरूपसे है अथवा साधनोंसे है ? यहाँ स्वरूपसे विशेषता है, यह प्रथम पत्त सम्भव नहीं। क्योंकि मनुष्य लोक, स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोकके विषय जन्य सम्पूर्ण सुखोंमें अनुकूलता धर्म समान है। इसलिये स्वरूपसे विशेषता नहीं है और साधनोंकी विशेषतासे स्वर्गादिक सुखमें विशेषता है, यह दूसरा पत्त भी ठीक नहीं। क्योंकि जैसे स्वर्गादिक लोकोंके जीवोंके नाना प्रकार आहार, चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्त शरीर, तथा मनोरम स्त्रियाँ है वैसे ही मनुष्य लोकके प्राणियोंको भी आहार, इन्द्रिय युक्त शरीर तथा मनोरम स्त्रियाँ हैं। जैसे अमृत पानसे देवताओंकी तृप्ति होती है। वैसे ही अन्न से मनुष्यों तथा घाससे पशुओंकी तृप्ति होती है। स्वर्गमें अप्सरायें सुखकी साधन हैं तो मनुष्यलोकमें स्त्रियाँ सुखकी साधन हैं। इस प्रकार स्वर्गादिलोक और मनुष्यलोकके सर्व साधनोंमें समानता है।"

शंका—"मनुष्य लोकका सुख पराधीन होनेसे निकृष्ट है तथा स्वर्गादिक लोकोंका सुख पराधीन न होनेसे उत्कृष्ट है।"

समाधान—"जैसे राजाकी सेवासे प्राप्त लौकिक सुख पराधीन होता है, वैसे ही देवताओंके आराधनसे प्राप्त स्वर्गलोक-ब्रह्मलोक का सुख भी पराधीन ही होता है। अतः सर्व लोकोंमें जीवोंकी पराधीनता समान है। स्वतन्त्रता किसी लोकमें नहीं। क्योंकि हम सबसे अधिक हिरण्यगर्भ भी ईश्वरके अधीन है और मैं इन्द्र स्वयं हिरण्यगर्भके अधीन हूँ। जब हिरण्यगर्भ और इन्द्र पराधीन हैं तो फिर अन्य लोकोंकी क्या गणना है ?

मनुष्य लोकसे लेकर हिरण्यगर्भ लोक तक जितने विषय जन्य सुख हैं, वे सभी सातिशय दोष युक्त हैं, इसलिए भी समान है। क्योंकि अन्तर्यामी ईश्वरके आनन्दसे सौ भाग कम हिरण्यगर्भका आनन्द है, हिरण्यगर्भके आनंदसे शत भाग कम प्रजापतिका आनन्द है, प्रजापति से शत भाग कम मुझ इन्द्रका आनन्द है। जब हिरण्यगर्भ और मुझ इन्द्रका आनन्द भी सातिशय दोष युक्त है तब दूसरे आनन्दकी क्या कथा। हे प्रतर्दन राजा! जैसे तुम मनुष्योंको अपने लोककी स्त्रीके आलिंगनसे सुख मिलता है वैसा ही मुझ इन्द्रको भी स्त्री आलिंगनसे सुख मिलता है, वैसा ही हिरण्यगर्भ और ईश्वर को भी स्त्री आलिंगनसे सुख होता है। विषय जन्य सुखमें किंचित मात्र भी विशेषता नहीं। इसलिए स्वर्गादिक सुखको हिततर नहीं कहा जा सकता। किन्तु विषय जन्य सुख मुझे न हो, ऐसा वैराग्य ही हिततर है। क्योंकि विषय जन्य समस्त सुख घटादिकोंकी तरह नाशवान हैं और यह वैराग्यरूप सुख उत्तम पुरुषोंमें एक बार उत्पन्न हो जानेके बाद फिर नाश नहीं होता बल्कि दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। इसलिए विषय जन्य सुखसे वैराग्य हिततर है।

जैसे वमन किए हुए अन्न और विष्टामें जो पुरुषोंको वैराग्य है उसमें केवल दोष दृष्टि ही कारण है, तैसे ही विषय जन्य सुखमें दोष दृष्टि ही वैराग्यका कारण है। दोष दृष्टिसे भिन्न कोई वैराग्यका कारण नहीं। विषय जन्य सुखमें तो बाह्य धन आदि अनेक कारण हैं, इसलिए भी विषय सुखसे वैराग्यरूप सुख हिततर

है। अथवा—जिस पुरुषको विषयमें दोष दर्शन से भी वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, उल्टा विषय सुखकी इच्छा बढ़ती जाती है। ऐसे वैराग्य रहित पुरुषोंको "यह मेरेसे अधिक सुखी है, इसके पास जो सुख साधन है वह मेरे पास नहीं है" इस प्रकार विषमता ज्ञान रूपी अग्निसे सदा दाह होता रहता है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मलोक पर्यन्त विषय जन्य सम्पूर्ण सुखोंको प्राप्त कर लेनेपर भी दीनताकी निवृत्ति नहीं होती है। इस दीनता को निवृत्त करनेके कारण ही वैराग्यको हिततर कहा है।"

"मैं आनन्द स्वरूप आत्मा हूँ" ऐसा अद्वितीय आत्माका ज्ञान वैराग्यसे हिततम है। क्योंकि वैराग्यसे मूल अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिए मिथ्याज्ञान जन्य संस्कारोंसे वैराग्यवान् पुरुषको भय बना रहता है। और मैं अद्वितीय आत्माके ज्ञानसे मूल अज्ञानकी निवृत्ति होती है, इसलिए ज्ञानवान् पुरुषको मिथ्याज्ञान जन्य संस्कारोंसे भय नहीं होता। अतः वैराग्यसे अद्वितीय आत्माका ज्ञान हिततम है। अथवा—आत्म स्वरूप आनन्दके भानमें प्रतिबन्धक दुःखोंकी निवृत्तिमें वैराग्य कारण है। यहाँ वैराग्य साक्षात्कारण नहीं किन्तु परम्परा कारण है और मुझ अद्वितीय आत्माका ज्ञान तो आत्म स्वरूप आनन्दके भानमें साक्षात्कारण है। इसलिये भी आत्मज्ञान वैराग्यसे हिततम है।"

"हे प्रतर्दन! मैं इन्द्र स्वरूप आत्माके ज्ञान से भिन्न कोई भी वस्तु लोकमें हिततम नहीं। केवल मेरा ज्ञान ही हिततम है। ब्रह्म हत्या आदि लोक-शास्त्रके समस्त पापोंसे अ[...] कल्पोंमें जीवोंको अनन्त दुःख होता है, प[...] ऐसे अनेक घोर पाप भी आत्मज्ञानके प्रभा[...] जीवोंको स्पर्श नहीं करते हैं। ज्ञानवानको [...] पाप नहीं लगता। हमारे इस कथनको [...] आत्मज्ञानकी स्तुति मात्र मत समझना। [...] यथार्थ है। इसपर मैं अपनी सच्ची क[...] सुनाता हूँ—

तीन लोकोंका राजा मैं इन्द्र अपनी [...] प्रजाकी रक्षाके लिए अनन्त पापोंको कर [...] हूँ परन्तु आत्म साक्षात्कारके प्रभावसे उन [...] द्वारा हमारा बाल भी बाँका नहीं हुआ। [...] उन पापोंको भी प्रकट करते हैं—

एक समय त्वष्टा नामक देवताका [...] विश्वरूप हम देवताओंका पुरोहित नियुक्त हु[...] उसका सम्बन्ध दैत्योंसे था। विश्वरूप [...] युक्त सात्विक, राजस, तामस तीन भावों [...] था। इसलिये उसे तीन मस्तक और तीन [...] वाला कहा है। देवताओंके अनुसार वह विश्व[...] सात्विक मुखसे अमृत पान करता था, असुरों[...] अनुसारी होकर वह तामस मुख स्वभावसे [...] पान करता था और राजस मुख स्वभाव [...] मनुष्योंकी तरह अन्नादिका भी भक्षण क[...] था। वह विश्वरूप कभी यज्ञमें ऋत्विक् हो[...] उच्च स्वरसे देवताओंको यज्ञभाग देता था [...] मन्द स्वरसे अपने पक्षके असुरोंको भी यज्ञ[...] देता था।

प्रतर्दन राजाने यहाँ शंकाकी—"हे भगव[...] विश्वरूप जैसे देवताओंको प्रत्यक्ष यज्ञभाग [...] था, वैसे प्रत्यक्ष असुरोंको क्यों नहीं देता था[...]

इन्द्रराजने कहा—"असुर यज्ञके भागी नहीं, इसलिये उन्हें प्रत्यक्ष यज्ञभाग देना सम्भव नहीं है। यह बात लोकमें भी प्रसिद्ध है। जैसे किसी चार पुरुषोंको राजाने एक ग्राम दिया हो, उस ग्रामके वे चार पुरुष भागी हैं। और उस ग्राममें पिशुन वृत्तिसे जीवन यापन करने वाला कोई दुष्ट पुरुष भी रहता है। वह यद्यपि ग्रामका भागी नहीं है तथापि उस दुष्ट पुरुषको ग्रामका भाग मिलता है। परन्तु उस दुष्टको ग्रामका भाग प्रसिद्ध नहीं, अप्रसिद्ध मिलता है और चार पुरुषोंको ग्रामका भाग प्रसिद्ध मिलता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूपसे अभागी पुरुषको भाग देना ग्रामके स्वामीका अनर्थ करनेवाला है। क्योंकि अप्रसिद्ध भागकी प्राप्तिसे धीरे-धीरे वह दुष्ट पुरुष सामर्थ्यको प्राप्त करके एक समय आगे चलकर ग्रामके स्वामियोंका हनन करेगा और ग्राम आदिक सम्पदाका भी हरण कर लेगा। इसलिए भागसे रहित पुरुषको भागकी प्राप्ति स्वामीके अनर्थका कारण है।"

इस प्रकार विचार करके देवताओंका अनिष्ट करनेवाली असुरोंको यज्ञ भागका अप्रत्यक्ष दान जैसी विश्वरूपकी क्रियाको देखकर मैंने पुरोहितके प्रति ऐसा निश्चय किया—यह विश्वरूप पुरोहित हमारे शत्रु असुरोंके हितकी इच्छा रखता है। इसलिए हमारा और देशका घात करेगा। अतः यह दुरात्मा मारने योग्य है। इस दुरात्मा पर देवता विश्वास करते हैं और यह उनके नाशके लिए असुरोंको यज्ञभाग देता है। विश्वासघाती पुरुषको लोकमें दुरात्मा कहते हैं। जो पुरुष सदा जिसका अन्न खाता है, उस अन्नभोक्ता पुरुषका अन्नदाता पुरुष आत्मा होता है। और आत्मद्रोही पुरुष अत्यन्त पापवान् होते हैं, यह शास्त्रका सिद्धान्त है। यह विश्वरूप सदा हम देवताओंका अन्न खाता है, इसलिए हम देवता विश्वरूपके आत्मा हैं। हमारे साथ द्रोह करके यह अपने आत्माके साथ द्रोह करता है। अतः आत्म द्रोहीके समान कोई पापी नहीं। यद्यपि यह विश्वरूप वेदवेत्ता ब्राह्मण तथा हमारा पुरोहित है, इसलिए मारने योग्य नहीं, तथापि इसने हम यजमानोंके नाशका उद्यम किया है, इसलिए दुरात्मा विश्वरूप अवश्य मारने योग्य है।

इस प्रकार विचारको दृढ़ करके देवताओं की सभामें तीन मस्तक वाले विश्वरूपको मैंने वज्र द्वारा काट डाला। परन्तु आत्मज्ञानके प्रभावसे इस ब्रह्महत्या जैसे पापकर्म करने पर भी मेरा बाल बाँका नहीं हुआ।

एक और घटना है। वेदान्त विचारसे रहित कोटि सन्यासियोंको भी मार डालने पर आत्मज्ञानके प्रभावसे मुझे पाप स्पर्श न कर सका। उसे भी सुनो—

एक समय किसी देशमें असंख्य सन्यासी एकत्रित हुए थे। वे सन्यासी वर्णाश्रमके आचार में प्रीति रखने वाले और चार आश्रमोंमें श्रेष्ठ सन्यास आश्रमको ग्रहण किये हुए थे। ऐसे सर्वात्मज्ञानसे रहित बहिर्मुख सन्यासियोंसे मैंने पूछा—"तुम सब कौन हो?"

"वर्णाश्रमके कर्मोंको करने वाले हम सन्यासी हैं।" कुछ रुककर मोह ग्रस्त सन्यासियों ने पुनः कहा—"हमसे पूछनेवाले तुम कौन हो?"

निरादर युक्त वचनको सुनकर कृपालु इन्द्रने कहा—"मैं तुम सबका आत्मा इन्द्र हूँ।"

अपनेको पण्डित मानने वाले मूर्ख अहंकारी सन्यासियोंने क्रुद्ध होकर कहा—"शरीर रूप विग्रह वाला तू इन्द्र कैसे हो सकता है? इन्द्र शब्द और इन्द्र शब्दके अर्थ इन दोनोंसे भिन्न कोई इन्द्र सम्भव नहीं। जहाँ "इन्द्र" इस शब्दको इन्द्र कहते हैं, इस प्रथम पक्षमें विग्रहवान् तुमको इन्द्ररूपता सम्भव नहीं और इन्द्र शब्दके "अर्थ" को इन्द्र कहते हैं, इस दूसरे पक्षमें भी विग्रह, हविषका भोग, ऐश्वर्य, प्रसन्नता, फल प्रदान इन पाँच विशेषणोंसे विशिष्ट देवता विशेष इन्द्र शब्दका अर्थ है। अतः तुम्हें इन्द्र कहना सम्भव नहीं। और हम सबका आत्मा इन्द्र शब्दका अर्थ है यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सभी प्राणियोंका आत्मा प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न होता है। यदि सभी शरीरमें एक ही आत्मा होवे तो एक शरीर के सुखी दुःखी होनेपर सभी शरीरोंको सुख दुःख का अनुभव होना चाहिये। लेकिन ऐसा अनुभव होता नहीं है। इसलिए सर्व शरीरोंमें आत्मा एक नहीं अनेक है। आत्मा पुण्य पापका कर्ता है और वही उसके फल सुख-दुःखका भोक्ता है। आत्मा अमूर्त और विभु है। १-बुद्धि २-सुख ३-दुःख ४-इच्छा ५-द्वेष ६-प्रयत्न ७-धर्म ८-अधर्म ९-संस्कार १०-संख्या ११-परिमाण १२-पृथकत्व १३-संयोग १४-विभाग इन चौदह गुणोंसे युक्त आत्मा है। मैं सुखी मैं दुःखी इस प्रतीतिका विषय आत्मा है। और तू हम सन्यासियोंसे भिन्न प्रतीत होता है। अतः हम सबका आत्मा तू कैसे हो सक[ता] है? तू हमारा आत्मा नहीं।"

"हे प्रतर्दन राजा, क्रोध युक्त सन्यासि[योंके] इस प्रकार कुतर्कपूर्ण अपमान जनक शब्द [सुनकर] उनकी मूर्खता पर ध्यान न देकर मैंने [क्षमा] युक्त होकर शान्त वाणीमें कहा—"सन्यासि[यो!] देवताओंके विग्रह नहीं होते। प्रत्येक श[रीरमें] आत्मा अलग-अलग है, तू इन्द्र हमारा आ[त्मा] नहीं आदि कुतर्क जो अभी तुम लोगोंने [कहा] है, उसकी पुष्टिके लिए कोई वेदका [वचन] प्रमाण रूपसे कहो।"

इन्द्र बोले—"जब मैंने सन्यासियोंसे [वेद] का प्रमाण माँगा तो वे मूर्ख एक भी वेद[वचन] न कह सके। और मुख-भृगुटि टेढ़ा कर [अप]मानित कर कहने लगे—जावो, जावो। सा[थ ही] हाथसे निरादर जनक चेष्टा भी करने लगे। [इस] प्रकार जब उन सन्यासियोंने हमारा ति[रस्कार] किया तब त्रिलोकीकी रक्षाके लिए उद्यम क[रने] वाला मैं इन्द्र अपने मनमें विचार करने ल[गा—] इन सन्यासियोंको क्या करना चाहिए? उ[पेक्षा] की जाय या दण्ड दिया जाय? उपेक्षा क[रना] ठीक नहीं। क्योंकि तीनों लोकोंकी र[क्षा] करनेके लिए ही मेरा अवतार हुआ [है।] और दण्ड देना, बिना अपराधके सम्भव न[हीं।] अतः इन सन्यासियोंके अपराधका निर्णय क[रने] के बाद ही दण्ड देना उचित है।

अपराध निर्णयके लिए पहले सन्[यासियोंके] सन्यासके धर्म और सन्यासके फलका [निरूपण] करने वाली श्रुतियोंके अर्थका विचार करते [हैं।]

विवेकादि साधन चतुष्टयसे युक्[त]

आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिके लिए सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागरूप सन्यास ग्रहण करता है। सभी कर्मोंका त्याग करके सन्यासियोंको श्रवण मनन, निदिध्यासन द्वारा एक वेदान्तके अर्थका विचार सदा करना चाहिये। इस प्रकार सन्यास और वेदान्त विचारसे जिस पुरुषको अद्वितीय आनन्द स्वरूप आत्माका साक्षात्कार हुआ है, वह जन्म मरण रूप संसार दुःखको नहीं प्राप्त होता है। यह श्रुतिका कथन है। इसके अनुसार विवेकादि साधन सम्पत्ति पूर्वक सर्व कर्मोंके त्यागका नाम "सन्यास" है। सर्वदा वेदान्त शास्त्रका विचार "सन्यासीका धर्म" है। और जन्म मरण आदि अनर्थकी निवृत्ति तथा ब्रह्मभावकी प्राप्ति रूप मोक्ष "सन्यासका फल" है। उपर्युक्त प्रकारका सन्यास इन सभी सन्यासियोंमें नहीं है।

अथवा—दो प्रकारका सन्यास श्रुतिमें कहा है-एक क्रम सन्यास, दूसरा क्रम रहित सन्यास। पहले ब्रह्मचारी पश्चात् गृहस्थ, वानप्रस्थ उसके बाद आश्रम क्रमसे सन्यासी होना, इसे क्रम सन्यास कहते हैं। इस प्रकार उत्कट वैराग्यसे रहित पुरुषको चौथेपनमें अवश्य सन्यास धर्म ग्रहण करना चाहिये। और जिस पुरुषको विषयोंमें उत्कट वैराग्य हो उसे आश्रम क्रमके बिना ही सन्यास लेनेका श्रुतिने विधान किया है। क्रम रहित विधानके अनुसार जिस दिन भी विषयोंमें उत्कट वैराग्य उदय हो जाय उसी दिन सन्यास ग्रहण किया जा सकता है। चाहे वह ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो या वानप्रस्थ हो। उपर्युक्त दो प्रकार के सन्यासमें से क्रम सन्यास इन सन्यासियोंमें नहीं है। क्योंकि ये सभी युवक हैं। और क्रम रहित सन्यास भी इनमें नहीं है। क्योंकि ये सभी आत्म ज्ञानसे रहित हैं, नीतिसे रहित हैं, और क्रोध रूपी शत्रुके वशमें हैं। इसी कारणसे ये दुर्बुद्धि मूर्ख अपने हितको नहीं सुनते हैं। उल्टा हित उपदेश करने वाले मुझ इन्द्रसे द्वेष करते हैं। जैसे मृत्युके निकट पहुँचा हुआ रोगी पुरुष हितकारी वैद्यके साथ द्वेष करता है, तैसे ही ये सन्यासी मृत्युके निकट होकर मुझसे द्वेष करते हैं।"

शंका—"हे भगवन ! यद्यपि ये सन्यासी अपराधी हैं, तथापि आपको क्षमा करना चाहिए था। सम्भव है किसी दूसरे के उपदेशसे इन्हें आत्म साक्षात्कार हो जाय।"

समाधान—"मुझ इन्द्रके वचनको जब इन्होंने स्वीकार नहीं किया तब ये सन्यासी किसी के भी उपदेशको स्वीकार नहीं करेंगे। क्योंकि इनके बोधके लिये निरादर युक्त वचनको सहन करके भी कृपायुक्त हो मैंने इनसे श्रुतिका प्रमाण पूछा था। तात्पर्य यह कि निरादरको सहन करके उपदेश करने वाला हमारे सिवा दूसरा कोई नहीं मिल सकता है।"

शंका—"ऐसे बहिर्मुख सन्यासियोंसे क्यों आपने श्रुति प्रमाण पूछा ?"

समाधान—हे प्रतर्दन ! हमारे पूछनेका तात्पर्य यह था कि जब ये सन्यासी आत्माके वास्तव भेदमें कोई वेदका वचन कहेंगे तब उसी वचन द्वारा इनको मैं आत्माका उपदेश करूँगा। इस मेरे अभिप्रायको न जानकर इन मूढ़ सन्यासियोंने बिना कारण ही मेरे ऊपर क्रोध किया है। और वेदके वचन रूप प्रमाणोंको भी

ये नहीं जानते, केवल कुतर्क करने वाले हैं। अतः ये सन्यासी दण्डनीय है।

यह शास्त्रका नियम है कि चांडाल, शत्रु, पतित, दुराचारी, कोई भी यदि यथार्थ प्रश्न पूछे जो बुद्धिमान पुरुषको उस प्रश्नका अवश्य उत्तर कहना चाहिये। इन सन्यासियोंने इस शास्त्र नियमका त्याग किया है। क्योंकि साक्षात् मुझ इन्द्र द्वारा पूछे हुए प्रश्नका भी उत्तर इन्होंने नहीं दिया है। साथ ही इन दुर्बुद्धि सन्यासियोंका जन्म भी निष्फल है। क्योंकि सर्व कर्मके त्यागरूप सन्यासको इन्होंने धारण किया है। इसलिये ये कर्मके अधिकारी भी नहीं है और वैराग्यादिक साधनोंसे रहित हैं, इसलिये ये ज्ञानके अधिकारी भी नहीं हैं। वैराग्य, विवेक, शमादि षटसम्पत्ति, मुमुक्षुता इन चार साधनोंसे युक्त पुरुष वेदान्त श्रवणमें अधिकारी होता है।"

शंका—"सन्यासियोंमें वैराग्यका अभाव आपने कैसे जाना?"

समाधान—"क्रोधके कारण इनमें वैराग्यका अभाव जाना जाता है। जहाँ क्रोध रहता है वहाँ वैराग्य नहीं रहता। क्योंकि प्रथम तो जीवों का जन्म ही कष्टरूप है, उस जन्मसे भी जन्म का कारण जो काम है वह कष्टतर है और उस कामसे भी क्रोध कष्टतम है। यह क्रोध इन सन्यासियोंमें वर्तमान है। इसलिये उनमें वैराग्य का अभाव है।

अब कामसे क्रोधकी अधिकता दिखलाते हैं—

कामसे उत्पन्न दुःख परिणाम कालमें प्राणियोंको होता है, वर्तमान कालमें दुःख नहीं होता, परन्तु क्रोध तो परिणाम और वर्तमान कालमें जीवोंको दुःख देता है। इसलिये क्रोध अधिक दुःख रूप है।

अथवा—काम तो जिस शरीरमें उत्पन्न होता है उसी शरीर रूपी आश्रयको ही सं देता है अन्यको नहीं, परन्तु दूसरेका ताड़न फलसे युक्त हुआ क्रोध तो जिस शरीरमें उत्पन्न होता है उस शरीर रूप आश्रय तथा जिस शरीर पर क्रोध होता है उस शरीर रूप दोनोंको संतप्त करता है। इस कारणसे ही युक्त अनेक प्राणी अपना माथा पीटते हैं कूएँ आदि में गिरते हैं। इसलिये भी क्रोध कष्टतम है।

अथवा—उत्पत्तिका कारण काम है, वह रजोगुणका परिणाम है। क्रोध नाश कारण है इसलिये तमोगुणका परिणाम है क्योंकि अंडज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज चार प्रकारके प्राणियोंकी शरीर, मन, वाणी हिंसा क्रोधसे ही होती है, क्रोधके बिना नहीं होती। इसलिये भी कामसे क्रोध अधिक

अथवा—जैसे कुष्ठादिक रोग त्वचाको करते हैं, वैसे ही यह क्रोध विश्वमें फैली समस्त कीर्तिको तत्काल नाश कर देता है।

अथवा—पर ताड़ना रूप फलसे क्रोध जीवोंको स्वर्गसे विमुख करता है। यह है कि स्वर्गके कारण जो यज्ञादिक कर्म भी क्रोध करनेसे सुफल नहीं होते हैं। दुर्जन पुरुष राजद्वारमें प्रविष्ट होकर प्रवेश वालेको भी बाहर निकाल देता है, वैसे ही भी पुरुषको स्वर्गसे विमुख करता है।

अथवा—जैसे अश्ववार पुरुषको दुष्ट अश्व गड्ढेमें गिरा देता है, तैसे यह क्रोध भी पुरुषों को नरकमें गिराता है। इसलिये सुख प्राप्तिकी इच्छा वाले पुरुषका क्रोधके समान कोई अन्य शत्रु नहीं, क्रोध ही परम शत्रु है। अतः क्रोध का निरोध अवश्य करना चाहिये। यह क्रोध कामसे भी अधिक दुःखदायी है।

अथवा—प्रज्वलित अग्नि जैसे गीले सूखे सभी काष्ठोंको जला देती है, तैसे पुरुषमें उत्पन्न क्रोध भी स्वर्गके साधनों और मोक्षके साधनोंको नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह कि साधनोंमें जो फलकी उत्पत्तिका सामर्थ्य है, वह नष्ट हो जाता है।

अथवा—जैसे वृक्षमें अग्निरूप हेतुके ज्ञानसे दूर देशमें स्थित पुरुषको सरसताके अभाव का अनुमिति ज्ञान होता है। उस अनुमानका प्रकार यह है कि इस वृक्षमें सरसताका अभाव है, क्योंकि अग्निवाला है। इस अनुमान द्वारा जैसे वृक्षमें सरसताके अभावका निश्चय होता है, तैसे क्रोध रूप हेतुके ज्ञानसे इन सन्यासियोंमें भी वैराग्यके अभावका अनुमिति ज्ञान होता है। उस अनुमानका प्रकार यह है कि ये सभी सन्यासी वैराग्यसे रहित हैं, क्योंकि प्रसिद्ध अज्ञानी पुरुषोंकी तरह क्रोधवान् हैं। इस अनुमानसे सन्यासियोंमें वैराग्यके अभावका निश्चय होता है।

अथवा—जहाँ क्रोध रहता है वहाँ इच्छा भी अवश्य रहती है। इच्छाके बिना क्रोध नहीं होता। क्योंकि इच्छाके विषयका जो कोई प्रतिबन्ध करता है वह इच्छा ही क्रोधाकार परिणाम को प्राप्त होती है। लोक प्रसिद्ध है कि कोई पुरुष किसी वस्तुकी इच्छा करके किसी पुरुषके पास जाता है तब उस वस्तुकी प्राप्तिमें यदि कोई पुरुष प्रतिबन्ध करता है तो उस पर उसको अत्यन्त क्रोध होता है। यदि इच्छा ही उत्पन्न न हो तो उसके फलका कोई प्रतिबन्ध ही न करे। जैसे असत् वन्ध्यापुत्रके राजका कोई प्रतिबन्ध नहीं करता। इसलिए प्रतिबन्धसे फल हीन हुई इच्छा ही क्रोधाकार परिणामको प्राप्त होती है। और इन सन्यासियोंमें क्रोध दीखता है। इसलिये क्रोधका कारण रूप इच्छा भी अवश्य इनमें होगी। और जहाँ इच्छा रहती है वहाँ वैराग्य नहीं रहता। इसलिये ये सब सन्यासी वैराग्य रहित हैं।

अथवा—"इन सन्यासियोंमें काम-क्रोध दोनों विद्यमान हैं। निवृत्तिके उपायसे रहित काम क्रोधका जय करना कठिन है, अतः इनमें वैराग्य सम्भव नहीं। यद्यपि स्त्रीके संसर्गकी इच्छाका नाम भी काम है तथापि यहाँ काम शब्दसे विषय सुखकी इच्छा मात्रका ग्रहण करना चाहिये।"

शंका—"हे भगवन्! काम-क्रोधको निवृत्ति के उपायसे रहित कहा है, यह ठीक नहीं। क्योंकि मुमुक्षुजन उपायों द्वारा काम क्रोधकी निवृत्ति करते हैं।"

समाधान—"जिस उपायसे मुमुक्षु जन काम क्रोधकी निवृत्ति करते हैं, वह उपाय इन सन्यासियोंमें नहीं है। क्योंकि ब्रह्मवेत्ता महात्मा पुरुषोंकी सेवा तथा प्रश्नरूप सत्संग ही काम क्रोधके निवृत्तिका उपाय है, वह उपाय इनमें नहीं। सभी ब्रह्मवेत्ताओंमें मुख्य मुझ इन्द्रके

साथ जब ये सन्यासी मुखसे सीधी बातचीत नहीं करते तब ये सेवा तथा प्रश्न क्या करेंगे ? अतः इनके काम क्रोधके निवृत्तिका कोई उपाय नहीं।

अथवा—वैराग्यसे रहित इन सन्यासियोंको सन्यास आश्रमके धारणसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होगी, उल्टा इन देहाभिमानियोंका इस सन्यास द्वारा पतन ही होगा।

अथवा—वैराग्य के विना इनका सन्यास निष्फल है। क्योंकि सन्यास तथा सन्यासका फल दो प्रकारका होता है। एक तो विविदिषा सन्यास और दूसरा विद्वत्संन्यास। यहाँ ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सर्व कर्मों के त्यागको विविदिषा सन्यास कहते हैं। और आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिके बाद जीवनमुक्तिके सुखके लिये सर्व कर्मों के त्यागको विद्वत्सन्यास कहते हैं। गुरु मुखसे वेदान्तका श्रवणकर आत्माको निश्चय करना विविदिषा सन्यासका फल है। और जीवनमुक्तिके सुखकी प्राप्ति विद्वत्सन्यासका फल है। यहाँ विविदिषा सन्यासके आत्म साक्षात्कार रूप फलकी इन सन्यासियोंमें सम्भावना नहीं है, क्योंकि इनमें आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा नहीं है। इच्छाके अभावसे ये मूर्ख सन्यासी आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये गुरुके समीप भी नहीं जायेंगे। और गुरुके विना आत्मसाक्षात्कार दुर्लभ है। अतः विविदिषा सन्यासका फल आत्मसाक्षात्कार भी सम्भव नहीं। जब विविदिषा सन्यासका फल आत्मसाक्षात्कार इनमें नहीं है तब आत्मसाक्षात्कारके बाद होनेवाला जीवनमुक्तिका आनन्दरूप विद्वत्सन्यासका फल इनमें कैसे होगा ? अतः दोनों फलके अभावमें इनका सन्यास निष्फल है।

अथवा—ये सन्यासी इतना भी नहीं जानते कि सन्यास शब्दका अर्थ हमारे में घटता है अथवा नहीं ? जब सन्यास शब्दके अर्थको इन्होंने नहीं जाना तब अन्य अर्थ कैसे जान सकेंगे। सन्यास शब्दका अर्थ इस प्रकार है—"सन्यास" इस शब्दमें दो पद हैं, एक 'सं' पद दूसरा 'न्यास' पद। मैं ब्रह्म हूँ, इस आत्मज्ञान रूप शस्त्र द्वारा मूल अज्ञान सहित काम-क्रोधादि शत्रुओंका छेदन 'सं' पदका अर्थ है। और पुनरावृत्ति रहित ब्रह्मभाव में स्थिति 'न्यास' पदका अर्थ है। दोनों पदोंको मिलाकर यह अर्थ होता है—"आत्मज्ञानरूप शस्त्र द्वारा मूल अज्ञान सहित काम-क्रोधादि की निवृत्ति करके पुनरावृत्तिसे रहित ब्रह्मभाव में स्थिति।" उपर्युक्त सन्यास शब्दका अर्थ इन वैराग्यहीनोंमें नहीं घटता है। अतः इनका सन्यास निष्फल है।

अथवा—यह सन्यास शब्दका अर्थ यद्यपि विद्वत्सन्यासमें घटता है तथापि विविदिषा सन्यासमें नहीं घटता है। इसलिये विविदिषा सन्यासके संग्रहार्थ अन्य प्रकारसे सन्यास शब्द का अर्थ कहते हैं—यहाँ साधन सहित इह परलोकके सुखका त्याग 'सं' पदका अर्थ और आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये गुरुके समीप स्थिति "न्यास" पदका अर्थ है। दोनों पदोंको मिलाकर "साधन सहित सम्पूर्ण सुखोंका त्याग करके आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये गुरुके समीप स्थिति।" सन्यास शब्दका अर्थ है

है। यह विविदिषा सन्यासका अर्थ भी इन सन्यासियोंमें नहीं घटता है। अतः इनका सन्यास निष्फल है।

अथवा—विविदिषा सन्यास तथा विद्वत्सन्यास दोनों मोक्षके कारण हैं। ये दोनों इन सन्यासियोंमें नहीं हैं। इन्होंने केवल नामका सन्यास मात्र धारण कर लिया है। केवल सन्यास मात्रसे मोक्ष होता नहीं। यदि केवल सन्यास मात्रसे ही मोक्ष हो तो सन्यासीका स्वांग करनेवाले अभिनेता, नटोंका भी मोक्ष होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः सन्यास मात्र मोक्षका कारण नहीं, किन्तु विषयजन्य सुखकी इच्छा तथा काम क्रोधादिकोंके परित्यागसे मोक्ष होता है।"

शंका—"जो पुरुष काम-क्रोधादिको वश करनेमें असमर्थ हैं उन्हें क्या उपाय करना चाहिए ?"

समाधान—जो पुरुष सर्व प्रकारके काम क्रोधादिको वश करनेमें समर्थ नहीं हैं वे पुरुष वारम्बार सत्संग और वेदान्त शास्त्रका विचार करें। जैसे शरद ऋतु जलकी मलीनताको नष्ट करती है तैसे ही सत्संग और वेदान्त-विचार धीरे धीरे करके काम क्रोधादिको नाश कर देता है। जैसे दुष्ट अश्व बहुत दिन शिक्षा देनेके बाद अपने दोषोंको छोड़ते हैं, तैसे काम क्रोधादिकोंके वशीभूत दुष्ट मन गुरु-शास्त्र द्वारा सिखाया जानेपर भी बहुत दिन बाद दोष रहित होता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक, व्यवधान रहित, चिरकालतक किया हुआ सत्संग और वेदान्त विचार ही काम-क्रोधादिकोंकी निवृत्ति द्वारा पुरुषोंके मोक्षका साधन है। इन साधनोंकी भी इन सन्यासियोंमें आशा नहीं है। क्योंकि ये हैं तो मूढ़ परन्तु अपनेको महापंडित समझकर अहंकार करते हैं। अभिमानी पुरुषोंसे सत्संग नहीं होता है। और इन सन्यासियोंने गुरु-वेदान्तका भी अनादर किया है। ये सभी आत्म-ज्ञानसे रहित कर्म-क्रियामें तत्पर हैं। श्रुतिमें आत्मा-अनात्माके विवेकके लिये ही सन्यासका विधान किया गया है। उसको ये मूढ़ करते नहीं, इसलिये पतित हैं। श्री सुरेश्वराचार्यजीने भी वार्तिक ग्रन्थमें कहा है—

प्रत्यक्तत्वविवेकाय सन्यासः सर्वकर्मणाम्।
श्रुत्या विधीयते यस्मात् तत्त्यागी पतितो भवेत॥

भाव यह है कि देहादिकोंमें आत्माका विवेकके लिये सर्वकर्मोंका त्याग रूप सन्यास श्रुतिने विधान किया है। जो पुरुष सन्यासको धारण करके आत्म विचारका परित्याग करता है, वह पतित है।

अथवा—जो पुरुष उत्कट वैराग्यसे रहित है और ब्रह्मलोक प्राप्ति की कामना करता है उसे चौथेपनकी उमरमें सन्यास लेनेका अधिकार है। उस सन्यासके वह ब्रह्मलोकमें जाता है। इस क्रमसन्यास और पूर्वोक्ति अक्रम सन्याससे रहित जो पुरुष केवल वेष मात्र धारण करते हैं उनको ब्रह्मलोक तथा मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु दोनों भ्रष्ट हैं।

अथवा—ये सन्यासी यद्यपि सदाचारी ब्राह्मण है, इसलिए उत्कृष्ट हैं तथापि जैसे दुष्ट अश्व मार्गका त्यागकर कुमार्गमें चलता है, तैसे ही ये सन्यासी भी आत्म विचार रूप मार्गका

त्याग करके कुमार्गमें चलते हैं। इनको शिक्षा देनेवाला कोई है नहीं। क्योंकि शिक्षा गुरु और राजा देते हैं। इनका कोई गुरु है नहीं जो इनको बलात् आत्म-विचार रूप मार्ग पर चलावे और ये अपने आप वेदान्त विचारमें प्रवृत्त नहीं होंगे। क्योंकि मुझ इन्द्रके उपदेश करने पर भी ये वेदके अर्थमें बुद्धिको एकाग्र नहीं कर सके। इससे यह जाना जाता है कि इनका मन किसी प्रकार वश होनेवाला नहीं है। अतः ये दुरात्मा सन्यासी राजा द्वारा शासन करने योग्य हैं। वह तीन लोकोंका राजा मैं ही इन्द्र हूं। अतः मुझे ही इन पर शासन करना चाहिए।

इस प्रकार अपराधों पर विचार करने के बाद इन्द्रने इन सन्यासियोंको दण्ड देने का निश्चय किया। पुनः इन्द्र विचार करने लगे— इनको कौन-सा दण्ड दिया जाय? धन का हरण रूप दण्ड इनमें सम्भव नहीं। क्योंकि इनके पास धनका संग्रह नहीं है। दूसरा सिर मुण्डन रूप दण्ड भी सम्भव नहीं, क्योंकि इनका सिर पहलेसे ही मुड़ा हुआ है। तीसरा देशसे बाहर निष्कासनका भी दण्ड इनमें सम्भव नहीं। क्योंकि यहाँ तीनों लोकमें हमारा राज्य है। इनको कहाँ निकाला जाय? स्थूल शरीरसे त्रिलोकीके बाहर जानेका सामर्थ्य इनका नहीं है। अतः इन्हें प्राण दण्ड देना चाहिए।

इन्द्रने कहा—"इस प्रकार विचार करके सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करने वाला मैं इन्द्र, वेदान्त विचारसे रहित उन सम्पूर्ण सन्यासियोंको वनमें मारकर कुत्तोंको दे दिया। मुझ अन्तर्यामी इन्द्रकी प्रेरणासे वे कुत्ते सन्यासियोंके कटे हु सिरको ले जाकर यज्ञभूमिके दक्षिण भागमें स लोगोंको दिखा-दिखाकर खाने लगे। ऐसा कर वे लोगोंको यह जनाना चाहते थे कि "वैराग्य बिना तुम सब लोग कर्मोंका त्याग मत कर नहीं तो इन सन्यासियोंके समान ही तुम्हारी दुर्गति होगी।"

इन्द्रने कहा—"हे प्रतर्दन! इस प्रकार वि रूप पुरोहित तथा वर, शाप देनेमें समर्थ क काण्डमें तत्पर ब्राह्मण सन्यासियोंको मैंने हन किया, तो भी आत्मज्ञानके प्रभावसे मुझे किंचि मात्र भी पापका स्पर्श नहीं हुआ। इतना नहीं वेदोंको जाननेवाले, मुझसे भी बलवा मायावी दैत्योंका भी मैंने आत्मज्ञानके प्रभाव हनन किया है, परन्तु मेरा बाल भी बाँका न हुआ। उल्टा हमारी कीर्ति हुई कि इन्द्रका आत्म ज्ञानके प्रभावसे कोई कुछ बिगाड़ न सका।"

"हे प्रतर्दन! निषिद्ध कर्मोंको करनेसे मुझे पापका स्पर्श नहीं हुआ, तैसे दूसरा भी को देवता या मनुष्य जो भी आत्मज्ञानका सम्पाद करेगा, उसको आत्मज्ञानके प्रभावसे निषि कर्मोंको करने पर भी पाप नहीं लगेगा। जि पुरुषको मुझ अद्वितीय आत्माका ज्ञान हो ग है, वह पुरुष कभी पाप कर्म नहीं करता है यदि प्रारब्धवश वह कभी पाप कर्म करने इच्छा भी करता है तो भी उस पाप क उसके मुखकी कान्ति समाप्त नहीं होती और आत्मज्ञानसे रहित पुरुष हैं, पाप कर्मसे उन मुखकी कान्ति नष्ट हो जाती है। इसलिये लोकमें ब्रह्म विद्याके समान कोई भी वस्तु

है। ब्रह्म विद्या ही सबसे उत्कृष्ट है। इसका प्रभाव महान है। तत्त्ववेत्ता पुरुष पाप कर्मकी इच्छा करे अथवा पाप कर्म करे तो भी उस तत्त्ववेत्ता पुरुषकी सर्वात्म दृष्टिको देखकर बन्धु बान्धव तथा राजा उसको पंक्तिसे बाहर नहीं करते हैं और शरीर अथवा वाणीका भी दण्ड नहीं देते हैं। उल्टा उसके आत्मज्ञानके प्रभाव को देखकर आश्चर्यचकित होते हैं और अधिकाधिक आदर देते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण विश्वको आत्म स्वरूपसे जानने वाले उस तत्त्ववेत्ता पुरुषसे कोई राजा आदि भिन्न नहीं हैं। किन्तु सबका तत्त्व-वेत्ता पुरुष आत्मा है और अपने आत्माका अनिष्ट और अनादर कोई पुरुष नहीं करता है। इसलिये अद्वितीय आत्मा का ज्ञान ही पुरुषोंके लिए हिततम है।"

इन्द्रके मुखसे हिततम आत्मज्ञानको सुन कर प्रतर्दन राजा चुपचाप बैठा रहा। सर्वज्ञ इन्द्रने अपने मनमें विचार किया—यह प्रतर्दन राजा ऐसा सोच रहा है कि आत्मज्ञानकी स्तुति करने वाले इन्द्रने आत्मज्ञानमें हमारा विश्वास कराने के लिये अपनेमें पापोंका अस्पर्श दिखलाया है। तो भी इन्द्र द्वारा उपदेश किए हुए आत्मज्ञानके विषयमें मुझे संशय है। क्योंकि "मेरेको तू जानो" यह पहले जो इन्द्रने उपदेश किया है, यहाँ 'मेरेको' इस असमद शब्द तथा ज्ञान द्वारा कौन अर्थको इन्द्रने बोध कराया हैं। सहस्र नेत्रोंसे युक्त, हस्तमें वज्र धारण किए हुए शचीके पति, सम्पूर्ण देवताओं द्वारा वन्दित, स्थूल शरीर वाला इन्द्र जो सम्मुख स्थित है वह असमद शब्दका अर्थ है अथवा इस शरीरसे भिन्न और शरीरके अन्तर अन्य कोई आत्मा अर्थ है? वह शरीरके अन्तर वर्तमान आत्मा भी कौन है? "मेरेको तुम जानो" इस शब्दका वक्ता जीवात्मा है अथवा साक्षी आत्मा है? तात्पर्य यह कि "मेरेको तुम जानो" यह जो वचन इन्द्रने कहा है। यहाँ "मेरेको" इस अस्मद् शब्दका अर्थ स्थूल शरीर है अथवा जीवात्मा है अथवा साक्षी चेतन है? यहाँ स्थूल शरीर तथा जीवमें तो इन्द्रका वचन सम्भव नहीं है। क्योंकि स्थूल शरीर तथा जीव दोनों परिछिन्न हैं। उस परिच्छिन्नके ज्ञानसे अपरिच्छिन्न फलकी प्राप्ति नहीं होती। और साक्षी कूटस्थमें भी इन्द्रका वचन "मेरेको जानो" सम्भव नहीं। क्योंकि वह साक्षी चेतन मन वाणीका अगोचर है। इस प्रकारके संशयको यदि मैं प्रकट करूँगा तो मन्द बुद्धि वाला समझा जाऊँगा और यदि संशय नहीं प्रकट करूँगा तो मुझे संशय विपर्ययसे रहित आत्मज्ञान नहीं होगा। इस प्रकारकी चिंतासे व्याकुल मनवाला यह प्रतर्दन राजा मुझसे कुछ न कह कर चुपचाप बैठा है।

अथवा—यह प्रतर्दन राजा इसलिये भी मौन बैठा है कि हम मनुष्य अपने हितको नहीं जानते, अतः इन्द्र स्वयं विचार कर हमारे लिये जो हिततम होगा अपनी प्रतिज्ञानुसार कहेंगे।

प्रतर्दन राजाकी मनोदशाको विचार कर इन्द्रने निश्चय किया—जब तक इसका संशय निवृत्त नहीं हो जाता तब तक अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये मुझे हिततम आत्मज्ञानका बिना इसके पूछे ही उपदेश करना चाहिए।

पुनः आगे और विचार इन्द्र करते हैं—यह आनन्द स्वरूप आत्मा अलौकिक पदार्थ और मन वाणीका अगोचर है। इसलिये आत्माको साक्षात् कहनेमें हम समर्थ नहीं है और यह प्रतर्दन राजा भी साक्षात् जानने में समर्थ नहीं है। किन्तु उपाधि द्वारा आत्माका कथन करने में हम समर्थ हैं। और यह प्रतर्दन राजा भी उपाधि द्वारा आत्मा को जाननेमें समर्थ है। अतः किसी उपाधि द्वारा प्रतर्दन राजाको आत्माका उपदेश देना चाहिए। उन उपाधियोंमें भी स्थूल शरीर तथा इन्द्रियादिक उपाधियोंकी अपेक्षा क्रिया शक्तिवाला प्राण और ज्ञान शक्तिवाली बुद्धि ये दोनों आत्माके समीप हैं। अतः लोकप्रसिद्ध प्राण तथा प्राज्ञरूप उपाधिको अंगीकार करके प्रतर्दन राजाको अलौकिक आत्माका उपदेश करना चाहिए।

सभी उपाधियोंसे प्राण-प्रज्ञारूप उपाधि अधिक श्रेष्ठ हैं। प्राण और प्रज्ञाके विद्यमान् होने पर देह-इन्द्रियादिकोंकी स्थिति होती है। और प्राण-प्रज्ञाके अभाव होने पर इनकी स्थिति नहीं होती। इस अन्वय व्यतिरेक द्वारा सम्पूर्ण शरीर आदिका उपाधियोंकी साधकता प्राण-प्रज्ञामें सिद्ध होता है। अतः प्राण प्रज्ञाही सर्व उपाधियोंसे उत्कृष्ट है। यहाँ तात्पर्य यह है कि जिस उपाधिके कथन द्वारा मुमुक्षुको सुखसे ही आत्मबोध और लाघव होता है उसी उपाधिको अंगीकार करके तत्त्ववेत्ता पुरुष आत्माका उपदेश करें। यह नियम भी प्राण-प्रज्ञामें ही घटता है। क्योंकि जिसके विद्यमान होने पर देहादिकोंकी स्थिति और जिसके अविद्यमान होने पर दे[हा]दिकोंका अभाव इस अन्वय व्यतिरेक [द्वारा] देहादिक संघात्की साधकता आत्माका [ल]... है, वह लक्षण प्राण-प्रज्ञामें भी सम्भव है। इसलिये प्राण-प्रज्ञा आत्मा है, इस प्र[कार] प्राण-प्रज्ञामें जब मुमुक्षुकी आत्म बुद्धि हो[ती है] तभी प्राण प्रज्ञाके साक्षात् प्रवर्तक शुद्ध आ[त्मा] में सुख पूर्वक मुमुक्षुकी बुद्धि स्थित होती है। तात्पर्य यह कि जैसे अत्यन्त सूक्ष्म अरु[न्धती] तारेको जानने वाला पुरुष अन्य किसी पु[रुष] को जब अरुन्धती दिखलाता है, तब अरु[न्धती] के समीपवर्ती जो स्थूल तारे हैं, उन्हींको प[हले] अरुन्धती कहकर दिखलाता है। जब दे[खने] वाले पुरुषकी दृष्टि उन स्थूल तारों पर ... जाती है तब क्रमशः धीरे-धीरे साक्षात् अरु[न्धती] को भी वह देख लेता है। ऐसे ही शुद्ध आत्म[ा] जाननेके लिये प्राण-प्रज्ञाको ही आत्मरूप ... पहले उपदेश करना चाहिए।

अथवा—प्राण प्रज्ञा शब्दके लक्षणा ... द्वारा आत्माका बोध माननेमें प्राण-प्र[ज्ञा] आत्माके साथ साक्षात् सम्बन्ध सम्भव है। ... लिये लाघव भी है। और शरीरादिक उपा[धि] अंगीकार करके यदि आत्माका बोध कर[ें] ... प्राण-प्रज्ञा द्वारा आत्माका बोध होता है, ... बोध नहीं होता, और शरीरादिक पदोंके ल[क्षणा] वृत्तिसे आत्माका बोध माननेमें शरीरादि[क] ... आत्माके साथ प्राण-प्रज्ञा द्वारा परम्परा सं[बन्ध] संभव है, साक्षात् सम्बन्ध सम्भव नहीं। ... परम्परा सम्बन्ध गौरवरूप दूषणसे युक्त ... अतः प्राण-प्रज्ञा रूप उपाधिको अंगीकार ... आत्माके बोधनमें ही सुगमता और लाघव ...

शंका—पूर्वोक्त अन्वय व्यतिरेकसे देह इन्द्रियादिकोंकी साधकता रूप आत्माका लक्षण प्राण-प्रज्ञामें सम्भव नहीं। क्योंकि प्राण-प्रज्ञा का परस्पर व्यतिरेक है। तात्पर्य यह कि प्राण को छोड़कर प्रज्ञा रहती है और प्रज्ञाको छोड़-कर प्राण रहता है।

समाधान—क्रिया शक्ति वाला प्राण-प्रज्ञा के बिना नहीं रहता, तथा ज्ञान शक्ति वाली प्रज्ञा भी प्राणके बिना नहीं रहती। जहाँ प्रज्ञाका अभाव है वहाँ प्राणका भी अभाव होता है। जैसे स्थावर वृक्षोंमें प्रज्ञा स्वरूप बुद्धि प्रत्यक्ष नहीं दीखती, इस लिये प्राणभी उन वृक्षोंमें प्रत्यक्ष दीखता नहीं।

शंका—जैसे शरीरमें शस्त्र द्वारा घाव होने पर वह कुछ कालके बाद भर जाता है तैसे वृक्षमें कुठार आदिसे उत्पन्न हुआ घाव भी कुछ कालके बाद भर जाता है। और जैसे शरीरकी वृद्धि होती है तैसे वृक्षोंकी भी वृद्धि होती है। इसलिये घावका पूरण तथा वृद्धिरूप हेतुसे वृक्षोंमें प्राणका अनुमान सम्भव है। अतः प्रज्ञारूप बुद्धिको छोड़कर भी प्राण वृक्षोंमें रहता है।

समाधान—जैसे घावके पूरण तथा वृद्धि-रूप हेतुसे वृक्षोंमें प्राणका अनुमान सम्भव है। तैसे लताका ऊपर गमन रूप हेतुसे उसमें प्रज्ञा-रूप बुद्धिका भी अनुमान हो सकता है। वृक्षोंमें सूक्ष्म रूपसे प्राण-प्रज्ञा है परन्तु स्पष्ट रूपसे नहीं हैं।

शंका—पहले आपने कहा है कि जहाँ प्रज्ञाका अभाव होता है, वहाँ प्राणका भी अभाव होता है। यह ठीक नहीं। क्योंकि सुषुप्तिमें प्रज्ञारूप बुद्धिके अभाव होनेपर भी प्राण विद्यमान दीखता है।

समाधान—सुषुप्ति अवस्थामें प्रज्ञाका अत्यन्ताभाव नहीं, किन्तु कारण स्वरूप होकर बुद्धि सुषुप्ति अवस्थामें रहती है। इसलिये प्रज्ञा-के अभाव होनेपर प्राणका अभाव सिद्ध होता है और जहाँ प्राणका अभाव होगा वहाँ प्रज्ञाका भी अभाव अवश्य होगा। जैसे घटादिमें प्राण-का अभाव होनेसे प्रज्ञाका भी अभाव है। अतः सिद्ध हुआ कि प्राण और प्रज्ञा एक दूसरेको छोड़कर नहीं रहते। ये दोनों आत्मज्ञानके हेतु हैं। क्योंकि जैसे स्तम्भ आदिक जड़ होनेसे अपनी प्रतीतिमें दीपक आदि प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं। तैसे प्राण और प्रज्ञा भी जड़ होनेसे अपनी प्रतीतिमें किसी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा करते हैं। वह प्राण-प्रज्ञाको प्रकाश करनेवाला कूटस्थ आत्मा है। इस प्रकार युक्ति द्वारा प्राण-प्रज्ञा आत्मज्ञानके कारण होते हैं। यहाँ अभिप्राय यह है कि प्राण-प्रज्ञा शब्द शक्ति-वृत्तिसे तो आत्माके बोधक नहीं हैं, क्योंकि शक्तिवृत्ति द्वारा सत्यादिक पद भी आत्माका बोधन नहीं करते। किन्तु लक्षणा वृत्ति द्वारा प्राण-प्रज्ञा शब्द आत्माके बोधक हैं। वह लक्षणा शक्य अर्थकी अनुपपत्तिके बिना नहीं होती, जैसे "गंगामें ग्राम है" इस वाक्यमें गंगा पदका शक्य अर्थ जलका प्रवाह है, उस प्रवाहमें ग्रामकी अधिकरणता अनुपपन्न है। इसलिए गंगा पदकी तटमें लक्षणा होती है। तैसे इस प्रसंगमें भी "प्राण मैं हूँ प्रज्ञा मैं हूँ"

पुनः आगे और विचार इन्द्र करते हैं—यह आनन्द स्वरूप आत्मा अलौकिक पदार्थ और मन वाणीका अगोचर है। इसलिये आत्माको साक्षात् कहनेमें हम समर्थ नहीं है और यह प्रतर्दन राजा भी साक्षात् जानने में समर्थ नहीं है। किन्तु उपाधि द्वारा आत्माका कथन करने में हम समर्थ हैं। और यह प्रतर्दन राजा भी उपाधि द्वारा आत्मा को जाननेमें समर्थ है। अतः किसी उपाधि द्वारा प्रतर्दन राजाको आत्माका उपदेश देना चाहिए। उन उपाधियोंमें भी स्थूल शरीर तथा इन्द्रियादिक उपाधियोंकी अपेक्षा क्रिया शक्तिवाला प्राण और ज्ञान शक्तिवाली बुद्धि ये दोनों आत्माके समीप हैं। अतः लोकप्रसिद्ध प्राण तथा प्राज्ञरूप उपाधिको अंगीकार करके प्रतर्दन राजाको अलौकिक आत्माका उपदेश करना चाहिए।

सभी उपाधियोंसे प्राण-प्रज्ञारूप उपाधि अधिक श्रेष्ठ हैं। प्राण और प्रज्ञाके विद्यमान् होने पर देह-इन्द्रियादिकोंकी स्थिति होती है। और प्राण-प्रज्ञाके अभाव होने पर इनकी स्थिति नहीं होती। इस अन्वय व्यतिरेक द्वारा सम्पूर्ण शरीर आदिका उपाधियोंकी साधकता प्राण-प्रज्ञामें सिद्ध होता है। अतः प्राण प्रज्ञाही सर्व उपाधियोंसे उत्कृष्ट है। यहाँ तात्पर्य यह है कि जिस उपाधिके कथन द्वारा मुमुक्षुको सुखसे ही आत्मबोध और लाघव होता है उसी उपाधिको अंगीकार करके तत्ववेत्ता पुरुप आत्माका उपदेश करें। यह नियम भी प्राण-प्रज्ञामें ही घटता है। क्योंकि जिसके विद्यमान होने पर देहादिकोंकी स्थिति और जिसके अविद्यमान होने पर दे[illegible] दिकोंका अभाव इस अन्वय व्यतिरेक द्वा[illegible] देहादिक संघात्की साधकता आत्माका ल[illegible] है, वह लक्षण प्राण-प्रज्ञामें भी सम्भव है इसलिये प्राण-प्रज्ञा आत्मा है, इस प्रका[illegible] प्राण-प्रज्ञामें जब मुमुक्षुकी आत्म बुद्धि होती तभी प्राण प्रज्ञाके साक्षात् प्रवर्तक शुद्ध आ[illegible] में सुख पूर्वक मुमुक्षुकी बुद्धि स्थित होती है तात्पर्य यह कि जैसे अत्यन्त सूक्ष्म अरु[illegible] तारेको जानने वाला पुरुप अन्य किसी पु[illegible] को जब अरुन्धती दिखलाता है, तब अरुन्[illegible] के समीपवर्ती जो स्थूल तारे हैं, उन्हींको प[illegible] अरुन्धती कहकर दिखलाता है। जब दे[illegible] वाले पुरुपकी दृष्टि उन स्थूल तारों पर ठ[illegible] जाती है तब क्रमशः धीरे-धीरे साक्षात् अरु[illegible] को भी वह देख लेता है। ऐसे ही शुद्ध आत्[illegible] जाननेके लिये प्राण-प्रज्ञाको ही आत्मरूप [illegible] पहले उपदेश करना चाहिए।

अथवा—प्राण प्रज्ञा शब्दके लक्षणा [illegible] द्वारा आत्माका बोध माननेमें प्राण-प्र[illegible] आत्माके साथ साक्षात् सम्बन्ध सम्भव है। [illegible] लिये लाघव भी है। और शरीरादिक उपा[illegible] अंगीकार करके यदि आत्माका बोध करें [illegible] प्राण-प्रज्ञा द्वारा आत्माका बोध होता है, [illegible] बोध नहीं होता, और शरीरादिक पदोंके ल[illegible] वृत्तिसे आत्माका बोध माननेमें शरीरादि[illegible] आत्माके साथ प्राण-प्रज्ञा द्वारा परम्परा स[illegible] संभव है, साक्षात् सम्बन्ध सम्भव नहीं। परम्परा सम्बन्ध गौरवरूप दूषणसे युक्त [illegible] अतः प्राण-प्रज्ञा रूप उपाधिको अंगीकार [illegible] आत्माके बोधनमें ही सुगमता और लाघव [illegible]

यह वचन इन्द्रने कहा है। यहाँ शरीरके अन्तर संचारी 'वायु' प्राणशब्दका शक्य अर्थ है और अन्तःकरणकी वृत्तिमें बुद्धि प्रज्ञाशब्दका शक्य अर्थ है। उन दोनों शक्य अर्थोंमें आत्मता संभव नहीं। अतः प्राण-प्रज्ञा शब्दकी प्राण-प्रज्ञाके प्रवर्तक चेतन आत्मामें लक्षणा सम्भव है। इस अर्थके निरूपणार्थ पहले प्राण-प्रज्ञा शब्दके शक्य अर्थ तथा शक्य अर्थके अनुपपत्तिको दिखलाते हैं।

"प्राण" इस शब्दमें दो पद हैं। एक "प्र" पद, दूसरा "अन" पद। 'प्र' का अर्थ अतिशय और "अन" का अर्थ चलन रूप क्रिया। "प्रज्ञा" शब्दमें भी दो पद हैं। एक 'प्र' दूसरा 'ज्ञा'। 'प्र' पदका अर्थ अतिशय और 'ज्ञ' पदका अर्थ ज्ञान है। दोनोंको मिलाकर यह अर्थ सिद्ध होता है—अतिशय जो चलायमान हो उसे प्राण कहते हैं और अतिशय करके जो जाने उसे प्रज्ञा कहते हैं। शरीरके अन्दर स्थित वायु अतिशय करके चलायमान होती है, इसलिये उसे प्राण कहते हैं और अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष बुद्धि घटपटादि पदार्थोंको अतिशय करके जानती है इसलिए उसको प्रज्ञा कहते हैं। और वास्तवमें विचार करें तो प्राणमें चलना बनता नहीं। क्योंकि प्राण जड़ है। जड़में स्वतन्त्र क्रिया नहीं होती, जैसे रथादिक जड़ पदार्थोंमें चेतन अश्वादिकोंके बिना किसी देश-कालमें स्वतन्त्र चलनरूप क्रिया संभव नहीं, इसी प्रकार बुद्धिमें भी घटादिक पदार्थोंको जाननेकी सामर्थ्य नहीं। क्योंकि प्राणकी तरह जड़ है। जड़ वस्तु अ
को तथा अन्य किसी पदार्थोंको नहीं जानतं
तात्पर्य यह कि जैसे पहले किसीके पास मू
धन रहता है तब उस धनके वृद्धिकी भी सं
बना होती है, मूलधनके बिना धनकी वृ
सम्भव नहीं, तैसे सामान्यतया जब प्रा
चलन रूप क्रिया होती है और बुद्धिमें ज्ञ
रहता है तभी उस क्रिया और ज्ञानमें अति
यतारूप विशेषता संभव है। उस जड़ प्रा
चलनरूप क्रिया होती नहीं और बुद्धिमें ज्ञ
सम्भव नहीं, अतः जिस चेतन आत्म
समीपतासे शरीर इन्द्रियादिकों में तथा अन्
वायुमें चलनरूप क्रिया होती है, वह चे
आत्मा ही प्राण शब्दका लक्ष्यार्थ है। इ
प्रकार प्रज्ञा शब्दका भी लक्ष्यार्थ चेतन आ
ही है। क्योंकि वही सम्पूर्ण जड़ पदार्थों
प्रकाश करता है और स्वप्रकाशता रूपसे
रहित अपने स्वरूपको भी चेतन आत्मा प्र
करता है। अन्य कोई पदार्थ आत्माको प्र
नहीं करता। ऐसा स्वप्रकाश आनन्द स्वरू
आत्मा ही प्राण-प्रज्ञा शब्दका अर्थ हूँ। मे
भिन्न कोई वस्तु प्राण-प्रज्ञाका अर्थ सम्भव न

इस प्रकार अपने मनमें विचारकर देव
इन्द्रने प्रतर्दन राजासे कहा—"राजन्! स
प्रकारकी क्रियाका कारण मैं हूँ, अतः मैं
स्वरूप हूँ और भेदसे रहित स्वयंप्रका
इसलिये मैं ही प्रज्ञा स्वरूप हूँ और स
प्राणियोंके जीवनका कारण होनेसे मैं ही आ
और जन्म-मरणसे रहित होनेसे अमृत स्वरू

हे प्रतर्दन राजा! प्राण, प्रज्ञा,

अमृत ऐसा जो अपना स्वरूप मैंने कथन किया है, उस स्वरूपको तुम बारम्बार विचार करो और अनात्माकार विजातीय वृत्तियोंका परित्याग करके उस स्वरूपाकार सजातीय वृत्तियोंके द्वारा मेरे स्वरूपका साक्षात्कार करो।

हे प्रतर्दन, जैसे पुरुषसे दण्ड भिन्न होता तैसे आयुष् और अमृत इन दोनों विशेषणोंको प्राणसे भिन्न मत जानना, किन्तु इनको अभिन्न जानना। जैसे आकाशको नभ और नभको आकाश कहते हैं, आकाश और नभ पदके अर्थका भेद नहीं, तैसे आयुष्, अमृत और प्राणपदके अर्थका भेद नहीं, किन्तु आयुष् और अमृत प्राण स्वरूप हैं और प्राण आयुष्-अमृत स्वरूप है।"

शंका—"यदि आयुष्, अमृत, प्राण इन तीनों पदोंका एक ही अर्थ मानेंगे तो पुनरुक्ति दोषकी प्राप्ति होगी। एक अर्थके बोधक अनेक पदोंके उच्चारणको पुनरुक्ति कहते हैं। जहाँ पुनरुक्ति दोष होता है वहाँ एक पदकी ही सार्थकता होती है और दूसरे पद व्यर्थ हो जाते हैं।"

समाधान—"जैसे सत्य, ज्ञान, आनन्द ये तीन पद एक ही आत्माके बोधक हैं, परन्तु उन शब्दोंके प्रवृत्तिका निमित्त भिन्न भिन्न है इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं होता। तैसे यहाँ भी आयुष्, अमृत, प्राण ये तीन पद एक ही अर्थके बोधक हैं, परन्तु उनके प्रवृत्तिका निमित्त भिन्न भिन्न है। इसलिये 'पुनरुक्ति दोष नहीं होता। इसी अर्थको और स्पष्ट करके बतलाते हैं—जो लोकोंके जीवनका कारण होता है उसे आयुष् कहते हैं, वह जीवनका कारण प्राण है। क्योंकि शरीरमें जबतक प्राण रहता है तबतक उसमें जीवन व्यवहार होता है। प्राणके विना जीवन व्यापार नहीं होता। इस निमित्तसे प्राणको आयुष् कहते हैं। और शरीर त्यागके बाद स्वर्गरूप अमृतको तथा शरीरके विद्यमान होनेपर मोक्षरूप अमृतको प्राण द्वारा ही जीव प्राप्त होता है, इस निमित्तसे प्राणको अमृत कहते हैं। वह आयुष्-अमृत स्वरूप प्राण मैं आत्मा हूँ।

अथवा—जैसे प्राण स्वरूप मैं आत्मा हूँ तैसे प्रज्ञा स्वरूप भी मैं आत्मा हूँ। क्योंकि ज्ञानशक्ति रूप प्रज्ञासे ही आकाश आदि व्यवहारिक प्रपंचको और स्वप्न आदि प्रातिभासिक पदार्थोंको मैं आत्मा जानता हूँ।

हे प्रतर्दन राजा! जो लोग प्राण स्वरूप मुझ आत्माको आयुष् रूपसे उपासना करते हैं, वे सौ वर्षतक जीवित रहते हैं। और जो अमृतरूपसे उपासना करते हैं वे अक्षय स्वर्गको प्राप्त होते हैं। और जो आयुष् अमृत दोनों रूपोंसे मेरी उपासना करते हैं उन्हें सौ वर्ष तक अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

हे प्रदर्तन, जब प्राणरूप उपाधियुक्त मुझ आत्माकी उपासनाका ऐसा फल है तब प्राणरूप उपाधिसे रहित शुद्ध आत्माके ज्ञानसे पुरुषोंको महाफलकी प्राप्ति होती है, इसमें क्या आश्चर्य है।"

इन्द्रके वचनको सुनकर प्रतर्दन राजाने कहा—"हे भगवन्! "प्राणस्वरूप मैं हूँ" आपके इस वचनको सुनकर और मुनियोंके पूर्व कहे हुए वचनोंको स्मरण करके मुझे संशय हो रहा

है। आपने प्राणको ही प्रधान कहा है और मुनियोंने प्राणको प्रधान नहीं कहा है। अतः किस अर्थमें हम आत्मबुद्धि करें। एक बार हमारे राज दरबारमें उपस्थित वेदवेत्ता मुनियोंने किसी प्रसंगपर इस प्रकारके वचनोंको कहा था। उन वचनोंको आपके सम्मुख हम कहते हैं। मुनिने कहा—अन्तरवायुके सहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका प्राण शब्द वाचक है, केवल अन्तरवायुका वाचक प्राण शब्द नहीं। क्योंकि अतिशय करके अपने व्यापारको जो करे उसे प्राण कहते हैं। यह प्राण शब्दका अर्थ सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें भी घटता है। इसलिए सम्पूर्ण इन्द्रियोंको प्राण शब्दकी अर्थता सम्भव है। उन सम्पूर्ण प्राणोंमें एकको नियमसे प्रधानता नहीं किन्तु अपने अपने व्यापारमें सबकी प्रधानता है। क्योंकि वाक्-इन्द्रियका शब्द उच्चारण कार्य है, और चक्षुइन्द्रियका रूपादिकोंका दर्शन कार्य है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके भी अपने अपने कार्य भिन्न भिन्न हैं। उन कार्योंके भेद से यद्यपि इन्द्रिय भिन्न भिन्न हैं, तथापि अपने-अपने कार्यमें सम्पूर्ण इन्द्रियाँ एक भावको प्राप्त होती हैं, जैसे ग्राममें भिन्न-भिन्न स्थित महाजन पुरुष विवाहादिक कार्यके लिए सभी एक भावको प्राप्त होते हैं। जिस कालमें एक इन्द्रिय अपने व्यापारमें प्रवृत्त होती है उस कालमें अन्य इन्द्रियोंकी अपने व्यापारमें प्रवृत्ति नहीं होती। यही इन्द्रियोंकी एकता है। क्योंकि जिसकालमें वाक्-इन्द्रिय शब्दका उच्चारण रूप अपना व्यापार करती है उस समय नेत्रादिक इन्द्रिय अपने-अपने व्यापारोंको नहीं करती। और जिस कालमें चक्षु इन्द्रिय रूपादिकोंका दर्शन रूप व्यापारको उत्पन्न करती है उस कालमें वाकादिक इन्द्रिय अपने व्यापारको उत्पन्न नहीं करती, इसी प्रकार सभी इन्द्रियोंमें जानना चाहिए। तात्पर्य यह कि जैसे वरकी अपने विवाहमें प्रधानता होती है और उसी वरकी दूसरेके विवाहमें गौणता होती है। अतः नियम से वरमें प्रधानता तथा गौणता नहीं, तैसे ही वचन आदि व्यापारमें वाक्-इन्द्रियकी प्रधानता और नेत्रादिकोंकी गौणता है और रूप दर्शन में चक्षुकी प्रधानता और वाकादिकोंकी गौणता है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियोंमें अपने-अपने व्यापारमें प्रधानता अन्य इन्द्रियोंके व्यापारमें गौणता जान लेनी चाहिये। नियमसे प्रधानता किसी इन्द्रियमें भी नहीं, इसलिए सभी समान हैं। और श्रुतिमें भी वाक् आदिक सम्पूर्ण प्राणोंकी समानता तथा अनेकता कही गयी है।

अथवा—युक्तिसे विचार किया जाय तो भी वाकादि सम्पूर्ण प्राणोंकी समानता ही सिद्ध होती है, विषमता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि यह पुरुष जिस कालमें वाक्-इन्द्रियसे शब्दका उच्चारण करता है, उसकालमें चक्षु-इन्द्रियसे देखता नहीं। और जिस कालमें नेत्रसे देखता है उस कालमें वाक्-इन्द्रियसे शब्दका उच्चारण नहीं करता। इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी अपने-अपने व्यापारमें प्रधानता है। और अन्य इन्द्रियोंके व्यापारमें गौणता है। यदि नियमसे वाकादिक इन्द्रियोंकी प्रधानता ही हो तो दर्शन रूप व्यापारमें चक्षुकी तरह वाक्-इन्द्रियकी भी

प्रधानता होनी चाहिये और दर्शन रूप व्यापारमें वाक्-इन्द्रियकी प्रधानता है नहीं।

अथवा—यदि नियमसे इन्द्रियोंमें गौणता ही माने तो शब्द उच्चारण रूप व्यापारमें भी वाक्-इन्द्रियकी प्रधानता न होती चाहिए, बल्कि गौणता होनी चाहिए और गौणता होती नहीं। इस प्रकार सर्व इन्द्रियोंमें प्रधानताका तथा गौणताका नियम नहीं।

अथवा—वाक्‌आदिक सम्पूर्ण प्राणोंमें एक कालमें क्रिया नहीं होती, किन्तु एक इन्द्रियके व्यापारकी जब उपरामता होती है तब ही दूसरी इन्द्रिय अपने व्यापारको करती है।

शंका—यदि सम्पूर्ण इन्द्रिय एक कालमें अपने-अपने व्यापारोंको न उत्पन्न करें तो यह लोकोंका अनुभव कि व्यर्थ होगा वाक्-इन्द्रियसे वचनका उच्चारण करता हुआ मैं चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूपको देखता हूँ और श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा शब्द का श्रवण, घ्राण इन्द्रिय द्वारा गन्धका ग्रहण, त्वक इन्द्रिय द्वारा स्पर्श ज्ञान, रसना इन्द्रिय द्वारा रस ज्ञान, हस्त इन्द्रिय द्वारा ग्रहण कार्य, पाद द्वारा चलन कार्य, उपस्थ द्वारा आनन्द, पायु द्वारा मल त्याग करता हूँ। प्राण द्वारा स्वाँस क्रिया, अहंकार द्वारा अहंभाव, मन द्वारा संकल्प-विकल्प और चित्तद्वारा सामान्यरूपसे पदार्थोंको मैं जानता हूँ। बुद्धि द्वारा देहमें स्थित सुख-दुःखादिक पदार्थोंको सामान्य रूप तथा विशेष रूपसे मैं जानता हूँ। उपर्युक्त प्रकारके लोकोंके अनुभव प्रमाणसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें एक कालमें ही सम्पूर्ण व्यापार प्रतीत होते हैं। अतः नियम रहित प्रधानताको लेकर सभी इन्द्रियोंको समान कहना ठीक नहीं।

समाधान—एक कालमें सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापारमें जो लोकोंका अनुभव तुमने कहा है, वह अनुभव भ्रमरूप है। क्योंकि जिस क्षण में एक इन्द्रियका व्यापार होता है उस क्षणमें दूसरे इन्द्रियका व्यापार नहीं होता। किन्तु दूसरे क्षणमें दूसरी इन्द्रियका व्यापार होता है और तीसरे क्षणमें तीसरी इन्द्रियका व्यापार होता है। इस प्रकार क्षण-क्षणके बाद इन्द्रियों का व्यापार होता है। परन्तु वह क्षण अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः अविवेकी पुरुषोंको ऐसी भ्रान्ति होती है कि एक कालमें ही हमें सम्पूर्ण दर्शन आदि व्यापार उत्पन्न हुए हैं, जैसे नीचे ऊपर स्थित अनेक कमल पत्रोंका एक कालमें में सूईसे भेदन नहीं होता, किन्तु प्रथम क्षणमें सूचीमें क्रिया होती है, द्वितीय क्षणमें पूर्व देश से सूचीका विभाग उत्पन्न होता है, तृतीय क्षण में सूचीके पूर्व संयोगका नाश होता है और चतुर्थ क्षणमें कमल पत्र रूप उत्तर देशके साथ सूचीका संयोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार एक-एक पत्रके भेदनमें चार-चार क्षण होते हैं। परन्तु वे क्षण अतिसूक्ष्म हैं। इसलिये अविवेकी जनोंको ऐसी भ्रान्ति होती है कि हमने एक कालमें ही अनेक कमल पत्रोंका भेदन कर दिया है। इसी प्रकार प्राणियोंके वाकादिक व्यापार भी भिन्न-भिन्न कालमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु वह काल अत्यन्त सूक्ष्म है। इसलिये एक कालमें होने की भ्रान्ति अविवेकी

पुरुषोंको होती है। अतः सम्पूर्ण प्राण समान हैं।

हे देवराज इन्द्र! इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणोंमें समानता मुनियोंने पहले मुझसे कही थी। और आपने वायुरूप प्राणमें ही आत्म बुद्धिका विधान किया, ऐसा क्यों? मेरे चित्तमें यही संशय है?"

प्रतर्दन राजाके वचनको सुनकर देवराज इन्द्रने कहा—राजन! इस लोकके जीवनका कारण प्राण है। और परलोकके जीवनका भी कारण प्राण है। अन्य किसी वाकादिक इन्द्रियों में कारणता नहीं। वह जीवनकी कारणता ही प्राणमें आत्म बुद्धिका हेतु है। और वह जीवन की कारणता ही वाकादिक इन्द्रियोंसे प्राणोंमें विशेषता है। दूसरी कोई विशेषता नहीं है। और पहले तुमने ऋषियोंके वचनोंसे प्राणमें प्रधानता और गौणताका अनियम कहा है वह अनियम भी वायुरूप मुख्य प्राणमें सम्भव नहीं, किन्तु वाकादिक इन्द्रियरूप गौण प्राणोंमें ही वह अनियम सम्भव है। क्योंकि जब तक प्राणोंका व्यापार शरीरमें होता रहता है तब तक संपूर्ण वाकादिक इन्द्रियोंमें वचन आदि रूप क्रिया होती है। प्राणका व्यापार जब उपराम हो जाता है तब किसी इन्द्रियमें कोईभी क्रिया नहीं होती। यह बात सबको अनुभव सिद्ध है। और प्राणोंके विद्यमान होने पर वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, रसन, घ्राण इन दश इन्द्रियोंमें एक एक इन्द्रियके व्यापारके बिना अथवा सर्व इन्द्रियके व्यापारके बिना भी प्राणियोंका जीवन देखा जाता है। जैसे वाक् इन्द्रियके वचन रूप व्यापारके बिना मूक प्राणी जीवित रहता है। इसी प्रकार लूला लंगड़ा, रोगी, कोढ़ी, अन्धा, बहरा आदि एक एक इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित प्राणी जीवित रहते हैं। अन्तःकरणके निश्चय रूप व्यापारसे रहित जड़ उन्मत्त पुरुष भी जीवित रहता है। इस प्रकार सर्व इन्द्रियोंके व्यापारके बिना भी प्राणी जीवित रहते हैं, परन्तु प्राणके व्यापारसे रहित कोई प्राणी जीवित नहीं देखा गया। अतः सर्व इन्द्रियोंसे प्राण उत्कृष्ट है। इस कारण हे प्रतर्दन! प्राणरूप उपाधिको अंगीकार करके "प्राणस्वरूप मैं हूँ" इस प्रकारका उपदेश मैंने तुमको किया है। और सम्पूर्ण वाकादिक इन्द्रियोंसे प्राणकी उत्कृष्टता स्वीकार करके ही श्रुतिमें प्राणोंकी उक्थ रूपसे उपासना कही है। गोलक, इन्द्रियों तथा देवताओंसे युक्त होकर भी यह शरीर मूर्च्छा आदिक अवस्थामें मृतकके समान हो जाता है। उस शरीरको यह प्राण आसनादिसे उठाता है, इस कारण विवेकी पुरुष प्राणकी उक्थ नामसे उपासना करते हैं।

अथवा—सभी इन्द्रियोंसे पहले कारणरूप प्राण ही उत्थानको प्राप्त होता है, इस कारणसे भी प्राणको उक्थ कहते हैं। और जो सबसे पहले उत्थानको प्राप्त हो वह श्रेष्ठ होता है। जैसे हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्थानको प्राप्त होता है, अतः श्रेष्ठ है। तैसे प्राणभी सबसे पहले उत्थानको प्राप्त होता है, अतः श्रेष्ठ है। और जो श्रेष्ठ है वह हिततम होता है। इसलिये प्राण स्वरूप मैं आत्मा ही हिततम हूँ। मुझसे भिन्न कोई हिततम नहीं है।

अब प्राणकी प्रज्ञास्वरूपता दिखलाते हैं :-

हे प्रतर्दन, जैसे नेत्रादिक ज्ञानेन्द्रियों तथा वाकादिक कर्मेन्द्रियोंकी मुख्य प्रज्ञा स्वरूपता नहीं, किन्तु अन्तःकरणकी निवृत्तिके सम्बन्धसे नेत्रादिक इन्द्रियोंको गौण प्रज्ञास्वरूपता है, तैसे प्राणको गौण प्रज्ञा स्वरूपता नहीं किन्तु प्राण की मुख्य प्रज्ञा स्वरूपता है। तात्पर्य यह कि जैसे आयुष्-अमृत तथा प्राणका परस्पर भेद नहीं किन्तु प्राण-आयुष् अमृत स्वरूप हैं यह पहले कह आये हैं, तैसे प्राण और प्रज्ञाका भी परस्पर भेद नहीं, किन्तु प्राण ही प्रज्ञा स्वरूप है।

अथवा—लोक प्रसिद्ध जो वायुरूप प्राण है तथा अन्तःकरणकी वृत्तिरूप जो प्रज्ञा है वे दोनों भी जैसे खाटके चार पर भिन्न-भिन्न होकर प्रतीत होते हैं तैसे भिन्न-भिन्न होकर प्रतीत नहीं होते किन्तु जीवनकालमें सर्वजीवोंके शरीरमें इकट्ठे ही प्राण-प्रज्ञा प्रतीत होते हैं। और मरण-कालमें भी इकट्ठे ही प्राण प्रज्ञा लोकान्तर में गमन करते हैं। अतः प्राण-प्रज्ञा अभिन्न हैं। जब लोक प्रसिद्ध प्राण और प्रज्ञामें भेद नहीं सिद्ध हुआ तब प्राण प्रज्ञा शब्दके लक्ष्य अर्थ अलौकिक अद्वितीय मुझ आत्मामें किस कारणसे भेद सिद्ध होगा, किन्तु किसी प्रकार से भेद सिद्ध नहीं होगा। अतः प्राण-प्रज्ञा स्वरूप मैं आत्मा हूँ।

अथवा—अन्वय व्यतिरेकसे भी प्राणकी ही आत्मता सिद्ध होती है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था तथा मरण अवस्थामें प्राण विद्यमान है, इसलिए प्राणका सुषुप्ति-मरणमें अन्वय है। और वाकादिक इन्द्रियोंका सुषुप्ति तथा मरण अवस्थामें लय होता है, इसलिये उन वाकादिकों का वहाँ व्यतिरेक है। इस प्रकारका अन्वय व्यतिरेक ही प्राणकी आत्मरूपता सिद्ध करता है। इसी अर्थको स्पष्ट करके दिखलाते हैं—जिस सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल-सूक्ष्म शरीरका अभिमानी यह जीवात्मा शयनको प्राप्त होकर किंचित् मात्र भी स्वप्न पदार्थोंको नहीं देखता, उस सुषुप्ति अवस्थामें यह जीवात्मा प्राण उपहित परमात्माके साथ अभेद भावको प्राप्त होता है। यद्यपि जाग्रत, स्वप्न अवस्थामें भी अभेद है तथापि जाग्रत और स्वप्न अवस्थामें उपाधि द्वारा भेद और वास्तवमें अभेद दोनों विद्यमान है। और यहाँ सुषुप्ति अवस्थामें तो केवल अभेद ही होता है। तात्पर्य यह कि पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण चतुष्टय, तथा इन्द्रियोंके विषय ये सम्पूर्ण उपाधियाँ जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थामें आत्माका भेद करनेवाली हैं। इन उपाधियों द्वारा भी सुषुप्ति अवस्थामें आत्माका भेद सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ये सम्पूर्ण वाकादिक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ सुषुप्ति अवस्थामें प्राण उपहित मुझ परमात्मामें लयको प्राप्त हो जाती हैं। इसलिये सुषुप्ति अवस्थामें मुझ परमात्माकी एकता सम्भव है। हे प्रतर्दन, मैं आत्मा अद्वितीय हूँ। इसलिये स्वरूपसे मुझमें भेद सम्भव नहीं। किन्तु वाकादिक उपाधियोंसे मुझ आत्मामें भेद प्रतीत होता है। वे वाकादिक उपाधियाँ सुषुप्ति अवस्थामें लय हो जाती हैं, इसलिये सर्व भेदसे रहित प्राण स्वरूप मुझ आत्माकी एकता ही सुषुप्ति अवस्थामें सिद्ध होती है।"

शंका—"हे भगवन्! सुषुप्ति अवस्थामें वाक्-आदिक सम्पूर्ण इन्द्रियोंका प्राणमें लय आपने कहा है। इससे यह निश्चय होता है कि वाकादिक इन्द्रियोंका उपादान कारण प्राण है। क्योंकि कार्यके लयका आधार उपादान कारण ही होता है, निमित्त कारण नहीं होता है। जैसे घटके लयका आधार मृत्तिका है, कुम्हार नहीं। इसलिये कुम्हारकी तरह वाकादिक इन्द्रियोंका प्राणसे भिन्न कोई निमित्त कारण होना चाहिए।"

समाधान—"हे प्रतर्दन! वाकादिक इन्द्रियों-का उपादान कारण तथा निमित्त कारण प्राण स्वरूप मैं आत्मा ही हूँ, जैसे एक ही मकड़ी जालाका उपादान और निमित्त कारण होती है। अन्य दृष्टान्त भी हैं—जैसे नैयायिकोंके मतमें घट-ईश्वरके संयोगका एक ईश्वर ही उपादान तथा निमित्त कारण होता है। और सुषुप्ति अवस्थामें जिस प्राण स्वरूप आत्मामें वाकादिक इन्द्रियाँ लयको प्राप्त होती हैं, उसी प्राण स्वरूप मुझ आत्मासे जाग्रत अवस्थामें सम्पूर्ण वाकादिक इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न हुआ घट मृत्तिकासे भिन्न नहीं होता, तैसे ही प्राण स्वरूप मुझ आत्मासे उत्पन्न हुई वाकादिक इन्द्रियाँ मुझसे भिन्न नहीं हैं।"

शंका—"भगवन्! जब वाकादिक इन्द्रियाँ प्राण स्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं तब भिन्न होकर क्यों प्रतीत होती हैं?"

समाधान—"ये वाकादिक प्राणस्वरूप मुझ परमात्माकी विभूतियाँ हैं। इसलिये मुझ आत्मासे भिन्न होकर उत्पन्न नहीं होतीं, किन्तु मेरा स्वरूप होकर ही उत्पन्न होती हैं। अविवेकसे उनमें भेद प्रतीत होता है।"

शंका—"हे भगवन्! वाकादिक इन्द्रिय रूप विभूतियोंकी प्राणस्वरूप आत्मासे अभिन्न रूप करके आपने उत्पत्ति कही है, यह सम्भव नहीं। क्योंकि लोकमें भिन्नोंका ही कार्य कारण भाव देखा जाता है।"

समाधान—भिन्नोंका ही कार्य कारण भाव होता है, यह नियम सम्भव नहीं। किन्तु अभिन्नोंका भी कार्य-कारण भाव होता है। जैसे प्रज्वलित अग्निसे कण उत्पन्न होते हैं, वे कण अग्निसे भिन्न नहीं किन्तु अभिन्न हैं। तैसे जाग्रत अवस्थामें प्राणस्वरूप मुझ आत्मासे वाकादिक इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, उनसे अग्नि आदि देवता उत्पन्न होते हैं, उन देवताओंसे शब्द उच्चारण आदि विषय उत्पन्न होते हैं।

अब दृष्टि-सृष्टिवादको स्पष्ट करनेके लिये इसी अर्थको युक्तियों द्वारा निरूपण करते हैं—

हे प्रतर्दन! सुषुप्ति अवस्थामें सुषुप्त पुरुष विषय सहित वाकादिक इन्द्रियोंको देखता नहीं तथा अन्य कोई जाग्रत पुरुष भी सुषुप्त पुरुषके वाकादिक इन्द्रियोंको नहीं देखता, परन्तु सुषुप्त पुरुषके प्राणको तो अन्य जाग्रत पुरुष देखते हैं। इस कारणसे भी प्राणको ही वाकादिक इन्द्रियोंकी कारणता सिद्ध होती है। क्योंकि जिस वस्तुके विद्यमान होने पर ही जो वस्तु प्रतीत हो और जिस वस्तुके विद्यमान होने पर भी जो वस्तु वहाँ न प्रतीत हो उस वस्तुका वह वस्तु कार्य होता है। जैसे मृत्तिकाके विद्यमान

होनेपर ही घटादिक प्रतीत होते हैं और घटके उत्पत्तिसे पहले मृत्तिकाके विद्यमान होने पर भी घटादिक वहाँ प्रतीत नहीं होते। इसलिये मृत्तिकाके घटादिक कार्य हैं।"

शंका—"हे भगवन, जिसके विद्यमान होने पर जो प्रतीत होता है वह उसका कार्य है, यह कार्यका लक्षण आपने कहा है। वह लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला है। क्योंकि सूर्यादिक प्रकाशके विद्यमान होनेपर ही घटादिकोंकी चक्षु इन्द्रिय द्वारा प्रतीति होती है। प्रकाशके विना अन्धकारमें स्थित घटादिकोंकी प्रतीति नहीं होती। अतः घटादिक भी प्रकाशके कार्य होना चाहिए और प्रकाशके कार्य घटादिक हैं नहीं।"

समाधान—"जिस वस्तुके विद्यमान होने पर ही जो वस्तु उत्पन्न हो और उस वस्तुसे भिन्न किसी वस्तुसे उत्पन्न न हो, और उस वस्तुके विद्यमान होने पर भी वह वस्तु कदाचित् वहाँ उत्पन्न न हो, वह वस्तु उस वस्तुका कार्य होती है। जैसे तन्तुके विद्यमान होने पर ही पट उत्पन्न होता है, तन्तुसे भिन्न मिट्टीके विद्यमान होने पर भी पटकी उत्पत्ति नहीं होती। और पटकी उत्पत्तिसे पहले तन्तुओंके विद्यमान होने पर भी करघा आदि सामग्रीके विना वहाँ पट उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये तन्तुओंका पट कार्य है और मृत्तिका-का कार्य घट है। सूर्यादिक प्रकाशका कार्य घट नहीं। अतः यह कार्यका लक्षण निर्दोष है। और यह कार्यका लक्षण वाकादिक इन्द्रियोंमें भी घटता है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्थामें प्राणके विद्यमान होनेपर भी वहाँ वाकादिक इन्द्रियाँ उत्पन्न नहीं होती। और जाग्रत अवस्थामें प्राणके विद्यमान होनेपर ही वाकादिक इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और प्राणसे भिन्न किसी कारणसे वाकादिक उत्पन्न नहीं होते। अतः वाकादिक इन्द्रियाँ प्राणके कार्य हैं। तात्पर्य यह कि जैसे अग्निको छोड़ कर धूम नहीं रहता, किन्तु जहाँ धूम रहता है तहाँ अग्नि अवश्य रहती है। और अग्नि तो धूमको छोड़कर भी तप्त लौहमें रहती है, इसलिये अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य है। तैसे प्राणको छोड़कर वाकादिक इन्द्रियाँ नहीं रहती और प्राण तो सुषुप्ति अवस्थामें इन्द्रियादिकोंके लय होनेपर भी रहता है। अतः प्राण व्यापक है और वाकादिक इन्द्रियाँ व्याप्य हैं। कारण व्यापक होता है और कार्य व्याप्य होता है।

अथवा—सुषुप्तिमें विषय सहित वाकादिक इन्द्रियोंका समूह यदि प्राणमें लय न हुआ हो तो सुषुप्तिमें सुप्त पुरुष तथा अन्य जाग्रत पुरुष द्वारा सविषय वाकादिक इन्द्रियाँ प्रतीत होनी चाहिए। और सुषुप्तिमें सविषय इन्द्रियाँ प्रतीत नहीं होती हैं, इसलिए ऐसा जाना जाता है कि सुषुप्ति अवस्थामें विषय सहित वाकादिक इन्द्रियाँ प्राणमें लय हो गई हैं, जैसे दण्ड आदिसे चूर्ण किया हुआ घट मृत्तिका रूप अपने कारणमें लयको प्राप्त हो जाता है।"

शंका—"हे भगवन! वाकादिक इन्द्रियों तथा शब्द उच्चारण आदि विषयोंका परस्पर भेद है, इसलिए सुषुप्तिमें वाकादिक इन्द्रियोंके लय होनेपर भी उनके विषयोंका लय सम्भव नहीं है।"

समाधान—"कारणके अभाव होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होता, जैसे प्रदीपके विना प्रदीपका कार्य प्रभा उत्पन्न नहीं होती तैसे वाकादिक इन्द्रियोंके लय होनेपर उनके कार्य शब्द उच्चारणादिक विषय भी सुषुप्ति अवस्थामें उत्पन्न नहीं होते। इसलिए उन विषयोंका भी लय सम्भव है।

अथवा—जो वस्तु जिस वस्तुमें लय होती है वह वस्तु उसी वस्तुसे उत्पन्न होती है, यह नियम है। जैसे प्रज्वलित अग्निमें कणोंका लय होता है और उसी अग्निसे उन कणोंकी उत्पत्ति होती है तैसे सुषुप्ति अवस्थामें वाकादिक इन्द्रियों का प्राणमें लय होता है और जाग्रत अवस्थामें उसी प्राणसे वाकादिक इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है।

शंका—"जैसे अग्निमें जो-जो कण लयको प्राप्त होते हैं वह-वह कण पुनः उत्पन्न नहीं होते। किन्तु उनसे भिन्न ही कण उत्पन्न होते हैं। तैसे सुषुप्तिमें प्राणमें लय हुए वाकादिक इन्द्रियोंसे भिन्न ही वाकादिक इन्द्रियोंकी जाग्रतमें उत्पत्ति होनी चाहिए।"

समाधान—"जैसे अग्निसे उत्पन्न हुआ कण पूर्व विलीन कणसे भिन्न प्रतीत होता है तैसे जाग्रतमें प्राणसे उत्पन्न हुई वाकादिक इन्द्रियाँ पूर्व विलीन वाकादिकोंसे भिन्न होकर प्रतीत नहीं होती हैं, किन्तु सुषुप्तिमें जो वाकादि इन्द्रियाँ प्राणमें लय हुई थीं वही वाकादिक इन्द्रियाँ पुनः जाग्रतमें प्राणसे उत्पन्न हुई प्रतीत होती हैं। इसलिए उनके भेदमें प्रत्यक्ष प्रमाण सम्भव नहीं।"

शंका—"वर्तमान् वाकादिक इन्द्रियोंसे पूर्व विलीन वाकादिक इन्द्रियोंका भेद अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है। उस अनुमानका प्रकार यह है कि पूर्व वाकादिक इन्द्रियाँ वर्तमान वाकादि इन्द्रियोंसे भिन्न हैं, क्योंकि विलीन होनेसे। जो वस्तु पूर्व विलीनताको प्राप्त होती है वह वर्तमान वस्तुसे भिन्न होती है। जैसे पूर्व अग्निमें विलीन हुए कण वर्तमान कणसे भिन्न हैं। इस अनुमान प्रमाणसे पूर्व उत्तर वाकादिक इन्द्रियोंका भेद ही सिद्ध होता है।"

समाधान—"इस अनुमानसे वाकादिक इन्द्रियोंका भेद नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि जो हेतु अपने साध्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता उस हेतुसे उस साध्यकी सिद्धि होती है, और धूमरूप हेतु वह्निरूप साध्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, इसलिए धूमरूप हेतुसे पर्वतमें वह्निकी सिद्धि होती है। और जो हेतु अपने साध्यको छोड़कर अन्यत्र भी रहे, उस हेतुसे उस साध्यकी सिद्धि नहीं होती। जैसे प्रमेयत्व हेतु वह्निके अभाव वाले जलादिकोंमें भी रहता है। इसलिए प्रमेयत्व रूप व्यभिचारी हेतुसे पर्वतमें अग्निरूप साध्यकी सिद्धि नहीं होती। तैसे यह विलीनत्व रूप हेतु भी भेदरूप साध्यको छोड़कर अन्यत्र वर्तता है, इसलिए व्यभिचारी है। क्योंकि अधिक धूलसे आच्छादित घटमें विलीनत्व रूप हेतु तो रहता है, परन्तु वर्तमान उसी घटसे उसका भेद होता नहीं, किन्तु जो पहले धूलिसे आच्छादित घट था, वही घट धूलिसे रहित हुआ प्रतीत होता है। इसलिए

विलीनत्व रूप व्यभिचारी हेतुसे वाकादिक इन्द्रियोंके भेदकी सिद्धि सम्भव नहीं।"

शंका—"धूलिसे आच्छादित घटमें जैसे वर्तमान् उसी घटका भेद रूप साध्य नहीं तैसे विलीनत्व रूप हेतु भी उसमें नहीं, इसलिए विलीनत्व रूप हेतु व्यभिचारी नहीं।"

समाधान—"वस्तुके अदर्शनका नाम लय है। अदर्शनसे भिन्न कोई लय शब्दका अर्थ नहीं। जैसे स्वप्नके पदार्थोंका जाग्रतमें दर्शन नहीं होता, इसलिये स्वप्न पदार्थोंका जाग्रतमें अदर्शन कहा जाता है। तैसे धूलिसे आच्छादित घटका भी उस कालमें दर्शन नहीं होता, इसलिये विलीनत्वरूप हेतु उस घटमें सम्भव है।"

शंका—"अदर्शनका नाम लय है, यह आपने कहा, वह यद्यपि प्रातिभासिक स्वप्न पदार्थोंमें तो घटता है तथापि व्यावहारिक पदार्थों में घटता नहीं, क्योंकि यदि सर्वत्र अदर्शनका नाम ही लय हो तो देशान्तरमें स्थित पुत्रादि बान्धवोंका दर्शन किसीको नहीं होता है, इसलिए "मेरे पुत्रादि बान्धव लय हो गये हैं" इस प्रकारका कथन-व्यवहार लोकमें होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः अदर्शनका नाम लय नहीं है।"

समाधान—"जिस कालमें पुत्रादिक बान्धवों का अदर्शन होता है उस कालमें उनका लय ही होता है और जिस कालमें उन पुत्रादि बान्धवोंका दर्शन होता है उस कालमें उनकी पुनः उत्पत्ति होती है। यह अर्थ मानने में किंचित्मात्र भी हमारी हानि नहीं है।"

शंका—"यदि लय हुए पुत्रादिकोंकी पुनः उत्पत्ति मानेंगे तो मृत्युको प्राप्त हुए पुत्रादिकों की भी पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये। और मृत पुत्रादिकोंको पुनः कोई देखता नहीं है।"

समाधान—"पुत्रादिक बान्धवोंके दर्शनमें मरण तथा जीवन कारण नहीं, किन्तु उनसे भिन्न ही अदृष्ट आदि कारण हैं। क्योंकि अत्यन्त दूर देशमें स्थित जीवित पुत्र-बान्धवोंका भी कदाचित् पुनः दर्शन नहीं होता। अतः जीवन और मरण पुनः दर्शनके कारण नहीं।"

शंका—"दूर देशमें स्थित बान्धवोंका दर्शन वहाँ जाकर सम्भव है, और मृत बान्धवोंका दर्शन किसी प्रकार सम्भव नहीं। इसलिये जीवन ही पुनः दर्शनका कारण है, मरण नहीं।

समाधान—"जैसे जीवनको कदाचित् पुनः दर्शनकी कारणता तुमने दिखाई तैसे मरणको भी कदाचित् पुनः दर्शनकी कारणता सम्भव है। क्योंकि स्वप्नमें बहुत दिनके मरे हुए बान्धवों का भी कदाचित लोगोंको दर्शन होता है। अतः नियमसे जीवन तथा मरण पुनः दर्शनके कारण नहीं, किन्तु अदृष्टादिक ही पुनः दर्शनके कारण हैं।"

शंका—"दर्शन कालमें पुत्रादिक बान्धवोंकी उत्पत्ति होती है यह पहले आपने कहा है, वह सम्भव नहीं। क्योंकि लोकमें जो-जो पुत्रादिक उत्पन्न होते हैं उनको इस प्रकारका ज्ञान नियम से होता है कि देवदत्त नामक मैं यज्ञदत्त नामक पितासे उत्पन्न हुआ हूँ, अतः ऐसा जाना जाता है कि उस पितासे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, इस प्रकारका ज्ञान तो व्यापक है और पुत्रादिकोंकी उत्पत्ति व्याप्य है, व्यापकके बिना व्याप्यकी

स्थिति नहीं होती। जैसे अग्निके विना धूमकी स्थिति नहीं होती। यदि दर्शन कालमें पुत्रादिकों की उत्पत्ति होती हो तो उसमें मैं अभी उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा ज्ञान पुत्रादिकोंको होना चाहिए। और ऐसा ज्ञान किसीको होता नहीं, अतः व्यापक रूप ज्ञानके अभाव होनेसे उस ज्ञानका व्याप्यरूप जो पुत्रादिकोंकी उत्पत्ति वह भी दर्शन कालमें नहीं होती है।"

समाधान—"इसमें मैं उत्पन्न हुआ हूँ, इस ज्ञानको उत्पत्तिकी व्यापकता यदि सर्वत्र हो तो तुम्हारा पूर्व पक्ष सम्भव है, परन्तु उस ज्ञान को उत्पत्तिकी व्यापकता सर्वत्र है नहीं। क्योंकि घटादिक जड़ पदार्थोंकी उत्पत्ति तो होती है, परन्तु घटादि जड़ पदार्थोंमें 'इससे मैं उत्पन्न हुआ हूँ' इस प्रकारका ज्ञान नहीं होता।"

शंका—"इससे मैं उत्पन्न हुआ हूँ" इस प्रकारका ज्ञान यद्यपि घटादिक जड़ पदार्थोंमें तो है नहीं तथापि घटादिकोंके द्रष्टा पुरुषको इस प्रकारका ज्ञान होता है कि मृतिका आदिसे यह घट उत्पन्न हुआ है। इसलिये जहाँ उत्पत्ति होती है वहाँ इस प्रकारका ज्ञान अवश्य होता है।"

समाधान—"द्रष्टा पुरुषके ज्ञानको घटके उत्पत्तिकी व्यापकता सम्भव नहीं। क्योंकि एक अधिकरणमें रहनेवाले पदार्थोंका ही परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव होता है, जैसे एक अधिकरणमें रहनेवाले धूम और वह्निका परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव होता है। और जो भिन्न-भिन्न अधिकरणमें रहते हैं उनका परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव नहीं रहता, जैसे शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्शका परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव नहीं होता है। तैसे उत्पत्ति और पूर्वो ज्ञानका एक अधिकरण नहीं है, किन्तु उत्प का अधिकरण तो घट है और ज्ञानका अधिक घटका द्रष्टा पुरुष है। भिन्न-भिन्न अधिकरणमें रहनेवाले उत्पत्ति तथा ज्ञानका परस्पर व्या व्यापक भाव मानना अत्यन्त विरुद्ध है। इसलिये उत्पत्ति और पूर्वोक्त ज्ञानका परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव संभव नहीं।

शंका—'घटादिक जड़ पदार्थोंके उत्प तथा पूर्वोक्त ज्ञानका परस्पर व्याप्य-व्याप भाव यद्यपि सम्भव नहीं, तथापि चैतन्य मनुष्या दिकोंको "इससे मैं उत्पन्न हुआ हूँ।" इ प्रकारका ज्ञान होता है। इसलिये चैत मनुष्यादिकोंके उत्पत्तिका ही पूर्वोक्त ज्ञान व्याप है। जड़ोंके उत्पत्तिका व्यापक नहीं।"

समाधान—"इससे मैं उत्पन्न हुआ है इस प्रकारका ज्ञान चेतन मनुष्यादिकोंके उत्प का व्यापक भी सम्भव नहीं। क्योंकि मनुष्यादिक भी उत्पत्तिके बाद इस प्रकार न जानते कि इससे हम उत्पन्न हुए हैं। कि माता-पिताके वचनोंसे उस बालकको चिरका के बाद यह ज्ञान होता है। इसलिये चेतन उत्पत्तिका पूर्वोक्त ज्ञान व्यापक है, यह तुम्ह कहना भी व्यर्थ है।

अथवा—चेतनके उत्पत्तिका पूर्वोक्त ज्ञा व्यापक है, यह तेरा वचन "मेरे मुखमें जि नहीं है" इस प्रकारके वचनकी तरह व्याघा दोषसे युक्त है। क्योंकि चैतन्य आत्मा स्व है, इसलिए नित्य है। उस नित्य चैतन्य उत्पत्ति कहना अत्यन्त विरुद्ध है।"

शंका—"यह देवदत्त नामक पुरुष उत्पन्न हुआ है, इस प्रकारका अनुभव सभीको होता है, इसलिये चैतन्यकी भी उत्पत्ति सम्भव है।"

समाधान—"वह लोकोंका अनुभव यदि यथार्थ हो तो चैतन्यकी उत्पत्तिको सिद्ध करे, परन्तु वह लोकोंका अनुभव भ्रान्ति रूप है। क्योंकि अन्य वस्तुके धर्मोंका अन्य वस्तुमें आरोपणका नाम भ्रान्ति ज्ञान है। जैसे रज्जुमें यह सर्प है इस प्रकारका ज्ञान भ्रमरूप है, तैसे उत्पत्ति और नाश दोनों देहके धर्म हैं चैतन्यके धर्म नहीं। परन्तु अज्ञान रूप दोषसे अविवेकी पुरुष चैतन्य आत्मामें उत्पत्ति तथा नाश मानते हैं। इसलिये वे पुरुष भ्रान्त हैं, उनके अनुभवसे चैतन्यके उत्पत्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती।"

शंका—"यदि चैतन्यका उत्पत्ति नाश न होता हो तो दर्शनकालमें पुत्रादिकोंकी उत्पत्ति और अदर्शन कालमें उनका लय, इस प्रकारका दृष्टि-सृष्टि वाद आपका कैसे सिद्ध होगा?"

समाधान—"दर्शन काल तथा अदर्शन कालमें चैतन्यकी उत्पत्ति तथा नाश हम भी अंगीकार नहीं करते, किन्तु वहाँ भी शरीरादिक अनात्म पदार्थोंका ही उत्पत्ति-नाश होता है।

अथवा—जन्म शब्दके अर्थ पर विचार करें तो भी दृष्टि-सृष्टिवाद ही सिद्ध होता है। क्योंकि प्रादुर्भावका नाम जन्म है, वह प्रादुर्भाव दर्शनसे भिन्न नहीं। किन्तु वस्तुका दर्शन ही प्रादुर्भाव है। जैसे प्रातःकालमें जब सूर्यका दर्शन होता है तब लोग ऐसा कहते हैं कि सूर्यका प्रादुर्भाव हुआ है। लोगोंके इस व्यवहारसे दर्शनका नाम ही प्रादुर्भाव सिद्ध होता है। इसलिये पुत्रादिक पदार्थोंका दर्शन ही उन पुत्रादिकोंकी उत्पत्ति है और पुत्रादिकोंका अदर्शन ही उनका लय है। यह दृष्टि-सृष्टिवाद ही उत्तम सिद्धान्त है।"

शंका—"जैसे प्रथम माताके उदरसे जब पुत्रकी उत्पत्ति होती है, तब पिता उस बालकका जन्म संस्कार करता है तथा देवदत्त आदि नाम रखता है। तैसे पुत्रके दर्शन कालमें भी जन्मके संस्कार होने चाहिए, क्योंकि आपके मतमें जब जब पुत्रका दर्शन होता है तब तब उस पुत्रका जन्म होता है।"

समाधान—"यह दोष केवल हमारे मतमें नहीं, तुम वादीके मतमें भी यह दोष समान है। क्योंकि तुम्हारे मतमें जैसे ज्येष्ठ पुत्रके शरीरसे कनिष्ठ पुत्रका शरीर भिन्न है, इसलिये उनके संस्कार भी भिन्न भिन्न होते हैं, तैसे पुत्रके बाल्य शरीरसे युवा शरीर भी भिन्न है। बाल्य और युवा शरीरका अभेद तुम्हें भी स्वीकार नहीं है इसलिये बाल्य शरीरकी तरह युवा शरीरके उत्पन्न होने पर भी पुनः जन्मके संस्कार होने चाहिए, परन्तु ऐसा कोई करता नहीं।"

शंका—"बाल्य तथा युवा शरीरका परस्पर भेद नहीं किन्तु अभेद है, इसलिये जन्मके संस्कारोंकी आपत्ति रूप दोष हमारे मतमें सम्भव नहीं।"

समाधान—"बाल्य शरीर तथा युवा शरीरका अभेद सम्भव नहीं। क्योंकि बाल्य शरीरके परिमाणसे यौवन शरीरका परिमाण भिन्न है। आश्रयके भेदसे बिना परिमाणका भेद सम्भव नहीं। जैसे पंच हस्त परिमित पटसे दस हस्त

परिमित पट भिन्न होता है। तैसे अल्प परिमाणवाले बाल्य शरीरसे दीर्घ परिमाण वाला यौवन शरीर भी भिन्न है। शरीरका भेद ही जन्म संस्कारोंमें कारण है। इसलिये यौवन शरीरकी उत्पत्तिमें जन्म संस्कारोंकी प्राप्तिरूप दूषण तुम्हें भी अवश्य होगा।"

शंका—"यदि बाल्य शरीरसे यौवन शरीर भिन्न हो तो देवदत्त नामक पुरुषको अपने शरीरमें इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है कि जो मैं बालक था वही मैं अभी युवा हूँ, और उस देवदत्त पुरुषमें अन्य पुरुषोंको भी इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है कि वही यह देवदत्त है। ये दोनों प्रकारके प्रत्यभिज्ञा ज्ञान बाल्य, यौवन देवदत्तके अभेदको विषय करते हैं, वह नहीं होना चाहिये। तैसे आप दृष्टि-सृष्टि वादीके मतमें भी ये दोनों प्रत्यभिज्ञा ज्ञान नहीं होना चाहिए। परन्तु सभी पुरुषोंको इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है।

समाधान—"वही मैं देवदत्त हूँ" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान पूर्व-उत्तर शरीरके अभेदको विषय नहीं करता, किन्तु दोनों शरीरोंमें आरोपित जो आत्माकी एकता, उसको विषय करता है। और उस देवदत्त पुरुषमें दूसरे यज्ञदत्त नामक पुरुषको वही यह देवदत्त पुरुष है, ऐसा जो प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है, वह भी अपने सम्बन्धियोंके वचनमें विश्वाससे ही होता है। शरीरके अभेदसे किसी मतमें भी प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिए बाल्य, यौवनादिक शरीरमें आरोपित जो आत्माकी एकता, उस एकताको ग्रहण करके ही सर्वमतमें प्रत्यभिज्ञा ज्ञान संभव हो सकता है। शरीरोंकी एकता मान[...] निष्फल है।"

शंका—"हमारे मतमें आत्माके अभेद[...] ग्रहण करके वही मैं देवदत्त हूँ इस प्रकार[...] प्रत्यभिज्ञा ज्ञान नहीं होता, किन्तु शरीर[...] आरम्भ करनेवाली जो अवयवोंकी रचना वि[...] है, वह रचना बाल्य-यौवन शरीरमें एक ही है[...] इसलिए उन अवयवोंकी रचना विशेषको ग्र[...] करके पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव है[...] अथवा बाल्य-यौवन शरीरको आरम्भ करने[...] माता पिताके शुक्र शोणितको ग्रहण करके पूर्वो[...] प्रत्यभिज्ञान ज्ञान सम्भव है।"

समाधान—"आरम्भक कारणके अभेद[...] पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव नहीं। क्योंकि यदि कारणके अभेदसे प्रत्यभिज्ञा ज्ञान हो[...] एक काष्ठ अथवा पाषाणसे रचे हुए दो स्तम्भ[...] इनका कारण एक ही है, इसलिये उन दो[...] स्तम्भोंमें "वही यह स्तम्भ है" इस प्रकार[...] प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होना चाहिए। और भिन्न[...] भिन्न स्तम्भोंमें इस प्रकारका अभेद ज्ञान कि[...] पुरुषको नहीं होता है। अतः आरम्भक का[...] के अभेदको ग्रहण करके वह प्रत्यभिज्ञा ज्ञा[...] संभव नहीं है।"

शंका—"भिन्न-भिन्न शरीरोंमें आरो[...] जो आत्माकी एकता, उसको ग्रहण करके "[...] मैं देवदत्त हूँ" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञा[...] देवदत्तको होता है, यह पहले आपने कहा है[...] वह यद्यपि देवदत्तके प्रत्यभिज्ञा ज्ञानमें सम[...] है तथापि स्तम्भके प्रत्यभिज्ञा ज्ञानमें सम[...] नहीं। क्योंकि स्तम्भ जड़ है। अतः वही

स्तम्भ हूँ इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान उसको नहीं होता, किन्तु उस स्तम्भके द्रष्टा पुरुषको "वही यह स्तम्भ है" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है, वह नहीं होना चाहिये। क्योंकि वहाँ आत्माका अभेद है नहीं।"

समाधान—"आत्माके अभेदको ग्रहण करके यद्यपि स्तम्भमें अभेद प्रत्यभिज्ञा नहीं होती तथापि जैसे देवदत्त पुरुषमें यज्ञदत्त नामक पुरुषको अपने सम्बन्धियोंके वचनोंका विश्वास करके "वही यह देवदत्त है" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है तैसे स्तम्भके द्रष्टा पुरुष को भी अन्य पुरुषके वचनका विश्वास करके "वही यह स्तम्भ है" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव है।

अथवा—बाल्य-यौवन शरीरमें पिता-माताके शुक्र-शोणितकी एकताको ग्रहण करके जो पूर्व वादीने प्रत्यभिज्ञा ज्ञान कहा है वह भी सम्भव नहीं। क्योंकि जैसे अंकुरके उत्पन्न होने पर बीज नष्ट हो जाते हैं तैसे शरीरके उत्पन्न होने के बाद शुक्र शोणित भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये शुक्र-शोणितको ग्रहण करके प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव नहीं है।

अथवा—पहले वादीने जो यह कहा था कि बाल्य-यौवन शरीरमें एक ही अवयवोंकी रचना विशेष कारण है, इसलिए उन अवयवोंकी रचना विशेपको ग्रहण करके ही प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव है। यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि अवयवोंकी रचना विशेपको यदि शरीरकी कारणता किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जाय तो उस रचना को ग्रहण करके प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव है। परन्तु ऐसा किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि जैसे पृथ्वी आदिके परमाणु अत्यंत सूक्ष्म हैं इसलिये उनका प्रत्यक्ष ज्ञान किसीको नहीं होता है तैसे शरीरको आरम्भ करनेवाले अवयव भी अतिसूक्ष्म हैं, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उनका ज्ञान सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण के अप्रवृत्त होने पर अनुमानादिकों द्वारा भी उनका ज्ञान सम्भव नहीं।

अथवा—परमाणुओं द्वारा किसी कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। क्योंकि परमाणु जड़ हैं और अनेक हैं। जड़ वस्तुमें कार्यके आरम्भ करनेका विचार सम्भव नहीं। इसलिये परमाणु रूप अवयवोंकी रचना विशेपको ग्रहण करके "वही मैं देवदत्त हूँ यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव नहीं।"

शंका—प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय जो स्थूल अवयव हैं उनकी रचना विशेप ही बाल्य-यौवन शरीरका कारण है। इसलिये उसको ग्रहण करके ही "वही मैं हूँ" यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव है।"

समाधान—"बाल्य शरीरमें जो स्थूल अवयवोंकी रचना है वही रचना यौवन शरीरमें सम्भव नहीं। क्योंकि यदि बाल्य शरीरके अवयवोंकी रचना यौवन शरीरमें हो तो यौवन शरीरका बाल्य शरीरसे अधिक परिमाण तथा अधिक पराक्रम नहीं होना चाहिये। और बाल्य शरीरसे यौवन शरीरमें अधिक पराक्रम सभी लोकोंको अनुभव सिद्ध है। इसलिये बाल्य-यौवन शरीरमें स्थूल अवयवोंकी रचना भिन्न भिन्न है, एक नहीं। लोकमें भी परिमाणकी न्यूनाधिकतासे अवयवोंके रचनाका भेद ही देखा

जाता है। इसलिये हे वादिन्! जैसे तुम्हारे मतमें बाल्य शरीरसे भिन्न यौवन शरीरके उत्पन्न होनेपर भी पुनः जन्मके संस्कार नहीं होते, तैसे हम दृष्टिसृष्टि वादीके मतमें भी दर्शनसे पुत्रकी उत्पत्ति होनेपर भी जन्मके संस्कार नहीं होते।"

शंका—"यौवन शरीरमें "यह देवदत्त उत्पन्न हुआ है" इस प्रकारका ज्ञान किसी पुरुषको नहीं होता। इसलिये यौवन शरीरमें पुनः जन्मके संस्कारकी प्राप्तिरूप दूषण हमारे मतमें सम्भव नहीं।"

समाधान—"हमारे मतमें भी दर्शन कालमें पुत्रादिकोंके उत्पन्न होने पर भी उन पुत्रादिकोंमें यह पुत्र हमारा उत्पन्न हुआ है इस प्रकारका ज्ञान पिता, माता आदि सम्बन्धियोंको नहीं होता। इसलिये हम दृष्टि-सृष्टिवादीके मतमें भी पुनः जन्मके संस्कारोंकी प्राप्तिरूप दोष नहीं।

शंका—"आप दृष्टि-सृष्टि वादीके मतमें पुत्रादिकोंका अदर्शन ही उनका मरण है। इसलिये जैसे मरणके बाद पुत्रादिकोंकी दाह क्रिया की जाती है तैसे उनके अदर्शनके बाद उनका अग्निदाह क्रिया आदि करना चाहिए, परन्तु ऐसा कोई करता नहीं है।"

समाधान—"जैसे तुम्हारे मतमें यौवन शरीरके उत्पन्न होनेपर बाल्य शरीर नाश हो जाता है। क्योंकि यदि यौवन शरीरके प्राप्त होनेपर भी बाल्य शरीरका नाश न होता हो तो यौवन कालमें भी बाल्य शरीरकी प्रतीति होनी चाहिए, और यौवन कालमें बाल्य शरीरकी प्रतीति होती नहीं, इसलिये यौवन कालमें बाल्य शरीरका नाश होता है, उस नष्ट हुए बाल्य शरीरकी जैसे तुम अग्नि दाहादिक क्रिया न करते, तैसे हम दृष्टि-सृष्टि वादीके मतमें पुत्रादिक सम्बन्धियोंके बाहर गये होनेपर उन दर्शन नहीं होता, यह अदर्शन ही उन पुत्रादि बान्धवोंका मरण है। उस अदर्शन रूप मरण होनेपर भी उन पुत्रादिक सम्बन्धियोंके दाहादि क्रियाको हम नहीं करते हैं। इसलिये हमारे मतमें और तुम्हारे मतमें यह उत्तर समान है।"

शंका—"आपके दृष्टि-सृष्टि वादके मतमें किंचित मात्र विशेषता है। क्योंकि पुत्रादि सम्बन्धी जब देशान्तरसे घरमें आते हैं उनके माता पिताको इस प्रकारका ज्ञान होता है कि "वही यह हमारा पुत्र है।" इस ज्ञानके बलसे पूर्व-उत्तर शरीरोंका अभेद सिद्ध होता है।"

समाधान—"बाल्य शरीरके बाद यौवन शरीरके उत्पन्न होनेपर "वही यह देवदत्त है" इस प्रकारका अभेद ज्ञान तुम्हारे मतमें भी होता है। इसलिये तुम्हारे मतमें भी बाल्य और यौवन शरीरका अभेद होना चाहिये। और बाल्य यौवनका अभेद पूर्वोक्त रीतिसे सम्भव नहीं। इसलिये यह उत्तर भी हमारे तुम्हारे समान है।"

शंका—"पुत्रादिक सम्बन्धियोंका अदर्शन ही यदि उन पुत्रादिकोंका मरण हो तो पुत्रादिके मरनेके बाद माता पिता आदि शोक और रुदन करते हैं तैसे पुत्रादि बान्धवोंके अदर्शन कालमें भी शोक और रुदन होना चाहिए।"

समाधान—"जैसे तुम्हारे मतमें

शरीरकी प्राप्ति कालमें बालक शरीरके नाश होने पर भी माता पिता आदि शोक और रुदन नहीं करते तैसे हम दृष्टि-सृष्टि वादीके मतमें भी पुत्रादिक बान्धवोंके अदर्शन कालमें माता पिता आदि सम्बन्धी शोक रुदन नहीं करते हैं।"

शंका—"यौवन शरीरकी प्राप्तिकालमें बाल्य शरीरके नष्ट होनेपर भी "वही यह हमारा पुत्र है" इस प्रकारका अभेद ज्ञान माता पितादिक सम्बन्धियोंको होता है। इसलिये वह अभेद ज्ञान ही हमारे मतमें अग्निदाह क्रिया तथा शोकादिका प्रतिबन्धक है।"

समाधान—"पुत्रादिक बान्धवोंके अदर्शनके बाद जब उन पुत्रादिक बान्धवोंका पुनः दर्शन होता है तब "वही यह हमारा पुत्र है" इस प्रकारका अभेद ज्ञान माता पितादिक सम्बन्धियों को होता है। इसलिए यह अभेद ज्ञान ही हमारे मतमें भी अग्निदाह आदि क्रिया तथा शोकादिकोंका प्रतिबन्धक है। इसलिए यह उत्तर भी हमारे तुम्हारे मतमें समान है।

शंका—"पुत्रादिक सम्बन्धियोंका अदर्शन ही यदि उन पुत्रादिकोंका मरण हो तो पुनः दर्शन कालमें वे पुत्रादि बान्धव यह कहते हैं कि "हम नहीं मरे थे" यह उनका वचन आपके मतमें असंगत होगा। इसलिए अदर्शनका नाम मरण नहीं।"

समाधान—"तुम्हारे मतमें भी यौवन देहके प्राप्त होनेपर बाल्य शरीर नष्ट हो जाता है। परन्तु वह यौवन पुरुष ऐसा कहता है कि "हम मरे नहीं थे।" इसलिए इस वचनके विरोधसे तुम्हारे मतमें भी बाल्य शरीरका नाश नहीं होना चाहिए। यह बात तुम्हें भी अङ्गीकार नहीं है।"

शंका—"बाल्य शरीर तथा यौवन शरीरका परस्पर भेद है। उस भेदका ज्ञान पुरुषको होता नहीं, इसलिए पूर्व-उत्तर शरीरके भेदका अज्ञान रूप दोषसे युक्त युवा पुरुषका "हम नहीं मरे थे" इस प्रकारका वचन प्रमाण रूप नहीं है। किन्तु वह वचन अप्रमाण रूप है। इसलिए उस वचन से बाल्य शरीरकी नित्यता सम्भव नहीं।"

समाधान—"पुनः दर्शन कालमें पुत्रादिक बान्धवोंका यह वचन कि "हम नहीं मरे थे" यह भी पूर्व उत्तर शरीरके भेदका अज्ञान रूप दोष युक्त पुरुषसे उत्पन्न है, इसलिए अप्रमाण रूप है। उस अप्रमाण वचनसे पूर्व शरीरकी नित्यता हमारे मतमें भी सिद्ध नहीं होती। इसलिए यह उत्तर भी हमारे तुम्हारे मतमें समान ही है।

अथवा—पूर्व शरीरसे उत्तर शरीरमें भेद विद्यमान रहने पर भी उस भेदका ज्ञान लोकोंको नहीं होता। इसलिये उस भेद ज्ञानका कोई प्रतिबन्धक मानना चाहिए। वह प्रतिबन्धक पूर्व-उत्तर शरीरके भेदका अज्ञानरूप दोष है। इस दोषके प्रभावसे ही पूर्व-उत्तर शरीरके भेद का ज्ञान पुरुषोंको नहीं होता है। इस कारणसे ही पिता-माता आदि बान्धव पुत्रके पूर्व शरीरके नाश होने पर भी शोक और रुदन नहीं करते हैं।

अथवा—पूर्व-उत्तर शरीरके भेद ज्ञानका प्रतिबन्धक पूर्वोक्त अज्ञान रूप दोषको यदि नहीं मानोगे तो पुत्रादिकोंके पूर्व शरीरसे उत्तर

शरीरमें भेदका ज्ञान माता-पिता आदिको अवश्य होगा। उस भेद ज्ञानसे पुत्रादिकोंके पूर्व शरीर में मरण बुद्धि होगी। और उस मरण बुद्धिसे पिता-माता आदिको शोक रुदन आदिकी प्राप्ति होगी। अतः इस दोपकी निवृत्तिके लिये पूर्व-उत्तर शरीरके भेद ज्ञानका प्रतिबन्धक पूर्वोक्त-अज्ञानरूप दोप हम दोनोंको अवश्य मानना चाहिए। इसलिये जैसे तुम्हारे मतमें बाल्य तथा यौवन शरीरका अभेद नहीं किन्तु भेद है; तैसे हम दृष्टि-सृष्टि वादीके मतमें भी पूर्व दर्शनके विपय जो पुत्रादिक तथा उत्तर दर्शनके विपय जो पुत्रादिक उन दोनोंका अभेद नहीं किन्तु भेद है। और जैसे तुम्हारे मतमें यौवन शरीरके प्राप्तिकालमें बाल्य शरीरके नष्ट होने पर भी पिता-माता आदि उस पुत्रमें मरण बुद्धि नहीं करते हैं, तैसे हम दृष्टि सृष्टि वादीके मतमें भी अदर्शन कालमें पुत्रादिकोंके नष्ट होने पर भी पिता माता आदि सम्बन्धी उस पुत्रमें मरण बुद्धि नहीं करते, इसलिये तुमने जो दोप हमारे मतमें कहा है, वे दोप तुम्हारे मतमें भी प्राप्त होते हैं और उन दोपोंकी निवृत्तिके लिये जो जो उत्तर तुमने कहा है वे सभी हमारे मतमें भी सम्भव हैं। यह सिद्ध हुआ।

अथवा—लोक प्रसिद्ध जीवोंका जन्म-मरण ही हमारे दृष्टि-सृष्टि वादको सिद्ध करता है। क्योंकि वह जन्म-मरण ज्ञानके विना अन्य किसी कारणसे सिद्ध नहीं होता। किन्तु ज्ञानसे ही उस जन्म मरणकी सिद्धि होती है। जब तक पुत्रादिक वान्धवोंके जन्म तथा मरणको पिता आदि सम्बन्धी नहीं जानते, तब तक हर्ष तथा शोकको नहीं प्राप्त होते हैं, किन्तु पुत्रादि[illegible] जन्म-मरणके ज्ञानके बाद ही माता-पिता आ[illegible] सम्बन्धी हर्ष-शोक मनाते हैं। तैसे ये पुत्रा[illegible] भी किसी अन्यके वचनसे अपने जन्म-मर[illegible] जानकर हर्ष-शोकको प्राप्त होते हैं। अपने ज[illegible] मरणके ज्ञान विना हर्ष-शोक नहीं होता, [illegible] पुत्रादिकोंके जन्म-मरणको माता-पिता आ[illegible] सम्बन्धी प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही जानते हैं, पुत्रा[illegible] अपने जन्म-मरणको प्रत्यक्ष प्रमाणसे न[illegible] जानते, किन्तु माता-पिता आदि सम्बन्धि[illegible] वचन रूप शब्द प्रमाण तथा अनुमान प्रम[illegible] अपने जन्म-मरणको जानते हैं। क्योंकि यो[illegible] बाहर निकलते समय यह जीव दुःखसे मू[illegible] रहता है। मूर्छा अवस्थामें किसी वस्तुका ज्ञा[illegible] नहीं होता। इसलिये योनिसे निर्गमनरूप अ[illegible] जन्मको तत्काल प्रत्यक्ष जानने में यह [illegible] समर्थ नहीं है तैसे ही मरणकालमें भी यह [illegible] अत्यन्त दुःखसे मूर्छित रहता है। इसलिये [illegible] समय भी यह जीव अपने मरणको नहीं जान[illegible] परन्तु शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमा[illegible] अपने जन्म-मरणको यह जीव जानता [illegible] इसलिये हे वादी! जैसे लौकिक माता-[illegible] आदि सम्बन्धियोंके वचन द्वारा तुमने [illegible] जन्म-मरणका निश्चय किया है, तैसे [illegible] ईश्वर रचित वेद प्रमाणसे भी पुत्रादिक [illegible] का दर्शन ही उनकी उत्पत्ति और अदर्श[illegible] उनका मरण इस अर्थकी सिद्धि सम्भव है।

शंका—"वाकादिक इन्द्रियों तथा [illegible] आदिक देवताओंका परित्याग करके [illegible] पुत्रादिक विपयोंमें दृष्टि-सृष्टि वादकी [illegible]

लिये युक्तियोंका कथन ठीक नहीं। क्योंकि आत्मासे भिन्न सर्व पदार्थ आपके मतमें दृष्टि-सृष्टि वादके विषय हैं।"

समाधान—"जैसे पुत्रादिक विषयोंमें "वही यह देवदत्त है" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है तैसे वाकादिक इन्द्रियों तथा अग्नि आदि देवताओंमें "वही यह वाक् इन्द्रिय है।" "वही यह अग्नि देवता है" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान किसी पुरुषको नहीं होता है। क्योंकि जिस वस्तुमें प्रत्यक्ष ज्ञानकी विषयता होती है उसमें ही प्रत्यभिज्ञा ज्ञानकी विषयता होती है। वह प्रत्यक्ष ज्ञानकी विषयता वाक् आदि इन्द्रियोंमें नहीं है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा ज्ञानकी विषयता भी वाकादिक इन्द्रियोंमें सम्भव नहीं। यहाँ अभिप्राय यह है कि केवल इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न ज्ञानका नाम प्रत्यक्ष है। जैसे चक्षु इन्द्रियसे "यह देवदत्त है" इस प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और पूर्व संस्कार युक्त इन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञानका नाम प्रत्यभिज्ञा ज्ञान है। जैसे देशान्तर तथा कालान्तरमें देखा हुआ जो देवदत्त है उस देवदत्तके साथ जब भी चक्षु इन्द्रियका सम्बन्ध होता है तब वही यह देवदत्त है इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान लोगोंको होता है। उन इन्द्रियोंमें भी वाक्-पाणि आदि पंच कर्मेन्द्रियोंमें तो ज्ञानकी कारणता नहीं है, किन्तु शब्द उच्चारण आदि क्रियाकी कारणता होती है। और चक्षु आदि ज्ञान-इन्द्रियोंमें ज्ञानकी कारणता होती है। इसमें भी रसन इन्द्रिय रस गुणको ग्रहण करती है, रसके आश्रय द्रव्यको ग्रहण नहीं करती। ऐसे ही घ्राण इन्द्रिय गन्ध गुणको ग्रहण करती है गन्धके आश्रय द्रव्यको नहीं। और श्रोत्र इन्द्रिय शब्द गुणको ग्रहण करती है शब्दके आश्रय द्रव्यको नहीं। इसलिये इन तीनों इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न ज्ञानोंकी विषयता वाकादिक इन्द्रियोंमें सम्भव नहीं। क्योंकि वाकादिक इन्द्रियाँ द्रव्य रूप हैं, गुण रूप नहीं हैं। और चक्षु इन्द्रिय रूपादिक गुणोंको तथा रूपादि गुणोंके आश्रय द्रव्योंको ग्रहण करती है, ऐसे ही त्वक्-इन्द्रिय भी स्पर्श आदि गुणोंको तथा उनके आश्रय द्रव्योंको ग्रहण करती है। उन दोनोंमें भी चक्षु इन्द्रिय तो उद्भूत रूपको तथा उद्भूत रूपवाले द्रव्यको ग्रहण करती है तैसे त्वक्-इन्द्रिय भी उद्भूत स्पर्श तथा उद्भूत स्पर्श वाले द्रव्यको ग्रहण करती है। वह उद्भूत रूप तथा उद्भूत स्पर्श वाकादिक इन्द्रियोंमें नहीं हैं। किन्तु अनुद्भूत रूप-स्पर्श आदिक इन्द्रियोंमें रहते हैं। इसलिये चक्षु इन्द्रिय जन्य ज्ञानकी विषयता तथा त्वक्-इन्द्रिय जन्य ज्ञानकी विषयता वाकादिक इन्द्रियोंमें सम्भव नहीं। किन्तु शास्त्र प्रमाण तथा अनुमान प्रमाणसे वाकादिक इन्द्रियोंका परोक्ष ज्ञान होता है, तैसे वाकादिक इन्द्रियोंके अग्नि आदिक देवताओंका भी परोक्ष ही ज्ञान होता है। इसलिये परोक्ष ज्ञानके विषय जो वाकादिक इन्द्रिय तथा अग्नि आदिक देवता, उनमें "वही यह वाक इन्द्रिय है, वही यह अग्नि देवता है" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिये केवल श्रुति वचनसे ही वाकादिक इन्द्रियों तथा अग्नि आदिक देवताओंमें दृष्टि-सृष्टि वाद सिद्ध होता है। और

पुत्रादिक विषयोंमें तो "वही यह देवदत्त है" इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सम्भव है। इसलिये उस प्रत्यभिज्ञा रूप विरोधकी निवृत्तिके लिये पुत्रादिक विषयोंमें ही दृष्टि-सृष्टिवादका युक्तियोंसे निरूपण किया है। और वास्तवमें तो आत्मासे भिन्न सम्पूर्ण जड़ वस्तु दर्शन कालमें उत्पन्न होती है और अदर्शन कालमें लय होती है। वाकादिक इन्द्रियोंका यद्यपि असमदादिक जीवोंको प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, तथापि अग्नि आदिक अभिमानी देवताओंको वाकादिक इन्द्रियोंका प्रत्यक्ष ही ज्ञान होता है। इसलिये देवताओंके दर्शनसे वाकादिक इन्द्रियों-की उत्पत्ति और देवताओंके अदर्शनसे उनका नाश सम्भव है। और जैसे आकाशादिक भूतोंके कार्य वाकादिक इन्द्रियोंका दर्शन कालमें जन्म होता है और अदर्शन कालमें मरण होता है तैसे आकाशादिक पंचभूतोंका भी दर्शन कालमें जन्म और अदर्शन कालमें नाश होता है। और बाल्य यौवनादिक शरीरोंमें प्रत्यभिज्ञारूप विरोध-का पहले जैसे समाधान किया है वैसे ही आकाशादिक पंचभूतोंमें भी प्रत्यभिज्ञा ज्ञान रूप विरोधका समाधान जान लेना चाहिए। और इसके पहले बाल्य यौवन शरीरादिकोंमें जैसे अवयवों तथा उनकी रचनाको प्रत्यभिज्ञा ज्ञानकी कारणताका खण्डन किया है तैसे ही आकाशादिक पंचभूतोंमें भी जान लेना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि आत्मसे भिन्न सर्व जड़ वस्तुका दर्शन ही जन्म है और अदर्शन ही उनका नाश है।"

शंका—"अदर्शन ही यदि वस्तुका नाश है तो जिस कालमें पुरुषको तालावके जलका ज्ञान नहीं है उस कालमें आपके मतसे ताडागका जल नाश हो गया है। अतः जलके विरोधी अग्निकी वहाँ उत्पत्ति होनी चाहिए। और ऐसा कभी होता नहीं इसलिये दृष्टि सृष्टि वाद असंगत है।"

समाधान—"हे वादी! इस दोषकी तुम्हारे मतमें भी प्राप्ति होती है। क्योंकि अन्य किसी पुरुषके बाल्य-अवस्थाके नाश होने पर उस बाल्य अवस्थाका विरोधी यौवन अवस्था तुमको भी प्राप्त होनी चाहिए। जैसे अन्य पुरुषके बाल्य-अवस्थाका विरोधी यौवन अवस्था तुम्हें प्राप्त नहीं होती तैसे अदर्शन कालमें जलके नष्ट होने पर भी वहाँ अग्नि उत्पन्न नहीं होती है।"

शंका—"यौवन अवस्थाकी प्राप्तिमें धर्म-अधर्म रूप कर्म कारण हैं। इसलिये अन्य पुरुषकी यौवन अवस्था हमको प्राप्त नहीं होती है।"

समाधान—"जैसे तुमने कर्मोंको अङ्गीकार करके दूषणकी निवृत्तिकी है वैसे हम दृष्टि-सृष्टि वादी भी कर्मोंको अंगीकार करके सर्व दूषणों की निवृत्ति करते हैं। अदर्शनकालमें तडागके जलका नाश होने पर भी कर्मोंके वशसे वहाँ जल ही उत्पन्न होता है, अग्नि नहीं।"

शंका—"आकाशादिक पंचभूतोंके कार्य जो शरीरादिक हैं, वे सुख-दुःखरूप भोगके साधन हैं, इसलिये उनकी उत्पत्तिमें यद्यपि धर्माधर्म रूप कर्मोंको कारणता संभव है तथापि आकाशादिक पंचभूतोंकी उत्पत्तिमें कर्मोंको कारणता संभव नहीं।"

समाधान—"आकाशादिक पंचभूतोंको कर्मों की कारणता नहीं है। यह तुमने आशंका नहीं की है, किन्तु यह कहकर तुमने अपनी अज्ञानता को प्रकट किया है। क्योंकि श्रुति-स्मृति तथा व्यास सूत्रोंमें इस प्रकार कहा है—'जीवोंके पुण्य पाप रूप कर्मोंसे युक्त हुआ माया विशिष्ट परमात्मा भूत भौतिक रूप प्रपंचको उत्पन्न करता है। और उस प्रपंचका पालन तथा संहार करता है।' यदि परमात्मा जीवोंके कर्मके विना ही जगतकी उत्पत्ति करेंगे तो परमात्मामें विपमता तथा निर्दयता रूप दोपकी प्राप्ति होगी। क्योंकि कोई पुरुप धनी है, कोई निर्धन, कोई सुखी, कोई दुःखी और कोई पण्डित है तो कोई मूर्ख है। इस प्रकारके विपम प्रपंचको करता हुआ परमात्मा दोपयुक्त होगा। और समदृष्टि ईश्वरमें विपमता तथा निर्दयता रूप दोप सम्भव नहीं। अतः उस दोपकी निवृत्तिके लिये कर्मोंको अवश्य अंगीकार करना चाहिए।

अथवा—जो वस्तु जिस जीवके सुखका साधन होती है, वह वस्तु उस जीवके पुण्यसे उत्पन्न होती है और जो वस्तु जीवके दुःखका साधन होती है वह उसके पाप कर्मसे उत्पन्न होती है। उस सुख दुःखकी कारणता जैसे शरीरादिक भौतिक पदार्थोंमें है, तैसे आकाशादिक पञ्च भूतोंमें भी है। इसलिये आकाशादिक पञ्च भूतोंकी उत्पत्तिमें भी जीवोंके अदृष्ट कारण हैं।

शंका—"पूर्व सृष्टिमें स्थित जो जीव हैं उन जीवोंके कर्मोंको यद्यपि उत्तरोत्तर सृष्टिके प्रति कारणता सम्भव है, तथापि सर्व सृष्टियोंसे प्रथम जो सृष्टि उत्पन्न हुई है उसमें कर्मोंकी कारणता संभव नहीं है। इसलिये सभी कार्यके प्रति कर्म कारण नहीं हैं।"

समाधान—"सम्पूर्ण सृष्टिसे प्रथम कोई सृष्टि नहीं है। किन्तु बीज अंकुरकी तरह संसार का प्रवाह अनादि है। पूर्व-पूर्व कर्मोंके अनुसार उत्तरोत्तर सृष्टि उत्पन्न होती है। और इस संसारका आत्मज्ञानके विना अन्य उपायसे नाश भी नहीं होता है। किन्तु आत्मज्ञान द्वारा ही इस संसारका नाश होता है।"

शंका—"कर्मोंको ही यदि सर्व संसारका कारण मानेंगे तो मायामें जगतकी कारणता मानना व्यर्थ हो जायगा।"

समाधान—"कर्मोंको जगतका कारण मानने से मायाकी व्यर्थता नहीं होती। क्योंकि माया के विना कर्मोंके फलकी व्यवस्था सम्भव नहीं। तात्पर्य यह कि कार्तिक मासमें कृत्तिका नक्षत्रका योग होने पर जो पुरुप कार्तिक स्वामीका दर्शन करता है वह सात जन्मोंमें धनसे युक्त वेदपाठी ब्राह्मण होता है। इस प्रकार फलकी प्राप्ति शास्त्र में कहा है। इसमें इस प्रकारकी शंका होती है कि कार्तिक स्वामीके दर्शन करनेवाले पुरुपको जन्मान्तरमें ब्राह्मण शरीर तथा धनादिकी प्राप्ति रूप फल होता है और उस दर्शन रूप कर्मसे दुःखकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकारके नियममें कौन कारण है? इस प्रकारकी शंकाका "हम नहीं जानते" इस उत्तरके विना दूसरा कोई उत्तर नहीं है। किन्तु "हम नहीं जानते" यही उत्तर कहना होगा। "हम नहीं जानते" यह प्रतीति मायाको ही विपय करती है। इसलिये सभी पुरुषोंके अनुभवसे सिद्ध और सभी कार्य

को सिद्ध करने वाली माया व्यर्थ नहीं, किन्तु सार्थक है।"

शंका—"हम नहीं जानते" इस प्रकारका शब्द भावरूप मायाका वाचक नहीं है, किन्तु ज्ञानके अभावका वाचक है। इसलिये इस शब्द से मायाकी सिद्धि सम्भव नहीं।"

समाधान—"मैं नहीं जानता" यह शब्द किसी एक ज्ञानके अभावको बोध करता है अथवा सर्वज्ञानोंके अभावको बोध करता है। इन दोनों पक्षोंमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि जिस कालमें घटका ज्ञान पुरुषको होता है उस कालमें पटका ज्ञान उस पुरुषको नहीं होता। इसलिये उस पट ज्ञानके अभावको अंगीकार करके "मैं नहीं जानता" यह प्रयोग होना चाहिए। और घट ज्ञान कालमें यह प्रयोग नहीं होता। इसलिये यत्किंचित ज्ञानके अभावको "मैं नहीं जानता" यह शब्द बोधन नहीं करता और "मैं नहीं जानता" यह शब्द सम्पूर्ण ज्ञानोंके अभावको बोधन करता है यह द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं। क्योंकि अभावके ज्ञानमें प्रतियोगीका ज्ञान तथा अनुयोगीका ज्ञान कारण होता है। प्रति अनुयोगीके ज्ञानके बिना अभाव का ज्ञान नहीं होता। जिस वस्तुका अभाव होता है वह वस्तु उस अभावका प्रतियोगी होती है। और जिस वस्तुमें अभाव रहता है, वह वस्तु उस अभावकी अनुयोगी होती है। जैसे घटके अभाववाला भूतल है। इस स्थानमें अभावका घट प्रतियोगी है और भूतल अनुयोगी है। तैसे संपूर्ण ज्ञानोंके अभावका संपूर्ण ज्ञान प्रतियोगी है और जीवात्मा अनुयोगी है। यहाँ भूत, भविष्यत्कालमें होने वाले संपूर्ण ज्ञानोंका अल्पज्ञ पुरुषको ज्ञान संभव नहीं। अतः "मैं नहीं जानता" यह शब्द सर्व ज्ञानोंके अभावको भी बोधन नहीं करता, किन्तु भावरूप मायाको ही बोधन करता है। अतः माया अवश्य अङ्गीकार करनी चाहिए।

अब अन्य प्रकारसे मायाकी आवश्यकता बतलाते हैं—

स्वभाव ही जगतका कारण है, यह स्वभाववादी कोई एक नास्तिक मानता है। और काल ही जगतका कारण है, यह कालवादी कोई एक नास्तिक मानता है। इससे लेकर आगे जितने भी नास्तिकोंके पक्ष, उनका खण्डन तर्करूप राक्षस राजा मायारूपी जननीकी सहायताके बिना भक्षण नहीं करता। किन्तु मायारूपी जननीकी सहायतासे ही उन पक्षोंका भक्षण करता है। इसलिये दुर्घट कर्मको करनेवाली मायाको अवश्य मानना चाहिए।"

शंका—"अर्थके बोधक वचनको उत्तर कहते हैं। "मैं नहीं जानता" यह वचन निरर्थक है। इसलिये इस वचनको उत्तर नहीं कहा जा सकता है।"

समाधान—"प्रतिवादीके मौनका जो वचन कारण हो उस वचनका नाम उत्तर है। "मैं नहीं जानता" यह वचन भी प्रतिवादीके मौनका कारण है इसलिये इस वचनको उत्तररूपता सम्भव है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको अंगीकार करके ही परस्पर वाद होता है। जो पुरुष "मैं नहीं जानता" इस प्रकार कह देता है, उससे कोई भी प्रतिवादी पुनः कुछ

न पूछकर मौन हो जाता है। अतः प्रतिवादीको मौन कर देना ही उस वचनका फल है।"

शंका—"मैं नहीं जानता" इस प्रकारकी प्रतीतिका विषय अज्ञानरूप दोषको अंगीकार करके प्रतिवादीको जय करना पराजयके समान है।"

समाधान—"अज्ञान दो प्रकारका होता है। एक तो आत्म विषयक अज्ञान और दूसरा अनात्म वस्तु विषयक अज्ञान। यहाँ आत्म विषयक अज्ञान तो जीवोंके महाहानिका कारण है और जन्मादिक अनात्म पदार्थ विषयक अज्ञान जीवोंकी हानि नहीं करता। तात्पर्य यह कि जिस पुरुषको आत्मज्ञान हुआ है, उस पुरुषको सर्व अनात्म वस्तुका मिथ्या रूपसे ज्ञान होता है। उस मिथ्या प्रपंचको विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा भी आत्मज्ञानी पुरुषको नहीं होती। इसलिये आत्मज्ञानी पुरुषको अनात्म पदार्थोंका अज्ञान दूषण नहीं भूषण है। तैसे ही आत्म ज्ञानसे रहित अज्ञानी पुरुषको भी जन्मादिक अनात्म पदार्थोंका अज्ञान दूषण नहीं। इस पर दृष्टान्त देते हैं, जैसे नेत्रहीन अन्धेको रूपादिक पदार्थोंका अज्ञान दूषण नहीं, जैसे कीचड़से लिप्त पुरुषको पुनः धूलिका लेप दूषण नहीं होता, तैसे आत्मज्ञानसे रहित अज्ञानी पुरुषको अनात्म पदार्थोंका अज्ञान दूषण नहीं होता।

इसी अर्थको निरूपण करनेके लिये अब प्रपंचकी उत्पत्तिमें तर्ककी अयोग्यताका निरूपण करते हैं।

आनन्द स्वरूप आत्मासे जगतकी उत्पत्ति शास्त्रमें कही है, वह सम्भव नहीं। क्योंकि आत्मा प्रकाश स्वरूप, द्वैतसे रहित, असंग, गुणरहित, क्रियारहित, अनन्त, मन वाणीका अविषय है। ऐसे अद्वितीय आत्माने नाना प्रकारके विचित्र जगतको किस प्रकार उत्पन्न किया? इस प्रकारकी शंकाका समाधान करने और जाननेमें कोई पुरुष समर्थ नहीं। अतः प्रपंचकी उत्पत्ति तर्कका विषय नहीं। इस प्रपंचमें एक एक वस्तु भी सौ करोड़ प्रमाणोंसे जानी नहीं जा सकती। तात्पर्य यह कि इस वस्तुका क्या स्वरूप है और इसमें कितने धर्म हैं और इसके कितने अवयव हैं इस प्रकार कोई वस्तु जानी नहीं जाती। जब एक वस्तुको जाननेमें कोई समर्थ नहीं है तब सर्व जगतको जाननेमें कौन पुरुष समर्थ होगा। और जिन पुरुषोंको अभिमान है कि हम सर्व जगतको जानते हैं, उनसे यदि केवल यही पूछा जाय कि यह सम्मुख स्थित घटका स्वरूप निरूपण करो, तो इस एक घटके निरूपणके लिये सम्पूर्ण प्रपंचका निरूपण करनेपर भी कोई समर्थ नहीं होगा।

जब सर्व लोकप्रसिद्ध तथा सम्मुख स्थित घटके स्वरूपका निरूपण तुमसे नहीं हो सका, तब सम्पूर्ण प्रपंचके स्वरूपको कहनेमें तुम कैसे समर्थ हो सकते हो? नहीं हो सकते। इसलिये "हम नहीं जानते" तुम्हारे इस अनुभवसे सिद्ध अज्ञानको ही घटका तथा सर्व प्रपंचका उपादान कारण मानना चाहिए।

शंका—"मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" माया को जगतका उपादान कारण जानना। इस श्रुति-प्रमाणसे मायामें जगतकी कारणता सिद्ध है।

इसलिये युक्तियोंसे जगतकी कारणता मायामें कथन करना निष्फल है।"

समाधान—"श्रुति-प्रमाणमें जिन पुरुषोंकी श्रद्धा है उनको केवल श्रुतिप्रमाणसे ही मायामें जगतकी कारणता सिद्ध हो जाती है और जिन पुरुषोंको श्रुति प्रमाणमें श्रद्धा नहीं है उनको हमारी युक्तियोंसे ही अज्ञानकी सिद्धि होती है। अतः मायाको जगतका कारण सिद्ध करनेके लिये युक्तियोंका कथन व्यर्थ नहीं है।

अथवा—यह सम्पूर्ण प्रपंच सत्यरूप तथा असत्य रूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिये अनिर्वचनीय है। उस निर्वचनीय प्रपंचका मायाके विना दूसरा कोई कारण संभव नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय माया ही अनिर्वचनीय जगतका कारण है। उस अनिर्वचनीय माया तथा उसके कार्य प्रपंचका किसीसे भी निरूपण नहीं हो सकता। क्योंकि लोकप्रसिद्ध इन्द्रजालिक पुरुषकी माया तथा मायारचित अनेक पदार्थोंको सभी लोग देखते भी हैं, परन्तु उसका स्वरूप निरूपण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता। जब लौकिक इन्द्रजालिककी मायाको कोई नहीं समझ पाता है तब सर्वशक्ति सम्पन्न परमेश्वरकी माया तथा उसके प्रपंचको कौन पुरुष समझनेमें समर्थ हो सकेगा, किन्तु कोई समर्थ नहीं है। इसलिये माया तथा मायाके प्रपंचको कौन पुरुष समझनेमें समर्थ हो सकेगा, किन्तु कोई समर्थ नहीं है। इसलिये माया तथा मायारचित सकल प्रपंच अनिर्वचनीय हैं।

अथवा—जिस पदार्थकी उत्पत्तिमें योग्य देश-काल कारण नहीं होता है वह पदार्थ द्वारा रचित होता है। जैसे मथुराके समीप रात्रिकालमें सोया हुआ पुरुष अपने हृदयदेशमें सूर्य-ग्रहणसे युक्त समुद्रको देखता है। छोटेसे हृदयमें समुद्रकी योग्यता नहीं, कालमें सूर्यग्रहणकी योग्यता नहीं तथापि में उन पदार्थोंकी प्रतीति होती है। इस स्वप्न पदार्थ मायासे रचित हैं। तैसे देश तथा कालके विना ही चराचर प्रपंच मूढ़ पुरुष देखते हैं, इसलिये ये प्रपंच रचित हैं।

अथवा—जिन पुरुषोंको शुद्ध साक्षात्कार हुआ है, उनको माया तथा कार्य असत्य प्रतीत होता है। जैसे " आकाशमें सर्पके पैरका चिह्न देखता है, पुरुषके वचनको बहरा पुरुष सुनता है" वार्ता जिस प्रकार असत्य है तैसे ही पुरुषकी दृष्टिमें जगत अत्यन्त असत्य है। आत्मज्ञानसे रहित मूढ़ पुरुष "हम जानते हैं" इस प्रकारका कथन जो करते हैं, केवल उनका अभिमान है। जगतका उन्होंने जाना नहीं, और न ही मायावी रचित प्रपंचको कोई भी पुरुष समर्थ है।

अथवा—मायावी परमेश्वर द्वारा प्रपञ्चका अज्ञान देहधारी जीवोंको नहीं, किन्तु आत्म ज्ञान रहित जीवोंको अज्ञान भूषण रूप है। और अज्ञानी कहें कि हमें किसी वस्तुका अज्ञान नहीं। यह उनका कहना मिथ्या है। क्योंकि

स्थूल शरीरमें सदा अविवेकी पुरुषोंकी आत्म बुद्धि है उस शरीरके स्वरूपको भी जब वे यथावत रूपसे नहीं जानते हैं तब बाह्य प्रपञ्चके स्वरूपको कैसे जान सकते हैं ?

अथवा—जिन इन्द्रियों द्वारा यह पुरुष स्वर्गकी प्राप्तिके विहित कर्मोंको करता है, नरक प्राप्तिके लिये निषिद्ध कर्मोंको करता है और मोक्ष प्राप्तिके लिए निष्काम कर्मोंको करता है उन इन्द्रियोंके स्वरूपको भी यह जीव यथावत नहीं जानता तो फिर बाह्य प्रपञ्चोंको यह मूढ़ पुरुष कैसे जान सकेगा ? नहीं जान सकता है।

अथवा—मेरेको सदा सुखकी प्राप्ति हो, दुःख कभी न मिले इस प्रकारकी बुद्धिसे यह जीव कार्यमें प्रवृत्त होता है। परन्तु "मेरेको" इस शब्दका अर्थ यह मूढ़ पुरुष नहीं जानता है तो बाह्य प्रपंचको किस प्रकार जान सकेगा।

अथवा—पूर्व जन्ममें हमारे कौन सम्बन्धी थे, आगे हमारे कौन सम्बन्धी होगें, इस प्रकार का ज्ञान भी जिस पुरुषको नहीं है, वह मूढ़ पुरुष अन्य बाह्य प्रपंचको नहीं जान सकता।

अथवा—बाल्य और युवावस्थामें जिन-जिन पदार्थोंको इसने अनुभव किया है उनका भी यथावत स्मरण नहीं है तथा आगामी पदार्थोंको भी यह जीव नहीं जानता तब सकल प्रपंचको भी यथावत प्रत्यक्ष नहीं जान सकता।

अथवा—लोकमें भी जो अर्थ इन्द्रिय जन्य ज्ञानके विषय नहीं होते हैं उन अर्थोंके ज्ञानमें शब्द प्रमाणकी ही प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे व्यतीत हुआ कोई व्यवहार तथा अपने कुलका आचार आदि इन्द्रिय जन्य ज्ञानके विषय नहीं है, किन्तु माता-पिता आदि वृद्धजनोंके वचन रूप प्रमाणसे उन कुलाचारोंका पुत्रको ज्ञान होता है। तैसे पूर्वोक्त रीतिसे घटादिक प्रपंचके स्वरूपका भी किसी इन्द्रियसे निर्णय नहीं हो सकता, इसलिये प्रपंच भी अतिन्द्रिय हैं। इस अतिन्द्रिय प्रपंचकी सिद्धिमें भी दृष्टि-सृष्टि वादको बोधन करनेवाला शब्द ही प्रमाण है।"

शंका—"पिता-माता आदिक वृद्ध पुरुष जैसे कुलाचार आदिक धर्मोंका कथन करते हैं तैसे दर्शनकालमें पदार्थोंकी उत्पत्ति तथा अदर्शन कालमें पदार्थोंके लयका कथन नहीं करते हैं। इसलिये शब्द प्रमाणसे भी दृष्टि-सृष्टि वादकी सिद्धि संभव नहीं।"

समाधान—"माता-पितादिकोंके वचनसे दृष्टि-सृष्टि वादकी सिद्धि न हो, परन्तु उन सबका गुरु वेद भगवान् दृष्टि-सृष्टि वादका कथन करता है। इसलिये श्रुति प्रमाणसे इसकी सिद्धि होती है।"

अथवा—"जिन मनु आदिक वृद्ध पुरुषोंके वचनोंको संपूर्णलोक प्रमाणरूपसे मानते हैं। वे मनु आदि भी हम लोगोंकी तरह वेदके वचनसे ही आत्मज्ञानको प्राप्त हुए हैं।"

शंका—"वेद भगवान् किसके वचनसे ज्ञान को प्राप्त करते हैं ?"

समाधान—"उस वेद भगवान्‌को वेदके वचनोंसे ही ज्ञान प्राप्त होता है। वेदपुरुषको किसी अन्यके वचनोंकी अपेक्षा नहीं। क्योंकि शब्दरूप वेदपुरुषका शरीर महाभारतादिकोंकी

तरह पौरुषेय नहीं, किन्तु अपौरुषेय है। वहाँ पूर्वकल्पमें वर्णों, श्लोकों तथा कथा प्रसंगोंकी जो जो आनुपूर्वी होती है, उससे किंचित विलक्षण किंचित समान आनुपूर्वी उसके उत्तर कल्पमें होती है, उसको पौरुपेय कहते हैं। जैसे महाभारतादिक। क्योंकि पूर्व कल्पमें जैसे महाभारतको व्यास भगवान्ने कथन किया तैसे ही महाभारत को उत्तर कल्पमें व्यासने नहीं रचा। किन्तु पहलेसे किंचित विलक्षण महाभारतकी रचना की। इसीलिए इसे पौरुपेय कहते हैं। और वेद का यह नियम है कि पूर्व कल्पमें परमेश्वरसे जैसा वेदका प्रादुर्भाव हुआ था, उत्तर कालमें भी बिल्कुल वैसा ही ज्योंका त्यों परमेश्वरसे वेदोंका प्रादुर्भाव होता है। पूर्व उत्तर वेदोंमें किंचित मात्र भी विलक्षणता नहीं होती। इसलिए वेद अपौरुपेय है।

अथवा—जैसे हम लोगोंके वचनोंमें अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा रहती है, अन्य प्रमाणकी सहायताके बिना हमलोगोंका वचन किसी अर्थ को सिद्ध नहीं कर सकता, तैसे वेद भगवान्को अपने ज्ञानके लिए तथा प्रमाणताके लिये दूसरे किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। इसलिए वेद भगवान्की आज्ञा हम लोगोंको श्रद्धापूर्वक अंगीकार करना चाहिए, जैसे महाराजकी आज्ञाको श्रद्धापूर्वक प्रजा अंगीकार करती है। वह वेद भगवान् सुपुप्ति अवस्था तथा मरण अवस्थामें प्राणमें सम्पूर्ण वाक्-आदिक इन्द्रियोंके लयका बोधन करता है। और जाग्रत अवस्था तथा जन्म कालमें उसी प्राणसे वाकादिक इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कहता है। अतः यह सर्वमान्य है।

अथवा—वह वेद भगवान् माता पितादि से भी अति सुहृद है। इसलिये मायामय अनि- र्वचनीय प्रपंचमें स्थित हम जीवोंपर कृपा जिन-जिन वचनोंका उपदेश करता है वे हम जीवोंके लिए मोक्षके साधन हैं।

अथवा—जैसे सूर्यके सम्मुख देखनेसे प्रतिघात (चकाचौंध) को प्राप्त होते हैं तैसे भगवान्का ज्ञान किसी वस्तुसे प्रतिघात होता है, किन्तु सर्ववस्तुको विषय करता है इसलिए वेद भगवान्को किसी भी वस्तुका नहीं। इस कारणसे ही भ्रम, प्रमाद, लिप्सादिक दोप वेदमें नहीं है। वचन करने इच्छाको विप्रलिप्सा कहते हैं।

अथवा—"वेद" इस शब्दके अर्थ विचार करनेसे भी वेदकी आवरण रहित स्वरूपता ही सिद्ध होती है। और जो स्वरूप होता है वह जड़ तथा परिच्छिन्न होता। यह प्रथम अध्यायमें कह आये हैं। परिपूर्ण तथा चैतन्य रूप प्राण उपहित पर ही वेद स्वरूप है। इस कारणसे ही वेदको ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म रूप वेद भगवानके तुमने ऐसा प्रश्न कैसे किया है? नेत्रहीन पुत्र आँखवाले अपने पितासे नीला-पीला रंग रूपके ज्ञानमें प्रश्न नहीं कर सकता। वेद भगवान्ने जो कुछ कहा है उस निश्चय करनेमें जिस प्रकारसे हम जीवोंकी समर्थ हो उसी प्रकारका प्रयत्न हम करना चाहिए।

अथवा—जैसे धर्मात्मा राजाके

प्रजा त्याग नहीं करती, और पिता माताके वचन का सुपुत्र परित्याग नहीं करता है, बल्कि श्रद्धा-पूर्वक उनके वचनोंको ग्रहण करता है वैसे ही वेद भगवान्के वचनोंको परित्याग न कर श्रद्धा-पूर्वक अंगीकर करना चाहिए।

वेदके वचनसे यह अर्थ सिद्ध होता है कि सुषुप्ति और मरण अवस्थामें विषय सहित सम्पूर्ण वाकादिक इन्द्रियाँ प्राणमें लय भावको प्राप्त होती हैं और जाग्रत तथा जन्म कालमें उसी प्राणसे सम्पूर्ण वाकादिक इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

शरीरमें प्राणके विद्यमान होने पर ही वाकादिक इन्द्रियोंकी विद्यमानता है। और लोकान्तरमें प्राणके गमन होने पर इन्द्रियादिकों का भी लोकान्तरमें गमन होता है। इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेकका निश्चय ही प्राण स्वरूप परमात्माकी सिद्धि है। यद्यपि अन्वय व्यतिरेक का निश्चय प्राणके सिद्धिका साधन है। इसलिये साधनको सिद्धि रूप कहना संभव नहीं। तथापि जैसे भूमिमें स्थित धनकी सिद्धि अञ्जन रूप साधनसे होती है, इसलिये अञ्जनको भी लोकमें सिद्धि कहते हैं। तैसे मरण अवस्थामें अन्वय व्यतिरेक निश्चयसे ही प्राण स्वरूप आत्माकी सिद्धि होती है, इसलिये उस अन्वय व्यतिरेक रूप साधनको सिद्धि रूपसे कथन किया है।

अब मरण अवस्थामें इन्द्रियोंके लयको स्पष्ट करके दिखलाते हैं—

मरण अवस्थामें यह पुरुष नाना प्रकारकी व्याधियोंसे अत्यन्त दुःख प्राप्त करता है और उस दुःखसे मूर्छित सामर्थ्यहीन हो जाता है। इसलिये यह पुरुष किंचितमात्र भी शब्दका उच्चारण नहीं कर पाता है। इस प्रकारकी दीन दशाको देखकर उसके स्त्री पुत्रादि बान्धव अत्यन्त दुःखी होते हैं और उस पुरुषके पास जाकर पूछते हैं—आप मुझे जानते हैं? पहचानते हैं मैं कौन हूँ? ये कौन है? उससे कोई उत्तर अथवा चेष्टाको न पाकर वे सभी बान्धव कहते हैं कि अब इसे किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं रहा। क्योंकि यदि इसका ज्ञान समाप्त नहीं हुआ होता तो यह पहलेकी तरह हमलोगों को देखता, सुनता, बोलता। अतः यह ज्ञान शून्य है। इस मरण अवस्थामें वाकादिक सकल इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों सहित प्राणमें लय हो जाती हैं। और जैसे सुषुप्तिके बाद पुरुष जाग्रत अवस्थाको प्राप्त होता है तैसे ही मरणके बाद जब यह जीव जन्मको प्राप्त होता है तब विषयों सहित संपूर्ण इन्द्रियाँ पुनः प्राणसे उत्पन्न होती हैं।"

शंका—"जैसे जीवित अवस्थामें इस जीवके प्रति वाकादिक इन्द्रियाँ भोगोंको प्राप्त करती हैं तैसे मरणकालमें भी ये भोगोंको क्यों नहीं प्राप्त करती हैं?"

समाधान—"पहले जीवित अवस्थामें जो वाकादिक इन्द्रियाँ नौकरकी तरह इस जीवको भोग देती थीं वे ही मरण अवस्थामें इस जीवको असमर्थ जानकर उसका परित्याग कर देती हैं। मरण अवस्थामें भोगोंसे उपराम हो जाना ही इन्द्रियोंका परित्याग है। जैसे असमर्थ राजाको प्रजा परित्याग कर देती है, तैसे मरणकालमें

वाकादिक इन्द्रियाँ भी जीवकृत आत्म अभिमान रूप बन्धनको न प्राप्त होने पर इस जीवका परित्याग कर देती हैं।

शंका—"मरण अवस्थामें वाकादिक इन्द्रियों के बिना ही किसी अन्य कारणसे नामादिक व्यवहार क्यों नहीं होता है ?"

समाधान—"एकके द्वारा साध्य व्यवहार दूसरेसे सिद्ध नहीं होता। जैसे किसी ग्रामको वैश्य छोड़कर चले जायँ तो उनाके वाणिज्य आदि व्यवहार अन्य ब्राह्मणादिकोंसे नहीं होता है। तैसे वाकादिक इन्द्रियों द्वारा साध्य नामादिक व्यापार अन्य किसी कारणसे उत्पन्न नहीं हो सकता है।"

शंका—"मरण अवस्थामें इस पुरुषको परित्याग कर वाकादिक इन्द्रियाँ कहाँ जाती हैं ?"

समाधान—"अपने महाराजके जयके लिये लड़ने वाला कोई छोटा राजा जब अपने शत्रुसे हार जाता है तब उसके सैनिक दूसरे राजाकी शरण जाना चाहते हैं, परन्तु वे वीर सैनिक अपने स्वामीके अत्यन्त भक्त हैं, इसलिये अन्य किसी राजाकी शरण ग्रहण न करके अपने स्वामीके स्वामी महाराजाके ही आश्रयमें जाते हैं। तैसे ही जीवित अवस्थामें विषय तथा देवता सहित वाकादि इन्द्रियाँ अहं-मम अभिमानी रूप जीवके आश्रित रहती हैं, और मरण कालमें उस जीवको मूर्छित हुआ देखकर वे इन्द्रियाँ सबके अधिपति रूप प्राणका आश्रय ग्रहण करती हैं। अतः प्राणके विद्यमान होने पर वाकादिक इन्द्रियोंकी शरीरमें विद्यमानता और प्राणके अभाव होने पर इन्द्रियोंका अभाव इस प्रकारका अन्वय व्यतिरेकसे प्राणमें ही सम्पूर्ण वाकादिकोंका लय तथा प्राणसे ही उनकी उत्पत्ति है। अतः प्राणसे भिन्न किंचि[त्] मात्र भी वस्तु नहीं, यह सिद्ध हुआ।

जीवित अवस्थामें प्राणके विद्यमान रहने पर प्रज्ञा भी रहती है और मरण कालमें प्राण के निकल जाने पर प्रज्ञा भी नहीं रहती। इसलिये प्राण-प्रज्ञाका अभेद है।

"प्राण स्वरूप तथा प्रज्ञा स्वरूप मुझे ही जानो।" इस प्रकार इन्द्रके वचनमें जैसे प्राण शब्दका अर्थ श्वासमात्र नहीं, किन्तु परमात्मा ही प्राण शब्दका अर्थ है। तैसे प्रज्ञा शब्दका अर्थ भी केवल बुद्धि मात्र नहीं बल्कि स्वयंप्रकाश चैतन्य ही प्रज्ञा शब्दका अर्थ है।

प्राणकी अद्वितीय रूपता कहनेके बाद अब प्रज्ञाकी अद्वितीय रूपता दिखलाते हैं—

इन्द्रने कहा—"हे प्रतर्दन ! प्रज्ञा शब्दका अर्थ जो संवित् है, वह वास्तवमें एक है। तथापि उपाधिके सम्बन्धसे जैसे एक संवित् नाना रूप होकर प्रतीत होता है वह मैं तुम्हें बतलाता हूँ। और नाना प्रकार रूप हुई संवित् जिस प्रकार पुनः एक रूप हो जाती है उसे भी बतलाता हूँ। तुम एकाग्र मनसे श्रवण करो। वाकादिक पंचकर्मेन्द्रिय, श्रोत्रादिक पंच ज्ञानेन्द्रिय, शरीर, अन्तःकरण, ये बारह करण, शब्द उच्चारण, वस्तुग्रहण, गमन, मलत्याग, आनन्द, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, काम संकल्पादि, अपने अपने विषयोंसे युक्त होकर प्रज्ञारूप संवित्के भेदको करते हैं, जैसे ग[ोप] गोपाल अपने अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लि[ये]

एक ही गौको दूहते हैं। अर्थात् उस गौसे दूधको पृथक करते हैं, तैसे वाकादिक बारह करण भी एक ही प्रज्ञारूपी गौको दूहते हैं। दूहनेका तात्पर्य यह है कि चिदाभास रूप प्रज्ञाके भागोंको पृथक करते हैं। इस प्रकार वह एक ही प्रज्ञा उपाधिके वशसे अनेक भावको प्राप्त होता है। जैसे एक ही अग्निकी शिखाको बारह काष्ठरूप उपाधिके वशसे बारह प्रकार लोक कथन करते हैं। तैसे वाकादिक इन्द्रियोंके भेदसे एक ही प्रज्ञाको भिन्न भिन्न हम कथन करते हैं। और जैसे बारह दीपकों अथवा विद्युत बल्बोंसे गृहादिमें बारह प्रकारका प्रकाश उत्पन्न होता है तैसे ही वाकादिक बारह करणों द्वारा एक ही बोध विषयमें बारह प्रकार उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि एक ही प्रज्ञाका जो जो भाग जिस जिस इन्द्रियने अलग किया है उस उस प्रज्ञाके भागने तिस तिस इन्द्रियके विषयको प्रकाश किया है। इस कारणसे ही चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न अन्तःकरणकी वृत्तिमें स्थित जो चिदाभास रूप प्रज्ञाका भाग है, वह चक्षु इन्द्रियके विषय रूपादिका ही प्रकाश करता है। रसादिकोंका प्रकाश नहीं करता। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंमें भी जान लेना चाहिए।

अथवा—पूर्वोक्त वाकादिक द्वादश करण प्रज्ञाके साथ तादात्म्य भावको प्राप्त होकर ही अपने नामादिक विषयोंको प्राप्त होते हैं। प्रज्ञाके तादाम्यके बिना कोई भी इन्द्रिय अपने विषयको प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह कि वाकादिक इन्द्रियोंके बिना नामादिक विषयोंकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये नामादिक विषय वाकादिक इन्द्रिय स्वरूप हैं। तैसे प्रज्ञाके बिना वाकादिक इन्द्रियोंकी भी सिद्धि नहीं होती इसलिये वाकादिक इन्द्रियाँ भी प्रज्ञा स्वरूप हैं। इस रीतिसे प्रज्ञाकी अद्वितीय रूपता ही सिद्ध होती है।"

शंका—"वाकादिक इन्द्रियाँ प्रज्ञाकी अपेक्षाके बिना ही अपने विषयोंको क्यों नहीं प्रकाश करती हैं?"

समाधान—"वाकादिक बारह करण प्रज्ञाके बलसे ही अपने अपने विषयको जानते हैं। अपने बलसे नहीं जान सकते। इसी अर्थको लौकिक अनुभव द्वारा स्पष्ट करते हैं—जिस पुरुषका मन सावधान नहीं रहता है उस पुरुषको यदि कोई दूसरा व्यक्ति कुछ कहता है तो वह उत्तर देता है कि हमारा मन तुम्हारी बातमें नहीं था इसलिये मैं तुम्हारे कथनको न जान सका, पुनः कहो। इसी प्रकार नेत्रोंसे रूपको देखता हुआ, शरीरसे सुख दुःखका अनुभव करता हुआ भी यह पुरुष मनकी असावधानता होनेपर किंचितमात्र भी नहीं जानता। अर्थात् वाकादिक इन्द्रियोंका अपने अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी प्रज्ञाके बिना किसी भी विषयका प्रकाश नहीं होता।

अथवा—वाकादिक बारह करण और उनके नामादिक बारह विषय ये सभी प्रज्ञाके बिना कभी भी प्रतीत नहीं होते, जैसे मिट्टीके बिना घट, शराब आदि विकार प्रतीत नहीं होते। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जिस वस्तुके विद्यमान होनेपर जो वस्तु प्रतीत हो और जिसके अविद्यमान होनेपर जो वस्तु न प्रतीत हो, वह

वस्तु उस वस्तुसे भिन्न नहीं होती है। जैसे मिट्टीके विद्यमान होनेपर घटकी प्रतीति होती है और मिट्टीके अविद्यमान होनेपर घटकी प्रतीति नहीं होती, इसलिये घटादिक मृत्तिकासे भिन्न नहीं, अभिन्न हैं। तैसे वाकादिक बारह करण तथा नामादिक बारह विषय ये सभी प्रज्ञाके विद्यमान होनेपर प्रतीत होते हैं और प्रज्ञाके अविद्यमान होनेपर प्रतीत नहीं होते, इसलिये वे सभी वाकादिक प्रज्ञा स्वरूप हैं। प्रज्ञासे किंचितमात्र भी उनका भेद नहीं। अतः वह प्रज्ञा एकरूप प्राणसे अभिन्न है, यह सिद्ध हुआ।"

प्रतर्दन राजा बोला—"हे भगवन! उक्त रीतिसे प्रज्ञाको यदि सर्वरूपता हो तो वाकादिक इन्द्रिय भी प्रज्ञाके ही स्वरूप हैं। इसलिये जैसे प्रज्ञामें आत्मबुद्धि आपने उपदेश की है, तैसे वाकादिकोंमें आत्म बुद्धि करनेमें कौन दोष है?"

इन्द्रने कहा—"हे प्रतर्दन! वाकादिकोंको यद्यपि प्रज्ञा स्वरूपता है तथापि उनको सर्वरूपता नहीं है। इसलिये उनमें आत्मबुद्धि करनी सम्भव नहीं। और प्रज्ञा तथा प्राणमें पूर्वोक्त रीतिसे सर्वरूपता है। इसलिये प्राण तथा प्रज्ञामें ही आत्मबुद्धि करना चाहिए। अतः हे प्रतर्दन! वाकादिकोंको प्रज्ञा स्वरूपता है इसलिये उनमें भी आत्मबुद्धि करने योग्य है, इस प्रकारके संशयका परित्याग करके प्राण-प्रज्ञा स्वरूप मैं इन्द्रको तुम निश्चय करो। मैं इन्द्र तुझे वाक्-इन्द्रिय द्वारा उपदेश करता हुआ भी वास्तवमें वाक्-इन्द्रियसे रहित हूँ। तात्पर्य यह कि वाकादिकोंसे विशिष्ट हुआ आत्मा वक्ता, श्रोता, द्रष्टा आदि संज्ञाको प्रा[प्त] होता है। जैसे एक ही ब्राह्मण पाक क्रिया[से] पाचक और पाठक्रियासे पाठक संज्ञाको प्रा[प्त] करता है। तैसे एक ही अद्वितीय आत्मा वाका[] दिकोंसे विशिष्ट होकर वक्ता आदि संज्ञाको प्रा[प्त] होता है। उन वाकादिक करणोंका परित्याग कर[के] अन्तमें शेष बचे हुए प्राण-प्रज्ञा स्वरूप आत्म[ा] को तुम निश्चय करो। वह आत्मा अपने-अपने व्यापारोंसे युक्त वाकादिक करणोंको प्रका[शित] करनेवाला है।"

शंका—"हे भगवन, प्राण प्रज्ञाको पह[ले] आपने अद्वितीय रूप, वाकादिक सर्वका प्रकाश[क] कहा है, वह संभव नहीं। क्योंकि लोक[में] प्रकाश्य रूप घटादिकोंका और प्रकाशरूप दीपा[] दिकोंका परस्पर भेद ही देखा जाता है।

समाधान—"वाकादिक बारह करण और शब्दादिक बारह विषय दोनों परस्पर अपे[क्षा] वाले हैं। इसलिये उन दोनोंका परस्पर भे[द] सिद्ध नहीं होता, जब उनका भेद निरूपण नहीं हुआ तब अधिष्ठान रूप प्राण-प्रज्ञाके साथ उ[न] वाकादिकोंका भेद किस प्रकारसे निरूपण कि[या] जाय। तात्पर्य यह कि जैसे रज्जुसे कल्पि[त] सर्प भिन्न नहीं होता, तैसे प्राण-प्रज्ञा स्वरू[प] में आत्मासे कल्पित वाकादिक भी भि[न्न] नहीं है।

वाकादिक करणों तथा शब्दादिक विषयों[की] परस्पर सापेक्षताको दिखलाते हैं—

भूतमात्रा नामवाले नामादिक बारह विष[य] वाकादिक बारह करणोंको आश्रय करके ही सि[द्ध] होते हैं। वाकादिकोंके बिना नामादिकों[के]

सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार प्रज्ञामात्रा नामक वाकादि बारह करण नामादिक विषयोंको आश्रय करके ही सिद्ध होते हैं। नामादिकोंके बिना वाकादिकोंकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि यदि केवल वाकादिक करणोंको ही अंगीकार करें और नामादिक विषयोंको नहीं अङ्गीकार करें तो वाकादिकोंमें करणता ही नहीं रहेगी। क्योंकि उनमें करणता धर्म नामादिक विषयोंसे निरूपित है। इस कारणसे ही लोकमें "करण है" इस प्रकारका शब्द सुनकर "किस विषयका कारण है?" इस प्रकारकी जिज्ञासा पुरुषोंमें देखी जाती है। अतः वाकादिक करणोंको नामादिक विषयोंकी अपेक्षा है। तैसे ही यदि केवल नामादिक विषय ही अङ्गीकार करें और वाकादिक करणोंको अङ्गीकार नहीं करें तो नामादिक विषयोंमें विषयता धर्म नहीं रहेगा। क्योंकि नामादिक विषयोंमें विषयता धर्म वाकादिक करणों द्वारा निरूपित है। इस कारणसे ही लोकमें "विषय है" इस प्रकारके शब्दको सुनकर "किस करणका विषय है?" इस प्रकारकी जिज्ञासा पुरुषोंमें देखी जाती है। इसलिए नामादिक विषयोंको भी वाकादिक करणोंकी अपेक्षा है। जैसे पिता-पुत्र संज्ञा पिता तथा पुत्र दोनोंके विद्यमान होनेपर होती है। पिताके बिना पुत्र नहीं होता और पुत्रके बिना पिता नहीं होता। तैसे वाकादिकोंमें करण संज्ञा नामादिक विषयोंके विद्यमान होनेपर ही होती है और नामादिकोंमें विषय संज्ञा वाकादिक करणोंके विद्यमान होनेपर ही होती है। अतः करणों और विषयोंको परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा है। एक के अभावमें दूसरेकी सिद्धि नहीं हो सकती।"

शंका—"श्रुतिमें भूतमात्रा रूप नामादिक विषय दश कहे हैं तथा वाकादिक करण भी दश ही कहे हैं। अतः बारह करणों और बारह विषयोंका कथन आपका श्रुति विरुद्ध है।

समाधान—"श्रुतिमें शरीर तथा अन्तःकरण इन दो करणों और सुख-दुःख तथा कामादिक, दो विषयोंको परित्याग करके केवल वाकादिक वाह्य करणों तथा नामादिक वाह्य विषयोंको दस प्रकार कहा है। अतः श्रुतिके साथ ग्रन्थका विरोध नहीं है।"

शंका—"वाकादिक करण तथा नामादिक विषय यद्यपि परस्पर अपेक्षावाले हैं तथापि अपनी सिद्धिमें किसी तीसरेकी अपेक्षा नहीं करते। अतः वाकादिकोंकी प्रकाशकता रूप हेतुसे आत्माकी सिद्धि नहीं होगी।"

समाधान—"जो-जो सापेक्ष पदार्थ होते हैं, वे परस्पर अपेक्षासे सिद्ध नहीं होते, किन्तु अपने से भिन्न किसी निरपेक्ष वस्तुकी अपेक्षासे ही सापेक्ष पदार्थ सिद्ध होते हैं। जैसे रज्जुमें "अयं सर्पः" इस प्रकारका ज्ञान पुरुषको होता है, उस ज्ञानमें "अयं" शब्दका अर्थ रज्जु विशेष्य रूपसे प्रतीत होता है, और सर्प विशेषण रूपसे प्रतीत होता है। और जब उस रज्जुमें "सर्पः अयं" इस प्रकारका ज्ञान होता है तब उस ज्ञान में सर्प तो विशेष्य रूपसे प्रतीत होता है और "अयं" शब्दका अर्थ रज्जु विशेषण रूपसे प्रतीत होती है। और विशेषण तथा विशेष्य परस्पर सापेक्ष होते हैं। इसलिए उनको विषय

करनेवाले ज्ञान भी परस्पर सापेक्ष ही होते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि जैसे "अयं सर्प, सर्पः अयं" यह दोनों ज्ञान परस्पर अपेक्षा वाले तो हैं, परन्तु निरपेक्ष रज्जुके विना परस्पर अपेक्षा मात्रसे उन ज्ञानोंकी सिद्धि नहीं होती। किन्तु निरपेक्ष रज्जुकी अपेक्षासे ही उन ज्ञानोंकी सिद्धि होती है। तैसे वाकादिक करण तथा नामादिक विषय यद्यपि परस्पर अपेक्षा वाले हैं तथापि उनकी निरपेक्ष आत्माके विना सिद्धि नहीं होती, किन्तु निरपेक्ष आत्मासे ही उनकी सिद्धि होती है।

अथवा—वाकादिक करण तथा नामादिक विषय परस्पर भिन्न नहीं, तैसे आत्मारूप आश्रय से भी भिन्न नहीं। इस अर्थको अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध करते हैं—सर्वदा परस्पर सापेक्ष होने से सविपय वाकादिक करण परस्पर तथा आश्रय से भिन्न नहीं, जैसे पूर्वोक्त रज्जुसर्प विषयक ज्ञान परस्पर सापेक्ष है इसलिये परस्पर तथा रज्जुरूप आश्रयसे भिन्न नहीं।

अथवा—नामादिक विपय जैसे वाकादिक करणोंसे तथा आत्मारूप आश्रयसे भिन्न नहीं, तैसे अपने ज्ञानसे भी भिन्न नहीं। जैसे रज्जुमें प्रतीत हुआ सर्प, "यह सर्प है" इस प्रकारके ज्ञानसे भिन्न नहीं। यदि भिन्न हो तो उस ज्ञानकी निवृत्ति कालमें भी प्रतीत होना चाहिए और कल्पित सर्प 'यह सर्प है' इस ज्ञानकी निवृत्ति कालमें प्रतीत नहीं होता। इसलिये कल्पित सर्प अपने ज्ञानसे भी भिन्न नहीं। तैसे नामादिक विपय भी अपने ज्ञानसे भिन्न नहीं।

अथवा—चक्षु आदिक करणोंसे पुरुषोंको अन्तःकरणकी वृत्ति रूप जड़ ज्ञान उत्पन्न हो[illegible] है। वे वृत्तिरूप ज्ञान रूपादिक विषयोंके [illegible] रूप हैं। उन वृत्तिरूप ज्ञानोंका द्रष्टा प्राण-[illegible] स्वरूप मैं चैतन्य हूँ। इसलिये वे वृत्तिरूप [illegible] ज्ञान चैतन्य रूप मुझ आत्मासे भिन्न न[illegible] जैसे स्वप्नमें जीवोंको रथ आदि पदार्थोंके [illegible] उत्पन्न होते हैं, वे रथादिक विपय सहित [illegible] स्वप्न द्रष्टा पुरुपसे भिन्न नहीं। तैसे [illegible] सहित वृत्तिरूप जड़ ज्ञान मैं द्रष्टा आत्मासे [illegible] नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि प्राण-प्रज्ञा शब्द[illegible] लक्ष्य अर्थ आत्मा ही अद्वितीय है। उस [illegible] से भिन्न कोई भी वस्तु नहीं। इसी [illegible] चक्रके दृष्टान्तसे समझाते हैं—जैसे रथके [illegible] में नेमी, अरा, नाभि ये तीन भाग होते [illegible] चन्द्राकार काष्ठ जो भूमिका स्पर्श करता है [illegible] नेमी कहते हैं। और नेमी जिसके आश्रि[illegible] ऐसे बीचके वक्र काष्ठको अरा कहते [illegible] और अराका आधार रूप काष्ठ जिसमें [illegible] (धुरा) फिरता है उसे नाभि कहते हैं। [illegible] नेमी अराके आधार पर है, और अरा ना[illegible] आधार पर है। वह नाभि किसीके [illegible] नहीं, किन्तु सवका आधार होती है। तैसे [illegible] नामादिक विषय वाकादिक करणोंके [illegible] रहते हैं और वाकादिक करण प्राण-[illegible] स्वरूप मुझ आत्माके आश्रित रहते हैं। [illegible] प्रज्ञा स्वरूप मैं आत्मा किसीके आश्रित [illegible] रहता, किन्तु सम्पूर्ण विपय तथा वाकादि[illegible] मैं आत्मा अधिष्ठान हूँ। अतः नामादिक [illegible] रूप तथा वाकादिक करण रूप इस सकल [illegible] रूपचक्रका प्राण-प्रज्ञा स्वरूप मैं आत्मा [illegible]

हूँ। क्योंकि जैसे जगत-प्रसिद्ध रथके चक्रकी नाभि किसीके आश्रित नहीं रहती, तैसे मैं आत्मा भी किसी अन्यके आश्रित नहीं रहता, किन्तु सकल जगत मेरे आश्रित रहता है।

अथवा—विषय तथा विषयी दोनोंका नाम जगत है। यहाँ नामादिक विषय हैं और वाका-दिक करण विषयी हैं। इस विषय विषयी रूप सकल प्रपंचको प्रकाश करनेवाला प्राण-प्रज्ञा स्वरूप मैं आत्मा हूँ।

अथवा—प्राण-प्रज्ञा स्वरूप मुझ आत्मासे ही यह स्थूल सूक्ष्म सकल प्रपंच उत्पन्न हुआ है और मुझ आत्मामें ही सकल जगत अभि-स्थित है और मुझ आत्मामें ही सकल जगत लयको प्राप्त होगा। जैसे मूढ़ बालक द्वारा अपने शरीरमें कल्पित राक्षसकी उत्पत्ति स्थिति, और लय उस बालकमें ही होता है तैसे प्राण-प्रज्ञा स्वरूप मुझ आत्मामें ही सकल प्रपंचकी उत्पत्ति, स्थिति, लय होता है।

अथवा—जैसे सर्वभेदसे रहित आकाशमें घट मठादि उपाधियोंके कारण भेद प्रतीत होता है तैसे शरीर आदि उपाधियोंसे मुझ अद्वितीय आत्मामें नाना प्रकारके भेद प्रतीत होते हैं।

अथवा—मुझ अद्वितीय आत्मामें उपाधि दृष्टिवाले बहिर्मुख पुरुषोंको ही भेद प्रतीत होता है। उपाधि दृष्टिसे रहित अन्तर्मुख पुरुषोंको मुझ अद्वितीय आत्मामें भेद नहीं प्रतीत होता। जैसे चित्रपटमें यद्यपि नीचा ऊँचापन नहीं होता, किन्तु चित्रमें बने हुए वृक्ष पहाड़ आदिकी दृष्टिसे अविवेकी पुरुषोंको "यह वृक्ष नीचे है यह पहाड़ ऊपर है, गड्ढेमें पानी है" इस प्रकारकी विषम दृष्टि होती है। परन्तु जिन विवेकी पुरुषोंकी वृक्ष पहाड़ आदि चित्र दृष्टि नहीं, केवल पट दृष्टि है, उनको अविवेकी जनोंकी तरह विषम दृष्टि नहीं होती। तैसे प्रपंच रूप उपाधिकी दृष्टिसे अविवेकी पुरुषोंको मुझ अद्वितीय आत्मामें भेद प्रतीत होता है और उपाधि दृष्टिसे रहित विवेकी पुरुषोंको प्राण-प्रज्ञा स्वरूप मुझ आत्मामें भेद बुद्धि नहीं होती।

अब प्राण-प्रज्ञाके वास्तव अर्थको दिखाते हैं।

हे प्रतर्दन! वायुरूप प्राणसे यद्यपि मैं आत्मा भिन्न हूँ तथापि अण्डज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज जीवोंका मुझ आत्मासे ही जीवन है। इस कारण मैं अद्वितीय आत्मा ही प्राण शब्दका अर्थ हूँ। तथा प्राण शब्द जन्य ज्ञानका विषय हूँ।"

शंका—"चैतन्य आत्मामें ही प्राणियोंके जीवनकी कारणता है, वायुरूप प्राणमें नहीं, इसमें क्या प्रमाण है?"

समाधान—"तैतरीय उपनिषद्में चैतन्य आत्माको ही जीवनका कारण कहा गया है। वहाँ यह कहा है कि प्राण अपानसे कोई भी प्राणी जीवित नहीं रहता किन्तु जिस आत्माकी समीपतासे ये प्राणापानादिक प्रवर्तमान होते हैं, उस चैतन्य आत्मासे ही ये सम्पूर्ण प्राणी जीवित रहते हैं। इसलिये सबके जीवनका कारण अद्वितीय आत्मा ही प्राण शब्दका अर्थ है।"

अब प्रज्ञा शब्दके अर्थको दिखलाते हैं—

बारह करणों तथा नामादि विषयोंको अपने स्वप्रकाश स्वरूपसे मैं अद्वितीय आत्मा

जानता हूँ इस कारणसे मैं अद्वितीय आत्मा प्रज्ञा शब्दका अर्थ हूँ।

अथवा—देश, काल, वस्तु परिच्छेदोंसे मैं आत्मा रहित स्वप्रकाश हूँ। इस कारण मैं आत्मा ही प्रज्ञा शब्दका अर्थ हूँ।

अथवा—लोकमें ज्ञानसे भिन्न बाह्य रज्जु आदिक जड़ पदार्थ कल्पित सर्पादिकोंके अधिष्ठान रूप हैं और मैं आत्मा ज्ञानसे भिन्न नहीं, किन्तु ज्ञान स्वरूप हूँ। मैं आत्मा बाहर भी नहीं किन्तु सबके अन्तर हूँ। इस प्रकार रज्जु आदिक बाह्य अधिष्ठानोंसे विलक्षण रूपसे युक्त हुआ भी मैं आत्मा सर्व प्रपंचका अधिष्ठान हूँ। इसलिये मैं अद्वितीय आत्मा प्रज्ञा शब्दका अर्थ हूँ।

अथवा—सजातीय भेद विजातीय भेद तथा स्वगत भेदसे रहित आत्म स्वरूप प्रज्ञासे मैं भिन्न नहीं, युक्त हूँ। इस कारण मैं अद्वितीय आत्मा प्रज्ञा शब्दका अर्थ हूँ।

अब 'आत्म' पदके अर्थको दिखलाते हैं—

हे प्रतर्दन! तुमको हमने वारम्वार जिस प्राण प्रज्ञा स्वरूप आत्माका उपदेश किया है वही आत्मा तेरा वास्तव स्वरूप है। स्थावरों जंगमोंका भी वही आत्मा वास्तव स्वरूप है और वही आत्मा सर्व प्राणियोंमें अहं शब्दकी लक्षणा द्वारा जाना जाता है। और 'अहं' इस ज्ञानका विषय है। और वास्तवमें 'अहं' इस शब्द तथा ज्ञानके सम्बन्धसे रहित है। और वही आत्मा आकाशकी तरह भेद रहित होकर इस जगतमें स्थित है।

अथवा, जैसे घटमठादिक नाना उपाधियों में स्थित आकाशका आकाशही एक नाम होता है। भाव यह कि घट उपाधिमें स्थित आकाश की घटाकाश, मठ उपाधिमें स्थित आकाशको मठाकाश कहते हैं, इस प्रकार नाना उपाधियों में स्थित आकाश 'आकाश' इस नामसे रहित नहीं होता, इसलिये वह अनुगत एक आकाश नाम आकाशकी एकताको बोधन करता है, वैसे नाना शरीर रूप उपाधियोंमें स्थित अद्वितीय आत्माका भी एक आत्मा ही नाम होता है। इसलिये सर्वत्र अनुगत एक आत्मा नाम मुझ अद्वितीय आत्माकी एकताको बोधन करता है।"

शंका—"आत्मा यदि वास्तवमें एक ही है तो नाना रूप होकर क्यों प्रतीत होता है?"

समाधान—"अविद्या रूप दोषसे एक ही आत्मा जगत रूप होकर प्रतीत होता है और एक ही स्वप्न द्रष्टा पुरुष स्वप्नमें निद्रा दोषसे अनन्तरूप होकर प्रतीत होता है, और वे स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले रथादिक पदार्थ कल्पित हैं। इसलिये स्वप्न द्रष्टा पुरुषसे भिन्न नहीं, तैसे अज्ञानसे कल्पित यह सम्पूर्ण जगत मुझ अद्वितीय आत्मासे भिन्न नहीं।

अब आनन्द शब्दके अर्थको दिखलाते हैं—

हे प्रतर्दन, सभी जीवोंको मैं आत्मा अतिशय प्रिय हूँ। इसलिए मैं आत्मा आनन्द स्वरूप हूँ। तात्पर्य यह कि इस लोकमें तथा परलोकमें भोगने योग्य स्त्री आदिक पदार्थ प्रिय हैं और इन विषयोंसे उत्पन्न हुआ अन्तःकरणका परिणामरूप सुख प्रियतर है। और आत्मा शेषी रूप है इसलिये प्रियतम है। स्त्री. पुत्रादिक जिसके लिये हैं उसे शेषि कहते हैं। ऐसा ...

रूप आत्मा है, अन्य सम्पूर्ण पदार्थ आत्माका शेष रूप हैं। अब इसी अर्थको और स्पष्ट करते हैं—सम्पूर्ण प्राणी सुख तथा सुखके साधन स्त्री पुत्रादिकोंकी जब इच्छा करते हैं तब आत्माके वास्ते ही सुखादिकोंकी इच्छा करते हैं। मुझे सुखकी प्राप्ति हो, मुझे स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्ति हो इस प्रकारकी इच्छा सभी जीव करते हैं। यदि केवल सुखकी इच्छा हो तो वैरीके सुखकी भी इच्छा होनी चाहिये और वैरीके सुख की इच्छा कोई करता नहीं। किन्तु आत्म सम्बन्धी सुखकी सभी प्राणी इच्छा करते हैं, इसलिये आत्माके वास्ते ही सुख तथा सुखके साधनोंकी इच्छा होती है। सुख और सुखके साधनोंके लिए आत्माकी कोई इच्छा नहीं करता है। इसलिये मैं अद्वितीय आत्मा ही सबका शेषि रूप हूँ। अन्य संपूर्ण पदार्थ आनन्द स्वरूप मुझ आत्माके शेष रूप हैं। भोगके साधनोंको शेष कहते हैं, भोक्ताको शेषि कहते हैं।

अथवा, मनुष्य लोकसे लेकर ब्रह्मलोक तकके विषय जन्य सुख जिसमें जाकर पर्यवसान को प्राप्त होते हैं वह आनन्द स्वरूप मैं आत्मा हूँ। इसी अर्थको स्पष्ट करते हैं—मनुष्य लोकके आनन्दसे सौगुना अधिक आनन्द पितरोंको होता है, पितरोंसे शत गुना गन्धर्वोंको, गन्धर्वों से शतगुना अधिक आनन्द कर्म देवताओंको, देवताओंसे प्रजापतिको सौगुना अधिक आनन्द होता है, प्रजापतिके आनन्दसे सौगुना आनन्द हिरण्यगर्भ का है। विषय जन्य सुखमें हिरण्यगर्भ लोकका सुख सबसे उत्कृष्ट है। उस हिरण्यगर्भका आनन्द, आनन्द समुद्ररूप मुझ आत्मा के एक कणके समान है। तात्पर्य यह कि सबसे उत्कृष्ट हिरण्यगर्भका आनन्द भी जब आनन्द-समुद्र आत्माके एक कणके समान हुआ तब मनुष्यादिकोंके आनन्दकी क्या कथा है। इसलिये सकल आनन्दोंकी अवधिरूप मैं आत्मा हूँ। अतः मैं आत्मा आनन्द स्वरूप हूँ।

अथवा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच प्रकारके विषयोंको लोग सुखका कारण मानते हैं, ये शब्दादिक विषय भी मुझ परमात्माको ही सुखकी प्राप्ति करते हैं। अर्थात् शब्दादिक विषयोंसे प्रगट हुआ सुख मुझ आत्माका ही स्वरूप है।"

शंका—"शब्दादिक विषयोंसे उत्पन्न हुए सुखोंको आत्मरूपता सम्भव नहीं। क्योंकि सत्-चित्-आनन्द रूप आत्माका लक्षण उन सुखोंमें नहीं है।"

समाधान—"जिन पुरुषोंको वेदान्त वाक्यों से आत्माका यथार्थ ज्ञान हुआ है, वे शब्दादिक विषयजन्य सुखोंमें भी वृत्तिरूप उपाधिका परिणाम त्यागकर सुखमात्रको सत्-चित्-आनन्द रूप ही मानते हैं। और आत्मज्ञानसे रहित मूढ़ पुरुष तो शब्दादिक विषयोंको ही सुखरूप मानता है। इस कारण ही तत्ववेत्ता पुरुषको विषयकी प्राप्तिकालमें भी आत्म-स्वरूप नित्य सुखका ही भान होता है, ऐसा शास्त्रमें कहा है।

अथवा, शब्दादिक विषयोंमें जो सुख प्रतीत होता है, वह भी आनन्द स्वरूप मुझ आत्माके सम्बन्धसे ही प्रतीत होता है। जैसे गुड़की मधुरताका किसी वस्तुसे सम्बन्ध नहीं,

किन्तु स्वतः ही गुड़में मधुरता है। उस गुड़का जिस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है वह वस्तु भी मधुर प्रतीत होती है, तैसे ही मुझ आत्मामें जो आनन्दरूपता है वह किसीके सम्बन्धसे नहीं, किन्तु मैं आत्मा स्वतः ही आनन्द स्वरूप हूँ। उस आनन्द स्वरूप मुझ आत्माके सम्बन्धसे शब्दादि विषयोंमें आनन्दरूपता प्रतीत होती है। स्वतः शब्दादिकोंमें आनन्दरूपता नहीं है। तो भी आत्मज्ञानसे रहित मूढ़ पुरुष शब्दादिक विषयोंको ही सुखरूप मानता है। जैसे वायुका स्पर्श शीतल और उष्ण नहीं किन्तु विलक्षण है तथापि शीतस्पर्श वाले जल तथा उष्ण स्पर्श वाले तेजके साथ सम्बन्धित होने पर उसे शास्त्र संस्कारहीन मूढ़ पुरुष शीत-उष्ण कहता है। विचारवान् पुरुष वायुको शीतल और उष्ण स्पर्श वाला नहीं मानता है। क्योंकि जल और अग्नि के सूक्ष्म अवयवोंको वहन करनेके कारण ही वायु शीतल या उष्ण प्रतीत होता है। ऐसे ही शब्दादिक विषयोंमें आनन्द स्वरूप आत्माके तादात्म्य सम्बन्धसे ही आनन्दरूपता है। स्वतः शब्दादिकोंमें आनन्दरूपता नहीं, तथापि आत्म-ज्ञानसे रहित मूढ़ पुरुषोंको ऐसी भ्रान्ति होती है कि विषयोंसे ही हमें सुखकी प्राप्ति हो रही है। इसलिये हे प्रतर्दन! मैं अद्वितीय आत्मा ही आनन्दस्वरूप हूँ।"

शंका—"यदि आत्मा ही आनन्दरूप हो तो आत्मा सर्वदा विद्यमान है, किसी कालमें उसका अभाव नहीं, इसलिये सर्वदा आनन्दकी प्राप्ति होनी चाहिए। और सर्वदा आनन्दकी प्राप्ति होती नहीं। अथवा, शब्दादिक विषय ही हमें सुख देनेवाले हैं। इस प्रकार लोग कहते हैं, इसमें क्या कारण है?"

समाधान—"हे प्रतर्दन! सर्व बुद्धि आदि जड़ संघातका साक्षी प्राण प्रज्ञास्वरूप मैं आत्मा ही एक सुखरूप हूं। ऐसे मुझ आत्माका जब इस जीवको अज्ञान रहता है तब अज्ञानसे आवृत होकर वे मूढ़ पुरुष शब्दादिक विषयोंके प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, उस इच्छासे अनन्त दुःखोंको प्राप्त होते हैं। हे प्रतर्दन! उन अज्ञान जन्य दुःखोंका तुम भी पहले अनुभव कर आये हो। इसलिये आनन्द स्वरूप आत्माके सदा विद्यमान होनेपर भी अज्ञान रूप आवरणसे पुरुषोंको आत्मानन्दका भान नहीं होता है।

अथवा—शब्दादिक विषय हमारे सुखके कारण है, इस प्रकार जो लोग कहते हैं, उसमें कारण यह है कि शब्दादिक विषयोंके प्राप्ति कालमें उस शब्दादिकोंकी इच्छासे पुरुषोंकी बुद्धि चञ्चल रहती है और जब पूर्व पुण्यके वशसे उन शब्दादिक विषयोंकी प्राप्ति होती है, तब कुछ कालके लिये उस इच्छाकी निवृत्ति हो जाती है। इच्छाकी निवृत्ति होनेपर कुछ कालके लिये वह चंचल बुद्धि एकाग्र हो जाती है। जब तक दूसरे पदार्थोंकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती तबतक वह एकाग्र बुद्धि मुझ आनन्द स्वरूप आत्मासे व्याप्त रहती है। इस कारण वह एकाग्र बुद्धि सुखरूप आत्माकी तरह सुख रूप हुई प्रतीत होती है। जैसे लौह पिण्डमें उष्ण स्पर्श और प्रकाश मानता यद्यपि नहीं है तथापि अग्निसे संयुक्त हुआ लौह पिण्ड अग्निके समान उष्ण तथा प्रकाशमान प्रतीत होता है।

तैसे ही बुद्धि यद्यपि सुखरूप नहीं है। तथापि आनन्द स्वरूप मुझ आत्मासे व्याप्त होकर वह एकाग्र बुद्धि सुख रूप होकर प्रतीत होती है। तात्पर्य यह कि आनन्दरूप आत्माके प्रतिविम्ब युक्त बुद्धिकी एकाग्र अवस्थाको ही मूढ़ पुरुष सुख मानते हैं। और वह बुद्धिकी एकाग्र अवस्था शब्दादिक विषयोंकी प्राप्तिसे ही होती है। शब्दादिक विषयोंके विना बुद्धिकी एकाग्रता नहीं होती। इसीसे मूढ़ पुरुष कहते हैं कि विषयोंसे ही हमें सुख मिलता है।"

शंका—"हे भगवन्! आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रतिबिंब युक्त बुद्धिकी एकाग्र अवस्था यदि लोक प्रसिद्ध सुख हो तो सर्व प्राणी मात्रको विषय जन्य सुख समान होना चाहिये, और विषय जन्य सुख समान होता नहीं।"

समाधान—"हे प्रतर्दन, जैसे छिद्र युक्त सरसोंका दाना महान समुद्रमें पहुँचकर भी अपने छिद्रके परिमाणसे ही जलका ग्रहण करेगा। वह अपने छिद्रसे अधिक जल नहीं ग्रहण कर सकता है। तैसे ही आनन्द समुद्र मुझ आत्माको प्राप्त होकर भी विषय जन्य बुद्धि अपने परिणाम से ही आत्मानन्दको ग्रहण करती है। अपने परिणामसे अधिक आनन्द बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। जैसे अति स्वच्छ दर्पणमें सूर्य प्रति-विम्बकी अधिकता तथा मलीन दर्पणमें सूर्य प्रतिविम्बकी न्यूनता होती है, तैसे शुद्ध सत्व-गुण युक्त एकाग्र बुद्धिमें आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रतिविम्ब स्पष्ट होता है इसलिए वहाँ आनन्दकी अधिकता प्रतीत होती है और मलीन सत्वगुण युक्त बुद्धिमें आनन्दका प्रतिविम्ब स्पष्ट नहीं होता, इसलिए वहाँ आनन्दकी न्यूनता प्रतीत होती है। इस कारणसे ही बहुत दिन बाद घर पर आये हुए पुरुषको स्त्री पुत्रोंके प्रथम दर्शनसे जैसा आनन्द होता है वैसा पुनः दर्शनसे नहीं होता। क्रमशः उत्तरोत्तर दर्शनमें आनन्दकी न्यूनता रहती है। क्योंकि प्रथम दर्शनसे बुद्धि अत्यन्त एकाग्र हो जाती है। इसलिए आनन्दकी अधिकता प्रतीत होती है और बादमें अन्य पदार्थोंकी इच्छासे बुद्धि चंचल हो जाती है, इसलिए पुनः स्त्री पुत्रादिके दर्शनसे पहले जैसा आनन्द नहीं होता है। अतः सिद्ध हुआ कि आनन्द स्वरूप आत्माके प्रतिविम्ब युक्त एकाग्र बुद्धिको मूढ़ पुरुष सुख रूप मानते हैं, वह सुख इच्छाकी निवृत्तिके विना होता नहीं। इसलिए इच्छाकी निवृत्ति ही सुखमें कारण है। उस इच्छाकी निवृत्ति शब्दादिक विषयोंकी प्राप्तिके विना नहीं होती। इसलिए शब्दादिक विषयोंको सुखका कारण मानकर अविवेकी पुरुष उन शब्दादि विषयोंकी प्राप्तिके लिए यत्न करते हैं। इसी प्रकार छींक और खुजली आदिसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंमें भी समझ लेना चाहिए। इसलिए हे प्रतर्दन! सभी शरीरोंमें आनन्द स्वरूप मैं आत्मा ही सुख देने वाला हूँ। मुझसे भिन्न कोई सुख देनेवाला नहीं। और वही आनन्द स्वरूप आत्मा तेरा स्वरूप है।

हे प्रतर्दन! "अद्वितीय आनन्द स्वरूप मैं आत्मा हूँ।" इस प्रकारके आत्मज्ञानसे अब तुम्हारा अज्ञान निवृत्त हुआ है, अतः स्थूल शरीर भी तुम्हारा नहीं है। जब स्थूल शरीरका

तुम्हारेमें अभाव हो गया तब स्थूल शरीरके धर्म जरा मरणादिक तुम्हारेमें किस प्रकार होंगे, नहीं हो सकते। और बुद्धि आदिकोंका साक्षी रूप जो तेरा स्वरूप है उसमें बुद्धि भी नहीं है। बुद्धिके अभाव होनेपर उसके धर्म पुण्य पापादिक भी तेरे स्वरूपमें नहीं हैं। तात्पर्य यह कि जैसे लोकमें प्रकाश्य घटादिकोंके धर्म प्रकाशक दीपादिकोंको स्पर्श नहीं करते तैसे प्रकाश्य बुद्धि के पुण्य पापरूप धर्म प्रकाशक साक्षी आत्माको स्पर्श नहीं करते। उस पुण्य-पापके अभाव होने पर इस लोक-परलोकमें सुख दुःखरूप फलका भोक्ता आत्मा नहीं होता है। जो पुण्य-पापरूप कर्मके फलका भोक्ता होता है उसकी अधिक भोगोंसे वृद्धि होती है और अल्प भागोंसे न्यूनता होती है, तू कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता नहीं, इसलिए तुम्हारी वृद्धि और न्यूनता किस कारण से होगी? किन्तु नहीं होगी।

हे प्रतर्दन! जो अद्वितीय आत्मा मेरा स्वरूप है वही तेरा स्वरूप है, और तूही सर्वका साक्षी है। ऐसा आत्म स्वरूप तू पुण्य पापरूप कर्मके पराधीन कभी भी नहीं है, किन्तु अपनी समीपतासे बुद्धि आदिकोंको पुण्य तथा पाप करवाते हो। हे प्रतर्दन! तू परमात्मा देव जिस पुरुषको स्वर्गमें ले जानेकी इच्छा करते हो उससे पुण्य कर्म करवाते हो, जिसे नरकमें ले जाना चाहते हो उससे पाप कर्म करवाते हो और जिस पुरुषको मनुष्य लोकमें ले जाना चाहते हो उससे पाप पुण्य दोनों करवाते हो।"

शंका—"पाप पुण्य कर्मको करानेवाला यदि परमात्माको मानेंगे तो जीवोंकी तरह विषमता और निर्दयता दोषकी प्राप्ति परमात्मामें भी होगी।"

समाधान—"पुण्य कर्मसे यह पुरुष पुण्य कर्मवाला, पाप कर्मसे पाप कर्मवाला होता है। इस प्रकार श्रुतिमें कहा है। और उन पुण्य-पाप कर्मोंका ज्ञान अल्पज्ञ जीवको नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ ईश्वरको है। इसलिये इस जीवके पूर्व पुण्य कर्मोंके अनुसार उत्तरोत्तर जन्ममें पुण्य कर्मोंको ईश्वर कराता है और इस जीवके पूर्व पाप कर्मके अनुसार उत्तरोत्तर जन्ममें पाप कर्मोंको कराता है। अतः परमात्मामें विषमता और निर्दयता रूप दोषकी प्राप्ति नहीं। इसलिये हे प्रतर्दन! सर्व कर्मोंका प्रेरक मुझ परमात्मा स्वरूप तू पुण्य पाप रूप कर्मके अधीन नहीं।

अथवा–हे प्रतर्दन! सम्पूर्ण बुद्धि आदिकों का साक्षी तथा सबका प्रेरक तेरा स्वरूप जो मैंने कथन किया है, वही तेरा स्वरूप सर्व लोकोंका पालन करता है, जैसे माता बालकोंका पालन करती है।

अथवा—हे प्रतर्दन! जो घरका मालिक अपने पुत्रादिक बान्धवोंको नाना प्रकारके भोगों की प्राप्ति कराके तृप्त करता है तैसे तू परमात्मा देव भी सम्पूर्ण जगत्को अपना मानकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्ति द्वारा सदा तृप्त करते हो। जैसे काष्ठ तथा मिट्टी द्वारा रचित प्रसिद्ध सेतु जलकी मर्यादाको धारण करता है, [illegible] पुण्यवान जीव स्वर्गको प्राप्त होते हैं, और पापी जीव नरकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकारकी मर्यादाको धारण करनेवाले वेद तथा आचार्य

साधु आदिकोंके साथ विरोध करनेवाले राक्षसोंको अपने बलसे तू परमात्मा ही वश करता है, जैसे राजा अपने बलसे दुष्ट पुरुषोंको वश करता है।

हे प्रतर्दन! स्थावर जंगम आदि सर्व भूतोंमें आकाशकी तरह समान व्यापक परमात्मा देव जैसा है वैसा मैंने तुमसे कथन किया। उस अद्वितीय मैं परमात्माको आत्मा स्वरूपसे तुम जानो। इस अद्वितीय आत्माका ज्ञान ही मनुष्योंके लिये हम हिततम मानते हैं। आत्म ज्ञान विना अन्य कोई भी वस्तु जीवोंका हिततम नहीं है।"

गुरुदेव श्री शंकरानन्द मुनिने कहा— "हे शिष्य! अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये देवराज इन्द्रने उपर्युक्त प्रकारसे हिततम आत्मज्ञानको प्रतर्दन राजासे कहा। इन्द्रके इस उपदेशको सुनकर वह प्रतर्दन राजा इन्द्रकी तरह आत्मज्ञानसे युक्त हो गया। और देवराजकी आज्ञा पा, दण्डवत प्रणामकर अपनी श्री काशी पुरीको वापस चला आया। अपनी पुरीमें आकर प्रारब्धकी समाप्ति करनेके लिये नाना प्रकारके भोगोंको भोगने लगा। भोगोंके भोगनेसे प्रारब्ध कर्मोंकी समाप्ति पर शरीरका परित्याग कर राजा इन्द्रके वास्तव अद्वितीय स्वरूपको प्राप्त हुआ। तात्पर्य यह कि ब्रह्मके साथ अभेद रूप विदेह मोक्षको प्राप्त हो गया।

हे शिष्य, यह जो आत्मज्ञानका हमने तुम्हारे लिए कथन किया है, वही आत्मज्ञान प्रतर्दन आदि महान अधिकारियोंने इन्द्रादिक महान गुरुओंसे पाया है। अतः यह आत्मज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है। इस आत्मज्ञानको नहीं सम्पादन करनेके कारण गुरु पदवीके योग्य ब्राह्मण भी शिष्य भावको प्राप्त होते हैं। और आत्मज्ञानकी प्राप्तिसे शिष्य पदवीके योग्य क्षत्रियादिक भी गुरुभावको प्राप्त होते हैं। अतः आत्मज्ञान ही गुरु पदका सम्पादक है।

अथवा, आत्मज्ञानमें जो महानता है वह अन्य किसी पदार्थमें नहीं। इस कारण ही छान्दोग्य उपनिषद्में ज्ञानके समान दक्षिणाका अभाव कहा गया है। वहाँ प्रसंग यह है कि आत्मज्ञान देनेवाले जो गुरु हैं उनको यदि शिष्य समुद्र पर्यन्त पृथ्वी दक्षिणामें दे देवे तो भी आत्मज्ञानके बराबर वह दक्षिणा नहीं होगी। इसलिए आत्मज्ञान ही सबसे अधिक श्रेष्ठ है।

लोकमें भी गुरु शब्द अधिक अर्थका वाचक होता है। सबसे अधिक अद्वितीय आत्मा है, अतः उस अद्वितीय आत्माको विषय करने वाला आत्मज्ञान भी अधिक है। अतः सिद्ध हुआ कि जिसको अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार हुआ है वही गुरु पदके योग्य है और जिसको आत्माका साक्षात्कार नहीं हुआ है वह शिष्य पदवीके योग्य है।



* इति द्वितीयोऽध्यायः *

बाबा शारदाराम के पद

साधो एकी आत्मा सर्वे समाई।
मन इंद्रिय संत जन जीतें,
मोह नींद से रहते अलगाई।
व्यापक आत्मा जीवे जन्मे,
अज्ञान जब तक घेरा पाई।
आदि मध्य अंतका कारण,
आत्मा एक कृष्ण रहाई।
जीवन नाम अनेक परा है,
यह सब प्रभु खेल कहाई।
'शारदाराम' खेल में खेलो,
ब्रह्म आपे खेलन आई।

साधो अनेक भुजा विश्व में फैलाई।
पांव अनंत आत्मा केर देखाई।
नेत्र अनंत चराचर भरा है,
श्रोत्र विश्रंत कहाई।
घ्राण बहु सुगंध ग्रहण करत है,
इन्द्रिय मल मूत्र त्याग सुहाई।
व्यापक आत्माका सभी इन्द्रियां हैं,
आप अविनाशी नाश देखाई।
'शारदाराम' अंदर बाहर पूरण,
ऐसो ध्यान परम पद पाई।

साधो भैया आप परम प्रकाशके दाता।
सूर्य प्रकाश सम ज्ञान देत हो,
रजनी नाशत मोह विख्याता।
रोम रोम इन्द्रियन प्रकाशै,
पूर्ण ज्ञान ऐसो सदा विधाता।
ज्ञान प्रकाश साधुन प्रकाशिया,
चढ़ गया गगन आकाशा।
'शारदाराम' साधुन संग बसले,
अचल घर भया है निवासा।

साधो तुमरा मन आत्म तृप्त कहाई।
ज्ञान विज्ञान के आप हैं सागर,
जितेन्द्रिय सदा लखबे आई।
पत्थर कंचन मिट्टी सम मानिया,
मान अपमान में समता लाई।
बोलिया अनुरागकी नित ही बोले,
मनहु असीम धन पाई।
'शारदाराम' साधुन की महिमा,
जनु आप निरंकार कहाई।

॥ ॐ नमः परमात्मने ॥

आत्म-पुराण

तृतीय अध्याय

आत्म-पुराणके गत द्वितीय अध्यायमें कौषीतकी उपनिषद्‌का अर्थ निरूपण किया गया है। जिसमें प्राण-प्रज्ञा उपहित आत्माका उपदेश देवराज इन्द्रने प्रतर्दन राजाके प्रति कहा है। उस प्राण-प्रज्ञा रूप उपाधिसे आत्माको अलग करके जाननेमें जो पुरुष समर्थ नहीं हैं उन मुमुक्षु जनोंके बोधके लिए आत्माके वास्तविक स्वरूपको प्राणादिक उपाधियोंसे अलग करके कहने वाले कौषीतकी उपनिषद्‌के चतुर्थ अध्याय के अर्थका निरूपण यहाँ करते हैं।

पूर्व अध्यायमें गुरुदेवके मुखसे आत्मज्ञान को ही हिततम सुनकर शिष्यको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। संशय युक्त शिष्यने गुरुजीसे पूछा—"हे भगवन्, प्रथम अध्यायमें आपने सनकादि मुनियों और वामदेव आदि अधिकारियोंका परस्पर सम्वाद रूप इतिहास द्वारा एतरेय उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित संसार रूप शूलके निवृत्तिका साधन आत्मज्ञानको कहा है। द्वितीय अध्यायमें इन्द्र और प्रतर्दनके सम्वाद द्वारा उस आत्मज्ञानको दृढ़ करके आपने कहा है। आपने आत्मज्ञानको ही मनुष्योंका हिततम कहा है। इससे भिन्न कोई भी पदार्थ हिततम नहीं है। द्वितीय अध्यायमें कहे हुए आपके वचनोंको सुनकर कृतकृत्य हुआ भी मेरे हृदयमें संशयकी उत्पत्ति हो रही है। अतः शंका समाधानके लिये मैं अपने संशयको चरणोंमें निवेदन करता हूँ—पूर्व अध्यायमें आपने कहा है कि इस अद्वितीय आत्माके अज्ञानसे गुरु पदके योग्य

ब्राह्मणादिक भी शिष्य भावको प्राप्त होते हैं और शिष्य पदके योग्य क्षत्रियादिक भी अद्वितीय आत्माके ज्ञानसे गुरु भावको प्राप्त होते हैं। यह कथन मुझे अत्यन्त अनहोना प्रतीत हो रहा है। ऐसा आपने आत्मज्ञानकी स्तुति करनेके लिए कहा है अथवा ऐसी घटना कभी पहले भी घट चुकी है? मुझे संशय हो रहा है। क्योंकि मुकुट मस्तकमें और जूता पैरमें धारण किया जाता है, जूता मस्तकमें और मुकुट पैरोंमें नहीं पहना जाता है, ऐसे ही ब्राह्मण आदिमें वर्तमान गुरु भाव क्षत्रियादिक शिष्योंमें नहीं हो सकता है। और क्षत्रियादिकोंकी शिष्यपना ब्राह्मणोंमें भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह घटना मुझे दुर्घट प्रतीत हो रही है। यदि वेदमें इस प्रकार की घटनाका वर्णन आया हो तो कृपाकर मुझे सुनाइए। मेरे संशयको दूर करनेमें आपके सिवा दूसरा कोई समर्थ नहीं है।"

शिष्यके संशययुक्त वचनको सुनकर गुरुदेव ने कहा—"आत्मज्ञानकी प्राप्तिसे शिष्य भी गुरु भावको प्राप्त हो जाता है और आत्मज्ञानकी अप्राप्तिसे गुरु भी शिष्यत्वको प्राप्त करता है। यह आत्मज्ञानकी स्तुति नहीं, वरन प्राचीनकाल में ऐसी घटना हो चुकी है। एक कौपीतकी नाम के मुनि हो चुके हैं। उन्होंने चिरकालीन तपके प्रभावसे वेद मंत्रोंको जाननेकी सामर्थ्य प्राप्त की। तत्पश्चात् मुमुक्षुजनोंके कल्याणके लिए कौपीतकी नामक उपनिषद्का कथन किये। इस उपनिषद्में उस घटनाकी चर्चा की गई है और बृहदारण्यक उपनिषद्में भी सूर्य भगवानने याज्ञवल्क्य मुनिके प्रति यह वार्ता कही है। यद्यपि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये तीनों वर्ण शिष्यपदके योग्य हैं और ब्राह्मण गुरुपदके योग्य हैं, तथापि आत्म ज्ञानकी प्राप्तिके लिए ब्राह्मण क्षत्रिय राजाका शिष्य हुआ है। यह कथा बृहदारण्यक तथा कौपीतकी उपनिषद्के चतुर्थ अध्यायमें कही गई है। इसलिये पूर्वोक्त हमारा वचन आत्मज्ञानकी स्तुति रूप अर्थवाद नहीं किन्तु यथार्थ है। कौपीतकी उपनिषद्में कहा हुआ बालाकि ब्राह्मण का राजाके साथ सम्वाद रूप प्राचीन इतिहास हम तुम्हें सुनाते हैं। ध्यानपूर्वक श्रवण करनेसे तुम्हारा संशय निवृत्त हो जायगा।

गर्ग गोत्रोत्पन्न षट्-अंगोंसे युक्त चारों वेदों का पण्डित बलाक नामका एक ब्राह्मण प्राचीन कालमें हो चुका है। बलाकके पुत्रका नाम बालाकि था। बालाकि भी अपने पिताके समान ही वेद-वेदांग विद्यामें कुशल था। परन्तु "मैं सभी ब्राह्मणोंसे विद्यामें अधिक हूँ, मेरे समान दूसरा कोई भी विद्वान् नहीं है।" इस प्रकार विद्यामद, धनमद और यौवन मदसे युक्त होने के कारण उसकी धर्ममें निष्ठा नहीं हुई। वह देशके सभी पण्डितोंको जीतनेके लिये हिमालय से सेतुबन्ध रामेश्वर पर्यन्त कुरु देश, पांचाल देश, काशी, मिथिला आदि देशोंकी यात्रा करने लगा। उसकी कीर्ति सर्वत्र फैलने लगी। वह वाक्पटु और वाचाल था। आत्मासे भिन्न सभी अनात्म पदार्थोंको जाननेवाला, आत्म-साक्षात्कारसे रहित वह बालाकि प्राणको ही आत्मा मानता था। बुद्धिमान् बालाकि अपने विद्याके बलसे पांचाल आदि समस्त देशोंके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदिकोंको विजित करते

हुए अत्यन्त अभिमानयुक्त काशीपुरीमें पहुँचा। काशीके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि सभी पंडितों को भी बालाकिने जीत लिया। अन्तमें वह काशीके राजा अजातशत्रुको जीतनेकी इच्छासे राजसभामें उपस्थित हुआ।

काशीका राजा अतिशय धर्मात्मा, विनय-युक्त, सत्यनिष्ठ, महात्माजनोंकी सेवामें प्रीति-पूर्वक तत्पर तथा अत्यधिक बलवाले हैं। अहंकार आदि अन्तरके शत्रु और बाहरके शत्रु दोनोंको समूल नष्ट कर देनेके कारण ही राजा अजातशत्रुके नामको प्राप्त किये हैं। शत्रु, मित्र और उदासीन पुरुषोंमें राजाकी समानबुद्धि है। विषम बुद्धिका अभाव होनेसे राजामें राग-द्वेषका पूर्णतया अभाव है। एक कृमिके शरीरमें भी अपने शरीरके समान समानबुद्धि रखने वाले अजातशत्रु राजाके सम्मुख राजसभामें जाकर बिना प्रसंगके ही बालाकि ब्राह्मणने कहा—"राजन्! तू ब्रह्मज्ञानसे रहित जन्म-मरण रूप संसार सागर में डूबा हुआ है। अतः मैं तुम्हें ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप उपदेश करता हूँ मनको एकाग्र करके सुनो।"

बालाकि ब्राह्मणके वचनको सुनकर राजा अत्यन्त हर्षित हुए और बोले—"हे ब्राह्मण! प्रसंगके बिना ही आपने जो यह वचन—"मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करता हूँ" कहा है, इस वचनरूप अमृत वर्षासे मेरे कर्ण शीतल हुए हैं। हृदयमें अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हुआ है। जैसे किसीको एक ही पुत्र हो और वह बहुत दिनोंसे परदेशमें रहता हो, किसी पुरुषसे पिताने पुत्र का मरना सुन रखा हो, परन्तु यदि सम्पन्न वृद्ध पिताके अन्तिम समयमें वह पुत्र आ जाय तो उस पुत्रके वचनोंको सुनकर उस वृद्ध पिताको जितना आनन्द होता है उससे सौगुना आनन्द आपके ब्रह्म उपदेशकी प्रतिज्ञा रूप वचनको सुनकर मुझे उत्पन्न हुआ है। हमारी सभामें अनेक बुद्धिमान् ब्राह्मण आते हैं। वेदपाठ तथा वेदार्थ प्रकाश करके अपने-अपने विचित्र कर्मों तथा लोककी अन्यान्य प्रसिद्ध विद्याओंका कथन करते हैं। ब्रह्मविद्याका प्रसंग आनेपर भी तथा मेरे पूछनेपर भी उन ब्राह्मणोंमेंसे कोई ब्रह्मविद्याका कथन नहीं करता है। वे ब्राह्मण विद्या द्वारा लोकमें प्रसिद्ध हैं, वृद्ध अवस्थासे युक्त हैं और अनेक हैं। क्यों कि ब्रह्मविद्याका उपदेश न कर सकनेमें तीन ही कारण होते हैं—१—अप्रसिद्धि, २—अयोग्यता, ३—असहायता। इन तीनों कारणोंका इन ब्राह्मणोंमें अभाव है। क्योंकि ब्रह्मविद्यावान् रूपसे इन ब्राह्मणोंकी सर्वत्र प्रसिद्धि होनेसे अप्रसिद्धि कारण भी इसमें नहीं है। वृद्धावस्थायुक्त तथा श्रद्धापूर्वक मेरे पूछनेसे अयोग्यता रूप कारण भी नहीं है। और सैकड़ों ब्राह्मण एकत्र हैं, अतः असहायता रूप कारण भी नहीं है। किन्तु प्रसिद्धि, योग्यता तथा सहायता ब्रह्मविद्या उपदेशके तीन कारण इन ब्राह्मणोंमें विद्यमान होनेपर भी इन्होंने हमारे प्रति कभी भी ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं किया। आपमें इन तीनों कारणोंका अभाव है, क्योंकि अल्प अवस्थाके कारण आपमें प्रसिद्धि रूप कारण नहीं है, हमने आपसे ब्रह्मविद्या पूछी नहीं है इसलिए योग्यता रूप

कारण भी आपमें नहीं है और अकेला होनेसे सहायता कारण भी नहीं है। इस प्रकार उपदेश के तीन कारणोंका अभाव होते हुए भी—'मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करता हूँ" यह वचन जो आपने हमारे प्रति कहा है, उसे सुनकर हम वहुत सन्तुष्ट हुए हैं। अतः आप हमें ब्रह्मका उपदेश करें अथवा न करें, परन्तु ब्रह्म उपदेशकी प्रतिज्ञा रूप वचनकी दक्षिणा आपको मैंने सहस्र गौएं देनेका मनमें संकल्प किया है।"

तत्पश्चात् राजाने शास्त्रोक्त विधिसे सुवर्ण आदि सामग्रीसे युक्त सहस्र गौ वालाकिको दान कर दिए। ब्रह्म उपदेशकी प्रतिज्ञा मात्रपर सहस्र गौओंके दान देनेमें अजातशत्रु राजाका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मवेत्ता तथा उदारता आदि सर्व गुण सम्पन्न मुझको न जाननेके कारण ये ब्राह्मण जनक राजाके पास जाकर मोहवश दीन वचनको कहते हैं। जैसे पिता पुत्रोंको धनादिक पदार्थ देता है और उनकी पढ़ी हुई विद्याको सुनता भी है तैसे ही राजा जनक भी ब्राह्मणोंको धन तथा ब्रह्म विद्याका दान करता है और स्वयं भी ब्राह्मणोंसे ब्रह्म विद्याका श्रवण करता है। इस प्रकार जो लोग कहते हैं वे मुझ अजातशत्रुके प्रभावको न जानकर भ्रांति-में हैं। क्योंकि जनक राजाके प्रति जब कोई ब्राह्मण ब्रह्म विद्याका उपदेश करता है तब वह जनक राजा उपदेशक ब्राह्मणको सहस्र गौएँ दक्षिणामें देता है। और मैं अजातशत्रु राजा तो "ब्रह्मविद्याका उपदेश करता हूं" इस प्रतिज्ञा-मात्रपर ही सहस्र गौएँ दक्षिणामें देता हूँ। अतः जनक राजासे मेरी उदारता अधिक है। फिर भी हमारी उदारताको न जानकर लोग जनक राजाके पास जाते हैं।

अजातशत्रु राजाके उपर्युक्त अभिप्रायको अल्प बुद्धि वालाकि न समझकर इस प्रकार समझ बैठा कि राजाको ब्रह्मज्ञानकी अत्यन्त उत्कट जिज्ञासा है, इसीलिये ब्रह्मविद्याके उप-देशसे पहले ही मुझे सहस्र गौएँ प्रदान किया है। अतः राजाकी जिज्ञासा पूरी करनी चाहिये। इस प्रकार भ्रान्ति युक्त वालाकि जैसा अपने गुरुसे ब्रह्मका स्वरूप जाना सुना था वैसा ही अजातशत्रुको उपदेश करते हुए बोला—"व्यष्टि रूपको धारण करनेवाला जो अध्यात्म है और समष्टि रूपको धारण करनेवाला जो अधिदैव है वह अध्यात्म अधिदैव रूप प्राण ही ब्रह्म है।"

राजाने कहा—'इसको मैं पहलेसे ही जानता हूँ।"

अव्याकृत पर्यन्त सविशेष प्राणरूप ब्रह्म वालाकिने जाना था, उसे ही उसने कह दिया। अव्याकृतसे परे निर्गुण ब्रह्मको वह नहीं जानता था, इसलिये उसे नहीं कह सका। इस प्रकार वालाकि जो जो उपदेश राजाको करता था सबको राजा हाथके इशारेसे निषेध करके बता दिया करते थे कि यह मैं पहलेसे जानता हूं।

वालाकिने पुनः उपदेश करते हुए कहा-हे राजन्! १-आदित्य २-चन्द्रमा ३-विद्युत् ४-मेघ मण्डलका शब्द ५-आकाश ६-वायु ७-अग्नि ८-जल ये आठ अधिदैव ब्रह्म पुरुष हैं और १-प्रतिविम्बको ग्रहण करने योग्य दर्पण आदि उज्ज्वल वस्तु, २-दश दिशारूप श्रोत्र ३-वेगसे चलनेवाले पुरुषके पीछे होनेवाला

ध्वनि रूप शब्द, ४-पुरुषके समान आकारवाला छाया स्वरूप, ५ स्थूल शरीर, ६-सूक्ष्म शरीर, ७दक्षिण नेत्रमें स्थित सूक्ष्म शरीरका आकार, ८-वाम नेत्रमें स्थित सूक्ष्म शरीरका आकार ये आठ अध्यात्म ब्रह्म पुरुष हैं। तात्पर्य यह है कि आदित्यादिक १६ स्थानोंमें स्थित जो १६ ब्रह्म पुरुष हैं उनमें ब्रह्मबुद्धि करके मैं उपासना करता हूं। अतः राजन्! तू भी उन १६ पुरुषोंमें ब्रह्म बुद्धि करके उपासना कर। इससे तुझे महाफल-की प्राप्ति होगी।"

बालाकिके उपदेशको सुनकर अजातशत्रु राजाने कहा—"इन १६ ब्रह्म पुरुषोंको मैंने पहले ही भली प्रकारसे जान लिया है। और पहले मैंने ब्रह्म पुरुषोंकी उपासना भी की है। इसलिये पूर्व जानी हुई वस्तुका पुनः उपदेश करना तुम्हारा व्यर्थ है।"

बालाकिने राजाको ब्रह्मका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की थी, परन्तु वह प्रतिज्ञा मिथ्या हो गई। इसलिये उसका मुख अत्यन्त ग्लानियुक्त हो गया। और वह चोरकी तरह नीचे मुख करके चुप हो रहा।

कुल मद, विद्या मद, धन मदके अहंकारसे युक्त, सबके तिरस्कार जन्य पापोंसे नष्ट कान्ति-वाले शरद ऋतुके मेघकी तरह व्यर्थ गर्जनावाले बालाकि ब्राह्मणके अभिमानको निवृत करनेके लिये अजातशत्रुने उच्च स्वरमें कहा—"अल्प बुद्धि बालाकि! जिस ब्रह्मज्ञानका तुमने हमें उपदेश किया है, बस उतना ही ज्ञान तुम्हारे पास है अथवा और भी कुछ जानते हो? यदि और कुछ ब्रह्मज्ञान तुझे ज्ञात हो तो उसे कहो। तुमसे भी अधिक विद्यावाले सहस्रों ब्राह्मण यहाँ हमारी सभामें उपस्थित हैं, परन्तु तुम्हारे जैसा कोई भी विद्यामदसे मोहित नहीं है। केवल एक तू ही विद्यामदसे अन्धा हो रहा है। तुम्हें जिस विद्याका अहंकार है, उसे कहो।"

बालाकि ब्राह्मण बोला—"राजन्! गुरुने मुझे जितना ब्रह्मका उपदेश दिया था, वह मैंने आपके प्रति कह दिया है। इससे अधिक उप-देश हमारे गुरुने नहीं किया। इसलिये पूर्वोक्त कार्य ब्रह्मके स्वरूपसे भिन्न निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपको मैं नहीं जानता हूँ।"

अजातशत्रुने कहा—"ब्रह्मका स्वरूप जो तुमने उपदेश किया है उससे निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप जाना नहीं जा सकता है। अतः "मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करता हूँ" तुम्हारा यह वचन मिथ्या सिद्ध होता है। और मिथ्या वचन-से बड़ा कोई पाप कर्म नहीं है। इसीलिये बुद्धिमान पुरुष अपने वचनको मिथ्या नहीं करते हैं। बुद्धिमान पुरुष पुत्र, स्त्री, धनादिका त्याग करके भी अपने वचनको सत्य करते हैं। क्योंकि मिथ्यावादी पुरुष इस जगतमें कर्म चांडाल होते हैं। चांडाल दो प्रकारके होते हैं—एक तो जातिसे चांडाल होते हैं, जैसे श्वान आदिको खाने वालोंमें चांडालत्व जाति रहती है। और दूसरे कर्म द्वारा चांडाल होते हैं, जैसे मिथ्यावादी पुरुष, मिथ्या वचनरूप कर्म द्वारा चांडाल हैं। उनमें भी जो पुरुष स्वतन्त्र होकर गुरुके समीप और राजादिकोंके समीप मिथ्या वचन कहता है वह विशेष रूपसे

चांडाल है। अतः मिथ्या वचनके समान कोई पाप कर्म नहीं है।

गुरु और राजाके समक्ष मिथ्या बोलने वालेका तुरन्त हनन करना चाहिए। ऐसा शास्त्रोंका आदेश है। तथापि हे पापिष्ठ वालाकि तू ब्राह्मण है इसलिए मैंने तुम्हारे शरीरका हनन नहीं किया है। अनेक साधु ब्राह्मणोंका तुमने निरादर किया है। इस पाप कर्मके कारण ही ब्रह्म उपदेश करनेकी तुम्हारी प्रतिज्ञा मिथ्या हुई है। क्योंकि यह शास्त्रका सिद्धान्त है कि जो कोई अधम पुरुष समदर्शी साधु ब्राह्मणोंको शरीर वाणी और मनके द्वारा दुःखी करता है उसके सभी मनोरथोंको सूर्यादिक देवता नष्टकर देते हैं। जो पुरुष सब प्राणियोंको दुःख, सुख देते हैं वे लोक परलोकमें अपनेको ही दुःखी, सुखी करते हैं। जैसे कोई पुरुष अपने मस्तकको दूसरेका मस्तक समझ कर पत्थरसे फोड़ता है तो वह पुरुष स्वयं दुःख पाता है। वैसे ही अपना आत्मा स्वरूप सभी प्राणियोंको अपनेसे भिन्न मान करके जो पुरुष किसी प्राणीको कष्ट देते हैं, वे अधम अपनेको ही दुःखी करते हैं। तुम्हारे पाप कर्मोंका ही फल तुम्हें आज प्राप्त हो रहा है। आजसे अब किसी पुरुषके सामने कभी भी ऐसा मिथ्या वचन न कहना।

हे वालाकि! शम दम आदिक साधनोंसे युक्त जो मुमुक्षु ब्राह्मण हैं उन्हें बहुधा गुरु ही शिक्षा देता है। क्षत्रिय आदि ब्राह्मणको शासन करने योग्य यद्यपि नहीं हैं तथापि तू शम दम आदिक साधनोंसे रहित उन्मत्त ब्राह्मण है इसलिए मैंने तुम पर शासन किया है। एक धर्म शास्त्र तो यह कहता है कि—

'नाऽदंड्यो नामराज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितःस्वकात्।'

जो पुरुष अपने वर्णाश्रमके धर्मसे रहित होकर विपरीत आचरणको करे वह राजा द्वारा दण्डनीय है।

और दूसरा धर्मशास्त्र यह भी कहता है कि—

"अक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्॥',

ब्राह्मणको शरीरका दण्ड राजा न देवे।

'उपर्युक्त दोनों शास्त्रोंकी व्यवस्थासे ही मैंने वाणी द्वारा तेरा निरादर किया है। चार प्रकारके दण्ड नीतिशास्त्रमें राजाके लिए कहे है। १—धिक्दण्ड २—वाक्दण्ड ३—धनदण्ड ४—शरीर दण्ड। इनमेंसे यदि कोई भी दण्ड तुमको न दूँ तो शास्त्रकी आज्ञा भंग होती है। अतः प्रथम कहे शास्त्रकी प्रमाणताके लिए तुम्हें दण्ड देना आवश्यक था। उन दण्डोंमें "अक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्।" इस द्वितीय शास्त्रकी आज्ञासे तुम्हें शरीरका दण्ड नहीं दिया जा सकता है। धनका हरण रूपी दण्ड भी ब्राह्मणोंमें सम्भव नहीं है, क्योंकि भिक्षुक ब्राह्मण धनहीन होते हैं। धिक् दण्ड और वाक् दण्ड दुराचारी ब्राह्मणोंमें सम्भव है इस कारणसे मैंने तुम्हें कठोर वाणीसे ताड़न किया है।"

"धर्म शास्त्रोंमें राजाका धर्म कहा है कि उत्तम तथा अधम पुरुषोंको सदा हितका ही उपदेश करना चाहिए। इस शास्त्र वचनको अंगीकार करके मैं तुम्हें हितका उपदेश करता हूँ, उसे तुम श्रवण करो—तुमने पहले जो

षोडश ब्रह्म पुरुष कहे हैं उनके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु उन षोडश पुरुषों तथा सकल प्रपंचका कारण परमात्माके ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः परमात्मा ही तुम्हारे लिये जानने योग्य है। और उस परमात्माका ज्ञान गुरु उपदेशके विना नहीं होता है। अतः आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये तुम अपने गुरुके समीप जाओ। गुरुके उपदेशसे यदि तू आत्मज्ञानको नहीं सम्पादन करेगा तो यह विद्यामद बार-बार तुझे जन्म-मरण रूप नरककी प्राप्ति करायेगा। इस जगतकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयका कारण परमात्मा ही ब्रह्म शब्दका अर्थ, और ब्रह्म शब्द जन्य ज्ञानका विषय है।"

अजातशत्रु राजाकी ताड़नासे अभिमान-रहित हो बालाकि अपने मनमें विचार करने लगा—जिस आत्माके ज्ञानसे पुरुषोंमें गुरुपना होती है वह आत्मा अत्यन्त गुरु है। उस आत्माका उपदेश करनेवाला पुरुष ही गुरु होने योग्य है। और अहंकार आदि जिसमें रहते हैं उसे लघु कर देते हैं अतः ये अहंकारादि अत्यन्त लघु हैं। इस अहंकारको दूर करनेवाला पुरुष भी गुरु होने योग्य है। यह दोनों प्रकार के लक्षण अजातशत्रुमें वर्तमान हैं। क्योंकि, विद्या, धन तथा कुलका मद मुझे नरक देने-वाला है। इस लोकमें भी उस मदके कारण महात्मा पुरुषोंकी सभामें निरादर रूप लघुताको प्राप्त हुआ हूँ। अतः विद्या आदिका मद अत्यन्त लघु और अनन्त प्रकारसे दुःखोंको करनेवाला है। इस प्रकारके हमारे मदको इस राजाने अनादर रूपी उपायसे निवृत्त किया है। यह राजा स्वयं विद्या आदिके मदसे रहित है, अतः अजातशत्रु ही मेरा गुरु होनेके योग्य है। अथवा, इस राजाको छोड़कर यदि मैं किसी दूसरे गुरुके समीप जाऊंगा तो मुझे कृतघ्नता का दोष लगेगा। क्योंकि जो पुरुष उपकारको नहीं मानता है वह कृतघ्न होता है। इस राजा ने हमारे अहंकारादिकोंकी निवृत्तिरूप महान् उपकार किया है। इस उपकारको न मानकर अन्यत्र जाना कृतघ्नता होगी। अजातशत्रुको ही गुरु मानकर मुझे उसकी शरणमें जाना चाहिए। राजाके समान ब्रह्मके वास्तविक स्वरूप को जाननेवाला दूसरा कोई नहीं है। जिसने द्वितीयाका चन्द्रमा आकाशमें प्रत्यक्ष देखा है वही दूसरेको भी द्वितीयाका चन्द्रमा प्रत्यक्ष दिखला सकता है। जिसने स्वयं चन्द्रमा नहीं देखा वह दूसरेको क्या दिखायेगा। इसी प्रकार इस राजासे भिन्न जिन पुरुषोंने ब्रह्मके वास्तव स्वरूपको नहीं जाना है, फिर वे मुझे कैसे ब्रह्म का स्वरूप बतला सकते हैं। इसके पूर्व भी मैंने जिन गुरुओंसे विद्याध्ययन की है उन्हें भी ब्रह्मके वास्तव स्वरूपका ज्ञान नहीं है। क्योंकि यदि उन्हें ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान होता तो वे मुझ जैसे प्राणप्रिय शिष्यको अवश्य ही उसका उपदेश करते। परन्तु किसीने भी ब्रह्मविद्याका उपदेश मुझे नहीं किया। वे जितना जानते थे उतना मुझे बतला दिए। ब्रह्मविद्याका ज्ञान उन्हें नहीं था इसलिये नहीं बता सके। हिमालय से लेकर सेतुबन्ध रामेश्वर पर्यन्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णोंके प्रसिद्ध विद्वानोंको मैंने पराजित कर दिया है। अतः वे सभी मेरे

शिष्य हो चुके हैं। उनसे भी ब्रह्मविद्या प्राप्ति की सम्भावना नहीं। यदि वे इस विद्याको जानते होते तो फिर मुझसे पराजित न होते। अतः सबमें ब्रह्मज्ञानका अभाव है।

यह अजातशत्रु राजा यद्यपि मनुष्य है तथापि गुणोंमें देवताओंके समान ही नहीं बल्कि उनसे अधिक गुणवाला है। क्योंकि यह राजा प्रमाद रहित होकर ब्रह्म विद्याको धारण किए है और अधिकारी मुमुक्षु जनोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश भी करता है। देवता लोग तो देवांगनाओंके मुख दर्शनरूपी मदिरा पानसे मोह ग्रस्त होकर ब्रह्म विद्याको जानते हुए भी नहीं जानते हैं। जैसे इस भूलोकमें भी मद्यपान करनेवाला पुरुष अपने घर-बागको नहीं जानता। और यह अजातशत्रु राजा इतनी लक्ष्मी और वैभवको प्राप्त करके भी मुनि लोगोंकी तरह अभिमान रहित है। पुत्रादिकोंको प्राप्तकर हर्ष तथा अप्रियको प्राप्तकर शोक नहीं करता है। अजातशत्रु राजा ही राग-द्वेष और काम-क्रोधसे रहित है। क्योंकि यदि यह राजा काम दोषवाला होता तो मुझे सहस्र गौवोंका दान नहीं देता। जो पुरुष काम दोष युक्त होते हैं वे सुपात्रको दान नहीं करते। बल्कि वेश्यादि अथवा उनके पृष्ठ देशमें गाने बजाने वालोंको तथा कौतुक अभिनय करनेवाले नट अभिनेता आदि समस्त कुपात्रोंको सहस्रों रुपयोंका दान करते हैं। परन्तु ब्रह्मवेत्ता सुपात्र पुरुषको कामी जन एक नया पैसा भी दान नहीं दे सकते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि जिन पुरुषोंका धन सुपात्रोंमें खर्च होता है वे काम दोषसे रहित हैं। इसलिये यह राजा काम दोषसे रहित है।

यह राजा क्रोधसे भी रहित है। क्योंकि क्रोधी मनुष्य अपराधीको मारता है अथवा असक्त होनेपर अपना माथा पीटता है। परन्तु यह राजा मुझ अपराधीकी अवज्ञा पर ध्यान न देकर हित करनेकी इच्छा रखता है। हमने गुरु शास्त्रके मुखसे सुना है कि केवल ब्रह्मज्ञानी पुरुषको छोड़कर शेष सब प्राणियोंमें काम क्रोध निश्चित रूपसे रहते हैं। ब्रह्मवेत्ता पुरुषमें काम क्रोध नहीं होता है। अतः गुरु-शास्त्रके वचनसे भी यह अजातशत्रु राजा ही ब्रह्मवेत्ता सिद्ध होता है। क्योंकि राजाके अन्दर काम क्रोधका अभाव है। इसलिये ऐसे श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुषको छोड़कर ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये कहीं अन्यत्र जाना मुझे उचित नहीं है।

देवताओंके पास जाकर ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें मुझे सन्देह है। क्योंकि इस लोकमें मनुष्योंका दर्शन तो प्रत्यक्ष होता है परन्तु देवताओंका प्रत्यक्ष किसी पुरुषको नहीं होता है। यदि देवताओंके दर्शनके लिये तप करूं तो भी यह निश्चय नहीं कि इस जन्ममें अथवा दूसरे जन्ममें देवताओंका प्रत्यक्ष दर्शन होगा ही। यदि घोर तप करनेके बाद इस जन्ममें ही देवताओंका दर्शन हुआ तो भी देवताओंमें मुख्य ब्रह्मवेत्ता कोई विरला ही होता है। अतः तपके प्रभावसे मुख्य ब्रह्मवेत्ताका दर्शन हो जाने पर भी ब्रह्मविद्या प्राप्तिमें सन्देह ही है। क्योंकि देवता रजोगुणसे युक्त हैं। अतः मुझे उपदेश करेंगे अथवा नहीं करेंगे? अथवा धन आदि

पदार्थोंका लोभ देकर मोह उत्पन्न करेंगे। उपर्युक्त अनेक संशयोंके कारण देवताओं द्वारा ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति मेरे लिये असम्भव है।

इस प्रकार विचार करने के बाद देवलोक और मनुष्य लोकमें किसीको भी अपने लिये ब्रह्म विद्याका उपदेश करने योग्य न देखकर वह बालाकि ब्राह्मण हाथोंमें काष्ठ धारण किए हुए अजातशत्रु राजाके पास जाकर बोला—"हे भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे ब्रह्म विद्याका उपदेश कीजिए।"

इस प्रकारके वचन द्वारा बालाकि ब्राह्मण इस अर्थको बोधन करता है कि इस लोकमें जो कोई पुरुष ब्रह्म विद्यासे युक्त है वही गुरु पदवी के योग्य है। वह चाहे ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, नपुंसक अथवा राक्षस ही क्यों न हो, ब्रह्म विद्यासे युक्त सर्वथा गुरु पदके योग्य है। जिस पुरुषको ब्रह्म विद्या प्राप्त नहीं हुई वह ब्राह्मण भी हो तथा अन्यान्य विद्याओंका जाननेवाला बृहस्पतिके समान हो तो भी वह शिष्य पदवीके योग्य है। केवल ब्रह्मवेत्ता ही गुरु पदवीके योग्य है।

अभिमानसे रहित बालाकिके अभिप्रायको जानकर अजातशत्रु राजाने कहा—"इस लोक में ब्रह्माने ब्राह्मणत्व जाति वाले सभी ब्राह्मणोंको गुरुरूप और क्षत्रियादिक अन्य वर्णोंको स्वभाव से ही शिष्य रूपसे उत्पन्न किया है। अतः तुम ब्राह्मण होकर मुझ क्षत्रियके शिष्यभाव रूप विपरीत कर्मकी इच्छा क्यों करते हो? यह विपरीत कर्म तुम्हारे लिये उचित नहीं।" अजातशत्रुने आगे कहा—"बालाकि! विपरीत कर्ममें प्रवृत्ति तीन कारणोंसे होती है। एक—क्रोधसे, दूसरा—भयसे, तीसरा—अज्ञानसे। इनमेंसे यदि क्रोधके कारण तुम्हारी विपरीत कर्ममें प्रवृत्ति हो रही हो तो मुझे क्षमा करके अपने क्रोधकी निवृत्ति करो। मुझ अल्प बुद्धि बालक ने राजधर्मको अंगीकार करके जो-जो कटुवचन कहे हैं उन सब हमारे अपराधोंको क्षमा करो। क्षमा ब्राह्मणोंका स्वभाव है। यदि मेरे भयके कारण तुम ऐसा करते हो तो ऐसा कभी न करना। मुझसे निर्भय रहो। क्योंकि नीच जातिके अपराधीका भी मैं हनन नहीं करता हूँ। फिर तुम जैसे उत्तम ब्राह्मणका हनन मैं कैसे कर सकता हूँ। मेरा नियम यह है कि चोरीके प्रथम बारके अपराधीको मैं धनादि पदार्थ देकर उसे चोरी करने से विरत करता हूँ। यदि उस धनको लेकर भी वह पुनः चोरी रूप दूसरी बार अपराध करता है तब मैं ऐसे अपराधियोंको अपने देशसे निकाल देता हूँ। इतने पर भी जब वह तीसरी बार चोरी करता है तब कुत्तेके पैरके समान आकारवाली लोहेकी मुद्रिकाको अग्निमें तपाकर अपराधीके मस्तकमें निशान कर देते हैं। पुनः चौथी बार चोरी करने पर एक हाथ काट लेते हैं। पाँचवीं बार चोरी करने पर दूसरा हाथ भी काट देते हैं। छठी बार पुनः वही अपराध करनेपर एक पैर काटते और सातवीं बार पुनः चोरी करने पर दूसरा पैर भी काट लेते हैं। इस प्रकार सात बार तक अपराध करने पर भी प्राण दंड नहीं देते हैं। पुनः आठवीं बार अपराध करने पर हम उस अपराधीको प्राणोंसे रहित कर देते हैं। युद्धमें

शत्रुको भी मैं धर्म युद्धसे ही मारता हूँ। अधर्म से मैं किसीका हनन नहीं करता। सोलहसे पचास वर्ष तककी आयुवाले, सावधान और मेरे ऊपर प्रथम शस्त्र संचालन करनेवाले शत्रुको ही मैं मारता हूं। वृद्ध, बालक और असावधानको मैं नहीं मारता। अतः हे बालाकि! जब मैं शत्रु और अपराधियोंको नहीं मारता तब फिर लोक में सर्वपूज्य ब्राह्मणको कैसे मार सकता हूँ। इसलिये मेरे स्वभावको विचारकर भय रहित हो।

यदि तुम अपने अज्ञानकी निवृत्तिके लिये इस विपरीत कर्ममें प्रवृत्त हो रहे हो तो भी पहले अपने गुरुओंके समीप जाओ। उनके उपदेशसे ही तुम्हारे अज्ञानकी निवृत्ति होगी।" राजाने कहा—"बालाकि! हम तुम्हें आदरपूर्वक नमस्कार करते हैं। अब तुम जहाँसे आये हो वहीं जाओ।"

राजाके कहने पर भी बालाकि सभासे नहीं गया। परन्तु लज्जा और चिन्ता ग्रस्त हो नीचे मुख करके पाँवके अग्रभागसे भूमि पर कुछ अस्पष्ट लिखते हुये लम्बी-लम्बी स्वाँस लेने लगा। बालाकिकी चेष्टाको देखकर अजातशत्रु राजा उसके अभिप्रायको पूर्णतया समझ गये और बोले—"उत्तम वर्णवाला धर्मात्मा ब्राह्मण क्षत्रियके पास ब्रह्म विद्याका उपदेश लेनेके लिये जाय, इस विपरीत कर्म को मैं उचित नहीं समझता हूँ। क्योंकि १—यज्ञ करना, २—यजमानके प्रति यज्ञ कराना, ३—विद्याका अध्ययन करना, ४—शिष्योंको विद्या पढ़ाना, ५—स्वयं दान करना, ६—शुद्ध दान लेना, ये षट्कर्म ब्राह्मणोंके शास्त्रने कहा है। स्वयं यज्ञ करना, दान देना, विद्याका अध्ययन करना, ये तीन कर्म क्षत्रिय और ब्राह्मणके समान ही हैं, परन्तु यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना, दान लेना यह तीन कर्म क्षत्रियके लिये किसी भी शास्त्रमें नहीं लिखा है। अतः आचार्य होकर ब्राह्मणोंकी तरह विद्याका उपदेश करनेका अधिकार मेरा नहीं है तथापि हमारा नियम है कि यदि धर्मात्मा ब्राह्मण धनसे लेकर प्राण तक जो भी वस्तु माँगता है उसे हम प्रदान करते हैं। हे बालाकि! यद्यपि तुम हमारे गुरु हो तथापि तुमने हमसे ब्रह्म विद्याकी याचना की है इसलिये यदि मैं तुम्हें अपने प्राणोंसे भी प्रिय ब्रह्म विद्याका दान नहीं करूँगा तो हमारा नियम भंग हो जायगा। अतः अपने नियमकी रक्षाके लिये मैं तुम याचक गुरुको ब्रह्म विद्या का दान करता हूं। हमारा तुम्हारा सम्बन्ध गुरु शिष्यका नहीं बल्कि दाता-याचकका है।

अजातशत्रु राजाने उठकर बालाकिको प्रणाम किया और उसे उचित आसन पर बिठाकर कहा—"हे बालाकि! प्राणादिक जड़ पदार्थोंसे भिन्न तथा देशकाल वस्तु परिच्छेदसे रहित स्वप्रकाश आनन्द स्वरूप आत्माको ही तुम ब्रह्मरूपसे जानो।"

वचनोंमें विश्वास करने वाले बालाकिको अन्वय व्यतिरेक द्वारा जड़ प्राणोंकी अनात्मता जनानेके लिये अजातशत्रु राजा उसका हाथ पकड़कर अन्तःपुरमें ले गये कारण कि गुप्त अर्थका उपदेश सभाके बीच नहीं हो सकता है।

अन्तपुरमें कोई पुरुष सोया हुआ था उसकी सब इन्द्रियाँ चेष्टासे रहित थीं, ...

प्राणमात्र चल रहे थे। बालाकि सहित राजा उस सुप्त पुरुषके पास गये। और बालाकि द्वारा मान्य प्राणोंकी आत्मताको निवृत्त करनेके लिये प्राणोंके जितने नाम हैं उन सभी नामों को जोर-जोरसे पुकारकर सोये हुए पुरुषको जगाने लगे। हे आदित्यरूप! हे चन्द्रमारूप! हे बृहत्! हे पांडुरनीरग! हे नीर संवृत्त! हे प्रिय दर्शन! आदि २ प्रत्येक नामोंसे पुकारने लगे। इस प्रकार प्राणोंके समष्टिरूप को प्रतिपादित करने वाले सूर्यादिक देवताओं के वाचक नामोंको उच्च स्वरसे उच्चारण करके अजातशत्रु प्राणोंको बुलाने लगे, तो भी प्राण जाग्रतको प्राप्त नहीं हुए। क्योंकि प्राण अचेतन है इसलिये सुख-दुःख रूप फल का भोक्ता प्राण नहीं। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे हे घट! हे कम्बुग्रीवादिमान्! हे जलको धारण करने वाले! आदि नामोंसे बुलाने पर भी जड़ घट अपनेको तथा बुलाने वालेको नहीं जानता, इसलिये अचेतन है तैसे ही प्राण भी अचेतन है। इस प्रकार राजा द्वारा आदित्यादिक नामोंसे पुकारा जाने पर भी जब प्राण अपनेको और राजाको नहीं जान सका तब बालाकिने घटकी तरह प्राणमें भी अनात्मता का निश्चय किया।

इसके बाद राजाने सोचा शुद्ध आत्मा मन-वाणीका विषय नहीं है। घटादिकोंकी तरह आत्माको "यह है" ऐसा कह कर बोध कराने में कोई समर्थ नहीं और न कोई जानने में ही समर्थ है। अतः शुद्ध आत्माके बोधनके लिये स्थूल अरुन्धती न्यायसे पहले भोक्तारूप विशिष्ट आत्माको जनानेका उपाय करना चाहिये।

अरुन्धती न्यायका भाव यह है कि अत्यन्त सूक्ष्म अरुन्धती नक्षत्रको जाननेवाले पुरुष जब किसी दूसरे पुरुषको अरुन्धती नक्षत्र दिखलाते हैं तब पहले वास्तविक अरुन्धतीको नहीं दिखाते हैं क्योंकि। वह अत्यधिक सूक्ष्म होने से उस पर पहले दृष्टि नहीं पहुँचती है। परन्तु उस अरुन्धतीके समीपवर्ती स्थूल नक्षत्रों को पहले अरुन्धती रूप करके दिखलाते हैं। उन स्थूल नक्षत्रों पर जब दृष्टि पहुँच जाती है तब फिर धीरे-धीरे करके वास्तविक अरुन्धती को भी देख लेते हैं।

अजातशत्रुने बालाकिको प्राणोंमें अनात्मता का बोधन करके शुद्ध आत्माके बोधनके लिये प्रथम भोक्तारूप विशिष्ट आत्माका बोध कराने के लिये एक युक्तिकी रचना की। अन्तःपुरमें सोए हुए पुरुषके हाथको अपने हाथमें लेकर राजा दबाने लगा और दूसरे आदमीको प्रेरित कर उस सोये हुए पुरुषको लाठीसे पीठमें प्रहार करवाया। इस प्रकार हस्तपीडन और लाठी प्रहारसे उत्पन्न पीड़ाके कारण सुख-दुःखका अनुभव करने वाला भोक्ता पुरुष जाग्रत हो गया। जैसे राखसे ढकी हुई अग्नि राखके हटाने पर प्रज्वलित होती है, वैसे ही वह पुरुष क्रोधसे प्रज्वलित हुआ। उस पुरुषको देखकर बालाकिने नेत्रादिक इन्द्रियोंसे युक्त भोक्ता आत्माको प्राणसे भिन्न करके निश्चय किया। परन्तु भोक्तासे भिन्न बुद्धि आदिका साक्षी शुद्ध आत्माको वह न जान सका।

शुद्ध आत्मा ही भोक्ता क्यों नहीं होता ? इस प्रकारकी वादीके आशंकाकी निवृत्तिके लिये जिस निमित्तको ग्रहणकर भोक्ता शब्द विशिष्ट आत्मामें प्रवर्त होता है उस निमित्तको दिखलाते हैं—यहाँ भोजन रूप क्रिया भोक्ता शब्द के प्रवृत्तिका निमित्त संभव नहीं, क्योंकि भोजन रूप क्रिया नियमसे सभी भोक्ताओंमें नहीं रहती है। तात्पर्य यह है कि भोजनरूप क्रिया वालेमें यदि भोक्ता शब्दकी प्रवृत्ति हो तो जो-जो क्रिया होती है वह दुःख रूप होती है यह नियम है। इसलिये दुःखवान् पुरुषमें ही भोक्ता शब्दकी प्रवृत्ति होगी सुखवान् पुरुषमें भोक्ताके शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होगी। और सुखी पुरुषको भी लोकमें भोक्ता कहते हैं।

अथवा-भोजन रूप क्रियाको यदि भोक्ता शब्दके प्रवृत्तिका निमित्त मानें तो भोक्तापनसे रहित जो मुख, दाँत तथा जिह्वा आदि हैं उनमें भी भोजनरूप क्रिया होती है। इसलिये उन्हें भोक्ता कहना चाहिए। परन्तु उन्हें कोई भोक्ता नहीं कहता है।

अथवा—भोजन रूप क्रियाका फल तृप्ति रूप निमित्तको ग्रहण कर यदि भोक्ता शब्द की प्रवृत्ति होवे तो तृप्ति दो प्रकार की है—एक पुष्टिरूप और दूसरी तुष्टि रूप। यहाँ यदि पुष्टि रूप तृप्तिका नाम भोक्ता होवे तो भित्ति आदि जड़ पदार्थको भी भोक्ता होना चाहिए। क्योंकि मिट्टी आदिसे लेपन करनेसे भित्ति आदिकी पुष्टि होती है। परन्तु लोकमें कोई भित्ति आदिको भोक्ता नहीं कहता है। अतः पुष्टि रूप तृप्ति भी भोक्ता शब्दके प्रवृत्तिका निमित्त नहीं। किन्तु सुख दुःख रूप तृप्ति ही भोक्ता शब्दके प्रवृत्तिका निमित्त है। उन सुख दुःख दोनोंमें भी सुख ही भोग शब्दका मुख्य अर्थ है। दुःख भोग शब्दका मुख्य अर्थ नहीं, किन्तु गौण अर्थ है क्योंकि लोकमें स्त्री आदिक विषय जन सुखवान पुरुषको ही भोगवान कहते हैं। शूल में स्थित पुरुषको कोई भोगवान् नहीं कहता है। इसलिये भोग शब्दका मुख्य अर्थ दुःख नहीं।"

शंका—"दुःखमें सुखरूपतासे भोग शब्द की अर्थता न हो परन्तु सुखकी जनकता रूपसे दुःखको भोग शब्दकी अर्थता क्यों नहीं होती?"

समाधान—"इस लोकमें दुःख किसी भी पुरुषके प्रीतिको नहीं उत्पन्न करता है इसलिए उस दुःखसे सुख रूप तृप्ति सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह कि जिस पदार्थमें प्रीति होती है वही पदार्थ सुख रूप तृप्तिका जनक होता है। दुःखमें किसी प्राणीकी प्रीति नहीं होती, इसलिए सुख रूप तृप्तिको दुःख उत्पन्न नहीं करता है।

अथवा—अनुकूल स्त्री आदिक विषयोंको वारम्वार भोगनेसे जो पुरुषोंको सुख उत्पन्न होता है उसे लोकमें तृप्ति कहते हैं वह तृप्ति अनुकूल पदार्थोंसे उत्पन्न होती है। प्रतिकूल दुःखादिकोंसे वह तृप्ति कदापि नहीं पैदा हो सकती है। अतः भोग शब्दका मुख्य अर्थ दुःख नहीं बल्कि यह भोगका गौण अर्थ है। इसे दृष्टान्तसे समझाते हैं—जैसे देवदत्त मनुष्य सिंह है। इस स्थान पर सिंह शब्दका मुख्य अर्थ मृगराज पशु विशेष है और देवदत्त नामक मनुष्य सिंह शब्द का गौण अर्थ है। सिंहमें रहनेवाले क्रूरता

आदि गुण देवदत्तमें भी हैं इसलिए उसे सिंह कहा। तैसे ही भोग शब्दका मुख्य अर्थ सुख है और गौण अर्थ दुःख है। क्योंकि जैसे सुख की प्राप्ति पुरुषके चित्तमें "मैं सुखी हूँ।" इस अभिमान रूप अतिशयताको उत्पन्न करती है तैसे ही दुःखकी प्राप्ति भी पुरुषके चित्तमें "मैं दुःखी हूँ" इस अभिमान रूप अतिशयताको उत्पन्न करती है। अतिशयताके उत्पत्तिकी कारणता सुखमें तथा दुःखमें समान है। इसलिये भोग शब्दका गौण अर्थ दुःख है और सुख ही भोग शब्दका मुख्य अर्थ है।"

इस प्रकार राजाने दुःख-सुखरूप भोक्ताका आश्रय विशिष्ट आत्मा रूप भोक्ताका उपदेश बालाकिको दिया। इस भोक्ता आत्माके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती वरन शुद्ध आत्माके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इस कारणसे शुद्ध आत्माके बोध करानेके लिए अजात शत्रु राजाने बालाकिसे कहा—"हे बालाकि! सुख दुःख रूप भोगकी प्राप्ति कालमें भोक्ता रूप विशिष्ट आत्मामें मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ इस प्रकारके अनुभवसे सिद्ध जो भोक्तापना है वह भोक्तापना शुद्ध असंग आत्मामें वस्तुतः सम्भव नहीं, किन्तु कार्य कारण भावसे रहित स्वप्रकाश आनन्द स्वरूप आत्मामें अध्याससे ही भोक्तापना प्रतीत होता है। जैसे सर्प भावसे रहित रस्सीमें अध्याससे सर्प प्रतीत होता है, तैसे ही सुख दुःख रूप भोगसे रहित अद्वितीय शुद्ध आत्मामें अध्याससे भोक्तापना प्रतीत होता है। अथवा सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदसे रहित शुद्ध आत्मामें अज्ञान रूप मायाके बिना भोक्तापनेका अध्यास सम्भव नहीं। इस कारणसे ही वेदके तात्पर्यको जाननेवाले महात्मा पुरुषोंने उस अद्वितीय आत्मामें माया कल्पना की है। तात्पर्य यह कि जो पदार्थ जिस पदार्थके बिना न सिद्ध हो सके वह पदार्थ उस पदार्थकी कल्पना कराता है। जैसे दिनमें भोजन न करने वाले पुरुषमें जो स्थूलता है, वह स्थूलता रात्रि भोजनके बिना सम्भव, नहीं अतः वह स्थूलता उस पुरुषके रात्रि भोजनकी कल्पना कराती है। तैसे ही अकर्ता अभोक्ता शुद्ध आत्मामें मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ इस प्रकार भोक्तापनेका अध्यास मायाके बिना सम्भव नहीं। अतः वह अध्यास शुद्ध आत्मामें मायाकी कल्पना करता है।

इस प्रकार अर्थापत्ति रूप प्रमाणसे सिद्ध हुई मायाके दो स्वभाव हैं—एक आवरण शक्ति रूप स्वभाव है और दूसरा विक्षेप शक्ति रूप स्वभाव है। मायाका आवरण शक्ति रूप स्वभाव जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंमें विद्यमान है। जब तक आनन्द स्वरूप आत्माका साक्षात्कार पुरुषको नहीं होता तब तक मायाकी आवरण शक्ति निवृत्त नहीं होती है। अद्वितीय आत्माके ज्ञानसे ही मायाकी मोहरूपी आवरण शक्तिका नाश होता है। और मायाका दूसरा विक्षेप शक्तिरूप स्वभाव दो प्रकारका है—एक जाग्रत रूप, दूसरा स्वप्न रूप। जिस अवस्थामें नेत्रादिक इन्द्रियों द्वारा बाह्य घट-पटादिक स्थूल पदार्थोंका ज्ञान होता है उस अवस्थाको जाग्रत कहते हैं। और जिस अवस्थामें पूर्व संस्कारोंको ग्रहण करके केवल मनमें ही ज्ञान उत्पन्न हो उस अवस्थाको स्वप्न कहते हैं। ये

जाग्रत और स्वप्न दोनों विक्षेप रूप हैं। इसलिये हे बालाकि! जैसे जाग्रतमें सुख-दुःखकी प्राप्तिसे मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ यह भोगरूप अतिशयता पुरुषोंमें उत्पन्न होती है वैसे ही स्वप्नमें भी सुख-दुःखकी प्राप्तिसे मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ यह भोगरूप अतिशयता पुरुषोंमें उत्पन्न होती है। स्वप्नमें भोगरूप अतिशयताका जो आधार है वही जाग्रतमें भी भोगरूप अतिशयता-का आधार है। जहाँ स्वप्नमें सुख-दुःख जन्य भोगका आधार केवल मन ही है। मनसे भिन्न स्वप्नमें कोई भी भोगका आधार नहीं है। क्योंकि नेत्रादिक इन्द्रियोंका तो स्वप्नमें लय हो जाता है। इसलिये इन्द्रियोंमें भी भोगकी आधारता सम्भव नहीं। यद्यपि मनके अतिरिक्त प्राण तथा शुद्ध आत्मा स्वप्नमें भी हैं तथापि उनमें भोगकी आधारता सम्भव नहीं। क्योंकि प्राण तो जड़ है इसलिये उसमें भोगकी आधा-रता सम्भव नहीं। और शुद्ध आत्मा असंग है अतः उसमें भी भोगकी आधारता सम्भव नहीं है। इस प्रकार स्वप्नमें इन्द्रियादिकोंमें भोगकी आधारता सम्भव नहीं। अन्ततः मन ही स्वप्नमें सुख दुःख जन्य भोगका आश्रय है। जब स्वप्न-में भोगका आधार मन अंगीकार किया तब जाग्रत अवस्थामें भी उस मनको ही सुख-दुःखके भोगका आश्रय मानना चाहिए।

अथवा—यदि स्वप्नके भोगका आधार तो मनको अंगीकार करें और जाग्रतके भोगका आधार मनसे भिन्न कोई दूसरा अंगीकार करें तो स्वप्नके बाद जाग्रतमें पुरुषको इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान नहीं होगा कि जो मैं स्वप्नमें राजसुखका अनुभव करता था वही मैं अब जाग्रतमें एकान्तके सुखको अनुभव करता हूँ। यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान स्वप्न भोक्ता तथा जाग्रत भोक्ताके अभेदको विषय करता है। वह प्रत्य-भिज्ञा ज्ञान असंगत होगा इसलिये स्वप्न और जाग्रतका एक ही मनरूप भोक्ता मानना चाहिए।"

यहाँ बालाकिने शंका किया—"हे भगवन्! जैसे आकाशादिक पंच सूक्ष्म भूतोंसे प्राणोंकी उत्पत्ति हुई है इसलिये प्राण जड़ हैं, वैसे आकाशादिक पंच सूक्ष्म भूतों से मन की उत्पत्ति हुई है इसलिये मन भी जड़ है। जड़ प्राणों में भोग की आधारता जैसे पहले आपने खण्डन किया है वैसे ही जड़ मन में भी भोग की आधारता सम्भव नहीं।"

अजात शत्रुने शंका समाधान करते हुए कहा—"हे बालाकि! यद्यपि प्राणोंकी तरह मन भी अचेतन है तथापि प्राणोंसे मनमें विशे-षता है। क्योंकि अपंचीकृत आकाशादिक पंच भूतोंके मिश्रित सत्वगुणसे अन्तःकरणकी उत्पत्ति हुई है। अतः मन प्रकाशक है। और आका-शादिक पंचभूतोंके मिश्रित रजोगुणसे प्राणकी उत्पत्ति हुई है इसलिए प्राण प्रकाशक नहीं है। जैसे प्रदीप और घट दोनोंमें जड़ता धर्म समान है तो भी प्रदीपसे ही घटका प्रकाश होता है। घटसे प्रदीपका प्रकाश नहीं होता।"

शंका—"जड़ मनको यदि प्रकाशक मानेंगे तो प्रदीपादिकोंकी तरह मनमें बाह्यपना सिद्ध होगी।"

समाधान—"मनका जो वृत्तिरूप प्रकाश है वह स्वतन्त्र किसी पदार्थको प्रकाशित नहीं

करता, किन्तु चेतन आत्माके आभासकी अपेक्षा से ही पदार्थोंको प्रकाशित करता है और उस चेतन आत्माके आभासको ग्रहण करके वह मन की वृत्तिरूप प्रकाश अपने जड़ भावको परित्याग करता है।

अथवा—"नाना प्रकारके ज्ञान वाला अन्तःकरण है।" यह जो शास्त्रमें कहा है वह भी चेतनकी अपेक्षासे ही नाना प्रकारके ज्ञानवाला अन्तःकरण सम्भव है। तात्पर्य यह है कि यदि अन्तःकरण स्वभावसे ही चेतन हो तो एक प्रकारका ही ज्ञान सर्वदा होना चाहिए परन्तु सदा एक प्रकारका ज्ञान होता नहीं और अन्तःकरणको यदि चेतनकी अपेक्षा मानते हैं तो सदा एक प्रकारके ज्ञानकी आपत्ति रूप दोष नहीं होगा। क्योंकि जिसकालमें इच्छा आदिसे विलक्षण चेतनके प्रतिबिम्ब ग्रहण करने योग्य अन्तःकरणकी वृत्ति उत्पन्न हुई है उसी कालमें वह ज्ञान है अन्यकालमें नहीं। इस प्रकार नाना ज्ञान अन्तःकरणमें संभव है। ऐसे अन्तकरणमें अविद्याजन्य तादात्म्य अध्यासरूप संबंधसे स्थित हुआ यह परमात्मा विज्ञानमय संज्ञाको प्राप्त होता है। और उस अन्तःकरणमें स्थित होकर यह आनन्द स्वरूप आत्मा सम्पूर्ण देहादिकोंको प्रकाश करता है। इस कारणसे यह आनन्द स्वरूप आत्मा पुरुष संज्ञाको प्राप्त होता है। ऐसे आनन्द स्वरूप आत्मामें अन्तःकरणका परिणाम रूप दुःख जैसे वास्तव में नहीं है, वैसे ही अन्तःकरणका परिणामरूप सुख भी वास्तवमें आत्मामें नहीं है। इससे यह अनुमान सिद्ध हुआ कि दुःख-सुख आत्मामें नहीं हैं, क्योंकि ये जड़, परिच्छिन्न और दृश्य हैं। जो-जो जड़, परिच्छिन्न और दृश्य वस्तु है वह आत्मामें वस्तुतः नहीं रहती है, जैसे जड़ परिच्छिन्न दृश्य रूप दुःख आत्मामें वास्तविक नहीं हैं। अथवा, सुख दुःखकी तरह सुख दुःख प्राप्तिके साधन भी जड़ परिच्छिन्न दृश्य रूप होने से आत्मामें वास्तविक नहीं। अतः कार्य कारण भावसे रहित स्वयं प्रकाश आत्मा ही विज्ञानमय भोक्ताका वास्तव स्वरूप है।"

उपर्युक्त अर्थको बालाकिको बोध कराने के लिये अजातशत्रु राजा इस प्रकार अपने मन में विचार करने लगे—इस बालाकिने हमारे उपदेशसे यद्यपि प्राणोंसे भिन्न करके विज्ञानमय भोक्ता आत्माको जान लिया है तथापि विज्ञानमय भोक्ता मिथ्या है। इसलिये उसके ज्ञानसे बालाकिको मोक्षको प्राप्ति नहीं होगी। क्योंकि शुद्ध आत्माके ज्ञानसे मोक्ष होता है। अतः अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये इस बालाकिको विज्ञानमय भोक्ताके वास्तव स्वरूपका उपदेश करना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके अजातशत्रु राजा विज्ञानमय भोक्ताके विषयमें निम्नलिखित प्रश्नोंको कहते हैं—

१—हे बालाकि! इस सोए हुए पुरुषके उत्थान रूप व्यापारसे तुमने विज्ञानमयको प्राणसे भिन्न करके तथा भोक्ता रूप करके जाना है। परन्तु यह विज्ञानमय भोक्ता किस देशमें स्थित हुआ शयन करता है?

२—विज्ञानमय भोक्ताके शयनका आधार कौन है?

३—यह विज्ञानमय भोक्ता किस देशसे उठकर जाग्रत अवस्थामें आया है ?

अब लोकोंके व्यवहारको ग्रहण करके इन प्रश्नोंके परस्पर भेदको दिखलाते हैं—लोकमें शयन करनेवाला पुरुष कदाचित अपनेमें स्थित हुआ शयन करता है। जैसे खड़ा हुआ पुरुष अपने आश्रित हुआ शयन करता है और कदाचित् अपनेसे भिन्न शय्या आदिमें स्थित हुआ पुरुष शयन करता है। इसलिए शयन कर्ता पुरुषके आधारका नियम नहीं है।

शंका–' शयन करनेवाले पुरुषके आधारका जो प्रथम प्रश्न है वह यद्यपि सम्भव है, तथापि शयनका आधार कौन है ! यह दूसरा प्रश्न सम्भव नहीं। क्योंकि जो शयन करने वाले पुरुषका आधार होता है वही उसके शयनका भी आधार होता है।

समाधान—"शयन करनेवाले पुरुषका जो आधार हो वही उसके शयनका भी आधार हो यह लोकमें नियम नहीं है। कहीं तो शयन कर्ता पुरुषका तथा शयनका एक ही आधार होता है। जैसे एक ही मंचकादिक शयन कर्ता पुरुष तथा उसके शयन दोनोंका आधार है और कहीं शयन कर्ता पुरुष तथा उसके शयनका भिन्न-भिन्न आधार होता है। जैसे–शयन कर्ता पुरुषका आधार तो मंचकादिक हैं और मंचकके उपर स्थित तूलकादिक उसके शयनका आधार है। इस प्रकार शयन कर्ता पुरुष तथा उसके शयनके आधारको भिन्न-भिन्न लोकमें मानते हैं। अतः प्रथम प्रश्नसे ही दूसरा प्रश्न चरितार्थ नहीं होता, बल्कि दूसरा प्रश्न अलग है।"

शंका–"द्वितीय प्रश्नके प्रथम प्रश्नसे भिन्न होनें पर भी तृतीय प्रश्नकी द्वितीय प्रश्नसे भिन्नता सम्भव नहीं। क्योंकि शयनका आधार ही शयनकर्ताके आगमनका स्थान एवं अवधि होता है। शयनके आधारका जब निश्चय होता है तभी शयन कर्ता पुरुषके आगमन स्थान एवं अवधिका भी निश्चय हो जाता है। अतः तृतीय प्रश्न व्यर्थ है ?"

समाधान–' जो शयनका आधार होता है वही शयनकर्ता पुरुषके आगमनका स्थान एवं अवधि होता है यह नियम नहीं। क्योंकि लोकमें शयनके आधारसे भिन्न भी आगमनकी अवधि कहीं देखी जाती है। जैसे मंचकके उपर सोया पुरुष मंचकसे उठ करके बाहर आया है इस प्रकार कोई नहीं कहता है। किन्तु "मंचकसे उठ, घरमें स्थित होकर उस घरसे बाहर आया है" इस प्रकार लोग कहते हैं। लोगोंके इस व्यवहारसे शयनके आधार मंचकसे आगमनका स्थान घर भिन्न ही प्रतीत होता है। इसलिए द्वितीय प्रश्नसे तृतीय प्रश्न चरितार्थ नहीं होता। तृतीय प्रश्न द्वितीय प्रश्नसे भिन्न है।"

बालाकिको विज्ञानमय भोक्ताके स्वरूप, स्वप्न-सुषुप्ति रूप दो प्रकारके शयनके स्वरूप, दो प्रकारके शयनका आधार तथा शयन कर्ता विज्ञानमय भोक्ताके आगमनका स्थान एवं अवधिका बोध करानेके लिये अजातशत्रु राजाने पूर्वोक्त तीन प्रश्नोंको बालाकिसे पूछा।

गुह्य अर्थको बोधन करनेवाले राजाके उन प्रश्नोंपर पर्याप्त विचारके बाद भी बालाकि उनका उत्तर न दे सका।

बालाकिके अज्ञानको देखकर आनन्दित

प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये तथा बालाकिके संशय निवारणार्थ राजाने उन प्रश्नोंका उत्तर स्वयं दिया—"हे बालाकि, यहाँ हम स्वप्न अवस्था में विज्ञानमय भोक्ताके स्वरूपका स्पष्ट बोध करानेके लिये पहले स्वप्न सुषुप्ति रूप दो प्रकार के स्वप्नको दिखलाते हैं। इस भोक्ता पुरुषका शयन दो प्रकारका होता है—१—स्वप्न रूप शयन २—सुषुप्ति रूप शयन। प्रथम स्वप्न रूप शयनके विषयमें सुनो—जाग्रत अवस्थामें यह आत्मा अन्तःकरणमें स्थित चेतनके आभासरूप विज्ञानसे नेत्र आदि इन्द्रियोंको अपने-अपने रूपादिक विषयोंके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य देता है। इस कारणसे जाग्रत अवस्थामें यह आत्मा चक्षुमय, श्रोत्रमय इत्यादिक संज्ञाको प्राप्त होता है। इसलिये जाग्रत अवस्थामें विज्ञानमय भोक्ता का स्पष्ट भान नहीं होता है। और स्वप्न शयन के सम्मुख होनेपर वह विज्ञानमय भोक्ता आत्मा नेत्रादिकोंके सामर्थ्यको उपसंहार करके शयनको प्राप्त करता है। उस स्वप्नकालमें यह भोक्ता आत्मा चक्षुमय श्रोत्रमय इत्यादि नामोंका परित्याग करके केवल विज्ञानमय संज्ञाको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि उस स्वप्न अवस्थामें शयनकर्ता विज्ञानमय भोक्ताका स्वरूप नेत्रादिक इन्द्रियोंसे भिन्न होकर प्रतीत होता है।

इस प्रकार शयनकर्ता विज्ञानमय भोक्ताके स्वरूपको कहकर अब उसके आधारको दिखलाते हैं। यह विज्ञानमय भोक्ता आत्मा स्वप्नमें हितानामक नाड़ीमें स्थित हुआ शयन करता है। अथवा, हृदयमें या पुरीततमें स्थित हुआ यह भोक्ता आत्मा शयन करता है। विभिन्न श्रुतियोंके अनुसार शयनकर्ता पुरुषके आधारको कहकर अब उस आधारके स्वरूपको स्पष्ट करके दिखलाते हैं—उरके मध्यमें नीचे मुख किए हुए मांसमय कमलवत पिण्डको हृदय कहते हैं। यही चित्तका निवास स्थान है। उस हृदयके चारों ओरसे वेष्टन करनेवाला सर्पाकार चर्मको लोकमें आंद्रा कहते हैं। इसीको पुरीतत् भी कहते हैं। अपने हृदय और पुरीतत्का ज्ञान किसीको भी अपनी आँखोंसे नहीं होता है। किन्तु दूसरे पुरुषके उरका भेदन करके देखा जा सकता है। एक केशके हजारवें हिस्सेके समान सूक्ष्म नाड़ियोंका जाल हृदय देशसे निकलकर अनन्त शाखा प्रशाखाओंमें फैला है। कुल ७२७२१०२०१ बहत्तर कोटि बहत्तर लाख दश हजार दो सौ एक नाड़ियाँ हृदय रूप वृक्षसे निकली हैं। अन्नके परिणाम रससे वे सभी नाड़ियाँ पूर्ण हैं। किसी नाड़ीमें पिंगल रस, किसीमें शुक्ल रस, कुछ नाड़ियोंमें कृष्ण रस, कुछमें पीतरस और कुछमें लोहित रस भरा है। अन्नके परिणाम रसोंकी ऐसी सूक्ष्मताको विचारकर भी हमारा मन मोहित होता है। तात्पर्य यह कि जो वस्तु जिसके भीतर प्रवेश करती है वह उसकी अपेक्षासे सूक्ष्म होती है। जैसे पुरुष अपने घरमें प्रवेश करता है इसलिये गृहकी अपेक्षा पुरुष सूक्ष्म है। तैसे ही पहले तो नाड़ियाँ ही अत्यन्त सूक्ष्म हैं और उनमें स्थित रसकी सूक्ष्मताके विषयमें दृष्टान्त ही नहीं मिलता है। जैसे वृक्षके पत्तोंको शंकु व्याप्य करके रहता है वैसे ही सूक्ष्म नाड़ियोंमें सर्व इन्द्रियोंका उपसंहार करके मन प्रवेश करता है। वह मन

धर्म अधर्म रूप पाशसे बँधा हुआ, नाना प्रकार-के संस्कारोंसे युक्त और स्वप्न अवस्थामें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इस त्रिपुटी रूपसे स्थित रहता है। और वह मन साक्षी चेतनसे प्रकाश्यमान है। ऐसा मन जब नाड़ियोंमें प्रवेश करता है तब विज्ञानमय भोक्ता आत्मा अपने मायाके बलसे तथा पूर्व पूर्व संस्कारोंकी सहायतासे अनन्त प्रकारके पदार्थोंको वहाँ देखता है। स्वप्नमें कभी भिखारी महाराजा हो जाता है और कभी राजा भिखारी हो जाता है। नीच जाति वाला स्वप्नमें उत्तम ब्राह्मण हो जाता है तथा कभी ब्राह्मण स्वप्नमें चाण्डाल हो जाता है। स्वप्न-में कभी हिरण्यगर्भ कभी स्थावर ग्राम, शूकर तथा कृमि हो जाता है और स्थावर ग्राम शूकरादि स्वप्नमें प्रजापति हो जाते हैं। इस मायासे मोहित हुआ देहधारी जीव पुण्य पाप कर्मके अनुसार स्वप्नमें उच्च तथा नीच शरीरोंको प्राप्त होता है।

अब जाग्रत तथा स्वप्नकी समानता दिख-लाते हैं—जैसे स्वप्नमें मायासे रथादिक पदार्थ प्रतीत होते हैं वास्तवमें वहाँ रथादिक पदार्थ नहीं हैं। यदि स्वप्नके पदार्थ वास्तविक हों तो उन्हें जाग्रतमें भी प्रतीत होना चाहिये, परन्तु जाग्रतमें प्रतीति नहीं होती इसलिये स्वप्न पदार्थ मिथ्या हैं। वैसे ही जाग्रतके पदार्थ भी मायामय प्रतीत होते हैं वास्तविक नहीं हैं। यदि जाग्रतके पदार्थ वास्तव हों तो समाधि कालमें भी तत्व-वेत्ताको प्रतीत होना चाहिये, परन्तु समाधि कालमें जाग्रतका कोई पदार्थ प्रतीत नहीं होता है। इसलिये स्वप्नकी तरह जाग्रतके पदार्थ भी मिथ्या हैं।

अथवा—जैसे स्वप्नमें जीवोंको अपने आत्माका अज्ञान रहता है तैसे जाग्रतमें भी जीवोंको आत्माका अज्ञान रहता है। इसलिये भी जाग्रत, स्वप्न समान हैं।

अथवा—जैसे स्वप्नमें पदार्थोंका विपरीत भान होता है वैसे ही जाग्रतमें भी पदार्थोंका विपरीत भान होता है। अतः जाग्रत स्वप्नकी समानता है।"

शंका—"जाग्रत स्वप्नकी समानता सम्भव नहीं, क्योंकि स्वप्न पदार्थ अल्प कालतक स्थित रहते हैं और जाग्रतके पदार्थोंकी चिरकाल तक स्थिति रहती है।"

समाधान—"जैसे जाग्रतमें धन वस्त्र तृणा-दिक समस्त जड़ पदार्थ पार्थिवत्व रूपसे प्रतीत होते हैं। जैसे जाग्रतमें धनादिक पदार्थ "हैं" ऐसा प्रतीत होते हैं वैसे स्वप्न में भी "हैं" रूपसे प्रतीत होते हैं। इसलिये जाग्रत स्वप्न दोनों समान हैं। जाग्रत पदार्थोंकी चिरकालीन स्थिति और स्वप्न पदार्थोंकी अल्पकालीन स्थिति ये दोनों विशेष धर्म अज्ञानसे कल्पित हैं। इसलिये उन कल्पित धर्मोंसे जाग्रत-स्वप्न पदार्थों-की विलक्षणता सिद्ध नहीं होती।

अथवा—जैसे स्वप्न अवस्थामें एक ही स्वप्न द्रष्टा पुरुष अज्ञान रचित नाना प्रकारके पदार्थोंको देखता है तैसे ही जाग्रत अवस्थामें भी एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा अज्ञान रचित अनन्त पदार्थोंको देखता है। इससे भी जाग्रत स्वप्न समान है।"

इस प्रकार स्वप्न अवस्थाका निरूपण करनेके बाद पुनः अजातशत्रु राजाने कहा—"हे बालाकि! इस स्वप्न अवस्थामें शयनकर्ता विज्ञानमय भोक्ताका स्वरूप स्पष्ट करके हमने तुम्हें दिखला दिया है। वह विज्ञानमय भोक्ता प्राणसे भिन्न है। क्योंकि जैसे राजाकी पुरीकी रक्षा करनेवाला भृत्य राजासे भिन्न होता है तैसे यह प्राण भी भृत्यकी तरह स्थूल शरीर रूप पुरीकी रक्षा करता है। और विज्ञानमय भोक्ता आत्मा महाराजाकी तरह प्राणादिक सकल जड़ पदार्थोंको अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत करता है। इसलिये विज्ञानमय भोक्तासे भिन्न है। अथवा जैसे महाराजा अपनी पुरीकी रक्षाका भार किसी प्रधान मन्त्रीको देकर अपनी सेना सहित शिकारके लिए अपने राज्यमें विचरता है। तैसे ही यह विज्ञानमय भोक्ता भी स्थूल शरीर रूप पुरीकी रक्षाके लिये प्राणरूप प्रधान मन्त्रीकी नियुक्ति करके मनसहित सभी इन्द्रियोंको साथ लेकर अपनी इच्छानुसार इस शरीरमें भ्रमण करता है अज्ञानरचित अनेक पदार्थोंको देखता है। इस प्रकार स्वप्नरूप प्रथम शयनका निरूपण करके अब सुषुप्तिरूप द्वितीय शयनका निरूपण करते हैं।

नाड़ियोंमें विचरता हुआ मन जब अपने कारण रूप अज्ञानमें लय भावको प्राप्त होता है तब यह आत्मादेव परिपूर्णता रूप द्वितीय सुषुप्ति रूप शयन करता है। तात्पर्य यह कि चेतनमें परिच्छिन्नता वास्तविक नहीं किन्तु उपाधि सम्बन्धसे है। यहाँ अन्तःकरण विशिष्ट चेतनका नाम विज्ञानमय भोक्ता है। अन्तःकरण जाग्रत और स्वप्नमें रहता है। इसलिए जाग्रत-स्वप्नमें विज्ञानमय भोक्ता आत्माकी परिच्छिन्नता निवृत्त नहीं होती है। सुषुप्तिमें अन्तःकरणका अज्ञानमें लय हो जाता है। इसलिये वह विज्ञानमय भोक्ता आत्मा परिच्छिन्न भावको त्यागकर सत्य परमात्माके साथ अभेद रूप पूर्णताको प्राप्त होता है।

अब सुषुप्ति रूप द्वितीय शयनके आधार का निरूपण करते हैं—वह विज्ञानमय भोक्ता उस नाड़ी रूप द्वारसे हृदय कमलके अन्दर स्थित परमात्मारूप महान् आकाशको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि परिच्छिन्न भावको त्यागकर मायाविशिष्ट परमात्माके साथ अभेद रूप परिपूर्णताको प्राप्त करता है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञानमय भोक्ताके द्वितीय सुषुप्तिरूप शयनका आधार मायाविशिष्ट परमात्मा है। और उस मायाविशिष्ट परमात्मामें ही इस समस्त इन्द्रिय सहित मनका लय होता है। कारणमें ही कार्यका लय होता है यह नियम है। माया-विशिष्ट परमात्मा ही इन्द्रियादिक सकल प्रपंचका उपादान कारण है। इसलिए सुषुप्तिमें उस माया-विशिष्टपरमात्मामें इन्द्रिय सहित मनकालय होना सम्भव है। इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे समुद्रका जल घनीभूत होकर नमक बन जाता है। अतः समुद्रका जल नमकका कारण है। इस कारणरूप समुद्र जलमें नमक पिण्ड पड़कर लय भावको प्राप्त हो जाता है। तैसे ही सुषुप्ति अवस्थामें इन्द्रिय सहित मन परमात्मा रूप कारणमें लय भावको प्राप्त करता है। अथवा—चित्रपटकी भाँति मनके लय होनेपर मनके

द्वारा कल्पित सर्व पदार्थोंका लय हो जाता है। उस कालमें सभी कार्य प्रपंचसे रहित एक अद्वितीय परमात्मा ही शेष रहता है।"

शंका—"सुषुप्ति अवस्थामें यद्यपि कार्य-प्रपंचका लय हो जाता है तथापि वहाँ अज्ञान रूप कारण विद्यमान रहता है। इसलिए सुषुप्तिमें परमात्माको अद्वितीय नहीं कहा जा सकता।"

समाधान—"सुषुप्ति अवस्थामें यद्यपि अज्ञान है तथापि उस अज्ञानका स्पष्ट भान नहीं होता, इसलिए न होनेके समान है। इसीको लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—जैसे कोई युवा कामी पुरुष बहुत दिनोंके बाद अपनी रूपवती स्त्रीको प्राप्त कर घरमें उसका जब आलिंगन करता है उस समय वह कामी विषयानन्दसे परिपूर्ण होनेके कारण बाहर-भीतरके किसी भी पदार्थको नहीं जानता है। और उस आनन्द कालमें अपनी स्त्रीको देखता हुआ भी नहीं देखता है। वैसे ही यह विज्ञानमय भोक्ता भी सुषुप्तिमें परमात्माके साथ तादात्म्य भावको प्राप्त होकर अपने अन्दर स्थित मायाको भी नहीं जानता है। उस समय अज्ञानकी वृत्तियों द्वारा केवल अपने स्वरूप आनंदका ही अनुभव करता है। इसी कारणसे श्रुतिमें उसको आनन्द-भुक् कहा गया है। अथवा, सुषुप्ति अवस्थामें जब यह विज्ञानमय भोक्ता विद्यमान मायाको भी नहीं जानता तब लय भावको प्राप्त हुए मायाके कार्य स्वप्न और जाग्रतके पदार्थोंको कैसे जानेगा। सभी पदार्थोंसे अनभिज्ञ केवल आनन्दसे ही परिपूर्ण होता है।

अब सुषुप्तिमें दुःखकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिको बालक, महाराजा तथा ब्राह्मणके तीन दृष्टान्तोंसे समझाते हैं—

प्रथम दृष्टान्त—अन्नादि खानेमें असमर्थ बालकको पेटभर दूध पिलाकर माता मच्छड़, मक्खी और खटमटसे रहित मुलायम सुखप्रद बिस्तरपर सुलाती है। बिस्तरपर सोया हुआ बालक परमानन्दित होकर सुखसे हँसता है। उस समय आनन्दसे पूर्ण वह बालक अपने समीपवर्ती माता-पिता आदिको देखता हुआ भी नहीं देखता है। केवल आनन्दसे परिपूर्ण रहता है। वैसे ही सुषुप्ति अवस्थामें यह विज्ञानमय भोक्ता परम आनन्दकी प्राप्ति करके सर्व दुःखोंसे रहित रहता है। उस समय आनन्दसे परिपूर्ण हुआ यह विज्ञानमय भोक्ता मायाको देखता हुआ भी नहीं देखता है।

दूसरा दृष्टान्त—जैसे नाना प्रकारके धनसे पूर्ण, शत्रुरहित सम्पूर्ण पृथ्वीका राजा आयु, बल, रूप, यश, कीर्ति, धर्म, विद्या, कुटुम्ब, परिजन, रूपवती स्त्री, पुत्रादि समस्त भोगोंको प्राप्त कर परमानन्दित होता है वैसे ही यह विज्ञानमय भोक्ता सुषुप्तिमें किंचितमात्र भी दुःखको नहीं जानता है। तात्पर्य यह कि इच्छाके विषय स्त्री, धन आदि भोग पदार्थोंकी प्राप्ति न होनेपर उस इच्छामें अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं। इन दुःखोंकी निवृत्तिके दो उपाय हैं—एक उन स्त्री-धनादिक पदार्थोंकी प्राप्ति और दूसरा इच्छाकी निवृत्ति। उपर्युक्त राजाके दृष्टान्तमें सर्वपदार्थोंकी प्राप्तिसे दुःखोंका अभाव है और सुषुप्तिमें विज्ञानमय भोक्तामें इच्छा-

दिक सर्व विक्षेपकी निवृत्तिसे सर्व दुःखोंका अभाव है।

ब्राह्मणका स्वरूप

निम्नलिखित गुणोंसे विभूषित पुरुषको महाब्राह्मण कहते हैं—

१—समस्त इन्द्रियों और मनको वशमें करनेवाला।

२—सभी इच्छाओंको त्यागकर यथालाभ में सन्तुष्ट रहनेवाला।

३—दुष्टों द्वारा शरीर, मन, वाणीसे क्लेश दिये जानेपर उनके अपकारको जानते हुए भी, उनसे द्वेष न करना।

४—दुःख, अपमान आदि अपने प्रतिकूल व्यवहारोंको शरीर, मन, वाणी द्वारा किसी के प्रति न करना। और सदा यह विचार रखना कि अपनेसे प्रतिकूल व्यवहारका फल लोक-परलोकमें दुःख और अनुकूल व्यवहारका फल सुख है। अतः सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेकी सदा इच्छा रखना।

५—मन, वाणी और शरीरसे प्राणीमात्र को दुःख न देना।

६—वेदोंके तात्पर्यको भली प्रकार जाननेवाला।

७—परनिन्दासे रहित।

८—अपने दोषोंमें सदा दृष्टि रखनेवाला।

९—दुष्ट प्राणियोंके संगसे रहित।

१०—आत्मासे भिन्न सकल जगत अनित्य है और केवल आत्मा ही नित्य है। इस प्रकारके नित्यानित्य विवेकसे सर्वदा युक्त।

११—पूर्वपक्ष तर्क और सिद्धान्त तर्कमें अति कुशल।

१२—लोक परलोकमें स्थित नाना प्रकार के अन्न पान, धन स्त्री आदि भोग तथा शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंको वमन किए हुए अन्नकी तरह देखता हुआ उनकी इच्छा न करने वाला।

१३—स्थूल सूक्ष्म शरीरमें अभिमान करने वाले प्राणियोंको पाप-पुण्यके वशीभूत होकर दुःख-सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार दोष दृष्टि रखकर स्थूल सूक्ष्म शरीरसे मुक्त होनेकी इच्छा वाला।

१४—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आश्रमों को त्यागकर विधिवत सन्यास ग्रहण द्वारा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप उपस्थित।

१५—गुरुके मुखारविन्दसे निकले हुए वेदोंके वचनोंका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्यका निश्चय रूप श्रवण किये हुए अर्थमें नाना प्रकार की उक्तियों द्वारा विरोधका परिहार रूप मनन तथा उस अर्थमें चित्तकी एकाग्रता रूप निदिध्यासनसे "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकारके साक्षात्कार को प्राप्त करना।

तृतीय दृष्टान्त—उपर्युक्त शुभ गुणोंसे युक्त महाब्राह्मण जैसे राग द्वेषादिसे रहित होकर परमानन्दको प्राप्त करता है वैसे ही सुषुप्ति अवस्थामें यह विज्ञानमय भोक्ता परमानन्दको प्राप्त होता है। जैसे पूर्वोक्त महाब्राह्मणमें अनर्थकारी रागद्वेष आदि नहीं हैं वैसे सुषुप्ति अवस्था में भी इस विज्ञानमय भोक्ताके अन्दर अनर्थकारी राग द्वेषादिक नहीं हैं। रागद्वेषादिक सकल

धर्म अन्तःकरणके हैं। वह अन्तःकरण सुषुप्तिमें लयभावको प्राप्त हो जाता है इसलिए उसके धर्म राग द्वेषादिक सुषुप्तिमें नहीं होते हैं।

अथवा—सुखके साधन प्रिय पदार्थोंमें राग होता है और जो पदार्थ सुखके साधन नहीं हैं उनमें द्वेष होता है। अतः सुखका ज्ञान रागका कारण है और दुःखका ज्ञान द्वेषका कारण है। किसी पदार्थमें सुख-दुःखका ज्ञान तत्ववेत्ता ब्राह्मण को नहीं होता। क्योंकि अद्वितीय आत्मासे भिन्न समस्त प्रपंचको जिसने खरगोशकी सींगकी तरह असत्य जान लिया है वह असत्य वस्तुको सुख दुःखका साधन नहीं मान सकता। अतः महा-ब्राह्मणमें रागद्वेषादि सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें भी अन्तःकरणके लय होनेपर सुख दुःखका ज्ञान किसी पदार्थमें सुषुप्त पुरुष को नहीं होता है। इसलिए वहाँ भी रागद्वेषका अभाव है।"

इस प्रकार सुषुप्ति रूप द्वितीय शयनका निरूपण करनेके पश्चात अजातशत्रु राजाने कहा—"हे वालाकि! प्रथम और द्वितीय प्रश्न-का उत्तर मैंने दे दिया। परमात्मा रूप आकाश ही शयनकर्ता विज्ञानमय भोक्ताका तथा सुषुप्ति रूप शयनका आधार है। उस परमात्मासे भिन्न कोई भी उसका आधार नहीं। विज्ञानमय भोक्ताका परमात्माके साथ अभेद और अन्तः-करण आदिका उनमें लय होना ही शयनका स्वरूप है। जैसे घटाकाश महाकाशसे भिन्न नहीं, किन्तु घटाकाश महाकाश स्वरूप है। तैसे ही मेरे द्वारा कहा गया वह विज्ञानमय भोक्ता भी परमात्मासे भिन्न नहीं है। किन्तु परमात्मा स्वरूप है। और वह परमात्मा ही सर्व प्राणियों-में व्याप्य कर प्रकाश करता है। इस कारण ही श्रुतिमें उस परमात्माको आकाश कहा है।"

"हे वालाकि! जैसे आकाश घट मठ आदि अनेक उपाधियोंमें स्थित होते हुए भी सर्वत्र आकाश रूपसे प्रतीत होता है इस कारण आकाश एक है। वैसे ही तुम्हारा आत्मा मेरा आत्मा तथा अन्य किसी प्राणीका आत्मा अनेक उपाधियोंमें स्थित होते हुए भी सर्वत्र आत्म रूपसे व्याप्त है और एक है। "मैं अपने स्वरूपको नहीं जानता तथा अन्यको मैं नहीं जानता" इस प्रकार अज्ञानका आश्रयरूप हुआ प्रतीत होता है। और मैंने सुखपूर्वक शयन किया इस प्रकार सुषुप्तिका साक्षीरूपसे प्रतीत होता है। अतः सभी प्राणियोंमें एक आत्मा अनुगत है।"

"हे वालाकि! यद्यपि जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थामें भी आत्माकी वस्तुतः एक रूपता ही है। तथापि उन अवस्थाओंमें अन्तःकरणसे युक्त होनेके कारण आत्मा विज्ञानमय भावको प्राप्त-सा हो जाता है। इसलिए वह विज्ञानमय भाव ही जाग्रत स्वप्नमें आत्माके भेदका कारण है। और सुषुप्ति अवस्थामें अपने कार्य सहित अन्तःकरणका अज्ञानमें लय होता है, इसलिये सुषुप्ति अवस्थामें आत्माका भेद नहीं होता। जैसे घटमठ आदि उपाधियोंके विद्यमान रहने पर ही आकाशका भेद प्रतीत होता है और घट मठादि उपाधियोंके नाश होने पर आकाश में भेद प्रतीत नहीं होता वैसे ही अन्तःकरण तथा वाक् आदिक इन्द्रियाँ जाग्रत स्वप्नमें

आत्माका भेद करनेवाली हैं। वे इन्द्रियाँ मन सहित सुषुप्ति अवस्थामें परमात्मामें लय भावको प्राप्त हो जाती हैं, इसलिये सुषुप्ति अवस्थामें एक अद्वितीय परमात्मा ही रहता है।"

शंका—"हे भगवन्! सुषुप्ति अवस्थामें यद्यपि अन्तःकरणादिक कार्य नहीं हैं तथापि कारणरूप अज्ञान वहाँ विद्यमान है। इसलिये अज्ञानरूप उपाधिके कारण आत्माका भेद सुषुप्तिमें भी सम्भव है।"

समाधान—"अज्ञानके दो स्वरूप हैं—एक आवरण स्वरूप और दूसरा विक्षेप स्वरूप। आवरणरूप अज्ञान आत्माके भेदका कारण है यह प्रथम पक्ष सम्भव नहीं। क्योंकि सुषुप्तिमें आत्माको आवरण करने वाला अज्ञान तो विद्यमान है, परन्तु अनुभव सिद्ध है कि वह अज्ञान वहाँ आत्माके भेदको उत्पन्न नहीं करता, इसलिये आवरण स्वरूप अज्ञान आत्मा के भेदका कारण सम्भव नहीं है। और विक्षेप रूप अज्ञान आत्माके भेदका कारण है, यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि विक्षेप जाग्रत-स्वप्न भेदसे दो प्रकारका होता है। ये दोनों कार्यरूप विक्षेप सुषुप्ति अवस्थामें लय भावको प्राप्त कर जाते हैं। इसलिये विक्षेप रूप अज्ञान भी आत्माके भेदको नहीं उत्पन्न करता है। अब इसी भावको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करके समझाते हैं—जैसे वर्षाकालकी अँधेरी रातमें सम्पूर्ण मेघादिक अन्धकारमें लय भावको प्राप्त हो जाते हैं तैसे ही सुषुप्ति अवस्थाके प्राप्त होने पर आत्माके अज्ञानमें सभी कार्य प्रपंच लय हो जाते हैं। और जैसे सूर्योदयसे उस अन्धकारके नष्ट होनेपर पुनः वे मेघादिक उसी अन्धकारसे प्रगट होते हैं। वैसे ही माया विशिष्ट परमात्मासे पुनः कर्मोंके वश हो जाग्रत उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि जब जाग्रत प्रपंचके भोग देनेवाले पुण्य-पाप रूप कर्मोंका उद्भव होता है तभी माया विशिष्ट परमात्मासे जाग्रत प्रपंचकी उत्पत्ति होती है। और जब स्वप्नके भोगको देनेवाले पुण्य-पाप रूप कर्मों का उद्भव होता है तभी उस परमात्मासे स्वप्न प्रपंचकी उत्पत्ति होती है। अतः हे बालाकि! जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंकी प्राप्तिमें कोई नियम नहीं है। किन्तु अपने स्वरूपके अज्ञानसे यह परमात्मा देव कर्मोंके वशीभूत कभी स्वप्न अवस्थाके बाद जाग्रत अवस्थाको प्राप्त होता है कभी सुषुप्ति अवस्था के बाद जाग्रतको प्राप्त होता है। ऐसे ही कभी जाग्रतसे स्वप्न, कभी जाग्रतसे सुषुप्ति, कभी स्वप्नके बाद सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मोंके अधीन हुआ यह जीवात्मा सभी शरीरोंमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता रहता है। जैसे बालकों द्वारा उछाला हुआ गेंद (कन्दुक) कभी भूमि कभी आकाशमें चारों दिशाओंमें भ्रमण करता है तैसे ही पूर्व पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके वश यह परमात्मादेव जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंमें भ्रमण करता है। जैसे वायु से उड़ाई हुई रूई कभी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं होती उसी प्रकार कर्म रूप वायुके वशसे इस शरीरमें जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन अवस्थाओंका प्रवाह कभी भी स्थिर नहीं होता,

निरन्तर चला करता है। जैसे आकाशमें सम्पूर्ण मेघ मण्डलको वायु भ्रमण कराता है तैसे कर्म रूप वायु भी देहादिक प्रपंचको भ्रमण कराता है। जैसे जलका प्रवाह सूखे काष्ठको कभी ऊपर उठाता है कभी नीचे ले जाता है वैसे ही पुण्य-पाप रूप कर्मके वश होकर यह जीवात्मा कभी देव शरीर प्राप्त करता है, कभी मनुष्य शरीर कभी पशु-कृमि और कभी वृक्षादि स्थावर शरीर प्राप्त करता है। पुण्य कर्मकी अधिकतासे देव शरीर, पाप पुण्यकी समानतासे मनुष्य शरीर और पाप कर्मकी अधिकतासे कृमि आदि शरीर प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्मके वश यह जीव नाना प्रकारके शरीरको प्राप्त करता है। देवताओंसे लेकर कृमि पर्यन्त सर्व शरीरोंमें यह जीव जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त करता है। इन अवस्थाओंसे रहित कोई भी प्राणी नहीं है।"

शंका—'मनुष्य आदिमें यद्यपि तीन अवस्था सम्भव है तथापि देवताओंमें तीन अवस्था सम्भव नहीं। क्योंकि शास्त्रमें देवताओंको अस्वप्न कहा गया है। इसलिये स्वप्न अवस्था देवताओंमें नहीं होगी।'

समाधान—"देवताओंको अस्वप्न कहने का यह अभिप्राय नहीं कि उन्हें स्वप्न अवस्था नहीं होती। अस्वप्नका भाव यह है कि देवताओंमें सतोगुणकी प्रधानता होनेसे उन्हें क्षण-क्षणमें मनुष्योंकी तरह स्वप्न नहीं होते। किन्तु उन्हें अल्प स्वप्न होते हैं। देवताओंमें यदि सर्वथा स्वप्नका न होना अंगीकार करेंगे तो विष्णु भगवान शेष शय्या पर शयन करते हैं यह शास्त्र वचन असंगत हो जायगा। अतः सिद्ध हुआ कि सभीको स्वप्न अवस्था होती है। इसलिये हे बालाकि! सुषुप्ति अवस्थामें सत् परमात्माके साथ अभेद भावको प्राप्त हुआ विज्ञानमय भोक्ता कर्मोंके वश जाग्रत आदि अवस्थाओंको प्राप्त होता है।

शंका—"अन्य उपनिषदोंमें यद्यपि सुषुप्ति में माया विशिष्ट परमात्मामें अन्तःकरण आदि का लय कहा गया है तथापि इस कौषीतकि उपनिषद्में प्राणमें ही सर्व इन्द्रियों सहित अन्तःकरणका लय कहा है। अतः यहाँ श्रुतियों का परस्पर विरोध हो जाता है।"

समाधान—"सुषुप्तिसे उठा हुआ यह पुरुष जाग्रतमें इस प्रकार स्मरण करता है कि 'मैं कुछ नहीं जानता'। इस पुरुषके स्मरण द्वारा अभिप्रायसे तो माया विशिष्ट परमात्मामें ही सकल इन्द्रियोंका लय सिद्ध होता है। और सुषुप्ति अवस्थामें प्राणोंके लयको लोग स्वीकार नहीं करते परन्तु प्राणको छोड़कर शेष सबका लय स्वीकार करते हैं। इसलिये लोगोंके अभिप्रायको अंगीकार करके श्रुतिने प्राणमें वाकादिक इन्द्रियोंका लय कहा है। अतः प्राण शब्दकी लक्षणावृत्तिसे माया विशिष्ट परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार श्रुतियोंका विरोध नहीं होगा। इसलिये हे बालाकि! सुषुप्ति अवस्थामें परमात्मा स्वरूप प्राणमें ही स्थूल, सूक्ष्म सर्व प्रपंच लय होते हैं। क्योंकि यदि मन सहित इन्द्रियाँ सुषुप्ति अवस्था में लय न होतीं तो जाग्रतकी तरह सुषुप्तिमें भी उन इन्द्रियोंकी प्रतीति होती। परन्तु ऐसा नहीं

होता है, इससे इन्द्रियोंका सुषुप्तिमें लय ही जाना जाता है। जैसे आधार आधेय भाव सम्बन्धसे पृथ्वी पर घट प्राप्त होता है, यहाँ पृथ्वी आधार है और घट आधेय है, तैसे ही सुषुप्ति अवस्थामें यह विज्ञानमय भोक्ता आधार आधेय भाव सम्बन्धसे परमात्माको नहीं प्राप्त होता है। किन्तु आधार आधेय भावसे रहित केवल अभेद सम्बन्धसे परमात्माको प्राप्त करता है। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे गृहाकाशके अन्दर घटाकाश घट के नाश होने पर गृहाकाशके साथ एकता रूप सम्बन्धको प्राप्त हो जाता है। तैसे सुषुप्ति अवस्थामें यह विज्ञानमय भोक्ता अन्तःकरणादि उपाधियोंसे रहित हुआ परमात्माके साथ एकतारूप सम्बन्धको प्राप्त कर लेता है। हे वालाकि! जैसे गृहाकाशका कहीं आना जाना नहीं होता लेकिन घटाकाशका ही घरमें आना जाना होता है। तैसे ही हृदय देशमें स्थित परमात्माका आना जाना नहीं होता। और घटाकाशके समान विज्ञानमय भोक्ताका तो नित्य ही सुषुप्तिमें जाना और जाग्रतमें आना होता रहता है। और यदि वास्तवमें विचार किया जाय तो विज्ञानमय भोक्ताके स्वरूपमें भी आना जाना ..मात्र नहीं। किन्तु अन्तःकरणरूप उपाधिके आने जानेसे विज्ञानमयमें आना जाना प्रतीत होता है। जैसे घटरूप उपाधिके आने जानेसे घटाकाशमें आना जाना प्रतीत होता है, वास्तवमें घटाकाश कहीं आता जाता नहीं। हे वालाकि! यद्यपि यह परमात्मा देव आकाशकी तरह देहके अन्दर तथा बाहर सर्वत्र व्यापक है तथापि हृदयदेशमें ही परमात्माका अन्तर्यामीपना सिद्ध है अन्यत्र नहीं। इसलिये हृदयदेशमें परमात्माकी स्थिति कही है।

ऐसे अन्तर्यामी परमात्मासे साक्षात् प्रकाशित मनमें सम्पूर्ण वाकादिक इन्द्रियोंकी विशेषताका अब निरूपण करते हैं—सुख दुखके उपभोगके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि शरीरके विना सुख दुःखका भोग नहीं होता। शब्दादिक विषयोंके प्रकाशको उपभोग कहते हैं। उन शब्दादि विषयोंका प्रकाश श्रोत्रादि इन्द्रियोंके बिना नहीं होता, बल्कि इन्द्रियोंके द्वारा ही विषयोंका प्रकाश होता है।

उन सम्पूर्ण श्रोत्रादिक इन्द्रियोंका नियामक मन है। क्योंकि अपने अपने विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर भी जबतक मनका सम्बन्ध इन्द्रियोंके साथ नहीं होता तब तक ये इन्द्रियाँ अपने विषयको नहीं जानती हैं। किन्तु मनका सम्बन्ध होते ही इन्द्रियाँ अपने विषयोंको जानने लगती हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ मनके अधीन हैं। अब इसीको लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—एक लकड़ीका खिलौना होता है। बड़ी लकड़ीमें दस घोड़े बने रहते हैं और उस लकड़ीके मध्यमें भीतर एक छिद्र होता है। और उस छिद्रसे दस सूत्रोंको लाकर दस घोड़ोंके पैरमें बाँध दिया जाता है। इन घोड़ोंको पिता अपनी गोदमें बैठे हुए पुत्रको देकर उन दस सूत्रोंको एक साथ लड़केके हाथमें पकड़ा देता है। पिताकी गोदमें बैठा हुआ बालक उन सूत्रोंको खींचता है, इससे घोड़े नाना प्रकारकी

चेष्टायें करते हैं। द्राष्टान्त यह है कि शरीररूपी बड़ी लकड़ी है। उसमें दस इन्द्रियरूपी दस घोड़े हैं। प्राण वायुरूप सूत्रसे वे इन्द्रियरूपी घोड़े बँधे हैं। और नाड़ीरूप छिद्र द्वारा वे प्राणरूप सूत्र हृदयरूप नलिकामें पिरोये हुए हैं। और परमेश्वर रूप पिता मनरूप बालकको अपने हृदय कमलरूप गोदमें बिठाकर प्राण वायुरूप सूत्रोंको ग्रहण करा देता है। उन प्राण-रूप सूत्रोंको पकड़कर वह मनरूपी बालक इन्द्रियरूपी घोड़ों तथा प्राणरूप सूत्रोंको अपने अपने व्यापारमें प्रवृत्त कराता है। इस कारण सर्व इन्द्रियोंसे बुद्धि उत्कृष्ट है।

अब दूसरे प्रकारसे इन्द्रियोंसे बुद्धिकी उत्कृष्टता दिखलाते हैं। जैसे सूर्यका प्रकाश यद्यपि सभी पदार्थों पर समान पड़ता है तथापि उपाधिके वशसे उस सूर्यके प्रकाशमें भेद देखा जाता है। जैसे ताम्रादिक धातुओंसे बने पात्रमें सूर्यका तेज कम अभिव्यक्त होगा और उस ताम्रपात्रसे स्वच्छ दर्पणमें सूर्यका तेज अधिक प्रकट होगा। दर्पणसे कृपाणमें अधिक और कृपाणसे मणिमें और अधिक तेज अभिव्यक्त होगा। मणियोंसे भी सूर्यकान्त मणिमें सूर्यका तेज अधिक प्रगट होता है। क्योंकि ताम्र पात्रादिक उपर्युक्त उपाधियोंमें स्थित हुआ सूर्यका तेज दाहादिक कार्य नहीं करता और सूर्यकान्त मणिमें स्थित हुआ सूर्य प्रकाश दाहादिक कार्यको करता है। अतः अन्य उपाधियोंकी अपेक्षा सूर्यकान्त मणिमें सूर्यका तेज अधिक अभिव्यक्त होता है। वैसे ही ताम्र पात्रकी तरह इस स्थूल शरीरमें तथा दर्पणके समान प्राणमें, कृपाणके समान कर्म इन्द्रियोंमें मणिके समान ज्ञान इन्द्रियोंमें तथा सूर्यकान्त मणिके समान बुद्धिमें यह आनन्द स्वरूप आत्मा स्वभावसे यद्यपि एक रूपसे ही स्थित रहता है। तथापि बुद्धिरूप अन्तःकरण अति स्वच्छ है, इसलिये उस अन्तःकरणमें स्थित हुआ यह आनन्द स्वरूप आत्मा भोक्ता संज्ञाको प्राप्त करता है। और अन्य शरीर आदि उपाधियों में स्थित हुआ आत्मा भोक्ता संज्ञाको नहीं प्राप्त होता है। जैसे सूर्य भगवान सूर्यकान्त मणिमें स्थित होकर दाहककार्य करते हैं वैसे ही आनन्द स्वरूप आत्मा अन्तःकरणमें स्थित होकर ही कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप संसार तथा लोकान्तरमें गमनागमनको प्राप्त होता है। यद्यपि अल्प अन्तःकरणके अन्दर व्यापक आत्माकी स्थिति सम्भव नहीं तथापि जैसे छोटा सा दर्पण महान पर्वतके प्रतिबिम्बको ग्रहण करता है वैसे छोटा अल्प अन्तःकरण अतिस्वच्छ होने से आत्माके प्रतिबिम्बको ग्रहण करता है। यही अन्तःकरणमें आत्माकी स्थिति है।

अथवा, वह अन्तःकरण सर्वदा हृदय कमल रूप गृहमें ही निवास करता है और कभी जाग्रत अवस्थामें वह अन्तःकरण नेत्र आदि स्थानमें भी निवास करता है। सुषुप्ति काल में नेत्र स्थानको छोड़कर वह अन्तःकरण हृदय कमलरूप अपने घरमें आता है। उसके आगमन से विज्ञानमय भोक्ता भी हृदय देशमें आ जाता है। तात्पर्य यह कि चैतन्यमें स्वभावसे गमन आगमन रूप क्रिया नहीं है, किन्तु उपाधि

के गमन-आगमनसे चैतन्य आत्मामें गमनागमन होता है। वह अन्तःकरण जाग्रत अवस्थामें दक्षिण नेत्रादिमें रहता है, इसलिये विज्ञानमय भोक्ता भी वहाँ रहता है। और सुषुप्तिमें नेत्रादि स्थानोंको छोड़कर वह अन्तःकरण हृदय कमल-रूप अपने घरमें आ जाता है। इसलिये विज्ञान-मय आत्मा भी हृदयकमलको प्राप्त करता है।

अथवा-जैसे मनुष्य तथा पशु अपने घरको छोड़कर अन्य देशको जाते हैं और वहाँ हानि लाभको प्राप्त करते हैं। उस हानिको भी लाभ के समान मानकर वे पुनः अपने घर वापस आते हैं। तैसे ही बुद्धिरूप अन्तःकरण भी अपने हृदय देशरूप गृहको परित्याग कर नेत्रादिक देशमें जाता है और वहाँ हानि लाभको प्राप्त करता है। उस हानिको भी लाभके समान मानकर वह नेत्रादिक देशसे पुनः अपने हृदय कमल रूप गृहमें वापस आ जाता है। जैसे विदेशसे अपने घर आये हुए जीवोंको लाभके विचारसे सुख और हानिके विचारसे दुःख होता है वैसे ही नेत्रादिक विदेशसे हृदय देश रूपी अपने घरमें आया हुआ बुद्धिरूप अन्तःकरण लाभ हानिको विचारकर सुख-दुःखका अनुभव करता है। एक हृदय कमलको छोड़कर समस्त शरीर बुद्धिका परदेश है। हृदय अपना देश है।

जाग्रत, स्वप्नके भोग देनेवाले कर्मोंका जब क्षय होता है तभी हृदय कमलके मध्यवर्ती हृदयाकाश रूप परमात्माको प्राप्त हुई बुद्धि अपने कारणमें मूर्छाको प्राप्त होती है। जैसे अत्यन्त मूर्छित पुरुषको लोकमें मृत कहते हैं तैसे सुषुप्ति में अपने कारणमें मूर्छित बुद्धिको लय हुई मानते हैं। जैसे आकाशमें स्थित सूक्ष्म रूईके कणको आकाशमें लय हुआ लोग कहते हैं वैसे ही हृदय कमलके अन्दर परमात्मा रूप आकाशमें स्थित बुद्धिको वेद लय हुई कहते हैं।

इसलिए हे बालाकि! वह विज्ञानमय भोक्ता पुरुष सुषुप्ति अवस्थामें अन्तःकरण रूप उपाधिके लय होनेपर परमात्माके साथ अभेद-रूप शयनका अनुभव करके, पुनः जाग्रतके भोग देनेवाले कर्मोंके उदय होनेपर जाग्रत अवस्थाको प्राप्त होता है। और जैसे रेशमका कीड़ा अन्य साधनोंकी अपेक्षा विना ही अनन्त तुन्तुओंको अपनेसे उत्पन्न करता है। तैसे ही सोकर उठा हुआ यह परमात्मादेव प्राणादिक अनन्त सृष्टिको उत्पन्न करता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि अपने समान रूप वाले छोटे-छोटे असंख्य अग्निकणों को उत्पन्न करती है, वैसे ही सोकर उठा हुआ यह आत्मदेव भी प्राण, अन्तःकरण, ज्ञान-कर्म इन्द्रिय तथा उनके व्यापारोंको उत्पन्न करता है। और उन इन्द्रियोंसे अग्नि आदि देवता, देवताओंसे शब्दादिक विषय पर्यन्त सम्पूर्ण लोक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जाग्रत अवस्थामें नित्य ही इन्द्रियाँ, देवता तथा विषयोंकी उत्पत्ति होती है और सुषुप्ति अवस्थामें नित्य ही इन्द्रि-यादिकोंका लय होता है।"

शंका—"हे भगवन! जाग्रत सुषुप्तिमें नित्य ही आपने उत्पत्ति और लय कहा है। यह कथन मुझे ठीकसे पूर्णतया हृदयंगम नहीं हो रहा है।"

समाधान—वेदके कहे हुए अर्थमें बुद्धि-

मान पुरुषोंको कभी भी अविश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि इन्द्रिय जन्य ज्ञानके अविषय स्वर्गादिक अतिन्द्रिय पदार्थोंमें शास्त्र प्रमाणसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है। शास्त्र प्रमाणसे भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उन स्वर्ग आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। तात्पर्य यह कि जहाँ परस्पर विरोधी दो प्रमाणोंकी प्रवृत्ति हो वहीं पर संशय होता है। ऐसा यहाँ सम्भव नहीं है। क्योंकि वेद जिन अर्थोंका बोधन करता है उनमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं, इसलिए वेदके अर्थमें संशय करना बुद्धिमान पुरुषको योग्य नहीं है। अब इसी अर्थको और स्पष्ट करके दिखाते हैं—शास्त्र प्रमाण द्वारा बतलाये गए स्वर्गादिक लोक, इन्द्रादिक देवता, तथा धर्म अधर्म रूप अदृष्ट इन सबमें प्रत्यक्ष प्रमाणका बाध सभी लोग अनुभव करते हैं। क्योंकि यदि शास्त्र प्रतिपादित स्वर्गादिकोंमें भी प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति होती तो सभी जीवोंको नेत्रादि के द्वारा स्वर्गादिकका प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए। लेकिन ऐसा अनुभव होता नहीं है।

अथवा—यदि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जीवोंको स्वर्गका अनुभव होता तो स्वर्ग नरकके विषयमें मूढ़ पुरुषोंका परस्पर विवाद नहीं होना चाहिये। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय घटादिक पदार्थोंमें कोई पुरुष विवाद नहीं करता है। परन्तु स्वर्ग नरकके विषयमें बहुत वाद-विवाद देखा जाता है यथा—कोई पुरुष कहता है कि स्वर्ग नरक है ही नहीं, कोई कहता है कि इस मनुष्य लोकमें ही स्वर्ग-नरक है। धनिक सुखी आदमी स्वर्गमें है और दरिद्र दुःखी आदमी नरकमें है। इसी तरह मूढ़ लोग अनेक प्रकारसे विवाद करते हैं। यह नहीं होना चाहिए। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा स्वर्गादिकोंका अनुभव किसी जीवको नहीं होता है। यद्यपि योगी पुरुषोंको शास्त्र प्रतिपादित स्वर्गादिकोंका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तथापि योगी पुरुषका प्रत्यक्ष प्रमाण शास्त्र प्रमाणका विरोधी नहीं है। क्योंकि शास्त्रके अनुकूल आचरण करके ही योगी पुरुषका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये उस योगीका प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्वसिद्ध शास्त्र प्रमाण रूप अपने कारणके साथ विरोध नहीं करता। अतः शास्त्र प्रतिपादित स्वर्गादिक अर्थमें प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती यह सिद्ध हुआ।

शास्त्र प्रतिपादित स्वर्गादिक अर्थमें जैसे प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती वैसे ही अनुमान प्रमाणकी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणकी अपेक्षा करके ही बादमें अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह कि जिस पुरुषको पहले रसोई घर आदिमें बारम्बार धूआँ तथा आगके साथ-साथ दर्शनसे, "धूआँ आगका व्याप्य है, इस प्रकारका व्याप्ति ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणसे उत्पन्न हुआ है वही पुरुष पहाड़में धूआँको देखकर पूर्व व्याप्तिका स्मरण करके पहाड़में आगका अनुमान करता है। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान प्रमाणका कारण है। स्वर्गादिक पदार्थोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति न होने के कारण अनुमान प्रमाण की भी प्रवृत्ति नहीं है। अथवा—यदि प्रत्यक्ष

प्रमाणकी अपेक्षाके बिना ही अनुमान प्रमाण अपने अर्थका बोधन करेगा तो अनुमान संज्ञासे ही रहित हो जायगा। क्योंकि 'अनुमान' इस शब्दमें दो पद हैं—एक 'अनु' पद और दूसरा 'मान' पद है। 'अनु' पदका अर्थ पश्चात् और 'मान' पदका अर्थ प्रमाण है। दोनों पद का सम्मिलित अर्थ "पश्चात होनेवाला प्रमाण" सिद्ध होता है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाणके बाद अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति हो सकती है।

अथवा—प्रत्यक्ष प्रमाणसे उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञानकी अल्प विषयमें प्रवृत्ति होती है। इस कारणसे भी शास्त्र प्रतिपादित स्वर्गादिकोंमें प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं। क्योंकि इन्द्रियों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। और वह प्रत्यक्ष ज्ञान एक प्रकारका नहीं होता। किन्तु नेत्रादि इन्द्रियोंके भेदसे अनेक होता है। चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष ज्ञानको चाक्षुष प्रत्यक्ष कहते हैं। ऐसे ही रसनासे उत्पन्न ज्ञानको रासन प्रत्यक्ष, त्वक्से त्वचा प्रत्यक्ष, घ्राणसे घ्राणज प्रत्यक्ष, और श्रोत्रसे श्रावण प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसीलिये सर्व पदार्थोंमें एक प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु भिन्न-भिन्न रूपादिक विषयोंमें भिन्न-भिन्न ही चाक्षुपादिक ज्ञानोंकी प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह कि चाक्षुष ज्ञानके विषय जो रूपादिक पदार्थ हैं उनको रासन ज्ञान विषय नहीं करता और रासन ज्ञानके विषय जो रसादिक हैं उनको चाक्षुष ज्ञान विषय नहीं करता। इसी प्रकार अन्य सभी प्रत्यक्ष ज्ञानोंके विषयमें भी जानना चाहिए। इस प्रकार अल्प अर्थको विषय करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान शास्त्र प्रतिपादित अर्थको विषय नहीं कर सकता है।

अथवा—जिस कालमें देवदत्त नामक पुरुषके नेत्रका सम्बन्ध घटादिक पदार्थोंके साथ होता है उस कालमें देवदत्तको ही उस घटका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। देवदत्तसे भिन्न यज्ञदत्त नामक पुरुषको इन्द्रियके सम्बन्ध बिना उस घटका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानके योग्य घटादिक विषयोंमें भी स्वतन्त्र प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु विषयके साथ इन्द्रियके सम्बन्धकी अपेक्षासे ही प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब प्रत्यक्ष ज्ञानके योग्य घटादिक पदार्थोंमें भी प्रत्यक्ष ज्ञानकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं हुई तब वेद प्रतिपादित स्वर्गादिक अतिन्द्रिय पदार्थोंमें किस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रवृत्ति होगी? नहीं हो सकती।

अथवा—वेद प्रमाणकी अपेक्षासे रहित केवल प्रत्यक्ष प्रमाण दोषयुक्त होता है। क्योंकि नेत्रादिक इन्द्रियोंका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है और उनमें अंधत्व, बधिरत्व आदि दोष प्रत्यक्ष पाये जाते हैं। इसलिये दोषयुक्त प्रत्यक्ष प्रमाण वेदके अपूर्व अर्थको बोधन नहीं कर सकते। और अनुमान प्रमाणकी अप्रवृत्ति पहले कह आये हैं।

शंका—"वेद प्रतिपादित स्वर्गादिक अर्थोंमें प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति न हो तथापि अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति हो सकती है।

समाधान—"ये अर्थापत्ति आदि प्रमाण

अनुमान प्रमाणसे अभिन्न हैं अथवा भिन्न हैं? अभिन्न पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि अर्थापत्ति आदि प्रमाण यदि अनुमान प्रमाणके अन्तर्भूत मानेंगे तो अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्तिमें पूर्वकथित सभी दोष यहाँ भी प्राप्त होंगे। और दूसरा भिन्न पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि यदि अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंको अनुमानसे भिन्न मानेंगे तो भी वे अर्थापत्ति आदि प्रमाण स्वतन्त्र किसी प्रमा ज्ञानको उत्पन्न नहीं करते, किन्तु किसी दृष्टान्तको अंगीकार करके ही किसी पुरुषके प्रमा ज्ञानको उत्पन्न करेंगे और वह दृष्टान्त प्रत्यक्षसे भिन्न नहीं बल्कि उसमें अन्तर्भूत है। प्रत्यक्ष प्रमाणका खण्डन पीछे विस्तारसे कर आये हैं अतः अनुमान प्रमाणसे भिन्न होनेपर भी अर्थापत्ति आदिक प्रमाण वेद प्रतिपादित स्वर्गादिरूप अर्थमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। इसलिये हे बालाकि! सर्व दोषोंसे रहित यह वेद भगवान् जिस अर्थका प्रतिपादन करें वही अर्थ मुमुक्षु पुरुषोंको अवश्य ग्रहण करना चाहिये। जैसे धर्मात्मा राजाकी आज्ञाको प्रजा ग्रहण करती है वैसे वेदकी आज्ञा बुद्धिमान पुरुषोंको ग्रहण करना चाहिये। वेदके अर्थमें कभी भी असंभावना नहीं करनी चाहिये।

वेद प्रतिदिन जाग्रत अवस्थाके प्राप्त होनेपर वाक् आदिक इन्द्रियों, अग्नि आदि देवताओं तथा नाम आदिक विषयोंकी उत्पत्तिको कथन करता है। और सुषुप्ति अवस्थामें वे सम्पूर्ण इन्द्रियादिक लय हो जाते हैं यह भी वेदका कथन है। इसलिये हे बालाकि! इस प्रकारके वेद अर्थमें तुम पूर्ण श्रद्धा करो।

सोये हुए पुरुषके उत्थापन कालमें इस शरीरमें स्थित आनन्द स्वरूप आत्माका उपदेश हमने पहले तुम्हें किया, तत्पश्चात् हृदय कमलमें स्थित आत्माका उपदेश किया। अतः अब तुम्हें आत्मामें परिच्छिन्न दृष्टि न कर पूर्ण दृष्टि रखना चाहिए। आगे इसी अर्थको और स्पष्ट करके कहते हैं—जैसे एक ही परिपूर्ण आकाश घट, मठ, कटोरा आदि उपाधियोंमें स्थित है वैसे ही एक ही परिपूर्ण आत्मा वाक् आदिक उपाधियोंमें स्थित है। उस वाकादिक विशिष्ट आत्माको मूढ़ पुरुष वक्ता, श्रोता तथा द्रष्टा रूप से मानते हैं। इसी प्रकार तुम भी आत्माको परिच्छिन्न न मानना। परन्तु उपाधिका परित्याग करके परिपूर्ण आत्माको ही तुम जानना।"

शंका—"यदि आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है तो फिर आपने इसके पूर्व आत्माकी स्थिति हृदय देशमें क्यों कही?"

समाधान—"केश काटनेका साधन छुरा सब जगह रहते हुए भी नाईके पिटारीके किसी एक भागमें विशेष रूपसे रहता है। वैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा सर्व प्राणियोंके अन्दर बाहर व्याप्य रहता हुआ भी अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंमें उसकी विशेष उपलब्धि होती है। इस कारणसे ही हृदय और इन्द्रिय-शरीरमें आत्माकी स्थिति मैंने कही है। इस पर और दृष्टान्त देते हैं—जैसे अग्नि सामान्य रूपसे सर्वत्र स्थित है तथापि काष्ठमें अग्निकी विशेष रूपसे उपलब्धि होती है इसी कारणसे लोग कहते हैं कि काष्ठमें अग्नि स्थित है। इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि काष्ठके अतिरिक्त

अग्नि नहीं है। जैसे नापितकी पिटारीमें छुराकी उपलब्धि शीघ्र हो सकती है, वैसे ही हृदय कमलमें स्थित अत्यन्त स्वच्छ बुद्धि रूप अन्तः-करणमें आत्माकी उपलब्धि विशेष होती है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि बुद्धिमें ही आत्मा रहता है अन्यत्र नहीं रहता। इस प्रकार हृदयमें आत्माके विशेष अभिव्यक्तिका बोधन कराके "हृदयमें आत्मा रहता है" इसके तात्पर्य का निरूपण कर दिया।

अब हृदयकी अपेक्षासे शरीरादिकोंमें आत्माके अल्प प्रकाशको बोधन करने वाले अग्निके दृष्टान्तका अभिप्राय कहते हैं—

हे बालाकि! वह आनन्द स्वरूप आत्मा जरायुज, अडंज, स्वेदज, उद्भिज इन चार प्रकार के शरीरोंको उत्पन्न करके अपने चैतन्य रूपसे नखके अग्रभागसे लेकर शिखा पर्यन्त उन सर्व शरीरोंमें व्याप्त है। जैसे अग्नि यद्यपि सर्वत्र समान है तथापि अरणी काष्ठमें अग्निके विशेष अभिव्यक्तिको देखकर "काष्ठमें स्थित अग्नि है" इस प्रकार लोग कहते हैं। तैसे ही यह आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि चैतन्य रूपसे सर्वत्र समान है तथापि शरीरमें चैतन्यके विशेष अभिव्यक्तिको देखकर "शरीरमें आत्मा स्थित है।" इस प्रकार लोग कहते हैं। यहाँ शरीरमें आत्माकी विशेष अभिव्यक्ति घटादिकोंकी अपेक्षासे कही है। अन्तःकरणकी अपेक्षासे तो शरीरमें आत्माकी अल्प अभिव्यक्ति होती है। इसलिये हे बालाकि! आकाशकी तरह सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा इस शरीरमें चैतन्यरूपसे प्रतीत होता है। इस कारण सर्व शरीरोंमें नखसे लेकर शिखा पर्यन्त आत्माका प्रवेश श्रुतिने कथन किया है। जैसे मृत्तिका घटाकार परिणामको प्राप्त होती है इसलिये मृत्तिकामें मुख्य प्रज्ञा और गौण प्रज्ञा सम्भव नहीं; तैसे मन इन्द्रिय देहादिरूप संघात भी अनन्त प्रकारके परिणाम को प्राप्त होते हैं इसलिए इस संघातमें भी मुख्य प्रज्ञा तथा गौण प्रज्ञा सम्भव नहीं। किन्तु प्रज्ञा स्वरूप आत्माके तादात्म्य अध्यासके बलसे अविचार कालमें शरीर आदिमें चैतन्य स्वरूप प्रज्ञा प्रतीत होती है। विचार करनेसे शरीर आदिकोंमें प्रज्ञा सम्भव नहीं।

शंका—मन, इन्द्रिय तथा शरीरमें आपने प्रज्ञाका अभाव कहा, यह सम्भव नहीं क्योंकि बुद्धिरूप प्रज्ञा मन आदिकोंमें भी सम्भव है।

समाधान—चैतन्य आत्मासे भिन्न मन, इन्द्रिय, शरीर आदि सम्पूर्ण जड़ और विकार-वान हैं। इसलिये उन मन आदिकोंमें स्थित बुद्धिरूप प्रज्ञा भी जड़ है। क्योंकि जैसे शरीर आदिक परिणामको प्राप्त होते हैं तैसे बुद्धि भी परिणामवती है। इसलिये बुद्धि चैतन्य नहीं, जड़ है। अतः आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न किसी भी वस्तुमें प्रज्ञा नहीं है। केवल आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है। हे बालाकि! जैसे आत्मासे भिन्न किसी अनात्म पदार्थमें ज्ञान नहीं है वैसे ही आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न किसी अनात्म पदार्थमें सुख नहीं है। केवल आत्मा ही सुख रूप है। सुखस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप यह आत्मा सुख तथा ज्ञानसे रहित मन, इन्द्रिय शरीर आदिको अपने तादात्म्य सम्बन्धसे सुखयुक्त तथा ज्ञानयुक्त करता है। जैसे धनी पुरुष अपने

सेवकोंको धनयुक्त करता है वैसे ही सुख ज्ञान-स्वरूप आत्मा मन इन्द्रियादिकोंको सुख, ज्ञान-युक्त करता है।

हे वालाकि ! जैसे सुखस्वरूप तथा ज्ञान-स्वरूप आत्माका आश्रय ग्रहण करके ही सम्पूर्ण वाक् आदि अध्यात्म तथा अग्नि आदि अधि-देवता अपने अपने नाम आदिक विषयोंका निश्चय करते हैं। उस आत्माके सम्वन्ध विना स्वतन्त्र कोई भी वाकादिक किसी अर्थको निश्चय नहीं करते, जैसे यथार्थ ज्ञान और विपरीत ज्ञानसे युक्त धनी पुरुषके निश्चयके अनुसार ही उसके भृत्य कार्य करते हैं। उस धनिकके निश्चयके विना भृत्योंका कोई स्वतन्त्र निश्चय नहीं होता है।"

शंका—"बाह्य कार्योंमें यद्यपि भृत्योंको धनिककी पराधीनता है तथापि ज्ञानरूप अन्त-र्निश्चयमें उन भृत्योंको धनी मालिककी अपेक्षा सम्भव नहीं है।"

समाधान—"ज्ञानरूप अन्तर्निश्चयकी उत्पत्ति-में यद्यपि भृत्योंको धनी पुरुषकी अपेक्षा नहीं तथापि धनी पुरुषके निश्चयके विना भृत्योंका निश्चय निष्फल है। तात्पर्य यह कि ज्ञानरूप निश्चयसे पुरुषोंकी कार्यमें प्रवृत्ति होती है। वह प्रवृत्ति धनी पुरुषके निश्चय विना स्वतन्त्र भृत्योंकी नहीं है। किन्तु धनिककी सम्मतिको ग्रहण करके ही भृत्योंकी किसी कार्यमें प्रवृत्ति होती है। तैसे ज्ञानरूप आत्माका आश्रय लेकर ही सम्पूर्ण वाक् आदिक देवता तथा प्रत्येक वाकादिक निश्चय करते हैं कि यह कार्य करना चाहिये यह कार्य नहीं करना चाहिये, अमुक करने योग्य, अमुक देखने योग्य है आदि आदि। ज्ञानस्वरूप आत्माके विना स्वतन्त्र कोई भी वाकादिक देवता किसी पदार्थको नहीं जानता। यहाँ दृष्टान्तसे सिद्धान्तमें इतनी विशेपता है कि दृष्टान्तमें धनी पुरुषके ज्ञानसे भिन्न ही भृत्योंके ज्ञान होते हैं और सिद्धान्तमें आत्माके स्वरूप ज्ञानसे भिन्न कोई भी ज्ञान वाकादिक इन्द्रियोंमें नहीं है। परन्तु आत्मस्वरूप ज्ञान ही वाक् - आदिक इन्द्रियोंसे युक्त होकर नाना भावको प्राप्त होता है। इसलिये आत्मा ही ज्ञान स्वरूप है और आत्मासे भिन्न सब अनात्म पदार्थ जड़ हैं। जैसे भोगके साधन धनादिसे युक्त कोई वैश्य पुरुष अपने पुत्र और भृत्योंके सहित भोग्य पदार्थोंको भोगता है अकेला नहीं भोगता। यदि अकेला ही अन्नादि पदर्थोंका भोग करे तो उसका सब धन चोर उठा ले जायेगें। इसलिये वह मिलजुल कर धनका भोग करता है। तैसे ही आनन्द स्वरूप आत्मा भी वाकादिक देवताओंके साथ ही भोगों-को भोगता है, वाकादि देवताओंके विना केवल शुद्ध आत्मा भोगोंको नहीं भोगता और जैसे वैश्यके वन्धु वान्धव पुत्र और भृत्योंकी तरह वाकादिक भी आत्माके विना स्वतन्त्र होकर किसी पदार्थको नहीं भोगते हैं। यहाँ तात्पर्य यह है कि सुख-दुःखके अनुभवका नाम भोग है। वह भोग उपाधि रहित शुद्ध आत्मामें सम्भव नहीं, तैसे वाक्-आदिक जड़ पदार्थोंमें भी वह भोग सम्भव नहीं। किन्तु अन्तःकरणादिक उपाधियोंसे युक्त आत्मा ही भोगका आश्रय है। वास्तवमें तो कोई भोगका आश्रय है नहीं, इस लिये वह भोग मिथ्या है।

हे बालाकि ! जो हृदयाकाश शुद्ध आत्मा रूपसे हमने तुम्हें बतलाया है वही परमात्मा इस सर्व संघातका अधिपति है और वही परमात्मा इस संघातके साथ जब तादात्म्य अध्यासको प्राप्त हो जाता है तब बुद्धिमान पुरुष भी जाननेमें अशक्य हो जाते हैं। यदि आत्मा दुर्विज्ञेय न होता तो सर्व शास्त्रोंको जाननेवाले तुमको आत्माके यथार्थ स्वरूपमें भ्रान्ति नहीं होती और तुम प्राणको ही आत्मा कहकर मुझे उपदेश न करते। यह तुम्हारी भ्रान्ति ही आत्माके दुर्विज्ञेयताका परिचायक है।"

शंका—"हे भगवन ! यदि यह आनन्द स्वरूप आत्मा इस संघातमें दुर्विज्ञेय है तब आप हमें इस संघातसे भिन्न किसी स्थानमें स्थित आत्माका उपदेश कीजिए। उसी स्थान में स्थित आत्माका मैं निश्चय करूँगा।"

समाधान—"हे बालाकि ! इस संघातको छोड़कर अन्यत्र स्थित आत्माको जानने की किंचित मात्र भी इच्छा न करो। वरन् इस संघातमें ही आत्माको जाननेका उत्साह करो। जैसे अग्निकी उपलब्धिका स्थान काष्ठसे युक्त अग्निको परित्यागकर काष्ठ सम्बन्धसे रहित अग्नि प्राप्तिकी इच्छा कोई भी बुद्धिमान पुरुष नहीं करता है। तैसे ही आत्माकी उपलब्धिका स्थान इस संघातका परित्यागकर अन्य देशमें आत्माका अन्वेषण व्यर्थ है। इसलिये हे बालाकि ! इसी शरीरमें अन्तःकरणादिक सर्व उपाधियोंसे रहित कूटस्थ आत्माको ब्रह्मरूपसे निश्चय करो।"

अजातशत्रु राजाने पूर्वोक्त तीन प्रश्नोंका संक्षेपसे पुनः निरूपण करते हुए कहा—"हे बालाकि ! हृदयाकाश रूप जो सर्वका आत्मा है वही शयनकर्ता पुरुष तथा शयनका आधार है। और वही हृदयाकाश स्वरूप आत्मा शयनकर्ता पुरुषके आगमनकी अवधि एवं स्थान है। वाक् आदिक करणोंका लयरूप शयन स्वप्न, सुषुप्ति भेदसे दो प्रकारका होता है। प्रथम स्वप्नरूप शयनका कर्ता बुद्धिके अतिरिक्त सम्पूर्ण वाक् आदिक हैं और द्वितीय सुषुप्तिरूप शयनका कर्ता बुद्धि है। और दोनों प्रकारके शयनसे आगमनकर्ता भी बुद्धि सहित वाक्-आदि इन्द्रियोंका समूह है।

यद्यपि पहले विज्ञानमय भोक्ताको शयनका कर्ता तथा आगमनका कर्ता कह आये हैं और यहाँ बुद्धि तथा वाक् आदि इन्द्रियोंको शयन-का कर्ता कह रहे हैं इससे पूर्वापरका विरोध प्रतीत होता है। तथापि विचार करनेसे विरोध सम्भव नहीं। क्योंकि बुद्धि विशिष्ट चैतन्यका नाम विज्ञानमय है। वहाँ चैतन्य अंशमें तो कर्तापना सम्भव नहीं है, किन्तु परिशेषसे बुद्धिमें भी कर्तापना सम्भव है। इस अभिप्रायसे ही यहाँ बुद्धिको शयनका कर्ता कहा है। अतः पूर्वापर का विरोध नहीं है।

हे बालाकि ! प्राणरूप उपाधिमें तथा प्रज्ञारूप उपाधिमें जिस हृदयाकाश रूप आत्मा का हमने तुम्हें उपदेश किया है उसी प्राण-प्रज्ञा रूप उपाधि युक्त आत्माका उपदेश देवराज इन्द्रने प्रतर्दन राजाको किया है। इसी आत्माके साक्षात्कारके प्रभावसे देवराज इन्द्रने तीनों लोकोंमें उपद्रव करने वाले असुरोंका हनन

किया, नीतिसे रहित विश्व रूपादिक ब्राह्मणोंका तथा वेदान्त विचारसे रहित अनन्त सन्यासियों का हनन किया। इतनी हत्याके बादभी आत्म ज्ञानके प्रभावसे देवराजका बाल भी बाँका नहीं हुआ। और इसी आत्मज्ञानके प्रभावसे देवराज इन्द्र सभी देवताओंमें अत्यन्त श्रेष्ठताको प्राप्त हुए। जैसे अद्वितीय आत्माके ज्ञानके प्रभावसे देवराज इन्द्र सबके स्वामी हो गये वैसे ही आजकल भी जो कोई पुरुष इस आनन्द स्वरूप आत्माके ज्ञानको विवेकादिक साधनों द्वारा सम्पादन करेगा वह पुरुष भी आत्मज्ञानके प्रभावसे सर्वजीवोंका स्वामी हो जायगा।"

शंका—"हे भगवन अभी आपने कहा है कि देवराज इन्द्र आत्मज्ञानके प्रभावसे असुरों पर विजय प्राप्त किए। यह सम्भव नहीं। क्योंकि पुराणोंमें असुरोंके द्वारा इन्द्रकी अनेक बार पराजय लिखी है।"

समाधान—"जब तक देवराज इन्द्रको प्रजापतिके उपदेशसे आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हुआ था तब तक ही इन्द्रको जीतकर असुर तीन लोकके अधिपति हो गये थे। आत्मज्ञानकी प्राप्तिके बाद पुनः असुरोंको पराजित कर इन्द्र तीन लोक के अधिपति हो गये। इसलिये हे बालाकि। यह आनन्द स्वरूप अद्वितीय आत्माका ज्ञान ही सबसे अधिक है। उस ज्ञानको ही यत्न करके सम्पादन करना चाहिए।"

इतना इतिहास कह लेनेके बाद गुरुदेवने गद्गद् हृदय शिष्यसे कहा—"हे शिष्य! इस प्रकार कौपीतकी ऋषि अपने शिष्योंके प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश करके चुप हो गये। और ब्रह्मके निरूपणके बाद अवश्य कहने योग्य उस ब्रह्मके 'सत्यका सत्य' गुह्य नामको अर्थ सहित नहीं कह सके। याज्ञवल्क्यके तपसे संतुष्ट होकर सूर्यभगवानने "सत्यका सत्य" इस ब्रह्मके नामका अर्थ सहित उपदेश किए थे।

कौपीतकी ऋषि तो देवराज इन्द्रके भयसे सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या अपने शिष्योंको नहीं बतला पाये, परन्तु कौपीतकी उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें प्राणरूप पर्यंक पर स्थित ब्रह्मकी उपासनाका कथन किए, द्वितीय अध्यायमें अंगों सहित प्राण विद्याका कथन किए। तृतीय अध्यायमें इन्द्र प्रतर्दनके संवादसे निर्गुण ब्रह्म विद्याका कथन किए और चतुर्थ अध्यायमें बालाकि अजातशत्रुके सम्वादसे उसी निर्गुण ब्रह्म विद्याका कथन किए हैं। इतनी विद्याका उपदेश अपने शिष्योंको करके कौपीतकी मुनि विद्या उपदेशसे उपराम हो गये।

* इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः *



॥ ॐ नमः परमात्मने ॥

आत्म-पुराण

चतुर्थ अध्याय

आत्म पुराणके गत तृतीय अध्यायमें ऋग्वेदके कौपीतकी उपनिषदके चतुर्थ अध्यायका अर्थ निरूपण करने बाद यहाँ अब यजुर्वेदके उपनिषदोंका अभिप्राय कहते हैं।

गुरुदेवके मुखसे यह सुनकर कि 'देवराज इन्द्रके भयसे कौपीतकी ऋषिने अपने शिष्योंको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं दिया।" शिष्यको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। सूर्य भगवानने याज्ञ-वल्क्यको जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश किया उसे सुननेका शिष्यको अधिकार नहीं है, तथापि ब्रह्म विद्याका साक्षात् प्रश्न न करके बुद्धिमान शिष्यने केवल कौपीतकी ऋषिके भयका कारण जानना चाहा। उसका गुप्त अभिप्राय यह था कि भयका कारण बतलाते हुए श्री गुरुदेव ब्रह्मविद्याका कथन भी अवश्य करेंगे।

आश्चर्य एवं संशय युक्त शिष्यने गुरुदेव से पूछा—"भगवन्! देवराज इन्द्रने ऐसा कौन-क्रूरकर्म किया जिससे कौपीतकी ऋषिको भय उत्पन्न हो गया। इस कथाको सुननेकी मेरी तीव्र इच्छा है। आप कृपाकर मुझे संशय मुक्त करें।"

शिष्यके प्रश्नको सुनकर गुरुदेवने उस विचित्र कथाको कहनेसे पहले ब्रह्मविद्याके प्रवर्तक सभी गुरुओंका स्मरण किया। क्योंकि जैसे विवेक आदि साधन, चतुष्टय ब्रह्मविद्याके साधन हैं, तैसे ही ब्रह्मविद्याके प्रवर्तक गुरुओंका स्मरण भी पाप रूप प्रतिबन्धकी निवृत्ति द्वारा ब्रह्मविद्या का साधन है। इसलिए ब्रह्मविद्याके अध्ययन कालमें प्रवर्तक गुरुओंका स्मरण मुमुक्षु जनोंको अवश्य करना चाहिए।

मधुकाण्ड और याज्ञवल्क्य काण्डके अन्त में पुरुष नामसे घटित ऋषियोंके नाम कहे गये हैं। इसलिये उन दोनों वंशोंको पुरुष वंश कहते हैं। खिल काण्डके अन्तमें स्त्री नामसे घटित ऋषियोंके नाम कहे गये हैं, इसलिये उस वंश को स्त्री वंश कहते हैं। दो पुरुष वंश और एक स्त्री वंश इन तीनों वंशमें वर्तमान ऋषियोंका कुछ शास्त्रकार भेद मानते हैं। उन भेद-अभेद दोनों पक्षमें अभेद पक्ष ही श्रेष्ठ है। क्योंकि एक अद्वितीय ब्रह्म ही गुरु मूर्तिको धारण करके शिष्यको उपदेश करते हैं। यही वेदान्त शास्त्रका सिद्धान्त है। ब्रह्मज्ञानी ऋषि-मुनियोंकी परम्पराका निरूपणकरनेकी इच्छासे गुरुदेवने कहा-'हे शिष्य! इस जाग्रतमें पौतीमाषी नामक स्त्री ब्रह्मविद्याके अधिकारी हम सब जनोंकी माता है। क्योंकि उस पौतिमाषीके पुत्रने इस लोकमें सभी ब्राह्मणों को दुर्विज्ञेय ब्रह्मविद्या दिया है। जिसको स्त्री वंशमें पौतिमाषी पुत्र और दोनों पुरुष वंशोंमें पौतिमाष्य कहते हैं। हे शिष्य! इस पौतिमाषी पुत्रसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त जितने ब्रह्म-विद्याके प्रवर्तक गुरु हो चुके हैं उन सबका नाम तुम्हें सुनाते हैं। उन ब्रह्मवेत्ता ऋषियोंका नाम सुनने तथा स्मरण करनेसे ब्रह्मविद्याके प्रतिबन्धक पापकर्मोंका नाश हो जायगा। इसके बाद तू सम्पूर्ण वेदान्तके अर्थको जाननेमें समर्थ हो सकेगा। यह बात शास्त्रोंमें भी कही है—

यस्यदेवे पराभक्तिः यथादेवे तथा गुरौ
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशं ते महात्मनः।

जो पुरुष देवताओंके समान ब्रह्मविद्याके देनेवाले गुरुमें परम भक्ति करता है उस महात्मा पुरुषकी बुद्धिमें वेदान्तके अर्थ आरूढ़ होते हैं और जो देवता और गुरुमें भक्ति नहीं करता उसकी समझमें वेदान्त नहीं आता है। अतः मुमुक्षु पुरुषोंको अवश्य ही गुरुमें परम भक्ति रखनी चाहिये।

गुरु परम्परा

हिरण्यगर्भ
विराट भगवान्
सनक
सनातन
सनारु
व्यष्टि
विप्रचित्ति
एकर्षि
प्रध्वंसन
प्राध्वंसन मृत्यु
दैव अथर्वण
दध्यङ् अथर्वण

अश्विनीकुमार | अश्विनीकुमार
त्वाष्ट्र विश्वरूप
त्वाष्ट्र आभूति
अपास्यांगिरस
पथि (सौभरि)
वात्सेनयाद्वाभ्रव
विदर्भी कौंडिन्य
गालव
कुमार हारित
कैशोर काप्य

शांडिल्य प्रथम
वात्स्य
गौतम प्रथम
गौतम द्वितीय
मांटि
आत्रेय
भारद्वाज
आसुरि
|
प्राश्नी पुत्र (आसुरावासी) — औपजंघनि
|
सांजीवी पुत्र — आसुरायण (राथीतरी पुत्र)
|
प्राचीनयोगी पुत्र
|
कार्षकेयी पुत्र
|
वैदभृति पुत्र
|
क्रौंचकी पुत्र

उपर्युक्त प्राश्नी पुत्रसे क्रौंचकीपुत्र तक स्त्री वंशके छः ऋषियोंका आसुरि ऋषिमें अन्तर्भाव हो जाता है। आसुरि ऋषिका नाम तीनों वंशोंमें पाया जाता है।

मधु, याज्ञवल्क्य, और खिलकाण्डमें एक ही ऋषिके अनेक नाम होनेसे शास्त्रकारोंमें मतभेद है। एक ऋषि विभिन्न काण्डोंमें जिस नामसे स्मरण किया गया है उसी क्रमसे यहाँ गुरु परम्परा दी जाती है। आसुरायणसे आगे वंशावलीमें अभेद है केवल नाममें ही भेद पाया जाता है। जैसे राथीतरी पुत्रका नाम स्त्री वंशमें आता है और इसी ऋषिको पुरुष वंशोंमें आसुरायण नामसे स्मरण करते हैं। आगे चलकर दोनों पुरुष वंशोंमें भी नाम-परम्परामें थोड़ा सा भेद पड़ जाता है।

अभेद दृष्टिसे राथीतरी पुत्र आसुरायणसे पौतिमाषी पुत्र तक स्त्री वंशकी निम्न गुरु वंशावली बनती है। इन्हींके पुरुष वंशोंमें प्रचलित विभिन्न नाम भी दिखलाते हैं—

खिल काण्ड (स्त्री वंश) में ऋषियों के नाम	*याज्ञवल्क्य काण्डमें ऋषियोंके नाम*	*मधु काण्डमें ऋषियोंके नाम*
राथीतरी पुत्र	दोनों पुरुष वंशमें इन्हें	आसुरायण कहते हैं।
शांडली पुत्र	,, ,, ,,	जातूकर्ण्य ,, ,,
माङ्कली पुत्र	,, ,, ,,	पाराशर्य ,, ,,
मांडूकायनी पुत्र	,, ,, ,,	पाराशर्यायण ,, ,,
जायन्ती पुत्र	,, ,, ,,	घृत कौशिक ,, ,,
आलम्बी पुत्र	,, ,, ,,	कौशिकायन ,, ,,
आलम्बायनी पुत्र	सायकायन	वैजपायन कहते हैं

सांकृती पुत्र	कापायन	पाराशर्य द्वितीय	कहते हैं
शौंगीपुत्र	सौकरायन	भारद्वाज ,,	,, ,,
आर्तभागी पुत्र	माध्यंदिकायन	पाराशर्य तृतीय	,, ,,
वार्कारुणी पुत्र	जावालयन	भारद्वाज ,,	,, ,,
वार्कारुणीपुत्र द्वितीय	उद्दालकायन	भारद्वाज चतुर्थ	,, ,,
पाराशरी पुत्र	गार्ग्यायण	भारद्वाज पंचम	,, ,,
वात्सी पुत्र	पाराशर्यायण	पाराशर्य तृतीय	,, ,,
पाराशरीपुत्रद्वितीय	सैतव	प्राचीनयोग	,, ,,
भारद्वाजी पुत्र	गौतम तृतीय	गौतमं तृतीय	,, ,,
गौतमी पुत्र	गार्ग्य	अनभिम्लात	,, ,,
आत्रेयी पुत्र	,,	,,	,, ,,
काण्वीपुत्र	अग्निवेश	अग्निवेश	,, ,,
वैयाघ्री पुत्र	दोनों पुरुप वंशमें	गौतम चतुर्थ	कहते हैं
आलम्वी पुत्र	,, ,, ,,	कौशिक	,, ,,
कौशिकी पुत्र	,, ,, ,,	शांडिल्य	,, ,,
पाराशरी पुत्र	,, ,, ,,	कौंडिन्य	,, ,,
औपस्वस्ती पुत्र	,, ,, ,,	कौपिक	,, ,,
पाराशरी पुत्र	,, ,, ,,	गौपवन	,, ,,
भारद्वाजी पुत्र	,, ,, ,,	पौतिमाष्य	,, ,,
कात्यायनी पुत्र	,, ,, ,,	गौपवन	,, ,,
पौतिमापी पुत्र	,, ,, ,,	पौतिमाष्य	,, ,,

इस प्रकार हिरण्य गर्भसे लेकर पौतिमापी पुत्र तक गुरु वंशावलीपूर्ण होती है। आसुरि नामक ऋषिके वाद अनेक वंश हो जाते हैं। उन वंश भेदोंका समाधान असम्भव है। आसुरि ऋषिसे पौतिमापी ऋषि तक उनके नाम और संख्याकी विलक्षणताको देखकर कुछ शास्त्रकार स्त्री वंशको अलग स्वीकार करते हैं। और कुछ शास्त्रकार नामोंकी समानता देखकर अभेद मानते हैं। ऐसे ही पुरुषवंशमें भी अग्निवेशसे कौशिकायन ऋषि तक भेद मानते हैं, अन्य अभेद ही मानते हैं। क्योंकि एक ऋषिके अनेक नाम सम्भव हैं। अतः नामोंको देखकर भेद मानना निष्फल है। भेद अभेद दोनों पक्षमें आसुरि नामक ऋषिमें अभेद ही है। अब पक्षको ग्रहण करके स्त्री वंशका निरूपण करते हैं। आसुरि नामक ऋषिसे आगे पौतिमापी पुत्र तक स्त्री वंशका वर्णन कर चुके हैं। अब आगे लेकर आगे स्त्री वंशके ऋषियोंका निरूपण करते हैं।

स्वयंभू ब्रह्मा
विराट भगवान
कावेपय
यज्ञ वचस्
कुश्रि
वात्स्य
शांडिल्य
वाम कक्षायण
माहित्थि
कौत्स
मांडव्य
मांडूकायन
सांजीवी पुत्र

पूर्वोक्त आसुरि ऋपिमें अन्तर्भाव हुए छः ऋषियोंमें सांजीवीपुत्रका नाम है। इसके आगे की गुरु परम्परा पूर्व कथनके अनुसार ही राथीतरी पुत्र आसुरायणसे पौतिमापी पुत्र तक जानना चाहिये।

गुरुदेवने कहा—"हे शिष्य! पौतिमापीसे लेकर स्रीवंशमें जितने ऋपि हैं उन सबका आदि गुरु स्वयंभू ब्रह्मा हैं। उस ब्रह्माको ही हिरण्य गर्भ कहते हैं। कुछ बुद्धिमान पुरुप सूर्यको भी स्री वंशका आदि गुरु कहते हैं। उस प्रक्रियाको भी सुनो। सूर्य भगवान्का तेज मुमुक्षुजनोंको सदा ध्यान करने योग्य है। जो सूर्य भगवान् हम जीवोंके अन्दर स्थित होकर बुद्धिकी सम्पूर्ण वृत्तियोंको धर्मादिमें प्रवर्त करते हैं, जो सूर्य भगवान माया विशिष्ट ईश्वर स्वरूप हैं, हिरण्य-गर्भ स्वरूप, तथा वैश्वानर स्वरूप हैं, जो सूर्य भूमिलोक, अन्तरिक्षलोक तथा स्वर्गलोक स्वरूप हैं, जो ऋग्-यजु-साम वेदत्रयी स्वरूप, जाग्रत स्वप्न सुपुप्ति तीन अवस्था स्वरूप, ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेव स्वरूप और जो प्रणवका अर्थ स्वरूप हैं ऐसे सूर्य भगवानसे अंभिणी नामक देवताने ब्रह्म विद्याको प्राप्त किया। यथा—

सूर्य भगवान
अंभिणी
वाक्
कश्यय नैध्रुवि
शिल्प
हरितकश्यप
वार्पगण असित
जिह्वांवान वाध्योग
वाजस्रवस्
कुश्रि
उपवेशि
अरुण
उद्दालक
याज्ञवल्क्य
आसुरि
आसुरायण
प्राश्नी पुत्र
सांजीवी पुत्र

सांजीवी पुत्रसे आगेकी गुरु वंशावली पीछे कह आये हैं, आगे उसीके अनुसार समझना चाहिये। इस प्रकार सूर्य भगवान तथा स्वयंम्भू ब्रह्मासे निकली हुई दो प्रकारकी ब्रह्म विद्या सांजीवी पुत्रमें आकार एकाकारको प्राप्त होती हैं। जैसे एक पहाड़के दो शिखरोंसे निकली हुई दो नदियोंके दो प्रवाह आगे जाकर

एकाकार हो जाते हैं। वैसे साजीवी पुत्रमें दोनों विद्याएँ एक होती हैं।

वंशावलीकी विलक्षणताको देखकर कोई विद्वान भेद मानते हैं, कोई नहीं मानते हैं। तीनों काण्डोंके अन्तमें एक ही वंशका निरूपण किया गया है। परन्तु मधुकाण्ड आदि उपाधि भेदसे वंशका भेद प्रतीत होता है।

शंका—"उन वंशोंका यदि सर्वथा अभेद ही है तो एक वार वंशावली कहनेसे ही प्रतिवन्ध के निवृत्ति द्वारा विद्याकी प्राप्ति हो सकती थी। तीन वार आपका वंशावली कहना निष्फल है।"

समाधान—"तीन वार वंशका कथन निष्फल नहीं सफल है। क्योंकि जैसे एक ही प्राण जेष्ठ रूपसे तथा श्रेष्ठ रूपसे आराधन किया हुआ भिन्न-भिन्न फलको देता है। वैसे एक ही ऋषियोंका वंश मधुकाण्डमें स्थित नामोंसे स्मरण किया हुआ मधु विद्याके प्रतिवन्धक पाप कर्मकी निवृत्ति द्वारा मधुविद्या रूप फल देता है, वही ऋषियोंका वंश याज्ञवल्क्य कांडमें स्थित नामोंसे स्मरण किया हुआ याज्ञवल्क्य विद्याके प्रतिवन्धक पाप कर्मोंकी निवृत्ति करके याज्ञवल्क्य विद्यारूप फल देता है और वही ऋषियोंका वंश खिलकाण्डमें स्थित नामोंसे स्मरण किया हुआ सर्व विद्याके प्रतिवन्धक पाप कर्मोंको निवृत्त कर सर्वविद्याका दाता है। अतः तीनों काण्डमें ऋषियोंके नामोंका भेद है परन्तु ऋषियोंके स्वरूपमें भेद नहीं है।

वंशावलीमें कहीं कहीं दो गुरुओंका नाम और ब्रह्मा, सूर्य आदि दो सम्प्रदायोंका कथन हुआ है। इससे भी भेद सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ब्रह्मविद्याका प्रवर्तक सूर्य भगवान् स्वयं ब्रह्मासे भिन्न नहीं है। और स्वयंभू ब्रह्मासे विराट भगवान् वस्तुतः भिन्न नहीं। और वैसे ही विराट भगवान्से गुरु ऋषि-मुनि भी भिन्न नहीं, किन्तु उपाधिसे परस्पर भेद प्रतीत होता है। अतः ऋषियोंके स्वरूपका भेद नहीं, नामका भेद है।

अथवा—उन वंशोंमें भेद-अभेद कुछ भी हो, मुमुक्षुजनोंको सभी प्रकारसे उन ऋषियोंका वारम्वार स्मरण करना चाहिए। यदि कभी सर्व ऋषियोंका स्मरण न हो सके तो तीनों वंशोंमें प्रसिद्ध हम सव अधिकारी पुरुषोंका गुरु पौतिमाष्य नामक ऋषिका अवश्य ही, स्मरण करना चाहिए।"

गुरुदेवने आगे कहा—"हे शिष्य! तुम्हारे पूर्व प्रश्नका उत्तर देनेके लिये मैंने गुरु वंशावली तुम्हें सुनाई। अव एक विचित्र इतिहास को सुनाते हैं। जिसके श्रवणसे तुम्हारा संदेह निवृत्त हो जायगा।

कोई एक ऋषि अपने किसी कार्यकी सिद्धिके लिये अश्विनी कुमारोंके पास गया। उन्होंने किसी कारणसे ऋषिकी अवज्ञा की। जिसपर क्रुद्ध होकर ऋषिने कहा—"हे अश्विनी कुमारों! तुम दोनोंने मेरी अवज्ञा की है। पूर्व कृत तुम्हारे सभी पाप कर्मोंको मैं भली प्रकार जानता हूँ। अहंकारके कारण यदि तुम मेरा कार्य नहीं करोगे तो जैसे वादल वृष्टि करता है वैसे ही मैं तुम्हारे सभी पापोंको सवके सामने प्रकट कर दूँगा।"

ऋषिके क्रोध युक्त वचनको सुनकर

अश्विनी कुमारोंने विचार किया--यदि यह ऋषि हमारे पापोंको प्रकट करेगा तो इससे हमारी हानि नहीं, बल्कि जगतमें और कीर्ति होगी। क्योंकि अज्ञानी पुरुषोंके पाप कर्म जब प्रकट होते हैं तो लोक परलोकमें उस अज्ञानी की दुर्गतिको विचार कर लोग उसकी निन्दा करते हैं। आत्मज्ञानीके पाप कर्मोंको देखकर लोक निन्दा नहीं करते वरन उल्टा यह विचार करते हैं कि इस तत्त्ववेत्ता ज्ञानीने इतना उग्र पाप किया तो भी आत्मज्ञानके प्रभावसे उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। इस प्रकार तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषकी लोकमें कीर्ति ही होती है।

ऐसा विचारकर अश्विनीकुमारोंने कहा—"हे ऋषि! क्रूर पुरुषकी तरह हमने ऐसा कौन पाप कर्म किया है? वह पाप कर्म हमने किस प्रकार और किसलिये किया है? उस सम्पूर्ण कथाको हमसे कहो। यदि तुम हमारे गुह्य पाप कर्मोंको नहीं कहोगे तो हम तुम्हारा कार्य नहीं करेंगे। जब हमारे पाप कर्मोंको प्रगट कर दोगे तब तुम्हारा कार्य हम सिद्ध कर देंगे। यह हमारा सत्य वचन है।"

अश्विनीकुमारकी प्रतिज्ञाको सुनकर अपने कार्य सिद्धिके लिये उस ऋषिने कहा—"हिरण्य-गर्भ ब्रह्मासे लेकर पौतिमाषी पुत्र ऋषि तकके शिष्य परम्परामें प्रारम्भसे बारहवीं पीढ़ीमें दध्यङ् अथर्वण नामक मुनि हुए हैं। दैव अथर्वण उनके गुरु हैं। ब्रह्मविद्यासे युक्त, मधुकाण्डके अर्थको जाननेवाले वही दध्यङ् अथर्वण मुनि तुम दोनोंके गुरु थे। उन्होंने तुम्हें वेदका पाठ और अर्थ पढ़ा दिया, परन्तु तुम दोनोंको वैराग्यसे रहित देखकर उन्होंने वेदका उपनिषद् रूप वेदान्त भाग तुम्हें नहीं पढ़ाया और अर्थ सहित वेदका कर्मकाण्ड भाग पढ़ाकर अध्ययन समाप्त कर दिया। गुरुसे जितना पढ़ा था उतना ही त्वाष्ट्र विश्वरूपको भी तुमने बता दिया। उतना ही उन्होंने त्वाष्ट्र आभूति नामक अपने शिष्यको बतलाया। इसी प्रकार यह परम्परा पौतिमाष्य ऋषितक पहुँच गई। वेदोंकी इतनी ही विद्या पौतिमाष्य-ने भी अपने शिष्योंको देकर मनुष्य लोकका गुरु प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार वेद विद्याके सम्प्रदायको प्रवर्तित करके उन दध्यङ् अथर्वण मुनिको ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे महान यश प्राप्त हुआ और वे किसी देशमें आश्रम बनाकर रहने लगे। अपने आश्रममें रहते हुए मुनिजी पक्षपात रहित हो देवता, असुर और मनुष्य सबको समान रूपसे सुखी करते थे। जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता होती उसे उसी वस्तुको सिद्ध करनेका उपाय बतलाकर तद्जन्य सुख-दुःखका उपदेश कर देते थे। यदि कोई स्वर्ग प्राप्तिका उपाय पूछता तो उससे कहते—दर्शपौर्णमास नामक यज्ञ करनेसे अवश्य स्वर्गकी प्राप्ति होगी परन्तु पुण्य क्षय होनेपर स्वर्गसे नीचे गिरनेसे तुम्हें महान कष्ट प्राप्त होगा और फिर उत्तम कुलमें तुम्हारा जन्म होगा। यदि कोई शत्रुको मारने-का उपाय मुनिजीसे पूछता तो कहते—यदि तुम श्येन यज्ञ करोगे तो तुम्हारे शत्रुका मरण हो जायगा। परन्तु इस यज्ञके बाद तुम्हें नरककी प्राप्ति होगी। और जो पुरुष चित्तकी

शुद्धिका उपाय पूछता उससे दध्यङ् मुनि कहते— फलकी इच्छाको परित्याग कर यदि तुम कर्म करोगे तो तुम्हारे चित्तकी शुद्धि होगी। और उसके बाद श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा आत्मज्ञानकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार मुनिजी सभी जीवोंके लिये सर्वदा हितका उपदेश किया करते थे। यदि कभी कोई पुरुष उनके समीप ब्रह्मविद्या प्राप्तिकी इच्छासे जाता तो उससे कह दिया करते थे कि विवेक, वैराग्य, शम-दम आदिक षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता इन साधन चतुष्टयको पहले तुम सम्पादन कर आओ तब हम तुम्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश करेंगे। इस प्रकार हित उपदेशके कारण दध्यङ् मुनिकी कीर्ति तीन लोक और दशों दिशाओंमें फैल गई।

हे अश्विनी कुमारो! यद्यपि दध्यङ् मुनि-का सभी प्राणियोंपर समान स्नेह और कृपा रहती थी तथापि तुम दोनों उनके शिष्य थे इसलिये तुमपर विशेष स्नेह था। स्नेह युक्त होकर तुम दोनोंने ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये गुरुसे कई बार प्रार्थना की, तो भी विषयोंमें तुम्हारी आसक्तिको देखकर दध्यङ् मुनिने तुम्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं दिया और विवे-कादिक साधन चतुष्टय पर दृढ़ता करानेके लिये तुम दोनोंसे बारम्बार यही कहते थे कि जैसे बिना समयकी वर्षा निष्फल होती है, सूर्यके समीप दीपक निष्फल होता है, भोजनके बिना पचे दूसरा भोजन निष्फल होता है, इच्छा रहित पुरुषको कोई वस्तु देना निष्फल है वैसे ही विवेकादि साधन चतुष्टयसे रहित पुरुषको उपदेश की हुई ब्रह्मविद्या निष्फल होती है। अतः ब्रह्मविद्याके लिये विवेकादिकका सम्पादन करो। यही तुम दोनोंके लिये दध्यङ् मुनिका उपदेश था।"

कुछ रुककर पुनः ऋषि बोला—"एक समयकी बात है कि सुन्दर रूप और आयुर्-विद्याके अभिमानसे तुम दोनोंने किसी प्रकार देवराज इन्द्रकी अवज्ञा कर दी। अपमानको देखकर इन्द्रने तुम्हारे यज्ञ भागको बन्द कर देनेका आदेश दिया। और तीनों लोकोंमें प्रचारित करवा दिया कि दोनों अश्विनीकुमार अशुद्ध हैं। अशुद्ध पुरुषोंको यज्ञका भाग नहीं देना चाहिए। उस दिनसे सबने यज्ञ भाग देना बन्द कर दिया।

इस प्रकार यज्ञ भागसे रहित होकर तुम लोग बहुत क्रोधित हुए और अपने गुरु दध्यङ् मुनिके पास जाकर कहा—"गुरुदेव! आजसे इन्द्रने हम दोनोंका यज्ञ भाग बन्द कर दिया है। हम लोगोंको क्या करना चाहिये। आप बतलानेकी कृपा करें। यदि आप आज्ञा दें तो हम दोनों युद्ध करके इन्द्रको पराजित करनेमें भी समर्थ हैं। इसमें किंचितमात्र भी सन्देह नहीं है। परन्तु आपकी आज्ञाके बिना हम युद्ध नहीं कर सकते। आप हमारी शक्ति पर सन्देह न करें। गुरुदेव! हमारा सामर्थ्य महान है। तीन लोक सहित ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा सम्पूर्ण देवताओं सहित इन्द्रको हम दोनों मेंसे एक ही जीतनेमें समर्थ है। फिर हम दोनों मिलकर क्या नहीं कर सकते हैं। क्योंकि हम संजीवनी विद्या हम जानते हैं। किसी अस्त्र शस्त्र और व्याधिसे हमारी मृत्यु नहीं हो सकती।

देवता असुर और मनुष्य द्वारा की हुई माया भी हमें स्पर्श नहीं कर सकती। स्थावर, जंगम आदि सभी विष हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं। मारक औषधि, तन्त्र, मन्त्र, भूत, पिशाचादि तथा श्येन यज्ञ एवं ब्राह्मणोंके शाप ये सब हमें स्पर्श नहीं कर सकते हैं। क्योंकि आपकी कृपा और स्वभावसे ही हम सिद्धियुक्त हैं। सम्पूर्ण माया आदिके निवृत्तिका उपाय हम जानते हैं। इसलिये हमें जीतनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। हे गुरुदेव! युद्धके विना भी हम देवताओंको जीत सकते हैं। क्योंकि यदि हम स्वर्गमें बहनेवाली गंगाके जलमें औषधि डाल दें तो क्षण भरमें ही सम्पूर्ण देवता मर जायेंगे। मंत्र प्रयोगसे इन्द्र सहित समस्त देवताओंके चित्तको स्वर्गसे विरक्त करने में, इन्द्र सहित देवताओंको स्वर्गसे भूमि पर गिराने में, मोहयुक्त करके देवताओंसे कुकर्म कराकर भ्रष्ट करनेमें हम पूर्ण समर्थ हैं।"

तुम्हारे वचनोंको सुनकर दध्यङ् मुनि कुछ देर तक विचार मग्न रहे फिर बोले—"अश्विनीकुमारों! सर्व शत्रुओंको नाश करनेमें समर्थ होकर क्रोध रूप शत्रुके वशमें मत हो। जैसे बाहरी शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ हो वैसे ही काम क्रोध आदिक भीतरी शत्रुओंको भी जीतने में समर्थ होना चाहिए। इन्द्र अथवा अन्य कोई तुम्हारा शत्रु नहीं, यह क्रोध ही तुम्हारा शत्रु है।"

अश्विनीकुमारने शंका की—"हे भगवन! क्रोधका कौन सा अपराध है जिसके कारण आप उसे शत्रु कहते हैं?"

दध्यङ् मुनिने उत्तर दिया—"देवताओं द्वारा पूज्यनीय इन्द्रको नाश करनेकी तुम्हारे अन्दर प्रवृत्ति केवल क्रोधके प्रभावसे ही हुई है। क्रोध के विना किसी बुद्धिमान पुरुषकी ऐसे निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु क्रोधके कारण ही जीव गुरु आदि वृद्ध पुरुषोंका तिरस्कार करता है। इस समय तुम्हें इन्द्रको जीतनेकी इच्छा उत्पन्न हुई। विचार कर स्वयं देखो, इस इच्छामें कौन कारण है? क्रोधके सिवा और कोई कारण नहीं मिलेगा। अतः क्रोध ही तुम्हारा परम शत्रु है।"

"हे अश्विनी कुमारों! सम्पूर्ण शत्रुओंके राजा काम-क्रोधके अनुचर-किंकर इन्द्रियादिकों को विना जीते देव शरीरकी प्राप्ति नहीं होती है। काम क्रोधादिको जीतनेवाला ही देवता शरीर प्राप्त करता है। इससे यह ज्ञात होता है कि पूर्व जन्ममें तुम दोनोंने काम क्रोधादि राजाओं को जीता है। जिसके कारण यह देवता शरीर तुम्हें मिला है। जिस सामर्थ्यसे तुमने पहले काम क्रोधादिको जीता था, वह सामर्थ्य कहाँ गया? मैं तो अपने मनमें ऐसा जानता हूँ कि जैसे कोई राजा किसी अन्य राजाको जीत ले और कुछ काल बाद वह राजा अपने पिछले वैर को स्मरण करके पुनः उस राजाको जीत कर अपना राज्य वापस ले ले। वैसे ही पूर्व जन्म में तुमने काम क्रोधादिको जीता था। अब वही क्रोध रूप राजा अपनी इन्द्रियादिक सेनाको लेकर तुम्हें जीतने के लिये स्वर्गमें आया है। हे अश्विनी कुमारों! जब तुम क्रोधको जीतनेमें समर्थ न हो सके तब इन्द्रको कैसे जीत सकते

हो ? इन्द्रको जीतनेका सामर्थ्य तुम दोनोंमें नहीं है।"

देवताओंकी सभामें तुम दोनोंको कामरूप शत्रुके वशमें देखकर ही देवराज इन्द्रने वचन-रूपी बाणोंसे तुम्हारा ताड़न किया। जिस पुरुषमें कोई कामना नहीं, ऐसे ब्रह्मज्ञानीके लिये सम्पूर्ण जगत आत्मास्वरूप है। अतः उसका कोई ताड़न नहीं करता है। कामनावाले पुरुषका ही जहाँ-तहाँ निरादर होता है।

काम भी अनर्थ करनेवाला है। क्रोधकी तरह इसे भी स्पष्ट करके दिखलाते हैं—देवराज इन्द्र पहले तुम दोनोंका निरादर क्यों नहीं करता था ? और इस समय किस कारण निरादर किया ? इस प्रकारके विचारसे तुम दोनों रहित हो। तुम्हारे निरादरमें कामके सिवा और कारण नहीं। जबतक तुममें काम नहीं था तब तक देवराज इन्द्रने तुम्हारा निरादर नहीं किया। और जब तुम्हारे अन्दर कामकी उत्पत्ति हुई तभी तुम्हारा इन्द्रने निरादर किया। अतः काम ही निरादरका कारण है। एक कामरूप शत्रुने देवताओंकी सभामें तुम्हारा निरादर कराया है और जब तुम उस कामको नहीं जीत सके तब फिर सर्व देवताओं सहित इन्द्रको कैसे जीतोगे ?

पहले एक कामशत्रुने तुम्हारा अपमान कराया और अब क्रोधरूपी पुत्रको साथ लेकर वह कितना अनर्थ करेगा ! इसलिये समस्त देहधारी जीवोंके काम, क्रोध ही परमशत्रु हैं। जो पुरुष काम-क्रोधरूप अन्तरके शत्रुओंकी उपेक्षा करके बाहरके राजा आदि शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करता है वह अत्यन्त मूर्ख है। इसलिये यदि तुम्हारे अन्दर शत्रुओंको जीतनेका सामर्थ्य है तो काम-क्रोधादि बलवान शत्रुओंको जीतो। जिनका प्रभाव जगत विख्यात है। उत्पत्ति, पालन एवं संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेशको भी इस कामने जीत लिया है तब फिर स्त्रियोंके क्रीड़ामृग अन्य देवताओंकी क्या गिनती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्राणीमात्रको जीतनेकी सामर्थ्य इस काममें है। यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, महेश कामके अधीन नहीं हैं, तथापि सर्वत्र कामके प्रभावको जनानेके लिए ये त्रिदेव भी लीलामात्रसे कामको धारण करते हैं। वास्तवमें ये कामसे रहित हैं।

हे अश्विनीकुमारो ! देहधारी जीवोंका शत्रु काम ही जीतने योग्य है। परन्तु तुमने कामको नहीं जीता, उल्टा कामने ही तुम्हें जीत लिया है। इस कामदेवसे भी क्रोध अतिशय बलवान है। इसलिये क्रोधको जीतनेके लिए अत्यन्त यत्न करना चाहिये। अनन्त प्रकारके उपायोंसे मुनि लोग कामदेवको अपने वशमें करते हैं। परन्तु कामका पुत्र क्रोध तो मुनियोंसे भी अजेय है। ये पिता-पुत्र दोनों अत्यन्त शूरवीर सम्पूर्ण जगतको जीतकर शोभायमान हैं। तुम्हें पहले इन दोनों शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेनेके बाद इन्द्रको जीतनेका उद्यम करना चाहिए।"

ऋषि बोला—हे अश्विनीकुमार ! तुम्हारे गुरु दध्यङ् मुनिने इस प्रकार वैर निवृत्तिके लिये उपदेश किए, तथापि क्रोधाग्निसे तप्त तुम दोनोंको इससे शान्ति नहीं मिली। इसके बाद मुनिने साम-भेद रूप उपायोंको त्यागकर तुम

दोनोंको शान्त करनेके लिये उपप्रदान रूप युक्तिको अंगीकार किए। तात्पर्य यह कि साम-भेद, उपप्रदान और दण्ड इन चार उपायोंसे लोकमें प्राणी वशमें होते हैं। प्रिय वचनोंसे क्रोधादिकोंकी निवृत्तिको साम कहते हैं। अन्य शत्रुके पक्षपातसे निवृत्त करके अपने पक्षमें लाने को भेद कहते हैं। मनवांछित पदार्थोंको देनेकी प्रतिज्ञाको उपप्रदान कहते हैं। और ताड़ना दण्ड है। प्रथम दो उपायोंके निष्फल होनेपर मुनिजीने तीसरी युक्तिका प्रयोग किया—

दध्यङ् मुनिने कहा—"हे अश्विनी-कुमारो! ब्रह्मविद्याके लिये तुम दोनोंने पहले प्रार्थना की थी। यदि तुम सभी प्राणियोंमें वैर भावका परित्याग कर दो तो तुम्हें मैं ब्रह्मविद्याका उपदेश देनेके लिए तैयार हूँ।"

ऋषि बोला, गुरुके वचन सुनकर तुम दोनोंने कहा—"गुरुदेव, यह समय साम-भेद और उपप्रदानरूप उपाय करनेका नहीं है। क्योंकि आपने पहले ही कई बार कह दिया है कि विवेकादिक साधन चतुष्टयका सम्पादन करो तभी तुम्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश दूँगा। इसलिये ब्रह्मविद्याके लोभसे हम इन्द्रके साथ वैरका त्याग नहीं कर सकते। कृपा कर हमें युद्ध करनेकी आज्ञा दीजिये। एक क्षणमें ही इन्द्र सहित देवताओंको हम जीत लेंगे, इसमें रंचमात्र भी सन्देह न करें।"

ऋषि बोला—इस प्रकार उपप्रदानके विफल होनेपर दध्यङ् मुनि दण्डरूप चतुर्थ उपायका प्रयोग करते हुए बोले—"हे कुमारो! यदि कोई आदमी पांच प्राणियोंका पालन करता है तो वह ईश्वरस्वरूप है। ऐसे पुरुषको मारनेवाला ईश्वर सहित पंचभूत स्वरूप सम्पूर्ण विश्वका हनन करनेके समान पापका भागी होता है। फिर तीन लोकोंको पालन करनेवाले इन्द्र-को मारना कितना बड़ा पाप है। उपकार करने-वाले अपने स्वामीका हनन करके अधम पुरुष मानो अपने कुटुम्ब सहित माता-पिताका हनन करता है। सभी पापोंका प्रायश्चित शास्त्रोंमें लिखा है परन्तु कृतघ्नता जैसे पापके निवृत्ति का उपाय नहीं है। अपने स्वामीके साथ द्रोह करनेवाला पुरुष अत्यन्त अधम है। ऐसा कृतघ्न पापी कोटि कल्पोंतक भी नरकसे मुक्त नहीं होता है। जब परिवार और नगरका पालन करनेवाला गृहपति और राजा अवध्य है तब फिर देवराज इन्द्र कैसे मारने योग्य हो सकता है। अतः इन्द्र मारने योग्य नहीं है। हे अश्विनीकुमारो! जैसे सरसे मारकर पहाड़ नहीं फोड़ा जा सकता तैसे ही सर्वदेवता तथा दश लोकपालोंको जीते विना इन्द्रको जीतनेमें कोई भी देवता दानव समर्थ नहीं है। तुम दोनोंमें जो कुछ भी सामर्थ्य है वह इन्द्रादि देवताओंके अनुग्रहसे ही है। इन्द्रके कुपित होनेपर तुम दोनों काष्ठकी तरह सामर्थ्यरहित हो। १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र और ४९ मरुतोंको तुम दोनों कैसे जीतोगे? तुम्हारा सामर्थ्य उनके सामने नगण्य है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा सम्पूर्ण ग्रह, नक्षत्र, तारागण, मुनि, सिद्ध, चारण आदि सम्पूर्ण विश्व इन्द्रके पक्षमें हैं। तुम्हारे पक्षमें कोई नहीं है। देवराज इन्द्र से युद्ध करनेके पहले तुम्हें इन्द्र, अग्नि, यम

रत्त, वरुण, प्रभंजन, धनेश, ईश्वर, शेष, ब्रह्मा इन १० लोकपालोंसे युद्ध करना पड़ेगा। सम्पूर्ण विश्व इन्द्रके लिए तुमसे लड़ेगा। और इन सबको जीतनेमें तुम असमर्थ हो इसलिए इन्द्रके साथ युद्ध करनेकी इच्छाका त्याग कर दो।

हे कुमारो! जहाँ युद्ध करनेके विना कार्य सिद्ध न हो वहाँ युद्ध करना उचित भी है। परन्तु वह भी वल, बुद्धि और सहायकोंमें जो समान हो उसीके साथ युद्ध करना चाहिये। यह देवराज इन्द्र हर प्रकारसे तुमसे अधिक सामर्थ्यवाला है। इन्द्रके समक्ष तुम्हारी अल्पता को दिखलाते हैं—स्वर्गमें इन्द्रके समीप रहनेवाले प्रत्येक देवता जगतकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेमें समर्थ हैं। ऐसे अनन्त देवता इन्द्रके सहायक हैं। तुम दोनों एक देवता के भी वरावर नहीं हो। इन्द्रसे द्वेष करना स्वर्गसे नीचे गिरनेका कारण है। यदि स्वर्गमें रहना चाहते हो तो द्वेषका त्याग करो।

ऋषि बोला—इस प्रकार दध्यङ् मुनिके वचन द्वारा ताड़ित होने पर भी तुम दोनोंने उनके हित उपदेशको अंगीकार नहीं किया। यज्ञभागकी अप्राप्ति और अपमानसे दग्धहृदय तुम दोनोंने पुनः गुरुदेवसे कहा—"इन्द्रके साथ युद्ध करनेमें यदि हमारा मरण हो अथवा नरक प्राप्ति हो, यह हमें स्वीकार है, परन्तु कृपाकर आप हमें युद्ध करने की आज्ञा दीजिये।"

यज्ञ भागकी पुनः प्राप्तिरूप तुम्हारे अभिप्रायको समझकर कृपायुक्त दध्यङ्मुनिने कहा—"किसी प्रकार भी युद्ध करना उचित नहीं। क्योंकि युद्धमें निम्नलिखित दोष हैं—१-हमारी जीत होगी अथवा शत्रुकी होगी इस प्रकारका संशय। २—श्रेष्ठ पुरुषोंका नाश। ३—योद्धाओंको विना शस्त्राघात और वान्धव नाशके विजय नहीं मिलती। ४—पराजय होने पर परमनिन्दा। जिस युद्धमें मरणसे नरक प्राप्ति और जीवित बच जाने पर अपकीर्ति, वान्धव और देवताओं का नाश हो ऐसे अधर्म युद्धसे दूर ही रहना अच्छा है। हे अश्विनीकुमारो! इस क्षण भंगुर संसारमें अधिकारी शरीरको पाकर आत्मज्ञान ही सम्पादन करना चाहिये। आत्मज्ञानसे भिन्न सम्पूर्ण युद्धादिक कर्म पुरुषोंके अहितके साधन हैं। अतः इन्द्रके साथ युद्ध करना लोक-परलोक दोनोंमें तुम्हारे लिये दुःखका कारण है।"

शंका—"आप सब प्रकारसे युद्धका निषेध करते हैं यह ठीक नहीं। क्योंकि युद्ध शास्त्रमें अनेक प्रकारसे युद्ध करनेकी विधि लिखी हुई है। क्या शास्त्र व्यर्थ है।"

समाधान—"युद्ध शास्त्र व्यर्थ नहीं है। शास्त्र वहाँ युद्ध करने का आदेश देता है जहाँ युद्धके विना मृत्यु निश्चित हो और युद्धमें जीनेकी सम्भावना हो। ऐसी स्थितिमें युद्ध करना चाहिये। तुम दोनोंमें ऐसा कोई कारण नहीं है किन्तु युद्धके विना ही तुम्हारा कार्य सिद्ध हो सकता है। इसलिये हे कुमारों, युद्धकी इच्छाका त्यागकर पुनः यज्ञभागकी प्राप्तिका उपाय अपनी बुद्धिसे निश्चय करो। इस स्थूल शरीरके पराक्रमसे बुद्धिका पराक्रम अधिक है।

क्योंकि पुरुष द्वारा चलाया हुआ शस्त्र किसी एक शत्रुको मारता है और कभी-कभी एकको भी नहीं मारता परन्तु नाना प्रकारके उपायोंको निश्चय करनेवाली बुद्धि रूपी अस्त्र बुद्धिमान पुरुषों द्वारा चलाया हुआ सम्पूर्ण जगतको जीत लेता है। जो कार्य कोटि जन्मोंके युद्धसे सिद्ध नहीं हो सकता वह कार्य बुद्धिके पराक्रमसे अल्पकालमें सिद्ध हो जाता है। बुद्धि द्वारा निश्चय किया हुआ उपासना रूप उपायसे पुरुष हिरण्यगर्भके लोकको भी प्राप्त कर सकता है। अतः बुद्धि द्वारा पुनः यज्ञ भागको प्राप्त करो।"

अश्विनी कुमारोंने कहा—"हे भगवन! युद्धके सिवा दूसरा कोई उपाय हम नहीं जानते जिससे यज्ञ भाग प्राप्त करें।"

गुरुदेवने कहा—"युद्ध द्वारा कार्य सिद्धि नहीं, यह निश्चय है। हम तुम्हें एक सुगम उपाय बतलाते हैं। सावधान होकर सुनो। हे अश्विनीकुमारों! शर्याति राजा अपने जमाता च्यवनको होता बनाकर यज्ञका उद्यम कर रहे हैं। च्यवन नेत्रोंसे रहित वृद्ध हैं। तुम उन्हें नेत्रयुक्त करके युवा बना दो। च्यवन ऋषि समर्थ हैं। सन्तुष्ट होकर तुम्हारा यज्ञ भाग पुनः दिला देगें।

गुरुकी आज्ञा मानकर तुम लोगोंने च्यवन ऋषिको नेत्र और युवावस्थासे सम्पन्न कर दिया। फलस्वरूप उन्होंने बलात् तुम्हारा यज्ञ भाग दिलवाया। यह वार्ता भागवतके दशम स्कन्धमें विस्तारसे कही गई है।

ऋषिने पुनः कहना प्रारम्भ किया—"हे अश्विनीकुमारों! कुछ कालके बाद तुम्हारे गुरु दध्यङ् अथर्वणके आश्रममें देवराज इन्द्रका आगमन हुआ। मुनिजीने देवराजका बहुत स्वागत सम्मान किया। सुखासनसे विराजमान इन्द्रसे दध्यङ् मुनिने कहा—"तीनों लोकोंका पति इन्द्र हमारे आश्रममें अतिथि रूपसे आये हैं। आपकी प्रसन्नताके लिये कौन पदार्थ उपस्थित करूँ?"

तुम्हारे गुरुकी बातें सुनकर इन्द्र बोले—"हे मुनि! यदि आप हमारी प्रसन्नताके लिए कुछ करना चाहते हैं तो सर्व प्राणियोंके लिए दुर्लभ ब्रह्मविद्याका मुझे उपदेश दीजिए।"

इन्द्रकी याचनाको सुनकर दध्यङ ऋषिको संशय उत्पन्न हुआ कि इन्द्रको ब्रह्मविद्या देनी चाहिए अथवा नहीं। जैसे कन्या देनेकी प्रतिज्ञा करके पुनः वरमें अवगुण देखकर कन्या देनेमें पिताको संदेह होता है वैसे ही इन्द्रको प्रिय पदार्थ देनेकी प्रतिज्ञा करके पुनः दध्यङ्मुनि सन्देह करने लगे कि यह देवराज इन्द्र ब्रह्मविद्याका अधिकारी है अथवा नहीं। क्योंकि इन्द्र विषयों में आसक्त तथा गुरु भक्तिसे रहित है। अनधिकारीको दी हुई ब्रह्मविद्या निष्फल होती है। परन्तु अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिए इन्द्रको अवश्य ही ब्रह्मविद्या देनी चाहिए। ऐसा निश्चय कर दध्यङ्मुनि इन्द्रसे बोले—"हे देवराज! अश्विनी कुमार नामक हमारे दो शिष्य लोक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने भी ब्रह्मविद्याकी याचना की थी। परन्तु उन्हें वैराग्यादि साधन चतुष्टयसे रहित देख मैंने ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं दिया। ऐसी दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश मैं तुम्हें करता हूँ। ध्यान पूर्वक सुनो।

हे देवराज इन्द्र! जैसे सुख शब्दका मुख्य अर्थ आत्मा स्वरूप आनन्द है और इससे भिन्न विषय जन्य आनन्द सुख शब्दका गौण अर्थ है, वैसे ही विद्या शब्दका भी मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या ही है और ब्रह्मविद्यासे भिन्न दूसरी विद्या, विद्या शब्दका गौण अर्थ है। अब ब्रह्मविद्यामें विद्या शब्दकी मुख्यार्थता दिखलाने के लिये पहले विद्याके अर्थको दिखलाते हैं—कार्य रूपसे अनन्त रूपोंको प्राप्त हुआ, वासना रूपी जालका मूल रूप और सर्व प्राणियोंको भय देने वाले अज्ञानको जो समूल नाश करे उसीका नाम विद्या है। अथवा, विवेक वैराग्य आदि साधन सम्पन्न अधिकारियोंको आनन्द स्वरूप आत्मा जो प्रदान करे उसीका नाम विद्या है। अथवा, अधिकारियोंको जो आत्माका साक्षात्कार करा दे उसे विद्या कहते हैं। इस प्रकार विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्यामें ही घटता है। इससे भिन्न अन्य विद्याओंमें यह अर्थ नहीं घटता है। क्योंकि ब्रह्मविद्या ही पुरुषोंके अज्ञानकी निवृत्ति और आनन्द स्वरूप आत्मा की प्राप्ति कराती है।" इस प्रकार विद्याके अर्थ को निरूपण करके दध्यङ्मुनिने कहा—"वेदान्त शास्त्र द्वारा प्रतिपादन करने योग्य ब्रह्मपुरुष अपने सत्-चित्-आनन्द रूपसे सम्पूर्ण जगतको व्याप्त कर रहा है। इस कारणसे यह ब्रह्म नामक पुरुष पूर्ण संज्ञाको प्राप्त होता है। सर्वज्ञ शब्द का अर्थ और सर्वज्ञ शब्द जन्य ज्ञानका विषय "तत्पद्" का अर्थ ईश्वर है। अल्पज्ञ शब्द का अर्थ तथा अल्पज्ञ शब्द जन्य ज्ञानका विषय 'त्वंपद्' का अर्थ जीव है। इन दोनोंको तुम परमात्माके सत्-चित्-आनन्द स्वरूपसे पूर्ण जानो।"

शंका—"आत्माके भेदका कारण प्रपंच उपाधिके विद्यमान रहने पर परमात्माकी सर्वत्र पूर्णता सम्भव नहीं है।"

समाधान—यदि प्रपंच आनन्द स्वरूप आत्मासे भिन्न हो तो वह आत्माके भेदको उत्पन्न करेगा, परन्तु आनन्द स्वरूप आत्मा अधिष्ठानसे प्रपंच भिन्न नहीं बल्कि पूर्ण परमात्मासे ही यह प्रपंच उत्पन्न होता है और पूर्ण परमात्मामें ही सम्पूर्ण जगत स्थित है और उसमें ही लीन हो जाता है। अधिष्ठान आत्मा की सत्तासे भिन्न जगतकी सत्ता नहीं, इसलिये सम्पूर्ण जगत अधिष्ठान रूप आत्मामें कल्पित है। जैसे रज्जु रूप अधिष्ठान ही शेष रहता है, वैसे ही अधिष्ठान रूप आत्माका साक्षात्कार होने पर सम्पूर्ण कल्पित प्रपंचकी निवृत्ति हो जाती है। और अन्तमें पूर्ण परमात्मा ही प्रपंच रूप उपाधिसे रहित हुआ स्थित रहता है। जैसे वर्षाकालमें मेघोंकी आकाशमें ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है और मेघोंके निवृत्त होनेपर अन्तमें एक आकाश ही शेष रूपसे रहता है, तैसे कल्पित प्रपंचके निवृत्त होनेपर अन्तमें एक अद्वितीय परमात्मा ही शेष रहता है। जैसे आकाश सर्वत्र पूर्ण है तैसे आनन्द स्वरूप आत्मा भी सर्वत्र पूर्ण है। जैसे शरीर आदि अनात्म पदार्थ भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालोंमें एक स्वभाव वाले न होकर बाल्य, यौवन, वृद्धादिक स्वभावोंको प्राप्त होते हैं तैसे यह आनन्द स्वरूप आत्मा नाना स्वभावोंको प्राप्त

नहीं करता किन्तु तीनों कालोंमें एक स्वभाव वाला सत्-चित् आनन्द स्वरूप रहता है। ऐसे निर्गुण परमात्माके वास्तव स्वरूपको शुद्ध अन्तःकरण वाले विद्वान पुरुष ही अनुभव करते हैं। मलिन अन्तःकरण वाले पुरुष आत्माके वास्तव स्वरूपको नहीं जान सकते।"

देवराज इन्द्र बोले—"हे भगवन! विद्वानों द्वारा अनुभव गम्य उस आत्माके वास्तव स्वरूप-को घट-पटादिकी तरह "यह है" ऐसा करके मुझे बतलाइए।"

दध्यङ् मुनिने कहा—"हे देवराज! यह आनन्द स्वरूप आत्मा वास्तवमें असंग, निर्गुण तथा जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लयसे रहित है। अतः ऐसे निर्गुण परमात्माको घटादिकोंकी तरह "यह है" इस रूपसे बोधन करनेमें कोई भी विद्वान समर्थ नहीं है। परन्तु ऐसे निर्गुण परमात्मामें जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लयके आरोपण द्वारा शिष्यको उस ब्रह्मका उपदेश गुरु करते हैं। प्रपंचके अध्यारोप अपवादके बिना साक्षात निर्गुण परमात्माको बतलानेमें कोई भी समर्थ नहीं है। क्योंकि यह निर्गुण परमात्मा स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप है। इसलिये बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भी नहीं जाना जा सकता है। ऐसे ही अन्तर्मन बुद्धि आदि तथा अन्य किसी प्रमाणसे भी नहीं जाना जा सकता है। ऐसे मन, वाणीके अविषय निर्गुण परमात्मा में जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लय किस प्रकार सम्भव है? इस प्रकारके विचारोंसे युक्त महात्मा-ओंने जगतकी उत्पत्तिकी सिद्धिके लिये उस निर्गुण परमात्मामें मायाकी कल्पना की है। वह माया अज्ञानसे भिन्न नहीं। किन्तु "मैं अज्ञानी हूँ" इस अनुभवसे सिद्ध अज्ञान स्वरूप ही माया है। उस अज्ञान रूप मायाको यह परमात्मा ही प्रकाश करता है। इसलिये वह अज्ञानरूप माया सम्पूर्ण परमात्माको आच्छादन नहीं करती, किन्तु परमात्माके किंचित देशको आच्छादित करती है। और यदि सभी ओरसे माया परमात्माको आच्छादन करे तो अस्ति, भाति, प्रिय रूपसे आत्माका भान नहीं होना चाहिए। और सर्व प्राणियोंको "मैं सर्वदा विद्यमान हूँ" इस प्रतीतिमें 'अस्ति' रूपसे परमात्माका भान होता है, "मैं भासता हूँ" इस प्रतीतिमें 'भाति' रूपसे परमात्माका भान होता है और "मैं कभी भी अप्रिय नहीं हूँ" इस प्रतीतिमें 'प्रिय' रूपसे परमात्माका भान होता है। इसलिये यह आनन्द स्वरूप परमात्मा पुरुष अपने स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूपके द्वारा सम्पूर्ण बुद्धि आदिक जड़ पदार्थोंका द्रष्टा है और सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदसे रहित है। ऐसे स्वतः सिद्ध आनन्द स्वरूप परमात्माके साक्षात् बोधन करनेमें कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है। अब इसी अर्थको और स्पष्ट करके दिख-लाते हैं—शब्द, स्पर्श आदिक विषयोंके अनुभव-से उत्पन्न सुखको अनुभव कर्ता पुरुष जब किसी अन्य पुरुषको बतलाता है तब किसी दृष्टान्तके द्वारा ही अपने सुखका कथन करता है। दृष्टान्तके बिना विषय सुखका अनुभव नहीं कहा जा सकता। जब विषयजन्य सुखको कोई पुरुष साक्षात नहीं कह सकता तब अलौ-किक आनन्दरूप आत्माको साक्षात् कहनेमें कौन समर्थ हो सकता है।"

दध्यङ् मुनिने कहा—"हे देवराज इन्द्र! उस निर्गुण परमात्मामें जगतका अध्यारोप करके मैं तुम्हें आनन्द स्वरूप आत्माका उपदेश करता हूँ। यदि तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा तो आप ही तू परमात्माके स्वरूपको जान जायगा।

परमात्मामें जगतका अध्यारोप दिखलाते हैं—

इस अनादि संसारमें जैसे रात्रि दिनका प्रवाह निरन्तर विद्यमान है वैसे ही जगतकी उत्पत्ति और प्रलयका प्रवाह निरन्तर वर्तमान है। जैसे रात्रि और दिनके मध्य कालको लोकमें सन्ध्या कहते हैं वैसे ही जगतके उत्पत्ति और नाशके मध्यकालको शास्त्रोंमें स्थिति कहा गया है।

जगतका स्वरूप दिखलाते हैं—

यह सम्पूर्ण जगत नाम, रूप, क्रिया स्वरूप है। विश्व, लोक, दृश्य, प्रपंच इस प्रकारके शब्दोंको नाम कहते हैं आकाश आदि पंचभूत तथा पंचभूतोंके कार्य शरीरादिक व्यक्तियोंको रूप कहते हैं और जगतकी उत्पत्ति और संहारको क्रिया कहते हैं।

प्रत्येक घट पटादिक पदार्थोंमें नाम, रूप, क्रिया स्वरूपता दिखलाते हैं—जैसे एक "घट" का घट, कुम्भ, कलश यह नाम है। उदर बड़ा, मुख छोटा, यह घटका रूप है और जल तैलादिकोंका आनयन यह घटकी क्रिया है। इसी प्रकार सभी पदार्थोंमें नाम-रूप-क्रिया जान लेनी चाहिए।

नाम रूप क्रियाका परस्पर अभेद दिखलाते हैं—

जैसे पटादि पदार्थ कभी नवीन, कभी जीर्ण अवस्थाको प्राप्त होते हैं। यह नवीन-जीर्ण अवस्था पटादि पदार्थोंसे भिन्न नहीं, किन्तु पटादिकोंका स्वरूप ही है। तैसे आनयनादिक क्रिया भी घटादिक पदार्थोंकी अवस्था विशेष है। इसलिये घटादि वस्तुके स्वरूपसे क्रिया भिन्न नहीं, किन्तु स्वरूप ही क्रिया है। और वह घटादिकोंका रूप घटादिक नामोंसे भिन्न नहीं क्योंकि घटादिक नामोंके बिना घटादिकोंके रूपकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये घटादिकोंका रूप, नाम स्वरूप है। अतः नाम, रूप, क्रिया परस्पर भिन्न नहीं अभिन्न है। जैसे नाम, रूप, क्रिया परस्पर भिन्न नहीं है तैसे अपने कारणसे भी नाम, रूप, क्रिया भिन्न नहीं, बल्कि अभिन्न हैं। कार्यका कारणके साथ अभेद लोकमें भी देखा जाता है, जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प-दण्ड आदि कार्य रज्जुरूप कारणसे भिन्न नहीं होता और परस्पर भी भिन्न नहीं किन्तु कल्पित सर्प-दण्ड आदिक रज्जुरूप कारणसे तथा परस्पर अभिन्न ही हैं। जैसे आकाशमें कल्पित मेघ आदिक अपनी उत्पत्तिसे पूर्व आकाश स्वरूप ही होते हैं, तैसे नामरूप क्रिया स्वरूप सकल जगत अपनी उत्पत्तिसे पूर्व अद्वितीय ब्रह्मरूप ही होता है।

इस प्रकार श्रुतिने जगतकी उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्मरूपसे जगतकी स्थिति कही है। यह अर्थ जगतकी स्थिति ब्रह्मको जगतका कारण माने बिना सम्भव नहीं। क्योंकि अपनी उत्पत्तिसे पूर्व कार्य कारणमें ही रहता है। कारणसे भिन्न किसी पदार्थमें कार्य नहीं रहता। जैसे घटकी

कार्य अपनी उत्पत्तिसे पूर्व मिट्टी रूप कारणमें रहता है। मिट्टीसे भिन्न किसी अन्य पदार्थमें नहीं रहता।"

"हे देवराज इन्द्र ! अद्वितीय ब्रह्मको श्रुतिने जगतका कारण कहा है, यह कथन मायाके बिना सम्भव नहीं। इसलिये अद्वितीय निर्गुण परमात्माको जगतका कारण सिद्ध करनेके लिये विद्वान पुरुष उस ब्रह्ममें मायाकी कल्पना करते हैं। और वह माया भी अधिष्ठान ब्रह्मसे भिन्न नहीं। किन्तु अज्ञात ब्रह्मका नाम ही माया है। इस कारण विवेकी महात्मा पुरुष ब्रह्मको जगतका कारण सिद्ध करनेके लिये उस अज्ञात परमात्माको ही मायाके वाचक अव्याकृत आदि शब्दोंसे कथन करते हैं।

माया विशिष्ट परमात्माके नाम—

उस माया विशिष्ट परमात्माको वेदवेत्ता विवेकी पुरुष अव्याकृत, आकाश, अक्षर, मायी, अधीश्वर, अन्तर्यामी, ईश्वर, कारण, ब्रह्म, पूर्ण आदि अनन्त नामोंसे पुकारते हैं।

अव्याकृत शब्दके अर्थको दिखाते हैं—

सृष्टिके उत्पत्तिके पूर्व माया विशिष्ट परमात्मामें इस सम्पूर्ण प्रपंचके नाम रूप अस्पष्ट रूपसे रहते हैं। इस कारण माया विशिष्ट परमात्माको अव्याकृत कहते हैं। जैसे शीत कालमें सूक्ष्म रूप होकर मेघ आकाशमें रहते हैं और पुनः वर्षाकालमें उसी आकाशसे स्थूल रूप मेघ उत्पन्न होते हैं, तैसे ही प्रलय कालमें नाम-रूप क्रिया स्वरूप जगत उस अव्याकृत परमात्मामें सूक्ष्म रूप होकर रहते हैं और पुनः सृष्टिकालमें उस अव्याकृत परमात्मासे ही स्थूल रूप जगत उत्पन्न होते हैं। इसलिये माया विशिष्ट अव्याकृत परमात्मा ही सम्पूर्ण जगतका कारण है।

हिरण्यगर्भके स्वरूपको दिखलाते हैं—

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नेत्र, त्वक्, रसन, घ्राण, श्रोत्र, प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान तथा अन्तःकरण इन सोलह कलाओंके समूहको वेदवेत्ता पुरुष सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इस सूक्ष्म शरीरमें 'अहं' अभिमानसे युक्त हुआ वह माया विशिष्ट परमात्मा ही हिरण्यगर्भ कहलाता है। उस हिरण्यगर्भको ही विभिन्न वेदवेत्ता विवेकी पुरुष सूत्रात्मा, मृत्यु, अशनाया, प्रभंजन, स्वयंभू, ईश, कार्यब्रह्म, आदि अनन्त नामोंसे पुकारते हैं। हे देवराज ! इस हिरण्यगर्भका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म, नाना प्रकारके वर्णोंसे युक्त है। ईश्वर, इन्द्रिय, प्राण, विषय और अन्तःकरण इन सूक्ष्म तत्वोंका समुदाय ही हिरण्यगर्भका स्वरूप है।

जैसे प्रथम बीजसे अंकुर और अंकुरसे वृक्ष उत्पन्न होता है। इसलिये बीज अंकुर द्वारा वृक्षका कारण है। और अंकुर साक्षात् वृक्षका कारण है। तैसे ही माया विशिष्ट परमात्मा हिरण्यगर्भ द्वारा प्रपंचका कारण है और हिरण्यगर्भ आकाश आदि स्थूल पंचभूतों तथा उन पंचभूतोंके कार्य स्थूल शरीर आदिकोंका साक्षात् ही कारण है। यह सम्पूर्ण जगत हिरण्यगर्भका ही स्वप्न है।"

शंका—"जब यह सम्पूर्ण जगत हिरण्यगर्भ

का स्वप्न मानेंगे तो हिरण्यगर्भको जीव मानना होगा।"

समाधान–"उपाधि दृष्टिसे यह हिरण्यगर्भ जब अपने चैतन्य स्वरूपको नहीं अनुभव करता है तभी यह हिरण्यगर्भ जीव संज्ञाको प्राप्त होता है। और चैतन्य दृष्टिसे यह हिरण्यगर्भ अपने व्यापक स्वरूपका ही अनुभव करता है इसलिये हिरण्यगर्भ ईश्वर संज्ञाको प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि जैसे महाभारत कालीन पंच पाण्डवोंमें देवताओं तथा मनुष्यों दोनोंका अंश था ऐसा कहा जाता है। तैसे समष्टि सूक्ष्म उपाधिकी दृष्टिसे हिरण्यगर्भमें जीव व्यवहार होता है और उपाधिसे रहित व्यापक चैतन्य दृष्टिसे हिरण्यगर्भमें ईश्वर व्यवहार होता है।

अब हिरण्यगर्भमें ईश्वर स्वरूपताको स्पष्ट करने के लिये उसमें सर्वात्मता तथा उत्पत्ति स्थिति एवं लयकी कारणताको दिखलाते हैं— हे देवराज इन्द्र! यह हिरण्यगर्भ ही जड़ चेतन रूप सम्पूर्ण जगत् स्वरूप है और यही इन्द्रादिक सकल देवता तथा दस दिशा स्वरूप है। इससे हिरण्यगर्भकी सर्व-व्यापकता सिद्ध होती है।

हिरण्यगर्भ जगतका कारण है—जैसे मायावी राक्षसका बालक अपने माया प्रभावसे अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति स्थिति और लय करता है तैसे यह हिरण्यगर्भ भगवान् अपने मायाके बलसे सम्पूर्ण जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है। अतः हिरण्यगर्भ ही जगत का कारण है।

इस जगतमें हिरण्यगर्भसे अधिक या उसके समान कोई भी देहधारी जीव नहीं है। इसलिये वह अतिशयता दोषसे रहित है। जैसे राजाके प्रिय भृत्य अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं और उन भृत्यों की इच्छानुसार ही राजा उनको प्रेरणा करता है। तैसे ही पूर्व-पूर्व पुण्य-पाप कर्मोंके अनुसार उन कर्मोंमें प्रवृत्त हुए जीवोंको यह हिरण्यगर्भ भगवान् प्रेरणा करता है। इसलिये यह हिरण्यगर्भ अन्तर्यामी है। अब इसीको और स्पष्ट कहते हैं—यह हिरण्यगर्भ भगवान् जिन पुरुषों को पूर्व कर्मानुसार नरकमें ले जाने की इच्छा करता है उन पुरुषोंको प्रेरणा करके पाप कर्म ही कराता है। और जिनको पूर्वकृत पुण्य कर्मानुसार स्वर्गमें ले जाना चाहता है उनको प्रेरणा करके पुण्य कर्म ही कराता है। और जिन पुरुषोंको मनुष्य लोकमें ले जाना चाहता है उनको प्रेरणा करके पुण्य-पाप दोनों कर्म कराता है। जैसे लोकमें धर्मात्मा राजा शुभ कर्म करनेवाले को सुख और अशुभ कम करनेवाले को दुःखकी प्राप्ति कराता है तैसे ही यह हिरण्यगर्भ भगवान भी पुण्य कर्मोंको सुख और पाप कर्मोंको दुःखकी प्राप्ति कराता है। यह हिरण्य गर्भ भगवान् पापी पुरुषकी इच्छानुसार उसे पाप कर्ममें प्रेरणा देता है और धर्मात्मा पुरुषकी इच्छानुसार उसे पुण्यकर्ममें प्रेरणा देता है इसलिये हिरण्यगर्भमें विषमता तथा निर्दयता दोष नहीं है। जैसे माता-पिता नाना प्रकारके पदार्थोंको प्राप्त करके बालकोंको सुखी करते हैं और कभी वही माता-पिता ताड़न करके बालकों को दुःखी करते हैं। परन्तु बालकके ताड़नाकाल में पिता माताकी बालक पर निर्दयता नहीं होती

किन्तु बालकके हितके लिये ही वे उसका ताड़न करते हैं। तैसे यह हिरण्यगर्भ भगवान् भी जीवोंके चित्तकी शुद्धिके लिये उनके कर्मानुसार नरक दुःख देता है। अतः हिरण्यगर्भमें विषमता दोष तथा निर्दयता दोष की सम्भावना नहीं है।

हे देवराज इन्द्र! यह हिरण्यगर्भ भगवान सृष्टिके आदि कालमें सम्पूर्ण जगतको उत्पन्न करता है, स्थिति कालमें पालन करता है और प्रलय कालमें सम्पूर्ण जगतका संहार करता है। हिरण्यगर्भसे भिन्न दूसरा कोई पुरुष जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेमें समर्थ नहीं।"

हिरण्यगर्भने जल प्रधान स्थूल पंच भूतों को उत्पन्न करके उस जलमें अपने शक्ति रूपी वीर्यको डाल दिया। वह वीर्य उपासक पुरुषों द्वारा किए हुए कर्म-उपासनाका सूक्ष्म परिणाम है। ऐसा शक्तिरूप वीर्य जलमें पड़कर उपर तैरने लगा। जैसे अंकुरकी उत्पत्ति कालमें बीज फूल जाता है। तैसे ही वह वीर्य फूल गया। तत्पश्चात् वह वीर्य दधिके समान हो गया और इसके बाद अत्यन्त कठिन भावको प्राप्त हुआ वह वीर्य पृथ्वी रूप हो गया। और उस पृथ्वी का साररूप यह ब्रह्माण्ड गोलक हुआ। इसी-लिये यह पृथ्वी साररूपसे रहित रूक्ष प्रतीत होती है। और उस पृथ्वीका साररूप ब्रह्माण्ड गोलक मुर्गीके अण्डेके समान आकार वाला, भू आदि सप्त लोगोंका आधार है। ऐसा ब्रह्मा-ण्ड रूप गोलक एक वर्ष तक उस जलमें स्थित रहा। जैसे जलमें स्थित रूखी तुम्बी वायुके प्रभावसे भ्रमण करती है वैसे ही यह ब्रह्माण्ड रूप गोलक वर्षके समाप्त होने पर वायु द्वारा ताड़ित होकर मुर्गीके अण्डेकी तरह फट गया। उस ब्रह्माण्ड गोलकसे सप्तलोक रूपी शरीरवाले विराट भगवान प्रकट हुए। यह विराट भगवान ही सम्पूर्ण जीवोंको भोगोंकी प्राप्ति, स्वर्गरूप गौण अमृतकी प्राप्ति तथा मोक्ष रूप मुख्य अमृतकी प्राप्ति कराते हैं। यह विराट भगवान ही वृक्षादिक स्थावर प्राणियों तथा मनुष्यादि जंगम प्राणियोंको नाना प्रकारके अन्नादिकों की प्राप्ति करके वृद्ध करते हैं।

इस विराट भगवानकी महिमा कैसी है? सम्पूर्ण जगत उसके महिमाका एक पाद है। तीन पादोंसे युक्त वह महिमा विराट भगवानके स्वप्रकाश स्वरूपमें स्थित है। जैसे लोकमें सेनापतिसे लेकर सम्पूर्ण द्रव्यादिक पदार्थ राजाकी महिमा है। उस सेनापति आदि महिमासे उस महिमाका आश्रयरूप महाराजा अधिक महिमावान है। वैसे ही सम्पूर्ण प्रपंच रूप महिमासे यह विराट भगवानकी महिमा अधिक है।

सकाम पुरुषोंके स्वर्गादिक लोकोंकी प्राप्ति-के लिये कर्मकाण्ड रूप प्रवृत्तिमार्गका कर्ता तथा निष्काम पुरुषोंके मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञानकाण्ड रूप निवृत्तिमार्गका कर्ता यह विराट भगवान ही है। आकाशादिक पंचभूतोंसे रचित सम्पूर्ण प्रपंचसे यह विराट भगवान अधिक है। इसलिये बुद्धिमान पुरुष उसे विराट कहते हैं। यह विराट भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर रूप पुरियोंको आश्रय करके स्थित होता है। और अपने स्वरूपसे सम्पूर्ण शरीरोंको पूर्ण करता है। इस कारण विराट भगवानको अधिक

पुरुष कहते हैं। हे देवराज इन्द्र ! ब्रह्माण्डमें स्थित इस विराट भगवानसे ही ये सम्पूर्ण शरीर, सम्पूर्ण पर्वत तथा पृथ्वी आदि उत्पन्न हुए हैं, इसलिये यह विराट सम्पूर्ण देहधारियों-से अधिक है। यह विराट भगवान ही यज्ञ स्वरूप, ऋक्, साम, यजु, अथर्वण इन चार वेदोंका कारण है। इससे ही गायत्री आदिक छन्द तथा अजा आदि सभी ग्राम्य एवं वन्य पशु उत्पन्न हुए हैं। इस विराट भगवानके मुखसे देवराज इन्द्र, अग्नि तथा ब्राह्मण उत्पन्न हुए ! बाहुसे इन्द्र वरुणादिक देव क्षत्रिय उत्पन्न हुए। उरु देशसे विश्वदेवादिक वैश्य उत्पन्न हुए तथा विराट भगवानके पादसे पूषा नामक देव, शूद्र आदि उत्पन्न हुए। उस विराट भगवान्के मनसे चन्द्रमा नेत्रसे सूर्य, प्राणसे वायु, नाभिसे आकाश, मस्तकसे स्वर्ग लोक, श्रोत्रसे दशो दिशाएँ उत्पन्न हुईं। इस प्रकार अन्य भी सम्पूर्ण देवता तथा शब्दादिक विषय इस विराट भगवानसे ही उत्पन्न हुए। घृता-दिक द्रव्य, ऋतु, काल, अग्नि आदि देवता, यज्ञका कर्ता यजमान, यज्ञादि कर्म ये सब विराट भगवानसे भिन्न नहीं। हे देवराज ! लोकमें जितने प्राणियोंके मस्तक इन्द्रि-यादिक हैं वे सभी मस्तक और इन्द्रि-यादिक विराट भगवान् के ही हैं। यह विराट भगवान असंख्य मस्तकों और असंख्य इन्द्रियों वाला है। इसी प्रकार अन्य हस्त-पादादि अंगोंके विषयमें भी जानना चाहिये।

यह विराट भगवान ही सम्पूर्ण भूत भौतिक प्रपंचको व्याप्त करके हृदय देशमें स्थित है। और सम्पूर्ण बुद्धि आदिकोंका साक्षी है। सम्पूर्ण दृश्य वर्गसे परे है। आवरणसे रहित स्वयं प्रकाश है। ऐसे स्वप्रकाश विराट भगवान को हे इन्द्र ! मैं साक्षात् अनुभव करता हूँ। वह विराट भगवान् नाम रूपात्मक सकल प्रपंच का कारण है। और हृदय देशमें स्थित होकर वह विराट भगवान शब्द उच्चारण आदि सकल व्यवहारोंको सिद्ध करता है।

हे देवराज इन्द्र ! ऐसे विराट भगवानके स्वरूपको प्रतिबन्धकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्माके उपदेशसे तू भी साक्षात् अनुभव करेगा। यह विराट भगवान दशोदिशा स्वरूप है इसलिये सकल सामग्री सहित यज्ञस्वरूप भी यह विराट भगवान ही है। जो पुरुष यज्ञ करके उस विराट भगवानका पूजन करते हैं वे महात्मा पुरुष उस यज्ञरूप धर्म द्वारा उस विराट भगवानके मस्तक रूप स्वर्गलोकको पाते हैं। यह विराट भगवान कैसा है ? स्वर्गलोक मस्तक है, सूर्य चन्द्रमा नेत्र हैं, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष लोक देहका मध्य देश है, सम्पूर्ण जल मूत्राशय है। भूलोक पाद है, मुख आहवनीय नामक अग्नि है। हृदय गार्हपत्य नामक अग्नि है और मन दक्षिणाग्नि नामक अग्नि है। यज्ञमें संस्कार युक्त जो भूमि वह विराट भगवानका वक्षस्थल है, कुशा लोम हैं, सम्पूर्ण औषधि वनस्पति केश हैं इस प्रकारके विराट भगवानका ध्यान उपासक करते हैं। विस्तारसे विराट भगवानके स्वरूप कहकर अब संक्षेपसे पुनः कहते हैं सुनो।

जितना प्रपंच दिखाई देता है यह सब जगत विराट भगवानका स्वरूप है। ऐसे विराट

पुत्रको उत्पन्न हुआ देखकर उस हिरण्यगर्भने क्षुधासे पीड़ित होकर अपने पुत्र विराट भगवान-को खानेके लिये मुख फैलाया ."

शंका—"हे भगवन्! पुत्र भक्षण जैसे निन्दित कर्ममें हिरण्यगर्भ भगवानकी इच्छा क्यों हुई?"

समाधान—"हे देवराज! यह क्षुधा रूपी पिशाची किस जीवकी बुद्धिको भ्रष्ट नहीं करती? हिरण्यगर्भ जैसे ईश्वरको भी जब यह क्षुधा पिशाची अनर्थमें प्रवृत्त कर सकती है तब अन्य विवेकी जनोंकी क्या कथा है। इस संसारके नाना प्रकारके रोगोंकी निवृत्तिका उपाय शास्त्रों-में लिखा है और क्षुधा रूप रोगके निवृत्तिका उपाय अन्न भक्षणके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इसलिये सभी रोगोंसे यह क्षुधारूप रोग अधिक है।

अथवा—जैसे पुत्र मरणसे माता पिताको जो दुःख होता है उससे भी अधिक भूखे मनुष्यको होता है। इसमें हिरण्यगर्भका ही दृष्टान्त है। क्योंकि पुत्र मरण जन्य दुःखको अल्प जानकर वह हिरण्यगर्भ क्षुधाजन्य दुःखकी निवृत्तिके लिये पुत्रको भक्षण करनेमें प्रवृत्त हुआ। सिद्ध हुआ कि पुत्र मरणसे क्षुधाजन्य दुःख अधिक है।

अथवा—जैसे दयारहित राक्षसादिक देह-धारी जीवोंकी हिंसा करते हैं तैसे इस लोकमें क्षुधातुर पुरुष अपने पिता माता, गुरु, बन्धु, बान्धवोंका हनन करता है।

अथवा—यह क्षुधा पिशाची सत्य, शौच, श्री, धैर्य, बल, वीर्य, पराक्रम, यज्ञ, धर्म, दया आदि सर्व गुणोंका नाश कर देती है। इसी अर्थको और स्पष्ट करते हैं—क्षुधातुर पुरुष अपने स्त्री, पिता, माता आदि सम्बन्धियोंका कुत्तेकी तरह निरादर करता है। अतः दयारहित है। सभी देहधारी जीवोंमें इस क्षुधारूपी पिशाचीका विचित्र बल है। क्योंकि इस लोकमें निद्रा, काम, क्रोध आदि दोष अत्यन्त प्रबल हैं परन्तु उन कामादिकोंको यह क्षुधा पिशाची शीघ्र ही नाश करके सत्यादि शुभ गुणोंको भी नष्ट कर देती है। इससे जाना जाता है कि यह क्षुधा पिशाची सबसे बलवान है।

क्षुधा निद्रा आदि प्रबल दोषोंको किस प्रकार पराजित करती है? क्षुधातुर पुरुषको कोमल शय्यापर भी नींद नहीं आती है। अतः निद्रासे क्षुधा प्रबल है। क्षुधातुर पुरुष जब किसीसे अन्नकी याचना करता है तब अन्नदाता पुरुष द्वारा अपमानित होनेपर भी वह क्षुधातुर क्रुद्ध नहीं होता। अतः क्रोधसे भी क्षुधा बलवान है। अत्यन्त सुन्दर युवतीके आलिंगन पाशमें बँधा हुआ क्षुधातुर पुरुष बालककी तरह काम रहित रहता है। अतः कामसे क्षुधा बलवान है। और क्षुधातुर पुरुष स्वर्णादिक द्रव्य, गौ, अश्व आदि पशु तथा तीनों लोकके राज्यकी इच्छा नहीं करता। अतः क्षुधा लोभसे भी प्रबल है। इस प्रकार सभी बलवान दोष क्षुधाके समक्ष निर्बल होकर भयसे भागते फिरते हैं। सत्यादिक शुभ गुणोंसे भी यह क्षुधा पिशाची बलवान है। इसी क्षुधाके वश होकर हिरण्य-गर्भने अपने पुत्रके भक्षणकी इच्छा की।

जब हिरण्यगर्भने पुत्र भक्षणके लिये मुख

फैलाया तभी पितासे भयभीत विराट भगवान्के मुखसे "भाण" इस प्रकारका शब्द निकला। और यह देहाभिमान ही जीवोंके अनर्थका कारण है। क्योंकि जिस देहाभिमानसे युक्त होकर विराट अपने पिता हिरण्यगर्भको क्षुधातुर देखकर भयभीत हुआ, यद्यपि उसे यह ज्ञात है कि मरणके बाद इस शरीरको श्वान आदि भक्षण करेंगे तथापि जीवित कालमें देहाभिमान-के प्रभावसे साक्षात् अपने पिताको भी शरीरका दान नहीं करना चाहा, इसलिये यह देहाभिमान ही सर्व धर्मका प्रतिबन्धक है।"

शंका—"हे भगवन! विराट भगवानने अपने पिताके लिये शरीरका दान नहीं किया इसमें देहाभिमान प्रतिबन्धक नहीं बल्कि अन्य ही कोई प्रतिबन्धक होगा।"

समाधान—"यहाँ प्रतिबन्धके दो पक्ष हैं। एक, पिताके लिए शरीरका दान करना हमारे अनिष्टका साधन है। यह पक्ष उचित नहीं। क्योंकि जैसे किसी पुरुषने कोई पदार्थ किसीके पास रखा हो। उस पदार्थको जब भी वह पुरुष माँगे देनेवाले पुरुषको अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती है उल्टा न देनेमें विश्वासकी हानि रूप अनिष्ट होता है। तैसे ही पिताके वीर्यसे उत्पन्न पुत्रका शरीर पिताका ही है। और उस शरीरको जब भी पिता भक्षण करे उसमें पुत्रको किंचित मात्र भी अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती उल्टा न देनेपर प्रतीतिकी हानि रूप अनिष्ट होगा। अतः पिताको शरीर देनेसे अनिष्ट होगा ऐसा ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं। और पिताको शरीर देना निष्फल है। यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं। क्योंकि इस अनित्य शरीरसे यदि किसीका कार्य सिद्ध हो सके तो इससे बड़ा कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है। इतना करनेसे ही शरीरकी सफलता सिद्ध है। अतः पिताको शरीर दान करनेमें निष्फलता ज्ञान भी प्रतिबन्धक नहीं है। शास्त्रोंमें लिखा है कि भूखे प्राणीको अन्न देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अतः जब अन्न आदिके दानसे स्वर्ग मिलता है तब साक्षात् अपने शरीरका दान करनेसे महान फलकी प्राप्ति नहीं होगी, यह कहना अनुचित है। अतः पिताको पुत्र अपने शरीरका दान कर दे तो इसे निष्फल नहीं कहा जा सकता।

अपवित्र शरीरमें जो पुरुष आत्म-अभिमान करते हैं उनसे पूछना चाहिए—

विण्मूत्रादि मलानां हि संचयोदेह ईरितः।
अस्मिन्नऽहंमतिश्चेत्स्यात् बाह्येकस्मान्नसाभवेत्।

हे देहाभिमानी जीवो! विष्ठा, मूत्र, मांस, रुधिर, मज्जा, अस्थि आदि मलोंका समुदाय रूप अपवित्र शरीरमें जब तुमने आत्म बुद्धि की है तब शरीरके बाहर जो मल मूत्रादिक हैं उनमें आत्म बुद्धि तुम क्यों नहीं करते हो। बाहरके मांस अस्थिमें भी आत्म बुद्धि करनी चाहिए। क्योंकि दोनोंमें कोई विलक्षणता नहीं। और जैसे बाह्य विष्ठादिमें आत्म बुद्धि नहीं करते वैसे ही विष्ठादिके समुदाय रूप इस शरीरमें भी तुमको आत्म बुद्धि करना उचित नहीं।

देहाभिमानका कारण अज्ञान रूप माया सर्व अनर्थका कारण है। यह माया कैसी है? मायाके आश्रय जो पुरुष हैं उनको भी मोहित

करनेवाली है। इस कारणसे ही इस मायाने मायाके आश्रय विराट पुरुषको मोहित किया है।"

शंका—"यह कैसे जाना जाय कि मायाने विराट पुरुषको मोहित किया है।"

समाधान—"पिताके वीर्यसे उत्पन्न शरीर पिताका है, पुत्रका नहीं। दुर्गन्धि युक्त, अपवित्र, क्षणमात्रमें नाशवान, घटकी तरह अनात्मरूप, स्थायीपनसे रहित इस निकृष्ट शरीरको भी विराट पुरुष अपने क्षुधातुर पिताको नहीं दिया। अतः जाना जाता है कि यह सब मायाका प्रभाव है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष द्रव्यादिक पदार्थोंके दान करनेमें कृपण होता है उस पुरुषका उन पदार्थोंमें अध्यास होता है। अध्यासके बिना कृपणता नहीं होती। इसलिए कृपणता रूप हेतुसे अध्यासका अनुमान होता है। और वह अध्यास अज्ञान रूप मायाके बिना सम्भव नहीं। अतः अध्यास रूप हेतुसे अज्ञान रूप मायाका अनुमान होता है। हिरण्यगर्भ पिताके प्रति शरीरदान करनेमें जो विराट पुरुषकी कृपणता है, वह कृपणता ही अध्यास द्वारा अज्ञान रूप मायाका अनुमान कराती है।

हे देवराज! शरीर आदिमें आत्म-अभिमान रूप मोह तथा अज्ञान रूप मोह यह दो प्रकारका मोह जब विराट आदि महान पुरुषोंको अनुचित कार्यमें प्रवृत्त करा देते हैं तब अन्य लौकिक पुरुषोंको अनुचित कार्यमें नहीं प्रवृत्त करेंगे, यह कहना सम्भव नहीं। इसलिए ये दोनों प्रकारके मोह ही जीवोंके सर्व अनर्थके कारण हैं।

विराट पुरुषने भयसे जो "भाण" शब्द का उच्चारण किया वह विराटकी वाणी सर्व देहधारी जीवोंकी वर्णरूप वैखरी वाणी तथा ध्वनि रूप वैखरी वाणी हुई।

क्षुधातुर हिरण्यगर्भ विराट भगवानको खानेके लिये उद्यत हुआ परन्तु खा नहीं सका। क्योंकि हिरण्यगर्भ भगवान विद्यासे सम्पन्न है। इसलिए विद्याबलके कारण पुत्र भक्षण रूप निषिद्ध कर्मसे निवृत्त हो गया। इसलिये हे देवराज! यह विद्या किसका उपकार नहीं कर सकती! सबका यह उपकार करती है। जैसे हिरण्यगर्भको यह विद्या निषिद्ध कर्मसे निवृत्त कर दी वैसे अन्य भी जो पुरुष इस विद्याका सम्पादन करेंगे उन्हें भी यह निषिद्ध कर्मसे निवृत्त करके शुभ कर्ममें प्रवृत्त करेगी।

अब विद्याके प्रभावको दिखलाते हैं—

हे देवराज इन्द्र! लोक और शास्त्र द्वारा निषिद्ध कर्मोंको करनेवाला तथा दीन दशाको प्राप्त पुरुषको यह विद्या सुखी करती है। यह विद्या सुखके साधन द्रव्यादिक पदार्थोंको देती है। हानिकर तथा कीर्तिका नाश करने वाले आपदा रूपी समुद्रमें पड़े हुए पुरुष इस विद्याके प्रभावसे सुरक्षित सुखपूर्वक पार हो जाते हैं। यह विद्या ही सब देहधारी जीवोंकी माता है। इसके अतिरिक्त और कोई सच्ची माता नहीं। लोक प्रसिद्ध माताके उदरसे उत्पन्न जीव लोक परलोकमें सुखी नहीं होता, परन्तु विद्या मातासे प्रगट हुआ पुरुष लोक परलोकमें सुखी होता है। विद्या ही श्रेष्ठ धन है। लोक प्रसिद्ध धन दान करनेसे घटता है और परलोकमें साथ नहीं जाता, परन्तु विद्याधन देनेसे और अधिक बढ़ता है तथा परलोकमें जीवका त्याग नहीं करता है।

हे देवराज ! काम, क्रोध लोभ, मोह क्षुधा आदि शत्रुओंसे पीड़ित पुरुष केवल विद्या रूपी शस्त्रसे ही अपने शत्रुओंको मार भगा सकता है। अतः इस विद्यासे बढ़कर कोई दूसरा हितकारी पदार्थ नहीं हैं। यही विद्या क्षुधातुर हिरण्यगर्भके हृदयमें प्रकट होकर बोली—"हे हिरण्यगर्भ ! पुत्रका भक्षण तुम्हारे योग्य नहीं। क्योंकि सर्व लोकोंको धर्म मर्यादामें स्थापित करनेके लिए ही तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है। अतः तुम सर्वलोकोंके गुरु हो। जब तुम ही मर्यादा भंग करोगे तब अन्य जीव कैसे मर्यादाका पालन करेंगे अर्थात् कोई नहीं करेगा। हे हिरण्यगर्भ। इस लोकमें सब जीवोंको अपने-अपने धर्ममें तुम स्थापन करनेवाले हो। और तुमको धर्म मर्यादामें स्थापित करनेवाली मुझ विद्याके अलावा दूसरा कोई नहीं है। मैं ही तुम्हें धर्ममें स्थापित करनेवाली हूँ।

हे हिरण्यगर्भ ! यदि तुम हमारे उपदेशको न मानकर विराट पुत्रको भक्षण करोगे तो दोनों लोकमें तुम्हारा यश नष्ट हो जायगा। और पुत्रसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द भी तुम्हारा नष्ट हो जायगा। अतः पुत्रका भक्षण उचित नहीं। यह पुत्र भक्षण कर्म तो चांडालों और पशुओं द्वारा भी निन्दित है। फिर तुम जैसे धर्मके संस्थापकमें यह कर्म कैसे सम्भव है।

विद्याके उपर्युक्त उपदेशको विचारकर हिरण्यगर्भ भगवान पुत्र भक्षणसे विरत हुआ और अपने पुत्र विराट भगवानको आत्मज्ञानकी प्राप्ति तथा सर्व वेदोंका कथन करके अन्तर्ध्यान हो गया। इसके बाद वह विराट भगवान अकेला ही स्थित रहा। और निर्जन प्रदेशमें स्थित एकाकी बालककी तरह क्षणमात्रके लिये भयभीत होकर विचारने लगा—श्रुतिमें द्वितीय वस्तुसे भयकी प्राप्ति कही गई है और मेरे स्वरूपसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, क्योंकि यदि मेरे स्वरूपसे ब्रह्म भिन्न हो तो उसकी अद्वितीयपना नहीं रहेगी और शास्त्रमें ब्रह्मको अद्वितीय कहा गया है। इसलिये मेरे स्वरूपसे ब्रह्म भिन्न नहीं। यदि मेरे स्वरूपसे आत्मा भिन्न होगा तो जैसे मुझसे भिन्न घट-पटादि अनात्मा हैं, वैसे ही आत्मा भी अनात्मा हो जायगा। और आत्माको अनात्मा कहना सम्भव नहीं, इसलिये आत्मा भी मेरे स्वरूपसे भिन्न नहीं। इस प्रकार ब्रह्म और आत्माके स्वरूपका विचार करके विराट भगवानने भेद दृष्टिका परित्याग कर दिया। उस भेद दृष्टिरूप कारणके निवृत्त होनेपर विराट भगवान भय रूप कार्यसे निवृत्त हो गया।

भेद दृष्टि भयका कारण है इसे स्पष्ट करके दिखलाते हैं—

जैसे लोकमें दुःखके साधन सर्पादिकोंको पुरुष जब अपनेसे भिन्न करके मानता है तब उन सिंह सर्पादिकोंसे पुरुष भयभीत होता है। और भेद दृष्टिका परित्याग कर देनेपर पुरुष भयरहित हो जाता है। अतः अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध है कि भेददृष्टि ही भयका कारण है। विचार द्वारा भेद दृष्टिको त्यागकर विराट भगवान् यद्यपि भय रहित हो गया, तथापि काम दोषसे युक्त होकर वह सुखी नहीं रहा। और लोकमें कामी पुरुषको स्त्रीके बिना काम आदि

आकाश शून्य प्रतीत होता है वैसे ही विराटको भी अपना वाम भाग शून्य प्रतीत होने लगा। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कामना एक एक अंशमें शून्यताकी कारण है। जैसे स्त्रीकी कामना वाला पुरुष वामभागके आकाशको शून्यरूप मानता है। पुत्रकी कामनावाला पुरुष गोदके आकाशको शून्य मानता है। पशुओंकी कामना वाला गृहके आकाशको शून्य मानता है, और धनकी कामनावाला कोषके आकाशको शून्य मानता है। इसी प्रकार पुरुष जिस पदार्थकी इच्छा करता है उस पदार्थके रहनेके स्थानको शून्य मानता है। केवल एक निष्काम पुरुष ही सर्वत्र आत्माको पूर्ण मानता है। अतः पदार्थोंकी कामना ही दुःखका कारण है। इस कामनाके प्रभावसे साक्षात् विराट भगवानको भी दुःख प्राप्त होता है।

हे इन्द्र! जीवोंके पुण्य-पाप रूप कर्मके वश विराटमें उत्पन्न कामना रूप सर्पके दंशसे पीड़ित हो विराट भगवानने अपने मनमें विचार किया—सर्व व्यापक हमारा शरीर किसी भोगके भोगनेमें समर्थ नहीं है अतः भोगको भोगोंनेके लिये इस शरीरसे भिन्न किसी छोटे शरीरको उत्पन्न करना चाहिये, जिसके द्वारा मुझे विषय जन्य सुखकी प्राप्ति हो। ऐसा विचार दृढ़ होने-पर विराट भगवानने दो भागोंसे युक्त शुक्ति सम्पुटके समान आधा स्त्री और आधा पुरुषके शरीरको उत्पन्न किया। वह स्त्री पुरुषात्मक शरीर अज्ञान द्वारा घटित होनेसे माया विशिष्ट ईश्वर स्वरूप है। अन्तःकरण आदि सूक्ष्म पदार्थों द्वारा घटित होनेसे हिरण्यगर्भ स्वरूप है और स्थूल भौतिक पदार्थों द्वारा घटित होनेसे विराट स्वरूप है। हे देवराज! जैसे स्त्री-पुरुषा-त्मक शरीर ईश्वर-हिरण्यगर्भ-विराट स्वरूप है तैसे ही लोकके सभी स्त्री-पुरुष नपुंसक शरीर तथा स्थावर-जंगम शरीर ईश्वर हिरण्यगर्भ विराट स्वरूप हैं। क्योंकि सर्व प्राणियोंके समष्टि स्थूल शरीरका अभिमानी विराट भगवान है। इसलिये सब प्राणियोंके साथ विराटका तादात्म्य है। प्राणियोंके समष्टि सूक्ष्म शरीरका अभिमानी हिरण्यगर्भ है इसलिये प्राणियोंके संघातके साथ हिरण्यगर्भका तादात्म्य है। और प्राणियों-के समष्टि कारणशरीरका अभिमानी ईश्वर है इसलिये सर्व प्राणियोंके संघातके साथ ईश्वरका तादात्म्य है। यहाँ अज्ञान रूप मायाका नाम कारण है, अपंचीकृत पंचभूत और उनके कार्य अन्तःकरणादि को सूक्ष्म कहते हैं और पंचीकृत भूतों और उनके कार्यको स्थूल कहते हैं। इस-लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर स्थूल, सूक्ष्म, कारण स्वरूप हैं। अतः सिद्ध हुआ कि सभी शरीरोंके साथ विराट, हिरण्यगर्भ, ईश्वरका तादा-त्म्य सम्बन्ध है।

हे देवराज इन्द्र! विराट भगवान द्वारा उत्पन्न स्त्री-पुरुष रूप द्वितीय शरीरसे ही यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। विराट भगवानके इस द्वितीय शरीरको व्यष्टि कोटिमें न गिनकर समष्टि कोटिमें ही गिना जाता है।

विराटके स्त्री पुरुषात्मक द्वितीय शरीरसे सृष्टि क्रम दिखलाते हैं—

स्त्री पुरुषात्मक शरीरको देखकर विराट भगवानने उसे दो भागोंमें विभक्त कर दिया।

जैसे शुक्ति सम्पुटमें स्थित कीट सम्पुटका दो भागकर देता है वैसे ही विराट भगवानने द्वितीय शरीरका दो भाग कर दिया। एक भाग स्त्री रूप हुआ जिसे शतरूपा (प्रकृति) कहते हैं और दूसरा भाग पुरुष रूप हुआ जिसे स्वायंभुव मनु (पुरुष) कहते हैं। इस शतरूपा-मनु (प्रकृति-पुरुष) से ही स्थावर, जंगम आदि सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है।

इस प्रकार माया विशिष्ट परमात्मासे जगत की उत्पत्तिका प्रकार निरूपण करनेके बाद अब जगतमें परमात्माके प्रवेश करनेका ढंग बतलाते हैं—हे देवराज इन्द्र! जो परमात्मादेव समष्टि अज्ञान रूप उपाधिमें प्रविष्ट होकर जगत्कर्ता ईश्वर कहलाता है, जो परमात्मादेव समष्टि सूक्ष्म उपाधिमें प्रविष्ट होकर हिरण्यगर्भ कहलाता है और जो परमात्मादेव समष्टि स्थूल उपाधिमें प्रविष्ट होकर विराट भगवान कहलाता है वही परमात्मादेव सम्पूर्ण शरीर रूप पुरियोंमें प्रवेश करता है। जैसे महाकाश मठरूप उपाधि में प्रवेश करके मठाकाश कहलाता है, मठके छोटे कक्षमें प्रवेश कर कक्षाकाश कहलाता है और घटमें प्रवेश करके घटाकाश कहलाता है वैसे ही यह परमात्मादेव अज्ञानरूप उपाधिसे ईश्वर, सूक्ष्म उपाधिसे हिरण्यगर्भ और स्थूल उपाधिसे विराट संज्ञाको प्राप्त होता है और वही परमात्मादेव अपने चैतन्यरूपसे सर्व प्राणियोंके शरीरमें नखसे शिख तक प्रवेश करता है। इस कारण यह जीव संज्ञाको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह कि घरमें अन्न आदिकी तरह परमात्माका प्रवेश सम्भव नहीं, किन्तु अज्ञान आदि उपाधियों में स्थित होकर परमात्माका स्फुरण ही उसका प्रवेश है। इसी प्रवेशको शास्त्रमें आभासवाद तथा अवच्छेदवादके नामसे कहा गया है। सर्वत्र व्यापक आकाशको भ्रान्त पुरुष घटमें स्थित हुआ मानते हैं, परन्तु वह आकाश वास्तवमें घटमें नहीं रहता उलटा घटादिक सभी पदार्थ आकाशमें रहते हैं तैसे ही सर्व जगत्के अधिष्ठान स्वरूप परमात्माको विचारहीन पुरुष शरीरमें स्थित मानते हैं परन्तु वह परमात्मादेव वास्तवमें शरीर आदिके अन्दर नहीं रहता उल्टा शरीर आदिक जड़ पदार्थ परमात्मामें रहते हैं। हे देवराज! जैसे घटके उत्पत्तिके पूर्व यद्यपि सर्वत्र आकाश विद्यमान है तथापि घटके उत्पत्ति के बाद घटमें आकाश प्रविष्ट हुआ है ऐसा लोग कहते हैं। उसी प्रकार शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व यद्यपि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है तथापि शरीरके उत्पन्न होनेके बाद शरीरमें आत्मा प्रविष्ट हुआ, ऐसा लोग कहते हैं। जैसे सूर्य भगवानका प्रकाश यद्यपि सर्वत्र समान ही है तथापि सूर्यकान्त मणिमें प्रविष्ट हुआ सूर्यका प्रकाश दाहक क्रियाको करता है और घटादिक पदार्थोंमें ऐसी क्रिया सूर्य प्रकाशसे नहीं उत्पन्न होती। वैसे ही आनन्द स्वरूप परमात्मा यद्यपि सर्वत्र समान ही है तथापि हृदय देशमें अन्य शरीरकी अपेक्षा परमात्माकी विशेष उपलब्धि होती है। इस कारण हृदय देशमें परमात्माकी स्थिति शास्त्रोंमें कही गई है।

शंका—"यदि आत्मा सभी शरीरोंमें नित्य रूपसे स्थित है तो सभी जीवोंको आत्म साक्षात्कार होना चाहिए।"

समाधान—"जैसे अग्नि यद्यपि सर्व काष्ठोंमें विद्यमान है तथापि मथन द्वारा किसी एक काष्ठमें ही प्रगट होती है, तैसे यह आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि सर्व शरीरोंमें विद्यमान है तथापि श्रवण, मनन, निदिध्यास आदि साधनोंसे किसी किसी शरीरमें ही आत्माका साक्षात्कार होता है। यद्यपि अस्ति-भाति रूपसे वेदान्त शास्त्रके श्रवण बिना ही सब जीवोंको आत्माका ज्ञान है तथापि परिपूर्ण आनन्द स्वरूप अद्वितीय रूपसे आत्मा-का ज्ञान श्रवणादि साधनोंके बिना नहीं होता है। बल्कि श्रवणादि साधनोंसे ही आत्माका साक्षात्कार होता है। जैसे काष्ठ रूप उपाधिके भेदसे अग्नि अधिक और कम भावको प्राप्त होती है वस्तुतः अग्निमें अधिकता और अल्पता नहीं है, तैसे शरीर आदिक उपाधि भेदसे यह आनन्द स्वरूप आत्मा महान् और अल्प भावको प्राप्त होता है वस्तुतः आत्मा एक रस है। जैसे एक ही अग्नि प्रकाश काष्ठरूप उपाधिके भेदसे नाना प्रकारका हो जाता है तैसे एक ही परमात्मा देव अन्तःकरणादि उपाधिके भेदसे नाना भावको प्राप्त हो जाता है। जैसे रात्रिमें सूक्ष्म रूपसे यद्यपि सूर्य प्रकाश विद्यमान है तथापि अन्धकारसे दबा हुआ वह सूर्य प्रकाश किसी पदार्थको विशेष रूपसे प्रकाशित नहीं करता तैसे ही यह आनन्द रूप आत्मा यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है तथापि अज्ञानसे आवृत होनेसे यह आत्मा प्रकाश नहीं करता।"

शंका—"प्रकाश स्वरूप आत्मामें अज्ञानकृत आवरण सम्भव नहीं है।"

समाधान—"हे देवराज! जैसे दिनमें अंधकार रूप राहू सूर्यको आश्रय करके रहता है और उस सूर्यको ही आच्छादन करता है तैसे अज्ञान अवस्थामें प्रकाश स्वरूप आत्माका आश्रय करके अज्ञान रहता है और उस आत्माको ही आच्छादन करता है। इस कारण ही शास्त्रमें अज्ञानको स्वाश्रय विषय कहा है। तात्पर्य यह कि जैसे अन्धकार जिस घरके आश्रित रहता है उसी घरको आच्छादन करता है तैसे अज्ञान भी अन्धकार रूप है अतः जिस शुद्ध आत्माके आश्रित रहता है उसीको आच्छादन करता है। अर्थात् उसका ज्ञान नहीं होने देता।

अब पूर्व कथित आत्मामें जगतका अध्या-रोपके अपवादका निरूपण करते हैं—जैसे सूर्यकी धूप और सूर्यमें यद्यपि प्रकाशपना समान है तथापि सूर्य ही पूर्ण प्रकाश स्वरूप है। सूर्य-की धूप पूर्ण प्रकाश रूप नहीं बल्कि परिच्छिन्न प्रकाश रूप है। तैसे वाक् आदि इन्द्रियोंमें जो आत्माका प्रकाश है वह परिपूर्ण प्रकाश नहीं किन्तु परिच्छिन्न प्रकाश है। केवल आनन्द स्वरूप आत्मा ही परिपूर्ण प्रकाश रूप है। यद्यपि यह आनन्द स्वरूप आत्मा प्रत्येक वाक् आदि इन्द्रियोंमें वर्तमान होते हुए भी वास्तवमें परिपूर्ण है तथापि "मैं वाक् हूँ, मैं श्रोत्र हूँ" आदि विपरीत ज्ञानोंका विषय होकर आत्मा परिच्छिन्नकी तरह प्रतीत होता है। परिपूर्ण आत्मामें परिच्छिन्न दृष्टि जन्म-मरण रूप संसार-का कारण है। इसलिये विद्वान पुरुष आत्माको परिच्छिन्न करके नहीं देखते बल्कि सर्वत्र पूर्ण देखते हैं।

अब वाकादिकोंके साथ तादात्म्य अध्यास द्वारा आत्मामें परिच्छिन्नताका निरूपण करते हैं—

हे देवराज ! जैसे एक ही देवदत्त नामक पुरुष भोजन बनाता है तब उसे लोग पाचक कहते हैं और वही जब पाठ करता है तो पाठक कहते हैं। पाक क्रियासे देवदत्तमें पाचक शब्दकी प्रवृत्ति होती है और पाठ क्रियासे पाठक शब्द की प्रवृत्ति होती है। पाक और पाठ क्रियासे रहित देवदत्त पुरुषके स्वरूपमें पाचक पाठक नाम प्रवृत्त नहीं होते। इसलिए पाचक पाठक का नाम देवदत्त पुरुषके परिच्छिन्नताके बोधक हैं, परिपूर्णताके नहीं। क्योंकि पाचक शब्दसे पाक क्रिया विशिष्ट देवदत्तका ही बोध होता है पाठक्रिया विशिष्ट देवदत्तका बोध नहीं होता। ऐसे ही पाठक शब्दसे पाठक्रिया विशिष्ट देवदत्तका ही बोध होगा, पाक क्रिया विशिष्ट देवदत्तका बोध नहीं होता। इसी प्रकार वाक् आदिक नाम भी किसी निमित्तको ग्रहण करके ही आत्मामें प्रवृत्त होते हैं। स्वरूपसे शुद्ध आत्मामें किसी नामकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये सम्पूर्ण वाक् आदि नाम आत्माको परिच्छिन्न बतलाते हैं।

वाकादिक नाम आत्मामें जिस निमित्तको लेकर प्रवृत्त हैं उन्हें बतलाते हैं—

आनन्दस्वरूप आत्मा शब्दोच्चारणरूप व्यापार करनेके कारण वाक् संज्ञाको प्राप्त करता है। यह परमात्मा घट-पट आदि सर्वपदार्थोंको ग्रहण करनेके कारण हस्त, मार्गगमन करनेसे पाद, मलत्याग द्वारा प्राणियोंका पालन करनेसे पायु, आनन्द उत्पन्न करनेसे शिश्न, पाप-पुण्य का फल दुःख-सुख भोगका अधिकारी होनेसे उपस्थ संज्ञाको प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियोंके साथ तादात्म्य अध्याससे आत्मामें वाकादिक शब्दोंकी प्रवृत्ति होती है।

गन्ध ग्रहण करनेसे घ्राण, देखे हुए पदार्थोंको निःशंक बोध करानेसे चक्षु, शब्द श्रवण करनेसे श्रोत्र, षट्रसोंको ग्रहण करनेसे रसना, शीत-उष्ण स्पर्शका अनुभव करनेसे त्वक् संज्ञाको यह आनन्दस्वरूप आत्मा प्राप्त करता है।

इसी प्रकार यह आत्मा शरीररूप यन्त्रमें चलायमान रहनेसे प्राण, जगतकी कल्पना करनेसे मन, अपने स्वरूपमें सम्पूर्ण जगतको वासना रूपसे धारण करनेके कारण धी, अनुसंधान रूप वृत्तिमें स्फुरण होनेसे चित्त संज्ञाको प्राप्त होता है। "अहं" इस प्रकारका नाम सर्वप्राणियोंकी आत्माका बोधक है। इस कारणसे ही लोकमें "तुम कौन हो ?" इस प्रकार किसीके पूछनेपर "अहं देवदत्तः" यह उत्तर मिलता है। उत्तरमें अहं शब्दका उच्चारण प्रथम और देवदत्त शब्द का उच्चारण बादमें होता है इसलिये "अहं" शब्द सभी प्राणियोंके आत्माका वाचक है। हे देवराज ! जितने भी नाम हैं सभी परिच्छिन्न करके आत्माका बोध करते, परिपूर्ण आत्माका ये नाम बोध नहीं करते हैं।

अतः वाकादिक शब्दोंका अर्थ जो परिच्छिन्न रूप आत्मा है, वह विद्वान् पुरुषोंके जाननेके योग्य नहीं है। केवल परिपूर्ण आत्मा ही उनके जानने योग्य है। हे देवराज इन्द्र!

जैसे जलरूप उपाधिके भेदसे एक ही सूर्य भगवान् प्रतिविम्ब रूपसे अनेक प्रतीत होते हैं और जल रूप उपाधिके निवृत्त होनेपर वे सभी प्रतिबिम्ब बिम्बरूप सूर्यमें एकताको प्राप्त हो जाते हैं, तैसे एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा उपाधि सम्बन्धसे पूर्वोक्त वाक्-आदि विशेष रूपमें प्रतीत होता है और अन्तःकरणादिक उपाधियोंके निवृत्त होनेपर वे सभी वाक् आदि विशेष रूप आत्मामें एकत्व भावको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा परिपूर्ण आत्मा ही स्वरूपसे जानने योग्य है। जैसे एक ही महाकाश, घटाकाश, मठाकाश, गृहाकाश आदि विशेष रूपोंमें अनुगत होता है तैसे एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा वाक् आदि सभी विशेष रूपोंमें अनुगत है और सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदसे रहित है। क्योंकि सभी जीवोंमें यह आनन्दस्वरूप आत्मा "अहं" इस शब्द और "अहं" इस ज्ञानका विषयरूप होकर प्रतीत होता है। इसलिये परिपूर्ण अर्थका बोधक जो 'आत्म' शब्द है तथा लक्षणावृत्ति करके परिपूर्ण अर्थका बोधक जो "अहं" शब्द है, इन दोनों शब्दोंसे ही बुद्धिमान पुरुष परिपूर्ण आत्माको जानते हैं।"

शंका—"जैसे अनेक पुरुष अपने शरीरमें "अहं ब्राह्मणः" "अहं स्थूलः" इस प्रकार "अहं" शब्दका प्रयोग करते हैं, वहाँ वक्ता पुरुषोंके भेदसे तथा "अहं" शब्दके भेदसे "अहं" शब्दके अर्थरूप शरीरका भेद ही देखा जाता है, तैसे "अहं" तथा "आत्म" शब्दके वक्ता पुरुषोंके भेदसे तथा "अहं" शब्द "आत्म" शब्दके भेदसे "अहं" शब्द "आत्म" शब्दके अर्थरूप आत्माका भी भेद ही होगा।"

समाधान—"हे देवराज! वक्ता पुरुषोंके भेद तथा शब्द प्रयोगके भेदसे पदार्थका भेद ही होता है। यह नियम सर्वत्र सम्भव नहीं। क्योंकि जैसे एक ही घट व्यक्तिमें अनेक पुरुष घट हैं, कलश है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न शब्द उच्चारण करते हैं। वहाँ वक्ता पुरुषों तथा शब्दोंका तो परस्पर भेद है परन्तु घट व्यक्तिका भेद नहीं। किन्तु एक ही घट व्यक्ति सर्वशब्दोंमें प्रतीत होता है, तैसे सभी पुरुष आत्माको "अहं" तथा "आत्म" रूपसे कथन करते हैं, यद्यपि वक्ता पुरुषोंका परस्पर भेद है तथा अहं और आत्म शब्दका परस्पर भेद है तथापि आत्म शब्दका तथा अहं शब्दका लक्ष अर्थ आत्मामें भेद सम्भव नहीं। किन्तु एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा सर्वप्राणियोंके "अहं" शब्द तथा "आत्म" शब्दमें अनुगत हुआ प्रतीत होता है। अतः वक्ता पुरुषों और शब्दोंके भेदसे आत्माका भेद नहीं, किन्तु एक ही आत्मा सर्वप्राणी मात्रमें व्यापक है। घरमें स्थित आकाशको गृहाकाश, मठमें स्थित आकाशको मठाकाश और घटमें स्थित आकाशको घटाकाश कहते हैं। यहाँ घटाकाश शब्दका अर्थ घट उपहित आकाश है तथा मठाकाशका अर्थ मठ उपहित आकाश है, इन दोनोंका यद्यपि परस्पर भेद सम्भव है तथापि आकाश शब्दका अर्थ जो शुद्ध महाकाश है उसका भेद सम्भव नहीं। इसी प्रकार पूर्वोक्त वाकादिक नामोंका अर्थ जो विशिष्ट आत्मा है उसका यद्यपि परस्पर भेद

सम्भव है तथापि "आत्म" शब्दका अर्थ तथा "अहं" शब्द जो शुद्ध आत्मा है, उसका भेद सम्भव नहीं। परन्तु सर्व जगतमें "आत्म" तथा "अहं" शब्दका अर्थ शुद्ध आत्मा अनुगत है। हे देवराज! यह जो "आत्म" और "अहं" शब्दका अर्थ शुद्ध आत्मा हमने तुम्हें बतलाया है, इसी आत्माके साक्षात्कारका उपाय मुमुक्षु जनोंको करना चाहिये।

आत्मासे भिन्न शब्दादिक विषयोंके प्राप्तिका उपाय अधिकारी जनोंको नहीं करना चाहिए। क्योंकि शास्त्रमें बुद्धिमान पुरुषोंने कहा है कि जिस पदार्थकी प्राप्तिके पश्चात् सुख प्राप्त हो उसी पदार्थकी प्राप्तिके लिए यत्न बुद्धिमान पुरुषोंको करना चाहिए। और जिस पदार्थ की प्राप्तिके पश्चात् दुःख हो ऐसे पदार्थोंकी प्राप्तिका यत्न नहीं करना। बल्कि उन दुःखकर पदार्थोंके निवृत्तिका उपाय करना। विचार करके देखा जाय तो शब्दादिक विषयोंके उत्तर कालमें जीवोंको सुखकी प्राप्ति नहीं बल्कि अनन्त दुःख की प्राप्ति होती है। अतः शब्दादिक विषयोंके लिये यत्न करना व्यर्थ है। और आत्माके साक्षात्कारके उत्तर कालमें जीवोंको निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है। अतः आनन्द स्वरूप आत्माकी प्राप्तिका यत्न करना चाहिए।

हे देवराज! जैसे शब्द स्पर्शादिक सभी विषय परिणाममें दुःखके कारण हैं। इसलिये बुद्धिमान पुरुषोंके योग्य नहीं। तैसे ही शब्द स्पर्शादिक विषय भोगके साधन स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर ये भी भोगके उत्तर कालमें अनन्त प्रकारके दुःखोंके कारण हैं। अतः ये तीन शरीर भी अधिकारी पुरुषके योग्य नहीं। बल्कि परित्यागके योग्य है। केवल आनन्द स्वरूप आत्मा ही प्राप्त करनेके योग्य है।

अतः हे देवराज इन्द्र! शब्दादिक विषयों से लेकर कारण शरीर तक समस्त प्रपंचका परित्याग करके इस संघातमें स्थित जो सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा है, उसको जब यह पुरुष जानता है तभी सर्व पदार्थोंमें सत्-चित्-आनन्द स्वरूपसे आत्माको जाननेमें समर्थ होता है। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे किसी की गौ घरसे बाहर चली जाय। भूमिमें गौके चरण चिह्नको देखकर वह निश्चय करता है कि गौ पूर्व दिशामें गई है। तत्पश्चात् वह पुरुष गौके चरणचिह्नोंको देखता हुआ पूर्व दिशामें जाता है। थोड़ी दूर जाने पर उसे गौ मिल जाती है। इसी प्रकार अधिकारीजनोंके प्राप्त करने योग्य इस संघातमें स्थित आनन्द स्वरूप आत्माको जब यह पुरुष निश्चय करता है तब सर्वभूत प्राणीमें स्थित सच्चिदानन्द स्वरूप आत्माका भी साक्षात्कार कर लेता है। इस संघातमें स्थित आत्माके ज्ञानके बिना सर्व व्यापक रूपसे आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण रूप मार्गमें गौके पैरके चिह्नकी तरह साक्षी रूपसे वर्तमान आत्मा को जब अधिकारी जन निश्चय करते हैं तब स्थावर जंगम रूप सम्पूर्ण जगत्को भी सत्-चित्-आनन्द आत्मा स्वरूपसे निश्चय करते हैं। हे देवराज! ऐसे आनन्द स्वरूप आत्माके लाभसे भिन्न इस लोकमें दूसरा कोई लाभ नहीं है।

आनन्द स्वरूप आत्माकी प्राप्ति ही परम लाभ है। इसके प्राप्त हो जानेपर जितने लौकिक यश-कीर्ति आदि अल्प पदार्थ हैं वे सभी आत्मज्ञानी पुरुषको प्राप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि जैसे लोकमें मनुष्यादि सभी प्राणियोंके पैर हाथीके पैरमें अन्तर्भूत हो जाते हैं तैसे आत्मज्ञानरूप फलमें सभी कर्मोंके फलोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए आत्मासे भिन्न सर्व पदार्थोंका परित्याग करके आनन्द स्वरूप आत्माका ज्ञान ही अवश्य सम्पादन करना चाहिये। अब इसी अर्थको और स्पष्ट करनेके लिये पुत्रादिक सर्व प्रिय पदार्थोंसे आत्मा अधिक प्रिय है इसे दिखलाते हैं—

हे देवराज इन्द्र! लोकमें आत्माको प्रिय कहते हैं और पुत्रादिक पदार्थोंको भी प्रिय कहते हैं। इन दोनोंमें आत्मा तो निरुपाधिक प्रीतिका विषय है इसलिये अतिशय प्रिय है और पुत्रादिक पदार्थ सोपाधिक प्रीतिके विषय हैं इसलिए अतिशय प्रिय नहीं है।

पुत्र, स्त्री, धन, तथा बान्धवादिकोंमें लोगों की प्रीति अपने आत्माके लिए ही होती है, पुत्रादिके लिये वह प्रीति नहीं होती, यदि पुत्रादि के लिये वह प्रीति होती तो वैरी पुरुषके पुत्रादि में भी वह प्रीति होनी चाहिये। किन्तु वैरीके पुत्रको कोई प्रिय नहीं मानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुत्रादिकोंमें जो प्रीति वह अपने आनन्दके लिये है। और अपने आत्मामें जो प्रीति है वह किसी दूसरेके आनन्दके लिये नहीं। इसलिये आनन्द आत्मा निरुपाधिक प्रीतिका विषय है और पुत्रादिक सोपाधिक प्रीतिके विषय हैं। इस कारणसे ही श्रुतिमें पुत्रादिक सर्व पदार्थोंसे आत्माको अधिक प्रिय कहा है।

आत्माकी अपेक्षा पुत्रादिकोंकी तरह प्राण आदि भी बाह्य हैं। इसलिये वे भी सोपाधिक प्रीतिके विषय हैं। स्थूलाकार परिणामको प्राप्त हुए शब्दादिक विषयोंसे प्राण विशिष्ट इन्द्रिय अन्तर है और इन्द्रियसे संकल्प विकल्प रूप मन, निश्चय रूप बुद्धि, अहंकार विशिष्ट जीव अव्याकृत नामक कारण अज्ञान, और शुद्ध आत्मा ये क्रमशः अन्दर हैं। शुद्ध आत्माके अन्दर कोई पदार्थ नहीं है। इसी अर्थको युक्ति पूर्वक स्पष्ट करते हैं—जैसे घटका द्रष्टा पुरुष घट रूप विषयसे अन्तर होता है, तैसे यह आनन्द स्वरूप आत्मा नेत्रादिक इन्द्रियोंसे रुपादिक विषयोंको जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माकी विशेषण जो इन्द्रियाँ हैं वे रुपादिक विषयोंकी अपेक्षासे अन्दर हैं। और यह आनन्द स्वरूप आत्मा मन द्वारा इन्द्रियोंको जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माका विशेषण जो मन है वह इन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्दरहै। निश्चय रूप बुद्धिसे मनको जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माका विशेषण जो बुद्धि है वह मनकी अपेक्षा अंदर है। अहंकार विशिष्ट जीवके द्वारा उस बुद्धि को जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माका विशेषण जो जीव है वह बुद्धिसे अन्दर है। और यह आनन्द स्वरूप आत्मा कारण अज्ञान उपहित साक्षी रूपसे अहंकार विशिष्ट जीवको जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माका विशेषण जो अज्ञान है वह जीवकी अपेक्षा अन्दर है। और यह आनन्द

स्वरूप आत्मा अपने स्वप्रकाश स्वरूपसे उस अज्ञानको प्रकाश करता है, इसलिये कारण अज्ञानसे आत्मा अन्दर है। और आत्मासे अंदर कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। किन्तु आत्माकी अपेक्षासे सभी अज्ञानादिक पदार्थ बाह्य हैं आत्मा ही सबके अन्तर है। इसलिये ही आत्मा आनन्द स्वरूप और सर्व पदार्थोंसे अतिशय प्रिय है।"

शंका—"हे भगवन! एक आत्मा ही प्रिय है। यह जो नियम आपने कहा, वह सम्भव नहीं। क्योंकि यद्यपि मुख्य प्रियता आत्मामें ही है, अन्य पुत्रादिमें नहीं तथापि गौण प्रियता पुत्रादिकोंमें भी सम्भव है। इसलिये पुत्रादिक पदार्थ भी प्रिय हैं।"

समाधान—"देवराज! श्रुतिमें आत्मासे भिन्न सभी पदार्थोंको नाशवान कहा गया है। इसलिये विचार करनेसे पुत्रादिक पदार्थोंमें गौण प्रियता भी सम्भव नहीं। जो पुरुष आत्मासे भिन्न शरीर पुत्र, धनादि पदार्थोंको प्रिय कहता है उस पुरुषके वे शरीर पुत्र धन आदि पदार्थ अवश्य नाशको प्राप्त होंगे। तात्पर्य यह कि जिन पुत्र, धनादिक पदार्थोंको लोगोंने प्रिय माना है वे पुत्रादि पदार्थ नाशवान हैं। इसलिये उनका वियोग अवश्यम्भावी है। कभी इस पुरुषके रहते ही पुत्र धनादिका नाश होता है और कभी पुत्र धनादिके रहते हुए भी उस पुरुषकी मृत्यु हो जाती है। इन दो प्रकारके वियोगसे जीवोंको अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये पुत्रादिक पदार्थोंमें बुद्धिमान पुरुषको प्रीति नहीं करनी चाहिए। नाशसे रहित आनन्द स्वरूप आत्मा ही प्रीति करने योग्य है।

हे देवराज इन्द्र! जो पुरुष केवल आत्मा को ही प्रिय जानता है, उस विद्वानके पास जाकर किसी पुरुषको आत्मासे भिन्न पुत्रादिक पदार्थोंको प्रिय नहीं कहना चाहिए। यदि कोई विद्वान पुरुषके पास जाकर कोई पुरुष अपने पुत्रादिको प्रिय कहेगा तो उस पुरुषके मिथ्या वचनको न स्वीकार करके वह विद्वान पुरुष "तेरे प्रिय पुत्रादिक नाशवान है इस प्रकार यदि कोई कह देगा तो उस महात्माके वचनसे शीघ्र ही उसके मनोमय पुत्रादिका नाश हो जायगा। इस पर दृष्टान्त देते हैं—जैसे कोई मूढ़ पुरुष रांगाको चाँदी मान किसी जौहरीके पास जाकर कहता है कि "यह चाँदी है।" उस पुरुषके मिथ्या बातको न सहन कर वह जौहरी "यह चाँदी नहीं राँगा है" इस प्रकार वचन जब कहेगा तभी उस जौहरीके वचनसे उस मिथ्या चाँदीका नाश हो जाता है। इसलिये आत्माको प्रिय जाननेवाले आत्मज्ञानी पुरुषोंके समक्ष अपने पुत्र धनादिको प्रिय नहीं कहना चाहिए।"

शंका—"आत्माको प्रिय जाननेवाले विद्वान पुरुषोंके वचन मात्रसे पुत्रादिक अनात्म पदार्थों का नाश सम्भव नहीं।"

समाधान—"आत्मज्ञानी विद्वान महात्मा जो आत्माको प्रिय जानता है वह "पुत्रादि नाशवान है" इस प्रकारके वचन मात्रसे उनके नाश करनेमें समर्थ है।"

शंका—"विद्वान पुरुष तो राग द्वेषसे रहित दयालु होते हैं, अतः "तेरे पुत्र आदि नाशवान हैं" इस प्रकारका कठोर वचन कैसे उच्चारण करेंगे।"

समाधान—"हे देवराज ! यदि कभी विद्वान पुरुष ऐसा वचन न भी कहे तो भी विद्वान महात्माके सामने मिथ्या वचनका उच्चारण नहीं करना चाहिये। क्योंकि श्रुतिमें ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्म स्वरूप कहा है। इसलिये जैसे परमेश्वर वचन उच्चारणके बिना ही जीवोंको पुण्य-पाप के फल सुख-दुःख देते हैं तैसे परमेश्वर स्वरूप विद्वान पुरुष भी वचन उच्चारणके बिना भी पाप-पुण्यका फल देते हैं। विद्वान पुरुषके समीप जाकर जो पुरुष सत्य वचनका उच्चारण रूप शुभ कर्म करते हैं उन्हें सुखकी प्राप्ति होती है और जो असत्य वचनका उच्चारण रूप पाप कर्म करते हैं उनको दुःखकी प्राप्ति होती है। इसलिये विद्वान पुरुषको निर्दय नहीं कहा जा सकता।"

शंका—"पहले आपने कहा है कि विद्वान पुरुषोंके समक्ष अनात्म पदार्थोंको प्रिय कहनेसे उनका नाश हो जाता है। यह आपका कथन संभव नहीं। क्योंकि इस जन्ममें किए हुए पाप-पुण्य कर्मोंके फलकी प्राप्ति इस जन्ममें नहीं बल्कि अगले जन्म-जन्मान्तरमें होती है। ऐसा शास्त्रोंमें कहा है।"

समाधान—"यद्यपि बहुत स्थानमें तो जन्मान्तरमें ही पुण्य-पाप कर्मका फल प्राप्त होता है तथापि अत्यन्त उग्र पाप-पुण्य कर्मोंका फल इस जन्ममें ही प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञानी विद्वान के सामने मिथ्या वचनका उच्चारण अत्यन्त उग्र पाप कर्म है। इसलिये इस पाप कर्मका फल इसी जन्ममें मिलता है।

इसके विपरीत विद्वान पुरुषोंके समीप जाकर जो कोई पुरुष आत्माको ही प्रिय कहता है तो उस पुरुषके पुत्र धनादिक पदार्थ नाश न होकर आयुष्य एवं वृद्धिको प्राप्त करते हैं। अतः वैराग्य आदि साधनोंसे रहित जो पुरुष प्रियरूप करके आत्माको जाननेमें समर्थ नहीं हों और पुत्र धनादि प्रिय पदार्थोंके जीवनकी इच्छा करते हों उन्हें प्रिय रूपसे आत्माकी उपासना करनी चाहिए। इस उपासनासे उस पुरुषके पुत्र धनादि पदार्थ चिरकाल तक जीवित रहेंगे।"

शंका—"यथार्थ अनुभव ज्ञानसे उपासनाके कितने भेद हैं?"

समाधान—"ध्यान करने योग्य वस्तुके विद्यमान अथवा अविद्यमान होने पर केवल गुरु शास्त्रके वचनसे उत्पन्न मानस ज्ञानमें विश्वास करके गुरु-शास्त्र उपदेशित अर्थमें सजातीय वृत्तियोंके प्रवाहसे विजातीय वृत्तियोंके अवरोधको उपासना कहते हैं।

जैसे श्रुतिमें स्वर्ग, मेघ, मनुष्यलोक, पुरुष, योषित् इन पाँचोंकी अग्निरूपसे उपासना कही है। वहाँ स्वर्गादिक यद्यपि अग्निरूप नहीं है, तथापि गुरु-शास्त्रके वचनसे उन स्वर्गादिकोंमें पुरुषकी अग्नि बुद्धि होती है। उनमें विश्वास मात्रसे स्वर्गादिकोंमें निरन्तर अग्नि-आकार सजातीय वृत्तियोंका प्रवाह होता है। और उससे घटादि विषयक विजातीय वृत्तियोंका निरोध होता है। इसका नाम उपासना है तात्पर्य यह कि यथार्थ अनुभव रूप प्रमा ज्ञान तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों तथा विषयके अधीन होता है। और उपासना प्रमाण तथा विषयके अधीन नहीं होती, बल्कि गुरु-शास्त्रके वचनमें विश्वासके अधीन है। यही दोनोंका भेद है।

इसके पहले प्रियरूपसे आत्माके उपासना का फल पुत्रादि प्रिय पदार्थोंका जीवन वृद्धि कहा। अब प्रियरूपसे आत्माके यथार्थ अनुभव का फल कहते हैं—हे देवराज इन्द्र! जो पुरुष आनन्द स्वरूप आत्माको प्रियरूप करके जानता है वह पुरुष सर्व देवता स्वरूप होता है। इसमें तुम्हें किंचित मात्र भी संशय नहीं करना चाहिए। इसलिये आनन्द स्वरूप आत्माके ज्ञान से अधिकारी पुरुषोंको सर्वात्म भावकी प्राप्ति होती है। यह मैं अपने मनकी युक्तिसे नहीं कह रहा हूँ। इस विषयका एक प्राचीन वृत्तांत है। उसे तुम सुनो—

एक समय किसी देशमें वेद तथा शास्त्रोंमें निपुण अनेक ब्राह्मणोंका समाज एकत्र हुआ। वहाँ नाना प्रकारकी लौकिक वैदिक वार्ता चल रही थी। उनमें से किसी विद्वान ब्राह्मणने उपस्थित समाजसे प्रश्न किया—"सज्जनों, ब्रह्म विद्याको जानने वाले पुरुष कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानसे सर्वात्म भावकी प्राप्ति होती है। इस पर मुझे संशय है। जिस ब्रह्मज्ञानसे अधिकारी जनोंको सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है, वह ब्रह्म भी किसी पदार्थके ज्ञानसे सर्वात्म भावको प्राप्त हुआ है अथवा किसी पदार्थके ज्ञानके विना ही सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ है। इन दोनों पक्षोंमें, किसी पदार्थके ज्ञानसे वह ब्रह्म सर्वात्म भावको प्राप्त हुआ है। यह प्रथम पक्ष अंगीकार करें तो जिस पदार्थके ज्ञानसे ब्रह्मको सर्वात्मभाव प्राप्त हुआ है, उस पदार्थका निरूपण करना चाहिए। और किसी पदार्थके ज्ञान विना ही सर्वात्म भाव की प्राप्ति हुई है, यह दूसरा पक्ष अंगीकार करें तो ब्रह्म का ज्ञान निष्फल होगा। क्योंकि जैसे ब्र[ह्म] को ज्ञानके विना ही सर्वात्मभावकी प्राप्ति हुई है वैसे ही अन्य अधिकारियोंको भी ब्रह्मज्ञान[के] विना ही सर्वात्मभावकी प्राप्ति होगी। सर्वात्म भावकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मज्ञानका सम्पादन करना निष्फल है। किसी पदार्थके ज्ञानसे ब्र[ह्म] सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ है, इस प्रथम पक्षमें भी यह विचार करना चाहिए कि वह ब्रह्म अपने से भिन्न किसी पदार्थके ज्ञानसे सर्वात्म भावको प्राप्त हुआ है अथवा अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ है। इन दोनों पक्षोंमें यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करेंगे तो ब्रह्मज्ञान निष्फल होगा। क्योंकि जिस अन्य पदार्थके ज्ञानसे ब्रह्मको सर्वात्मभावकी प्राप्ति हुई है उसी अन्य पदार्थके ज्ञानसे दूसरे अधिकारीजनोंको भी सर्वात्म भावकी प्राप्ति हो जायगी। सर्वात्म भावकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मज्ञानका सम्पादन करना व्यर्थ है। और वह ब्रह्म अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ है यह दूसरा पक्ष यदि स्वीकार करेंगे, तो भी ब्रह्मज्ञान निष्फल हो जायगा। क्योंकि जैसे ब्रह्मको अपने स्वरूप के ज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति हुई है तैसे अन्य अधिकारीजनोंको भी अपने आत्म-स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति हो जायगी। सर्वात्मभावके प्राप्तिके लिये ब्रह्मज्ञानका सम्पादन निष्फल हैं।" हे इन्द्र! इस प्रकार ब्रह्म तथा आत्मका परस्पर भेद स्वीकार करके उस ब्राह्मण ने सर्वब्राह्मण समाजसे प्रश्न किया।

प्रश्नको सुनकर ब्राह्मण समाजने अन्य किसी पदार्थके ज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति

होती है यह प्रथम पक्ष और बिना ही ज्ञानके सर्वात्म भावकी प्राप्ति होती है यह द्वितीय पक्ष का त्यागकर आत्माके ज्ञानसे सर्वात्म भावकी प्राप्ति होती है इस तृतीय पक्ष तथा आत्मा ब्रह्मके अभेदको अंगीकार करके उत्तर दिया—"अज्ञान तथा अन्य किसी पदार्थके ज्ञानसे वह ब्रह्म सर्वात्म भावको नहीं प्राप्त हुआ, किन्तु ब्रह्म और आत्म शब्दका अर्थ जो अपना स्वरूप है उसके ज्ञानसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ है। इसलिये जैसे आत्माके ज्ञानसे ब्रह्म सर्वात्म भावको प्राप्त हुआ है तैसे सर्वात्म भावकी प्राप्तिके लिये अन्य अधिकारीजनोंको भी आत्माका ज्ञान ही सम्पादन करना चाहिये।"

शंका—"ब्रह्मज्ञानके बिना केवल आत्माके ज्ञानमात्रसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति सम्भव नहीं।"

समाधान—"वह ब्रह्म किसी प्राणीकी आत्मा से भिन्न नहीं किन्तु सब प्राणियोंका आत्मा रूप है। इसलिए आत्माका ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है और ब्रह्मज्ञान ही आत्माका ज्ञान है।"

अब ब्रह्म तथा आत्माका अभेद बतलानेके लिये युक्ति और शास्त्रके अनुसार उनका अर्थ निरुपण करते हैं—

देशकाल वस्तु परिच्छेदसे रहित तथा सबसे अधिक जो अर्थ है उसको ब्रह्म शब्द बोधन करता है, तैसे देश-काल-वस्तु परिच्छेद से रहित तथा सबके अन्तर व्यापक जो अर्थ है उसको आत्मा शब्द बोधन करता है। यहाँ देशकाल वस्तु परिच्छेदसे रहित ब्रह्ममें जो सबसे अधिकता है, वह सबके साथ अभेद रूप है। अभेदसे भिन्न कोई दूसरी ब्रह्ममें अधिकता नहीं। तैसे देश काल वस्तु परिच्छेदसे रहित आत्मामें जो सबके अन्तर व्यापकता है वह भी सबके साथ अभेद रूप है, अभेदसे भिन्न कोई दूसरी व्यापकता आत्मामें नहीं। यदि ब्रह्म तथा आत्मा का किसी देश काल स्थूल सूक्ष्म पदार्थके साथ भेद अंगीकार करें तो पूर्वोक्त ब्रह्म और आत्म शब्दका अर्थ उनमें नहीं घटेगा। इसलिये जैसे हस्त और कर शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं तैसे ब्रह्म और आत्म शब्द सर्वभेदसे रहित एक अद्वितीय चैतन्यके बोधक हैं।"

शंका—"सर्व भेदसे रहित अद्वितीय चैतन्य ब्रह्म तथा आत्म शब्दका अर्थ है, यह आपने कहा, परन्तु वह सम्भव नहीं। क्योंकि लोकमें ब्रह्म और आत्माका भेद ही प्रतीत होता है।"

समाधान—"ब्रह्ममें जो भेद प्रतीत होता है वह वस्तुतः ब्रह्ममें भेद नहीं किन्तु उपाधिके सम्बन्धसे ब्रह्ममें भेद प्रतीत होता है। अतः वह भेद मिथ्या है। जैसे आकाशमें यद्यपि वास्तविक भेद नहीं है तथापि आकाशमें उत्पन्न मेघ, बिजली आदि भेद रहित आकाशमें भी भेद उत्पन्न करते हैं। तैसे ब्रह्ममें यद्यपि वास्तविक भेद नहीं तथापि ब्रह्म से उत्पन्न स्थूल सूक्ष्म पदार्थ भेद रहित ब्रह्ममें भी भेद उत्पन्न करते हैं। इसीको और स्पष्ट करते हैं—जैसे भेदसे रहित आकाशमें कल्पित गन्धर्व नगर प्रतीत होता है। उस कल्पित गन्धर्व नगर उपाधिसे आकाशका प्रथम भेद प्रतीत होता है। इसके बाद गन्धर्व नगरमें स्थित जो नाना प्रकारके घर हैं, उनसे आकाशका भेद प्रतीत होता है। उसके बाद घरोंमें स्थित घटादि पदार्थोंसे

आकाशका भेद प्रतीत होता है। इस प्रकार उपाधिके सम्बन्धसे भेद रहित आकाशमें अनेक भेद प्रतीत होते हैं। इसलिये वे सम्पूर्ण भेद आकाशमें कल्पित हैं। तैसे ही भेदरहित आनंद स्वरूप आत्मामें प्रथम आकाशादिक पंचमहाभूतोंसे भेद प्रतीत होता है। उसके बाद पंच महाभूतोंमें स्थित स्थूल सूक्ष्म शरीरोंसे आत्मामें भेद प्रतीत होता है। इसके बाद प्राण बुद्धि इन्द्रियादिकोंसे आत्मामें भेद प्रतीत होता है। इस प्रकार उपाधिके सम्बन्धसे भेदरहित आत्मामें अनेक प्रकारका भेद प्रतीत होता है। इसलिये वे सम्पूर्ण भेद आत्मामें कल्पित हैं। उस कल्पित भेदसे आत्माकी वास्तविक एकता निवृत्त नहीं होती। इसलिये आत्मा तथा ब्रह्मका परस्पर भेद नहीं बल्कि अभेद ही है। और ब्रह्मवेत्ता महात्मा पुरुष ब्रह्मज्ञानसे जो सर्वात्म भावकी प्राप्ति कहते हैं वह उनका कहना मिथ्या नहीं, यथार्थ है। क्योंकि समष्टि व्यष्टि उपाधिवाला ब्रह्म पूर्व-पूर्व ब्रह्मज्ञान द्वारा ही सर्वात्म भावको प्राप्त हुआ है।"

शंका—"यदि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है तो अपने व्यापक स्वरूपको सदा क्यों नहीं जानता है ?

समाधान—"जैसे निद्रामें सोया हुआ महाराजा निद्रा दोषसे अपने महाराजपनेको नहीं देखता किन्तु स्वप्नमें अपनेको दरिद्र मानता है। तैसे अज्ञान रूप मायासे आवृत्त हुआ यह ब्रह्म अपने व्यापक स्वरूपको नहीं देखता किन्तु अविद्यासे अपनेको परिच्छिन्न मानता है। जैसे भेदरहित शुद्ध आकाशमें मेघ, धूआँ, हवा आदिक उपाधियाँ नाना प्रकारका भेद उत्पन्न करती हैं तैसे भेदसे रहित शुद्ध आत्मामें भी अज्ञान रूप माया ही भेदका कारण है। जैसे रात्रि कालमें अन्धकार सूर्यके प्रकाशको आच्छादन करता है तैसे संसार कालमें अज्ञानरूप माया प्रकाश स्वरूप आत्माको आच्छादन करती है। जैसे चारों ओरसे घनघोर वन द्वारा घिरे हुए किसी ग्राममें रहनेवाले पुरुषको शत्रु सेना और उससे होनेवाली लूट मारका अज्ञान रहता है और कभी दैवयोगसे उस ग्रामवासी पुरुषको जब शत्रुराजाकी सेना और लूटनेका दर्शन होता है तब उस दर्शनसे वनवासी पुरुषके पूर्व अज्ञानकी निवृत्ति होती है। और एक बार निवृत्त हुआ वह अज्ञान पुनः कभी भी उत्पन्न नहीं होता। तैसे उस आत्मरूप ब्रह्ममें अनादि कालका अज्ञान रहता है। जबतक अधिष्ठान आत्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक अज्ञानकी निवृत्ति किसी उपायसे भी नहीं होती। किन्तु अधिष्ठान आत्माके साक्षात्कारसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती है। और अधिष्ठान आत्माके ज्ञानसे नष्ट हुआ अज्ञान पुनः कभी भी उत्पन्न नहीं होता है।"

शंका—"अधिष्ठान आत्माके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति आपने कही है, वह सम्भव नहीं। क्योंकि यदि अज्ञान घटादि पदार्थोंकी तरह भावरूप हो तो उसकी ज्ञानसे निवृत्ति सम्भव है। परन्तु वह अज्ञान भावरूप नहीं है, किन्तु ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान है।"

समाधान—"ज्ञानका अभाव रूप अज्ञान नहीं। क्योंकि प्रकाश स्वरूप जो आत्मा है

वही ज्ञान स्वरूप है, आत्मासे भिन्न जड़ बुद्धि आदि ज्ञान रूप नहीं और वह ज्ञानरूप आत्मा नित्य है। अतः उसका अभाव मानना सम्भव नहीं।"

शंका—"यदि आत्मा ही एक ज्ञान रूप होवे तो सब लोगोंको अन्तःकरणकी वृत्तिमें "घट ज्ञान मुझे उत्पन्न हुआ, मुझे पट ज्ञान उत्पन्न हुआ" इस प्रकार ज्ञान व्यवहार होता है, वह नहीं होना चाहिए। क्योंकि आपके मतमें आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ ज्ञान रूप नहीं है। केवल एक आत्मा ही ज्ञान रूप है।"

समाधान—"जैसे लोहेके पिण्डमें दाह करनेकी शक्ति तथा प्रकाश करनेकी शक्ति यद्यपि नहीं है तथापि जब अग्निके साथ लोहे का तादात्म्य सम्बन्ध होता है तब वह लोह पिण्ड दाह और प्रकाश करता है, ऐसा लोग कहते हैं। तैसे ही जड़ अन्तःकरण और उसकी वृत्तियोंमें यद्यपि वास्तविक प्रकाशपना नहीं तथापि प्रकाश स्वरूप आत्माका जब अन्तःकरण के साथ तादात्म्य अध्यास होता है तब अन्तः-करण और उसकी वृत्तियोंमें प्रकाशपना प्रतीत होता है। उस अन्तःकरणमें आत्माका ही प्रकाश है। इसलिये अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें जो लोगों का ज्ञान व्यवहार है वह गौण है, मुख्य नहीं। आत्मा ही मुख्य ज्ञानरूप है।"

शंका—"अन्तःकरणादिक जड़ पदार्थोंमें प्रकाश धर्म न हो तथापि आत्माका धर्म जो प्रकाश है उसके अभावका नाम अज्ञान है।"

समाधान—"आत्मासे भिन्न यदि ज्ञानरूप प्रकाश अंगीकार करें तो आत्मा और प्रकाशमें जड़ भावकी प्राप्ति होगी। क्योंकि भेदवाला पदार्थ विकार रूप होता है और जो विकार रूप है वह जड़ रूप होता है, जैसे घटादि पदार्थ हैं। और यदि आत्माको तथा उसके प्रकाशको जड़ रूप अंगीकार करोगे तो जो-जो पदार्थ जड़ होता है वह अनात्मा ही होता है, जैसे घट और घटका सफेद लाल आदि रूप दोनों जड़ हैं इसलिए अनात्मा हैं। इस प्रकार आत्मा तथा प्रकाश दोनों जड़ होनेसे अनात्मा हो जायेंगे, और वह तुम्हें भी स्वीकार नहीं। इसलिये आत्मासे प्रकाश भिन्न नहीं और जैसे आत्मासे प्रकाश भिन्न नहीं तैसे आत्मा-प्रकाश दोनोंसे आनन्द भी भिन्न नहीं। यदि आत्मा-प्रकाश इन दोनोंसे आनन्द भिन्न हो तो आत्मा-प्रकाश आनन्द इन तीनोंमें पूर्वोक्त रीतिसे अनात्मभाव की प्राप्ति होगी। जैसे अन्य किसी पुरुषका शरीर, शरीरमें स्थित गौरत्वादिक धर्म तथा उनको प्रकाश करने वाला दीपक इन तीनोंका परस्पर भेद है, इसलिए इन तीनोंमें अनात्मता अनुभव द्वारा सिद्ध है तैसे ही आत्मा-प्रकाश आनन्द इन तीनोंको यदि परस्पर भिन्न स्वीकार करेंगे तो तीनोंमें अनात्मता सिद्ध होगी। इस-लिये आत्मा-प्रकाशसे आनन्द भिन्न नहीं। किन्तु आत्मा ही प्रकाशस्वरूप आनन्द-स्वरूप है।"

यदि वादी प्रकाशरूप आत्मामें प्रकाश धर्म मानते हैं। तो उनसे हम पूछते हैं कि प्रकाश रूप आत्मामें जो प्रकाश धर्म रहता है वह अन्तः-करणादिके जड़ पदार्थोंके भानके लिये है अथवा आत्माके भानके लिये है? यहाँ प्रथम पक्ष तो

सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मारूप प्रकाशसे ही अन्तःकरणादिक जड़ पदार्थोंका भान सम्भव हो सकता है। इसलिये अन्तःकरणादिके प्रकाशके लिये आत्मामें प्रकाश धर्म मानना निष्फल है। और दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रकाश रूप आत्मामें यदि अन्य प्रकाशसे प्रकाश्यता स्वीकार करोगे तो आत्माको जड़ मानना पड़ेगा। क्योंकि जो-जो पदार्थ अन्य प्रकाश द्वारा प्रकाश्य हैं वे जड़ होते हैं। जैसे नेत्र जन्य अन्तःकरणकी वृत्ति अविच्छिन्न चैतन्य द्वारा दीपादिक पदार्थ प्रकाश्य हैं इसलिये दीपादि जड़ हैं। तैसे आत्मा भी यदि अन्य प्रकाश द्वारा प्रकाश्य होगा तो दीपादिकोंकी तरह जड़ ही होगा। और वह आत्माकी जड़ता तुम्हें स्वीकार नहीं है। इसलिये अपनेसे भिन्न प्रकाश द्वारा आत्मा प्रकाश्य नहीं।

अथवा, प्रकाश स्वरूप आत्मा जिस अन्य प्रकाश द्वारा प्रकाश्य है, वह प्रकाश भी किसी अन्य प्रकाश द्वारा प्रकाश्य है अथवा नहीं? यदि कहो—वह अन्य प्रकाश किसी अन्य प्रकाश द्वारा प्रकाश्य नहीं किन्तु स्वप्रकाश है, तो प्रथम आत्मरूप प्रकाशको स्वप्रकाश माननेमें कौन अपराध है? आत्मारूप प्रकाशको छोड़कर द्वितीय प्रकाशको स्वप्रकाश माननेमें केवल व्यर्थ ही तुम्हारा प्रयास है। और यदि कहो—वह दूसरा प्रकाश भी किसी तीसरे प्रकाशसे प्रकाश्य है तो वह तीसरा प्रकाश किसी चतुर्थ प्रकाश से प्रकाश्य है, इस प्रकार तुम्हें अनवस्था दोष प्राप्त होगा। इसलिये प्रकाश स्वरूप आत्मा किसी अन्य प्रकाशसे प्रकाश्य नहीं किन्तु अपने स्वप्रकाश रूपसे आत्मा अपनेको तथा जड़ अन्तःकरणादिकोंको प्रकाशित करता है। इस लिये आत्मा ही ज्ञान स्वरूप है और तीन कालमें नित्य है। ऐसे ज्ञान स्वरूप आत्माका अभाव किसी प्रकार सम्भव नहीं। इसलिये ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान है, यह जो तुमने पहले कहा था, वह अत्यन्त विरुद्ध है।"

शंका—"आत्मा सत्यरूप तथा प्रकाशरूप नहीं किन्तु शून्यरूप है। इसलिए शून्यरूप आत्मामें प्रकाश धर्म सम्भव है।"

समाधान—"हे ब्राह्मण, यदि आत्माको शून्यरूप अंगीकार करोगे तो जैसे असत्य नर-शृङ्गमें आत्मता नहीं है तैसे असत्य आत्मामें भी आत्मता नहीं रहेगी। और आत्मामें आत्मताका अभाव तुमको भी अंगीकार नहीं। अतः आत्मा शून्यरूप नहीं है। अथवा, आत्मा को शून्यरूप मानकर उसमें प्रकाश धर्म अंगीकार करना यह भी अत्यन्त विरुद्ध है। क्योंकि सत्य वस्तु ही अधिष्ठान होती है। असत्य वस्तु किसी पदार्थका अधिष्ठान होती नहीं। यदि असत्य वस्तु भी किसीका अधिष्ठान होवे तो वन्ध्या पुत्र भी रूपादिक गुणोंका अधिष्ठान होना चाहिये और वन्ध्यापुत्रमें रूपादि गुणोंकी अधिष्ठानता कोई अंगीकार नहीं करता। इसलिये सर्वका अधिष्ठान आत्मा शून्यरूप नहीं।

अथवा—यदि आत्मा नरशृङ्गकी तरह असत् होवे तो जैसे नरशृङ्गकी अस्ति रूपसे प्रतीति किसी भी प्राणीको होती नहीं तैसे आत्माकी भी अस्ति रूपसे प्रतीति नहीं होनी चाहिये और सर्व प्राणियोंको "अहं अस्मि" इस प्रकार

अस्तिरूपसे आत्माकी प्रतीति होती है। इसलिए मनुष्यके सींगकी तरह आत्मा असत्य नहीं किंतु सर्वदा सत्य रूप है। उस सत्य स्वरूप आत्मा का अभाव कभी सम्भव नहीं, इसलिये ज्ञानका अभावरूप अज्ञान नहीं, किन्तु वह अज्ञान भाव रूप है। उस भाव रूप अज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्म-विद्या द्वारा सम्भव है।

अब ब्रह्मविद्याके स्वरूपका निरूपण करते हैं—

सर्वभेदसे रहित, स्वप्रकाश, सत्य स्वरूप, तथा आनन्द स्वरूप आत्माको विषय करनेवाली तथा महावाक्यसे उत्पन्न हुई चैतन्यके आभास युक्त अन्तःकरणकी वृत्तिका नाम ब्रह्मविद्या है। इस प्रकारकी ब्रह्मविद्या जब तक नहीं उत्पन्न होती तब तक जीवोंके अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। और जब तक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती तब तक जन्ममरण रूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये जन्ममरण रूप संसारकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मविद्याका अवश्य सम्पादन करना चाहिये।

हे ब्राह्मणों! यद्यपि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म सभी जीवोंका आत्मा स्वरूप है तथापि ब्रह्म विद्याके बिना अज्ञानसे आवृत्त हुआ यह ब्रह्म जन्म-मरण रूप संसारसे जीवोंकी रक्षा नहीं करता है। किन्तु ब्रह्म विद्यासे अज्ञान के निवृत्त होनेके बाद आवरणसे रहित तथा अनुभवका विषय हुआ ब्रह्म जन्म-मरण रूप संसारसे जीवोंकी रक्षा करता है। जैसे घरमें गड़ा हुआ धन जब तक घर वाले पुरुषसे अज्ञात रहता है तब तक उसकी दरिद्रताको दूर नहीं करता और वही धन जब गृही पुरुषको ज्ञात हो जाता है तब वह उसकी दरिद्रताको दूर कर देता है। तैसे ही सर्व जीवोंके हृदय देशमें स्थित यह आनन्द स्वरूप आत्मा जब तक जीवों द्वारा अज्ञात है तब तक जन्म-मरण रूप संसारसे उनकी रक्षा नहीं करता और जब यह आनन्द स्वरूप आत्मा ब्रह्म विद्या द्वारा ज्ञात हो जाता है तब जन्म-मरण रूप संसारसे जीवोंकी रक्षा करता है। इसलिये जन्म-मरण रूप संसारकी निवृत्तिके लिये तथा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये अधिकारीजनोंको ब्रह्मविद्या अवश्य सम्पादन करना चाहिए।

जो आत्मारूप ब्रह्म अपरोक्ष ज्ञानका विषय होकर जन्म-मरण रूप संसारसे जीवोंकी रक्षा करता है वही ब्रह्म समष्टि कारण अज्ञान रूप उपाधिसे युक्त होकर ईश्वर भावको प्राप्त होता है, वही ब्रह्म समष्टि सूक्ष्मरूप उपाधिसे युक्त होकर हिरण्यगर्भ भावको प्राप्त होता है। और वह माया विशिष्ट ईश्वर तथा हिरण्यगर्भ जीवों की तरह गुरु उपदेशसे ब्रह्म ज्ञानको प्राप्त नहीं होता, किन्तु आपही स्वतन्त्र वेदान्तके अर्थको विचार करके ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है। यहाँ माया विशिष्ट ईश्वर और हिरण्यगर्भमें इतनी विशेषता है। ईश्वरका उपाधि जो कारण अज्ञान है वह "अहं अज्ञः" इस प्रकार अहंकारमें आरूढ़ होकर आवरणरूप व्यामोहको उत्पन्न करता है। अहंकारमें आरूढ़ हुए बिना केवल अज्ञान आवरणरूप व्यामोहको उत्पन्न नहीं करता। वह अहंकार परमेश्वरमें नहीं, इसलिये सर्वज्ञ परमेश्वर को आवरणसे रहित सर्वदा वेदान्तके अर्थका

अनुसंधान रहता है। और समष्टि सूक्ष्मरूप कार्य उपाधिवाला जो हिरण्यगर्भ है उसमें अहंकार रहता है। इसलिये वह हिरण्यगर्भ किंचित् आवरणको अनुभव करके ही वेदान्तके अर्थका अनुसंधान करता है। इतनी विलक्षणता यद्यपि ईश्वर और हिरण्यगर्भमें है तथापि गुरुके उपदेश की दोनोंको अपेक्षा नहीं। जैसे अग्नि, जल, वायु, वृक्ष, अण्डज आदि चार प्रकारके प्राणी ये सभी भय, व्यथा, शब्द, वेदना द्वारा जीवोंको निद्रासे जाग्रत करते हैं, उन अग्नि जल आदिकों से रहित जो कोई देश उस देशमें शयनसे नाना प्रकारके स्वप्नोंको देखता हुआ तथा गाढ़ सुषुप्ति को प्राप्त हुआ सर्वज्ञानसे रहित कोई पुरुष आपही निद्रासे जाग्रत हो जाता है तैसे, समष्टि कारण अज्ञानरूप उपाधिमें स्थित हुआ ईश्वर तथा समष्टि सूक्ष्मरूप उपाधिमें स्थित हुआ हिरण्यगर्भ गुरु उपदेशके विना आपही वेदान्त के अर्थका विचार करके अपने अद्वितीय स्वरूप को प्राप्त होते हैं। इसलिये माया विशिष्ट परमेश्वर में तथा हिरण्यगर्भमें गुरुके उपदेशकी अपेक्षा नहीं है।"

शंका—"माया विशिष्ट परमेश्वर तथा हिरण्यगर्भको गुरु उपदेशके विना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है यह जो आपने पहले कहा है, वह यद्यपि सम्भव नहीं तथापि परमेश्वर तथा हिरण्यगर्भमें जगतके उत्पत्ति स्थितिकी कारणता भी सम्भव नहीं। क्योंकि परमेश्वरमें जगत की उत्पत्तिका अनुकूल कोई व्यापार नहीं है और लोकमें व्यापार वाले ही कुम्हार आदिक घटादिकोंके कारण होते हैं। व्यापारसे रहित कोई कारण देखा नहीं।"

समाधान—"शुद्ध चैतन्यको यदि हम जगत् का कारण अंगीकार करें तो यह तुम्हारा पूर्व पक्ष सम्भव है। उस शुद्ध ब्रह्मको जगतका कारण हम भी अंगीकार नहीं करते हैं। किन्तु माया विशिष्ट ईश्वरको जग्तका कारण हम स्वीकार करते हैं। इसलिये जैसे स्वप्न तथा गाढ़ सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुआ जो व्यष्टि उपाधि वाला जीव है, उसमें स्वप्न पदार्थोंके उत्पत्तिका बीजरूप अज्ञानका अनुभव तथा अपनी समीपता मात्रसे प्राणोंका धारण रूप कर्म विद्यमान है, तैसे माया विशिष्ट परमेश्वर में तथा समष्टि सूक्ष्म उपाधिवाले हिरण्यगर्भमें जगतके उत्पत्तिका अनुकूल व्यापार सम्भव है। हे ब्राह्मणों। जैसे स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुआ जो जीव है, उसको जब व्यष्टिकारण रूप उपाधि तथा व्यष्टि सूक्ष्मरूप उपाधिसे भिन्न करेंगे तब उस जीवके निर्गुण स्वरूपमें किंचित् मात्र भी कर्म सम्भव नहीं है। तैसे समष्टि कारण अज्ञान रूप उपाधिवाले ईश्वर तथा समष्टि सूक्ष्मरूप उपाधिवाले हिरण्यगर्भको जब समष्टि कारण अज्ञान तथा समष्टि सूक्ष्मरूप उपाधिसे भिन्न करेंगे तो उसके निर्गुण स्वरूपमें किंचित् भी कर्म सम्भव नहीं।

शंका—"यदि ब्रह्म वास्तवमें निर्गुण है तो ब्रह्म विद्याको अपनेमें किसलिये धारण करता है?"

समाधान—"जैसे व्यष्टि शरीरमें वास्तवमें अकर्ता अभोक्ता पुरुषका जो निद्रासे जागरण होता है वह अपने भोगके लिये नहीं किन्तु अन्तःकरणके धर्म स्थूल भोगोंके लिये होता है, तैसे वास्तवमें अकर्ता अभोक्ता परमा-

ब्रह्म विद्याको जो धारण करता है वह केवल जीवोंके हितके लिये धारण करता है, परमेश्वर का अपना कोई स्वार्थ नहीं है।"

शंका—"यदि परमेश्वरका अपना कोई प्रयोजन नहीं तो जगतके उत्पन्न करनेमें परमेश्वरको प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि लोकमें जिस पुरुषकी प्रवृत्ति होती है वह अपने स्वार्थके लिये ही होती है। स्वार्थके विना चेतन जीवोंकी प्रवृत्ति होती नहीं।"

समाधान—"जैसे इस लोकमें ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने स्वरूपके साक्षात्कारको प्राप्त होकर सर्व पदार्थोंकी कामनासे रहित होता है। इसलिये ब्रह्मवेत्ता गुरुका यद्यपि अपना कोई स्वार्थ नहीं है तथापि हम मुमुक्षु जनोंके कल्याणके लिये उपदेश रूप कार्यमें प्रवृत्त होता है। तैसे परमात्मादेव यद्यपि अपने स्वार्थसे रहित है तथापि जीवोंके भोगके लिये जगतके उत्पत्ति रूप कार्यमें प्रवृत्त होता है।

शंका—"यदि सर्व जीवोंके सुखके लिये ही परमेश्वर प्रवृत्त होता है तो परमेश्वर जीवोंको देहरूप बन्धन गृहमें किसलिए डालता है?"

समाधान—"जैसे लोकमें ब्रह्मवेत्ता गुरु शिष्योंको नाना प्रकार क्लेशोंको देनेवाले ब्रह्मचर्य आदिक धर्मोंका उपदेश करता है। गुरुका वह उपदेश ऊपरसे तो दुःखका कारण प्रतीत होता है तथापि वह उपदेश दुःखका कारण नहीं किन्तु मुमुक्षुजनोंके चित्तकी शुद्धि द्वारा मोक्ष रूप सुखका साधन है। तैसे परमेश्वर भी अवश्य भोगने योग्य कर्मोंके भोगके लिये तथा साधन सम्पत्ति द्वारा मोक्षरूप सुखकी प्राप्तिके लिये जीवोंको शरीर आदि देता है। जैसे लोकमें गुरुके उपदेशको पालन करते हुए शिष्य बादमें परम आनन्दको प्राप्त होता है तैसे परमेश्वर द्वारा कहे वेदोंको श्रद्धापूर्वक मानते हुए जीव अन्तमें परमानन्दको प्राप्त होता है। इसलिये परमेश्वरकी आज्ञारूप वेदोंको अवश्य मानना चाहिए।"

शंका—"हे भगवन! द्वैत भावका विरोधी जो ब्रह्मविद्या उससे नित्य युक्त हुआ परमेश्वर किस प्रकार द्वैत जगतको उत्पन्न करेगा।"

समाधान—"जैसे ब्रह्म साक्षात्कारसे युक्त ब्रह्मवेत्ता पुरुष निद्रामें सोया हुआ स्वप्न भोग को देनेवाले प्रारब्ध कर्मके वशसे नाना प्रकारके जगतको उत्पन्न करता है तैसे यह परमात्मादेव ब्रह्म विद्यासे अपने स्वरूपको जानता हुआ भी मायासे सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपंचको उत्पन्न करता है। यहाँ इतनी विशेषता है कि ब्रह्म साक्षात्कारसे युक्त जो निष्काम पुरुष है वह अपने कर्मोंके अनुसार स्वप्न पदार्थोंको उत्पन्न करता है और माया विशिष्ट परमात्मामें पुण्य-पाप रूप कर्म हैं नहीं, इसलिये अपने कर्मोंके अनुसार परमेश्वर जगत्को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जीवोंके पुण्य-पाप रूप कर्मोंके अनुसार परमेश्वर जगतको उत्पन्न करता है।"

शंका—"जैसे शुक्ति रूप अधिष्ठानके ज्ञान होने के बाद कल्पित रजतकी निवृत्ति हो जाती है तैसे माया विशिष्ट परमात्माको अधिष्ठान ब्रह्मके साक्षात्कारसे कल्पित प्रपंचकी निवृत्ति क्यों नहीं होती है?"

समाधान—'जैसे स्वप्न अवस्थामें वह विद्वान पुरुष स्वप्न पदार्थोंको देखता हुआ भी अपने को तथा स्वप्न पदार्थोंको अलग करके

नहीं देखता है, किन्तु यह सम्पूर्ण स्वप्न पदार्थ मेरा स्वरूप है, मुझ अधिष्ठानसे भिन्न इन पदार्थोंकी किंचितमात्र भी सत्ता नहीं, इस प्रकार विद्वान पुरुषको स्वप्नमें अधिष्ठान आत्माके ज्ञान होने पर भी जैसे स्वप्न पदार्थोंकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु प्रारब्ध कर्मके वशसे उन स्वप्न पदार्थोंका भान विद्वान पुरुषको होता है। तैसे आत्म साक्षात्कारसे युक्त परमात्मादेव सम्पूर्ण द्वैत प्रपंचको देखता हुआ भी अपने स्वरूपसे भिन्न करके नहीं देखता, किन्तु यह सम्पूर्ण जगत मेरा ही आत्मा है, मेरे आत्मासे भिन्न कोई प्रपंच नहीं है, इस प्रकार परमात्माको अधिष्ठान ब्रह्मके साक्षात्कार होने पर भी जीवों के पुण्य पाप रूप कर्मोंके वशसे जगतका लय नहीं होता, किन्तु मिथ्यारूपसे जगतका भान होता है। तात्पर्य यह कि लोकमें दो प्रकारका भ्रम होता है—एक निरुपाधिक भ्रम, दूसरा सोपाधिक भ्रम। अधिष्ठानके ज्ञानसे जिसकी स्वरूपसे निवृत्ति हो उसे निरुपाधिक भ्रम कहते हैं। जैसे शुक्ति रूप अधिष्ठानके ज्ञानसे कल्पित रजत और रज्जुरूप अधिष्ठानके ज्ञानसे कल्पित सर्पकी तथा रजत और सर्पके ज्ञानकी स्वरूपसे निवृत्ति हो जाती है इसलिये शुक्तिमें रजत और रज्जुमें सर्पका भ्रम निरुपाधिक भ्रम है। और अधिष्ठानके ज्ञानसे जिसकी स्वरूपसे निवृत्ति न होवे किन्तु उसमें सत्यता निवृत्त हो जाय उसे सोपाधिक भ्रम कहते हैं। यथा जपा कुसुम के समीपवर्ती स्फटिकमणि रक्तरूपवाली प्रतीत होती है। यहाँ अधिष्ठान रूप स्फटिकमणिके ज्ञान होने पर भी जब तक जपा कुसुमरूप उपाधि विद्यमान है तब तक रक्त रूप [illegible] उसके प्रतीतिकी स्वरूपसे निवृत्ति नहीं होती, किन्तु उसके सत्यता बुद्धिकी निवृत्ति हो जाती है। जपा कुसुमके निवृत्त होने पर ही रक्त[illegible] तथा उसके प्रतीतिकी स्वरूपसे निवृत्ति होती है। इसलिए शुक्ल रूपवाली स्फटिकमणिमें रक्तरूपकी प्रतीति सोपाधिक भ्रम है। तैसे ही प्रपंचकी जो प्रतीति होती है वह भी सोपाधिक भ्रम है। इसलिए ब्रह्मवेत्ता पुरुषको अधिष्ठान ब्रह्मके साक्षात्कार होने पर भी जब तक प्रारब्ध कर्म रूप उपाधि निवृत्त नहीं होती तब तक मिथ्या रूपसे प्रपंचका भान होना सम्भव है।"

शंका—"यदि परमात्मा एक अद्वितीय होवे तो संसारमें कोई जीव बद्ध है और कोई जीव मुक्त है इस प्रकारका बन्ध-मोक्ष व्यवहार नहीं होना चाहिए।"

समाधान—"जैसे आत्म साक्षात्कारसे युक्त विद्वान पुरुष जब स्वप्न अवस्थाको प्राप्त होता है तब वहाँ स्वप्नमें अज्ञानसे कल्पित अनेक जीवोंको देखता है और उस स्वप्न अवस्थामें स्वप्न द्रष्टा विद्वान पुरुषके विदेहमोक्षके [illegible] ही उन स्वप्न कल्पित जीवोंमें कोई [illegible] श्रवणादिक साधनोंसे मुक्तिको प्राप्त होते हैं और उन मुक्त जीवोंसे भिन्न अन्य जीव [illegible] को प्राप्त होते हैं। तैसे जगतके निर्वाहके [illegible] माया विशिष्ट परमात्माके स्थित होने पर [illegible] इस लोकमें कोई मुमुक्षुजन श्रवणादिक [illegible] से मुक्त होते हैं और उनसे भिन्न अज्ञानी [illegible] संसार रूप बन्धनको प्राप्त होते हैं। इस प्र[illegible] एक अद्वितीय आत्माको अंगीकार करके [illegible]

कल्पित बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था सम्भव है। जैसे आत्मज्ञानसे मुक्त विद्वान पुरुष स्वप्नमें अनेक प्रकारके चेतन जीवोंको तथा अनेक प्रकारके घटादिक जड़ पदार्थोंको देखता है और उन स्वप्न जीवोंमें यह जीव अभेददर्शी है इसलिए मुक्त है और यह जीव भेद दर्शी है इसलिए बन्धनवाला है। इस प्रकार वह स्वप्न द्रष्टा विद्वान पुरुष उन जीवोंके बन्ध-मोक्षकी कल्पना करता है। परन्तु वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो वह बन्ध मोक्ष स्वप्न द्रष्टा विद्वान पुरुषमें नहीं है और स्वप्न कल्पित जीवोंमें भी वह बन्ध-मोक्ष वास्तवमें नहीं है। केवल निद्रा दोषसे बन्ध मोक्षकी प्रतीति होती है। तैसे ही वास्तवमें यदि विचार करके देखा जाय तो माया विशिष्ट परमेश्वरमें तथा अन्य जीवोंमें बन्ध-मोक्ष नहीं है। केवल अज्ञान द्वारा बन्ध मोक्ष प्रतीत होता है।"

शंका—"यदि वास्तवमें बन्ध मोक्ष नहीं है तो बन्ध निवृत्ति तथा मोक्ष प्राप्तिके साधनों को प्रतिपादित करनेवाला शास्त्र व्यर्थ हो जायगा।"

समाधान—"जैसे स्वप्नमें बहुतसे अज्ञानी जीव शास्त्रके उपदेशसे स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त होते हैं। इसलिये स्वप्नमें कल्पित अज्ञानी जीवोंके लिए शास्त्र व्यर्थ नहीं हैं। तैसे जाग्रत अवस्थामें भी शास्त्रके उपदेशसे अज्ञानी जीव स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये अज्ञानी जीवोंके लिये श्रुति स्मृतिरूप शास्त्र व्यर्थ नहीं किन्तु सार्थक हैं।

इस प्रकार अज्ञानी जीवोंके लिये शास्त्रों की सार्थकता कहकर अब ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लिये शास्त्रकी व्यर्थता सिद्ध करते हैं—

"हे ब्राह्मणों! जैसे उसी स्वप्नमें स्वप्न द्रष्टा विद्वान पुरुषके प्रति शास्त्रकी व्यर्थता है, तथा स्वप्नमें कल्पित जो अन्य जीवन मुक्त पुरुष उनके प्रति भी शास्त्रकी व्यर्थता है। क्योंकि श्रुति-स्मृति रूप शास्त्रके उपदेश जन्य ज्ञान जीवोंके अज्ञानकी निवृत्ति करते हैं, वह अज्ञान उन विद्वान पुरुषोंमें नहीं है इसलिये उन ज्ञानी पुरुषोंके लिये शास्त्र व्यर्थ है, तैसे जाग्रत अवस्थामें भी जिन पुरुषोंको आत्म-साक्षात्कार हो गया है उनके लिए तथा परमेश्वरके लिए शास्त्र व्यर्थ हैं। इसे हम स्वीकार करते हैं।

अथवा, श्रुति-स्मृति रूप शास्त्रमें तभी व्यर्थता प्राप्त होती है जब सर्व जीवों के उपदेशमें शास्त्रकी साधारण प्रवृत्ति होती है। और सर्व जीवोंके उपदेशमें शास्त्रकी साधारण प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु अनधिकारी पुरुषोंका परित्याग करके अधिकारी पुरुषोंके उपदेशमें शास्त्रकी प्रवृत्ति होती है। जैसे वैश्यस्तोम नामक यज्ञका अधिकारी वैश्य ही होता है ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके अधिकारी नहीं। इसलिए वह वैश्यस्तोम यज्ञ ब्राह्मण क्षत्रियके लिए व्यर्थ है। और उन वैश्योंमें भी जो वैश्य फलकी कामना वाला, स्त्रीधन आदिक पदार्थोंसे युक्त तथा पापादिक दोषोंसे रहित होवे उसीको वैश्यस्तोम यज्ञ सुफल होता है। फलकी कामना आदि पूर्वोक्त विशेषणोंसे रहित वैश्यके लिए भी यह यज्ञ निष्फल ही है। इसी प्रकार

बृहस्पतिसत्र नामक यज्ञमें ब्राह्मणका ही अधिकार है। क्षत्रिय वैश्यके लिए यह यज्ञ निष्फल है। जिन ब्राह्मणोंमें फलकी कामना, स्त्रीधन आदि हैं उन्हें ही यह यज्ञ सफल होता है अन्य उपर्युक्त गुणसे रहित ब्राह्मणके लिये भी निष्फल ही है। इसी प्रकार राजसूय यज्ञमें भी क्षत्रियका ही अधिकार है अन्य ब्राह्मण वैश्यके लिए राजसूय यज्ञ व्यर्थ है। ऐसे ही दूसरे भी यज्ञादिक कर्म अधिकारी पुरुषोंको सार्थक और अनधिकारी पुरुषोंको निरर्थक हैं। तैसे मुक्तिको प्रतिपादन करनेवाला वेदान्त शास्त्र भी सब जीवोंको सार्थक नहीं, किन्तु आत्मज्ञानसे रहित विवेकादिक साधन चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षुजनोंमें ही सार्थक है। इसलिए हे ब्राह्मणों! जैसे समष्टि कारण अज्ञान रूप उपाधिवाला परमेश्वर तथा समष्टि सूक्ष्म रूप उपाधिवाला हिरण्यगर्भ ब्रह्मविद्यासे ही सर्वात्मभावको प्राप्त हुआ है तैसे समष्टि स्थूल उपाधि वाला विराट भगवान तथा स्वायंभू मनु आदिक भी ब्रह्मविद्यासे ही सर्वात्म भावको प्राप्त हुए हैं। तैसे आज कलभी कई महात्मा पुरुष ब्रह्मविद्यासे ही सर्वात्मभावको प्राप्त हुये हैं। ऐसे ही आगे भी अनेक महात्मा पुरुष इस ब्रह्मविद्याके द्वारा सर्वात्म भावको प्राप्त होंगे।"

अब ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिमें कुछ विलक्षणता दिखलाते हैं—

जैसे पक्षियोंके अन्दर आकाशमें उड़नेकी चतुरता और मछलियोंके अन्दर जलमें तैरनेकी चतुरता किसी यत्न द्वारा सिद्ध नहीं होती किन्तु जन्मसे ही उनमें वह चतुरता रहती है। तैसे विराट भगवान, सनत्कुमारों तथा कपिल मुनि आदिकोंमें अदृष्ट आदि आगन्तुक कारणोंके विना ही ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है। और वाल्मीकि तथा वामदेवादिकोंमें तो देशकाल आदिक निमित्तसे, फल देनेके लिए सम्मुख हुये अनन्त जन्मके पुण्य कर्म आदिक आगन्तुक निमित्तसे ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है। जैसे यौवन कालमें पुरुषोंको पूर्वकृत पुण्य कर्मके वशसे यश, धन, पुत्रादिक सुख प्राप्त होते हैं। तैसे वामदेव आदिको पूर्वकृत पुण्य कर्मके वशसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हुई। जैसे नेत्रोंसे सबके रूपका ज्ञान होता है तैसे गुरूपदिष्ट शास्त्रसे सभी अधिकारियोंको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है।"

शंका—"पहले आपने विराट आदिमें स्वभावसे ही ब्रह्मविद्याकी उत्पत्ति कही है। और अभी सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याके प्रति शास्त्रको कारण कह रहे हैं। इन दोनों वचनोंका परस्पर विरोध है।"

समाधान—"विराट आदिमें स्वभावसे ही ब्रह्मविद्याकी उत्पत्ति होती है। ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे हम सब जीवोंको ब्रह्मचर्यादिक साधन पूर्वक गुरुके पास निवास करनेसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है तैसे विराट भगवान और कपिल मुनि आदिकोंमें यद्यपि ब्रह्मविद्याकी उत्पत्ति नहीं होती तथापि ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिके पूर्व विराट और वामदेवादिकोंमें श्रुति-स्मृति रूप शास्त्रकी तो अवश्य अपेक्षा रहती है। शास्त्रके चिन्तन बिना विराटादिकोंमें भी ब्रह्मविद्या उत्पन्न नहीं होती। इसलिये विराट आदिकी ब्रह्मविद्यामें भी शास्त्र

कारण है। जैसे आकाशमें उड़नेवाले पक्षीको यद्यपि अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं तथापि पंखोंकी अपेक्षा रहती है। तैसे विराट आदि महान पुरुष ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें यद्यपि अध्ययन आदिकी अपेक्षा नहीं करते तथापि ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिके पूर्व श्रुतिरूप शास्त्रकी अपेक्षा करते हैं। इसलिये पूर्वापरका विरोध सम्भव नहीं है।

विराट भगवान, कपिल मुनि आदिक स्वभावसे ब्रह्मविद्याको प्राप्त होते हैं। वामदेव वाल्मीकि आदि पूर्व कृत पुण्य कर्मके प्रभावसे ब्रह्मविद्याको प्राप्त होते हैं और गुरूपदिष्ट शास्त्र द्वारा सभी अधिकारी जन ब्रह्मविद्याको प्राप्त होते हैं। इन तीनों पक्षोंमें जैसे शास्त्र ब्रह्मविद्याके प्रति कारण है तैसे अद्वितीय ब्रह्ममें शास्त्रके तात्पर्यका निर्णयरूप श्रवण भी सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याके प्रति कारण है। जैसे भूखे पुरुषकी तृप्तिमें भोजन ही कारण है, भोजनके बिना किसीको तृप्ति नहीं होती तैसे ही श्रवणके बिना किसीको भी ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होती, किन्तु विराट भगवान आदिक सभीको श्रवणसे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है।

अब ब्रह्मविद्याके स्वरूपको दिखलाते हैं—

ब्रह्म और आत्म शब्दसे तथा तद्जन्य वृत्तिरूप ज्ञानसे रहित जो ब्रह्म और आत्म शब्दका सबसे अधिक और सबके अन्तर व्यापक रूप अर्थ है वह मैं हूँ इस प्रकारके अभेद ज्ञान को बुद्धिमान पुरुष ब्रह्मविद्या कहते हैं। इस प्रकारकी ब्रह्मविद्या जब उत्पन्न होती है तब सर्वात्म भावरूप फलकी प्राप्तिमें ब्राह्मणत्वादिक उत्तम जातिकी अपेक्षा नहीं करती, किन्तु इस ब्रह्मविद्यासे जैसे ब्रह्म सर्वात्म भावको प्राप्त हुआ है तैसे दूसरा भी जो कोई मनुष्य मुनि, देवता, दानव श्रवणादिक साधनों द्वारा ब्रह्मविद्याका सम्पादन करेगा, वह निश्चय ही सर्वात्म भावको प्राप्त होगा। हे ब्राह्मणो! "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकारके अभेद ज्ञानसे अनेक ब्राह्मण, मुनि तथा अनेक असुर सर्वात्म रूप ब्रह्मको प्राप्त हुए हैं। यह ब्रह्मविद्याका फल हम सभी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंके परोक्ष नहीं किन्तु ब्रह्मविद्या प्राप्तिके उत्तर क्षणमें यह फल हम सबके अनुभव द्वारा सिद्ध है।"

"हे ब्राह्मणो! हम सब अधिकारियोंके बीच एक वामदेव नामक मुनि हो चुके हैं। उन वामदेव मुनिने माताके गर्भमें स्थित हो हम सब अधिकारियोंपर कृपा युक्त होकर ब्रह्मविद्याके फलमें हमारा विश्वास दृढ़ करानेके लिये इस प्रकारका वचन कहा—"हे अधिकारी ब्राह्मणो! माताके गर्भमें ब्रह्मविद्या द्वारा मुझे सर्वात्म भावकी प्राप्ति हुई है। तुम्हारी दृष्टिसे तुम्हारे बीचमेंका कोई वामदेव नामक मैं पूर्व शरीरका त्याग करके इस समय माताके गर्भमें निवास करता हूँ। और अपनी दृष्टिसे तो मैं सर्वात्मा रूप हूँ। पूर्व जन्ममें मुझे तथा तुम सब अधिकारियोंको सनकादिक मुनियोंने समान ही ब्रह्मविद्याका उपदेश किया था। परन्तु उस समय हम सभी अधिकारीजन विषयोंमें आसक्त थे। इसलिये हृदयदेशमें स्थित आत्माको भी हम नहीं जान सके। जैसे जन्मान्ध पुरुष अपने हाथ पर स्थित अत्यन्त प्रकाशमान मणिको

नहीं देख सकता, वैसे ही विषयोंमें आसक्ति-रूप दोषके वशसे हृदयदेशमें स्थित आत्माको भी हम नहीं देख सके। उस विषयासक्तिरूप प्रतिबन्धके वश होकर पूर्वजन्ममें मुझे आत्माका साक्षात्कार नहीं हुआ। इस कारणसे ही इस समय मुझे शरीररूप बन्धनकी प्राप्ति हुई है। आगे तुम सबको पुनः शरीररूप बन्धनकी प्राप्ति न हो वैसा कोई उपाय करो। वह उपाय आत्म ज्ञानके सिवा और दूसरा कोई नहीं है। इसलिये आत्म-साक्षात्कारके लिये तुम सब अधिकारी यत्न करो।"

वामदेव मुनिने आगे कहा—"ब्रह्म-विद्या द्वारा सर्वात्म भावकी प्राप्तिरूप फलका अनुभव मैंने अभी-अभी गर्भमें किया है, इस-लिये ब्रह्मविद्याके फलमें तुम लोग सन्देह नहीं करना। और सत्ययुगमें ही ब्रह्मविद्यासे सर्वात्म-भावकी प्राप्ति होती है, कलियुगमें नहीं होती, इस प्रकारका सन्देह भी नहीं करना, क्योंकि ब्रह्मविद्याके उत्पन्न होनेपर चारों युगोंमें सर्वात्म भावकी प्राप्ति होती है। अतः तुम्हें विश्वास दिलानेके लिये सर्वात्मभावकी प्राप्तिरूप ब्रह्म-विद्याका फल कहते हैं तुम सुनो—

"मनुष्यादिक सृष्टिका कारण स्वयंभू मनु भी मैं ही हो गया हूं। सर्व जगतको प्रकाश करनेवाला सूर्य भगवान्, कक्षीवान् नामक मुनि, लोकप्रसिद्ध सूर्यादिक प्रकाशोंको भी प्रकाश करनेवाला चैतन्यरूप प्रकाश मैं ही हूं।"

अपने अन्दर ईश्वरभाव दिखलाकर अब अपनेमें जीवभाव दिखलानेके लिये वामदेव मुनिने आगे कहा—"चौदह लोकोंमें स्थित जितने शरीर हैं उनको मैं ही प्राप्त हुआ हूँ। तात्पर्य यह कि वास्तवमें जन्म-मरणसे रहित हुआ भी मैं शरीर आदिक उपाधिके जन्म-मरणसे अपनेमें जन्म-मरण मानता हूँ। और सर्वत्र विख्यात होने-वाला भृगु पुत्र शुक्र भी मैं ही हूं। मैं ही परशुराम अवतार धारणकर कश्यप को धनसे पूर्ण पृथ्वी देता हूँ। और पुण्यपाप रूप कर्मसे युक्त जरायुज अंडज स्वेदज उद्भिज इन चार प्रकारके जीवोंको मेघरूप होकर मैं ही वृष्टि देता हूँ। वह वृष्टि पापपुण्यका फल ऊंच नीच शरीरोंका कारण है। इस कारणसे वह वृष्टि जीवोंके सुख-दुःखका कारण है। और तीन लोकोंमें स्थित जलको सूर्य रूप होकर मैं ही आकर्षण करता हूँ। जैसे क्षुधातुर बालक माताके शरणमें जाता है वैसे ही दैत्योंसे पराजित होकर इन्द्रादिक देवता मेरे ही शरण आते हैं। तारकासुरका पक्षपाती शंवर नामक दुरात्मा असुरने देवताओंको भय देनेवाली पुरियाँ मायासे रचा है। उन सम्पूर्ण पुरियोंका कार्तिकेय रूप धारण करके मैं वैसे ही विदारण करता हूँ, जैसे प्रणव रूप तारक मन्त्र मुमुक्षुओंके हृदयके अज्ञानको नाश करता है।

हे ब्राह्मणो! इस प्रकारके वचनों द्वारा वामदेव मुनिने सर्वात्मभावकी प्राप्ति रूप ब्रह्म-विद्याके फलको पूर्वकालमें हमसे कथन किया है। उसकी हमें अब तक पूर्ण स्मृति है। इसलिये अधिकारी पुरुषोंको ब्रह्मविद्याका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। यही सर्वात्मभावकी प्राप्ति रूप फलका साधन है।"

दध्यङ् मुनिने देवराज इन्द्रसे कहा—

प्रकार सम्पूर्ण विद्वान ब्राह्मणोंने ब्रह्म-आत्माके अभेद ज्ञानसे सर्वात्म भावकी प्राप्ति रूप फलका कथन किया। इसलिये आज कल भी जो कोई देवता, दानव तथा मनुष्य ब्रह्मविद्याको सम्पादन करेगा, उसको भी अवश्य सर्वात्मभावकी प्राप्ति होगी। हे देवराज! "मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ" इस प्रकारकी ब्रह्मविद्या जिस पुरुषको प्राप्त हुई है उस पुरुषको अपने वश करनेमें तुम देवता भी समर्थ नहीं हो। क्योंकि तुम सब देवता अपनेको वश करनेमें असमर्थ हो। तात्पर्य यह कि जैसे अग्नि अपनेसे भिन्न काष्ठादिक सभी पदार्थोंको जलाती है परन्तु अपने आपको अग्नि नहीं जलाती, तैसे तुम सभी देवता अपनेसे भिन्न पुरुषोंको वश करनेमें समर्थ हो परन्तु अपनेको वश करनेमें तुम समर्थ नहीं हो।"

शंका—"यद्यपि हम देवता अपने आत्माको वश करनेमें समर्थ नहीं हैं तथापि हमसे भिन्न जो विद्वान् पुरुष हैं, उनको वश करनेमें हम क्यों नहीं समर्थ हैं?"

समाधान—"हे देवराज! ब्रह्मविद्यासे विद्वान पुरुष सर्वात्मभावको प्राप्त होता है। इसलिए वह विद्वान पुरुष तुम देवताओंसे भिन्न नहीं किन्तु तुम सबका आत्मा है। अतः अपने आत्मा रूप विद्वानको वश करनेमें तुम समर्थ नहीं हो।"

शंका—"आत्मा सबसे अन्तर होता है और यह विद्वान पुरुष स्थूल शरीरसे युक्त होकर बाहर प्रतीत होता है। इसलिये यह विद्वान पुरुष हमारा आत्मा कैसे सम्भव है।"

समाधान—"देवराज! जैसे घटरूप उपाधिसे युक्त हुआ आकाश यद्यपि सर्वत्र व्यापक नहीं है तथापि घटरूप उपाधिसे विमुक्त हुआ आकाश सबके हृदय देशमें विद्यमान है। तैसे ब्रह्मविद्यासे निवृत्त हुआ है देहाभिमान जिसका ऐसा जो विद्वान पुरुष, वह तुम सब देवताओंका आत्मा सम्भव है। इसलिये ऐसे सर्वात्मा रूप विद्वान पुरुषकी यदि तुम देवता किंचित मात्र प्रतिकूलता तथा अनुकूलता करोगे तो वह प्रतिकूलता अनुकूलता तुम्हींको ही प्राप्त होगी। असंग विद्वान पुरुषको वह अनुकूलता और प्रतिकूलता स्पर्श नहीं करती। जैसे अपने मस्तकको दूसरेका मस्तक मानकर यदि कोई मूढ़ पुरुष पत्थरसे फोड़ता है तो वह मूढ़ स्वयं पीड़ित होता है। तैसे सबका आत्मारूप जो विद्वान है, उसको अपनेसे भिन्न मानकर जो मूढ़ पुरुष उस विद्वानको ताड़नकर दुःखी करते हैं, वे अपनेको ही दुःखी और पीड़ित करते हैं। इसी अर्थको और स्पष्ट करके दिखलाते हैं।

सभी प्राणी मात्रके दो रूप होते हैं। एक असंग रूप और दूसरा संगवान रूप। सम्बन्धको संग कहते हैं। सम्बन्धसे जो रहित हो उसे असंग कहते हैं। और सम्बन्धवालेको संगवान् कहते हैं। यहाँ वास्तवमें सम्बन्ध रहित विद्वान पुरुष सभी प्राणियोंका असंगरूप है। और अविद्यासे कल्पित जो कर्ता-भोक्ता प्रमाता है वह सर्व प्राणियोंका संगवान रूप है। अपने असंग रूप विद्वान पुरुषमें जो कोई मूढ़ पुरुष किंचित मात्र भी प्रतिकूलता करता है तो वह प्रतिकूलता असंग विद्वान पुरुषको स्पर्श नहीं करती, किन्तु प्रतिकूलता करनेवाले संगवान् प्रमाताको ही वह प्रतिकूलता प्राप्त होती है।

इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे कोई मूढ़ बालक दर्पण सम्बन्धसे रहित तथा मन्दहास्य युक्त अपने मुखको सम्मुख दर्पणमें स्थित मानता है, और वह मूढ़ बालक जब दर्पणमें स्थित मुखके प्रति प्रतिकूलता करनेकी इच्छा करता है तब पहले अपने ग्रीवामें स्थित मुख-की प्रतिकूलता करता है, इसके बाद दर्पणमें स्थित मुखकी प्रतिकूलता कर पाता है। ग्रीवामें स्थित मुखके प्रतिकूलता विना दर्पणमें स्थित मुखकी प्रतिकूलता नहीं होती। और उस प्रति-कूलतासे दर्पणमें स्थित असंग मुखको किंचित मात्र भी दुःखकी प्राप्ति नहीं होती। किन्तु प्रतिकूलता करनेवाले बालककी ग्रीवामें स्थित मुखमें ही प्रतिकूलता जन्य दुःख होता है। तैसे ही असंग विद्वान पुरुषकी यदि तुम देवता किंचित मात्र भी प्रतिकूलता करोगे तो वह प्रतिकूलता असंग विद्वान पुरुषको स्पर्श नहीं करेगी। किन्तु कर्ता-भोक्ता तुम देवताओंमें ही वह प्रतिकूलता प्राप्त होगी। दुःख उत्पन्न करने-वाले ताड़न आदिको प्रतिकूल कहते हैं और सुख उत्पन्न करनेवाले पूजन आदिको अनुकूल कहते हैं।"

शंका—"हम देवताओंसे अभिन्न विद्वान पुरुषको दुःखकी प्राप्ति नहीं होती और हमें दुःखकी प्राप्ति होती है इसमें क्या कारण है?"

समाधान—"जैसे विम्बरूप शरीरको अलं-कार पहनानेसे दर्पणमें स्थित प्रतिविम्ब अलंकारवाला होता है और विम्बरूप शरीरके तिरस्कार करनेसे दर्पणमें स्थित प्रतिविम्ब रूप शरीर भी तिरस्कृत होता है। तैसे ही ब्रह्मरूप विद्वान पुरुष तुम सब जीवोंका विम्ब रूप है और तुम सब जीव उसके प्रतिविम्ब रूप हो। इसलिये यदि तुम देवता उस विद्वान पुरुषको सुख-दुःख दोगे तो वह सुख-दुःख तुम देवताओंको ही प्राप्त होगा। विद्वान पुरुषके असंग रूपमें दुःख-सुख आदिका सम्बन्ध सम्भव नहीं। और यदि कोई पुरुष श्रद्धासे असंग विद्वानका पूजन करता है तो वह पूजन उस पूजन करनेवाले पुरुषको ही फलता है। विद्वान पुरुषमें उस पूजनका सम्बन्ध सम्भव नहीं। जैसे कोई पुरुष जल तथा धूलसे सूर्य भगवान्‌का आच्छादन करता है, परन्तु वह जल और धूलि सूर्यको आच्छादित नहीं कर पाती किन्तु उलटा आच्छादन करनेवाले पुरुषका ही आच्छादन करती है, तैसे ही विद्वान पुरुषके लिये किये हुए पूजन आदि असंग विद्वान पुरुषको स्पर्श न करके पूजन करनेवालेको ही पूजन सुख … होता है।"

इस प्रकार फल सहित ब्रह्मविद्याको कहकर अब अविद्याका स्वरूप बतलाते हैं—

हे देवराज इन्द्र! जो पुरुष अपनेसे देव-ताओंको भिन्न मानकर उन देवताओंकी उपासना करते हैं, ऐसे भेददर्शी अज्ञानी जीव रूप पशुओंके तुम देवता लोग स्वामी हो।

अब यह बतलाते हैं कि अज्ञानी जीव पशु कैसे हैं—

जैसे लोकमें प्रसिद्ध गौशाला काष्ठ और मिट्टीसे रची जाती है तैसे अज्ञान रूपी मिट्टी तथा काष्ठोंसे यह संसाररूपी शाला … है। यह संसाररूपी शाला भेददर्शी अज्ञानी …

जीवरूप गौओंके रहनेका स्थान है। वे अज्ञानी जीवरूप पशु तुम देवताओंके लिये हव्य-कव्य आदि पदार्थोंको देते हैं। इसलिये वे अज्ञानी जीव तुम देवताओंके आश्रय रूप हैं। जैसे लोकमें दुग्ध आदि देनेवाली गौओंको लोक अपना आश्रय मानते हैं। हे देवराज! जैसे लोक प्रसिद्ध गौओंकी शालामें उस शालाके भारको धारण करनेवाले अनेक खम्भे होते हैं और उन खम्भोंमें एक लम्बी रस्सी बँधी होती है और उस लम्बी रस्सीमें अनेक छोटी रस्सियाँ बँधी होती हैं और उन छोटी एक-एक रस्सीके साथ एक-एक गौ बँधी रहती है। तैसे ही यह संसार रूपी एक शाला है। संसार रूप शालाके भारसे व्याकुल काम क्रोधादिक संसार शालाके खम्भ रूप हैं। और अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक कार्य नहीं करना चाहिए आदि विधि-निषेध रूप वेद वचन एक लम्बी रस्सी है। यह वेद वचन रूपी दीर्घ रज्जु काम-क्रोध आदि खम्भोंमें बँधी हुई है। और अग्निहोत्र आदि कर्मके अधिकारियोंका बोधन करानेवाला ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जो नाम हैं वे अल्प रज्जुके समान हैं, और यह अल्प रज्जु पूर्वोक्त दीर्घ रज्जुसे बँधी है। इन नाम स्वरूप अनेक छोटी छोटी रस्सियोंमें प्रत्येक रस्सीके साथ एक एक अज्ञानी जीवरूप पशु बँधा है।

यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिक नामरूपी रज्जुमें अनेक अज्ञानी जीव बँधे हुए हैं तथापि यज्ञदान आदि कर्मोंको करनेवाला अज्ञानी गृहस्थ तुम देवताओंके लिये कामधेनुके समान है।

अज्ञानी गृहस्थ कामधेनुके समान कैसे है? इसे भी बतलाते हैं—अग्निहोत्र आदि कर्मों को करनेवाला एक अज्ञानी गृहस्थ तुम सब देवताओं, सभी पितरों, अतिथियों, सभी मुनियों तथा अन्य भी अनेक प्राणियोंका पालन करता है। इसलिये वह अज्ञानी गृहस्थ तुम सभी देवताओंका कामधेनु है। जैसे लोकमें एक-एक कुटुम्बी गृहस्थके अनेक पशु होते हैं तैसे तुम देवताओंके अनेक पशु नहीं किन्तु एक ही अज्ञानी गृहस्थ कामधेनु गौकी तरह तुम सब देवताओंका पालन करता है। लोकमें कुटुम्बी गृहस्थके अनेक पशुओंमेंसे कदाचित् एक पशु भी यदि चोर ले जाता है तो कुटुम्बीको महान् दुःख होता है। जब एक पशुके जानेका इतना दुःख होता है तब सभी पशुओंके चोरी हो जाने-पर कुटुम्बीको कितना दुःख होगा। उसी प्रकार तुम सब देवताओंका पशु जो अज्ञानी पुरुष, उसका जब ब्रह्मविद्याके द्वारा अज्ञान नाश हो जाता है तब तुम सबको भी दुःखकी प्राप्ति होती है। जैसे लोकमें वे कुटुम्बी गृहस्थ चोरोंसे अपने पशुओंकी रक्षा करनेके लिये रात-दिन सावधान रहते हुए उन चोरोंके निवृत्तिका उपाय करते हैं। तैसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये जो पुरुष ब्रह्मचर्यादिक साधनोंको सम्पादन करते हैं उन पुरुषोंके साधनोंको भंग करनेके लिये तुम देवता लोग अनन्त प्रकारके उपद्रव करते हो। जीवोंकी बुद्धिको विपरीत करना ही देवताओंका उपद्रव है। इसलिये जो मुमुक्षुजन ब्रह्मविद्याके प्राप्तिकी इच्छावाले हैं उन्हें प्रथम श्रद्धापूर्वक देवताओंका आराधन करना चाहिये। आराधनसे जब देवता प्रसन्न होते हैं तब अधि-

कारी जनोंको सद्बुद्धि देकर ब्रह्मविद्याके सभी प्रतिबन्धोंसे रक्षा करते हैं।

यह बात अन्य शास्त्रोंमें भी कही गयी है—

नदेवादण्डमादाय रक्षंति पशुपालवत्।
यं हि रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्यासंयोजयन्ति तम्॥

जैसे पशुओंको पालन करनेवाले पुरुष हाथमें दण्ड देकर सिंहादिकोंसे पशुओंकी रक्षा करते हैं तैसे देवता हाथमें दण्ड लेकर भक्तजनों की रक्षा नहीं करते, किन्तु जिस भक्तकी रक्षा देवता लोग करना चाहते हैं उस पुरुषको सद्-बुद्धि प्रदान करते है।

अतः ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिके पहले प्रति-बन्धकी निवृत्तिके लिये मुमुक्षुजनोंको देवताओं का आराधन अवश्य करना चाहिए। और जो पुरुष ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके पूर्व देवताओंका आराधन नहीं करता है उस पुरुषको ब्रह्मविद्या की प्राप्तिमें अनन्त प्रकारके विघ्न देवता उत्पन्न करते हैं। जैसे लोकमें पशुओंको हरण करने-वाले अत्यन्त बलवान चोर पशुओंके मालिक कुटुम्बी गृहस्थोंको प्रिय नहीं लगते तैसे ही अज्ञानी जीव रूप तुम्हारे पशुओंको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कराकर हरण करनेवाले विद्वान् पुरुष तुम देवताओंको प्रिय नहीं लगते हैं। यद्यपि सर्व देवताओंका आत्मा रूप विद्वान् पुरुषोंमें उनका द्वेष सम्भव नहीं है तथापि चित्त शुद्धिसे रहित, कर्मके अधिकारी जीवोंको जो विद्वान् कर्म से रहित करते हैं उन विद्वानोंमें देवताओंका द्वेष होता है। यह वार्ता गीतामें भगवान् कृष्ण ने अर्जुनसे कही है—

न बुद्धि भेदं जनयेदऽज्ञानां कर्म संगिनाम्।

तात्पर्य यह कि चित्त शुद्धिसे रहित कर्म के अधिकारी जीवोंको विद्वान् पुरुष कर्मोंसे निवृत्त न करें, किन्तु उन्हें शुभ कर्मोंमें लगावें। भगवान्‌के इस वचनका जो पुरुष उल्लंघन करता है, उससे ही देवता द्वेष करते हैं। इसलिये हे देवराज इन्द्र! ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिके पूर्व यद्यपि तुम देवता विघ्न करते हो तथापि ब्रह्मविद्याके उत्पन्न होनेके बाद उस विद्याके सर्वात्म भाव की प्राप्तिरूप फलका प्रतिबन्ध करनेमें तुम देवता समर्थ नहीं हो। इसलिये यह विद्वान् पुरुष सबका आत्मारूप है। अतः तुम देवताओंका भी आत्मा और अद्वितीय ब्रह्म रूप है। इसलिये तुम देवताओंसे भी अधिक है। ऐसे विद्वान् पुरुषके समीप जाकर आत्मासे भिन्न पुत्रादिक अनात्म पदार्थोंको प्रिय नहीं कहना चाहिये, यह पूर्वकथन उचित है।

हे देवराज इन्द्र! पुत्रादिक सब अनात्म पदार्थोंसे प्रिय आनन्दस्वरूप आत्माको न जान कर जो पुरुष मर जाता है उस अज्ञानी पुरुषका स्वरूप होता हुआ भी यह आनन्दस्वरूप आत्मा उस अज्ञानी पुरुषकी जन्म-मरणके प्रवाह से रक्षा नहीं करता। जैसे गुरु और पुस्तक द्वारा वेदके समीप विद्यमान रहनेपर भी जब तक यह पुरुष गुरुमुखसे उस वेदका अध्ययन नहीं करता तबतक वह नहीं अध्ययन किया हुआ वेद पुरुषको पवित्र नहीं कर सकता। किन्तु गुरुमुखसे अध्ययन करके जाना हुआ वेद ही पुरुषको पवित्र करता है। तैसे ही [illegible] आनन्दस्वरूप आत्मा भी गुरुशास्त्रके उपदेश [illegible]

से न जाना हुआ जीवोंकी जन्म मरणरूप संसारसे रक्षा नहीं कर सकता। परन्तु गुरु-शास्त्रके उपदेशसे जाना हुआ यह आत्मा जीवोंकी संसारसे रक्षा करता है। हे देवराज! जैसे गुरु-शास्त्र द्वारा यज्ञ आदि कर्म जाने हुए होनेपर भी अनुष्ठानके विना फल नहीं देते हैं तैसे ही ये विवेकादिक साधन गुरुशास्त्र द्वारा जाने हुए होनेपर भी अनुष्ठानके विना पुरुषोंको आत्म ज्ञानरूप फलकी प्राप्ति नहीं कराते हैं।"

"जो पुरुष आनन्दस्वरूप आत्माको न जानकर अश्वमेधादिक महान यज्ञोंको करते हैं उस पुरुषको वे यज्ञरूपी कर्म कुछ कालतक स्वर्गमें सुख देकर पुनः पुण्य क्षय होनेपर लोकान्तरमें परम दुःख देते हैं। इसलिये जिस पुरुषको नित्य आनन्दके प्राप्तिकी इच्छा हो वह शीघ्र ही अन्य सर्व उपायोंका परित्याग करके आत्म ज्ञानकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करे।

हे देवराज! जो पुरुष आत्म ज्ञानके सम्पादनमें असमर्थ हो वह पुरुष उपासना तथा निष्काम कर्मोंको करे। उपासना और निष्काम कर्मोंके प्रभावसे चित्त शुद्धि द्वारा इस लोकमें तथा ब्रह्मलोकमें उस उपासकको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होगी। ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति ही उपासना-का मुख्य फल है।

अब उपासनाके अवान्तर फलको कहते हैं—

हे देवराज! यह उपासक पुरुष संसारमें निवास करता हुआ भी हिरण्यगर्भके समान ऐश्वर्यको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि जैसे हिरण्यगर्भ भगवान् जिस पदार्थकी इच्छा करता है उस उस पदार्थको अपनी इच्छा मात्रसे उत्पन्न कर देता है। तैसे ही यह उपासक भी कर्म-उपासनाके प्रभावसे सभी पदार्थोंको अपनी इच्छा मात्रसे उत्पन्न कर लेता है। और जो पुरुष "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकारकी बुद्धिसे आनन्द स्वरूप आत्माका साक्षात्कार करता है उस पुरुषको यह सम्पूर्ण आत्म प्रपंच परित्याग करने योग्य है।

इस आनन्द स्वरूप आत्माको न जानकर जो पुरुष अन्य अनात्म पदार्थोंको जानता है उस पुरुषको शास्त्रवेत्ता महात्मा पुरुष अनात्मज्ञ कहते हैं। जैसे बालाकि ब्राह्मण आत्माके वास्तव स्वरूपको न जानकर प्राणको ही आत्मा जानता था। इस कारण वह अनात्मज्ञ बालाकि काशी जीमें अजातशत्रु राजाका शिष्य हुआ। इस कथा को तुम भली प्रकार जानते हो। अतः आनन्द स्वरूप आत्मासे भिन्न कोई भी अनात्म पदार्थ जानने योग्य नहीं है।

अब आत्मासे भिन्न सर्व पदार्थोंको अनात्म रूपसे कहते हैं—

"हे देवराज इन्द्र! इस स्थूल शरीरमें अभिमानी जीवको नेत्रादिक इन्द्रियोंसे जो स्थूल पदार्थोंकी प्राप्ति होती है उसको शास्त्रमें जाग्रत अवस्था कहते हैं। वह जाग्रत ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा ध्याता, ध्यान, ध्येय इत्यादिक त्रिपुटी स्वरूप है और साक्षी चैतन्यसे भास्य है अतः दृश्य रूप है। जो-जो दृश्य पदार्थ होता है। वह अनात्म ही होता है। जैसे घटादिक पदार्थ दृश्य हैं इसलिए अनात्मा हैं। तैसे ही त्रिपुटी रूप जाग्रत प्रपंच भी दृश्य हैं। इसलिए अनात्मा ही हैं।

स्वप्न अवस्थामें रथ आदि पदार्थोंके उत्पत्ति योग्य देशकाल आदिका अभाव होनेपर भी पूर्व वासनाओंसे विशिष्ट हुआ मन अनेक प्रकारके पदार्थोंको स्वप्नमें उत्पन्न करता है इसलिए वे स्वप्नके पदार्थ माया मात्र हैं। जैसे देश, काल आदि सामग्रीके विना ही आकाशमें गन्धर्व नगर प्रतीत होता है। अतः वह गन्धर्व नगर मिथ्या है। तैसे ही स्वप्नके पदार्थ भी मिथ्या और उत्पत्ति-नाशवाले है। अतः वे स्वप्न पदार्थ भी आत्मा रूप नहीं किन्तु अनात्मा रूप है।

पुरीतत् रूपी कोटके बीचमें स्थित हृदयमें नाड़ी रूप मार्ग द्वारा जाकर सुपुप्ति अवस्थामें जो अज्ञानसे युक्त हो, वह अज्ञान विशिष्ट जीव भी शुद्ध आत्मासे भिन्न है अतः घटादिकोंकी तरह वह भी अनात्मा रूप है।"

शंका—"हे भगवन ! जब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें स्थित सर्व पदार्थ आत्मारूप नहीं हैं तब उनसे भिन्न आत्माका कौन स्वरूप है ? कृपाकर कथन कीजिए।

समाधान—"देवराज इन्द्र ! वह आत्मा स्वप्रकाश स्वरूप है। जो प्रकाश अपने प्रकाशमें तथा किसी पदार्थके प्रकाशमें अन्य किसी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है उसे वेदान्तशास्त्र में स्वप्रकाश कहते हैं। आत्मा ऐसा ही स्वप्रकाश स्वरूप है। आत्मासे भिन्न सभी पर प्रकाश हैं—

शंका—"इस स्वप्रकाश आत्माके लक्षणकी सूर्य आदि भौतिक प्रकाशमें अतिव्याप्ति है। क्योंकि सूर्यादिक प्रकाश भी अपने प्रकाशमें तथा घटादिक पदार्थोंके प्रकाशमें अन्य किसी प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करते हैं।"

"समाधान—सूर्यादिक भौतिक प्रकाश यद्यपि अपने प्रकाशमें तथा घटादिक पदार्थोंके प्रकाशमें अन्य किसी भौतिक प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करते, तथापि चैतन्य रूप अलौकिक प्रकाशकी सूर्यादि प्रकाश भी अपेक्षा करते हैं। इसलिये सूर्यादिक प्रकाशोंमें स्वप्रकाश आत्माके लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होती है। अतः सुपुप्ति अवस्था में जिस आत्माका हृदय देशमें निवास शास्त्रोंने कहा है और स्वप्न अवस्थामें जिस आत्माका मनमें निवास कहा है और जाग्रत अवस्थामें जिस आत्माका स्थूल शरीरमें निवास शास्त्रने कहा है उस स्वप्रकाश आत्माका निपेध मुखसे हम तुमको उपदेश करते हैं।

इसके पहले तृतीय अध्यायके अन्तमें यह कहा था कि देवराज इन्द्रसे भयभीत कौपीतकी नामक ऋपि "सत्यका सत्य" ब्रह्मके इस गुह्य नामका अर्थ अपने शिष्योंको उपदेश न कर सका। अब उसी अर्थको यहाँ स्पष्टतया निरूपण करते हैं—

"हे देवराज इन्द्र ! सुपुप्ति अवस्थाके प्राप्त होनेपर इस जीवके पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय चार अन्तःकरण इन सबका अज्ञानमें लय होता हैं। और सुपुप्तिके निवृत्त होनेपर सम्पूर्ण इन्द्रियों सहित अन्तःकरण उसी अज्ञानसे उत्पन्न होता है। अतः जो-जो पदार्थ उत्पत्ति, नाशवान् होता है वह घटादिकोंकी तरह असत्य ही होता है। इसलिए उत्पत्ति नाशवान् होनेसे अन्तःकरण सहित सकल इन्द्रिय असत्य हैं। सुपुप्ति अवस्थाके प्राप्त होनेपर यद्यपि प्राण लय नहीं होते और सुपुप्तिके निवृत्त होनेपर प्राण

उत्पन्न नहीं होते इसलिए प्राण सत्य हैं, तथापि यह आनन्द स्वरूप आत्मा वास्तवमें सत्यरूप है। इसलिए सत्य प्राणोंसे उत्कृष्ट है। और यह प्राण जड़रूप तथा अनात्मा रूप है। इसलिये आनन्द स्वरूप आत्मासे यह प्राण अपकृष्ट हैं। इस अभिप्रायसे ही श्रुतिने ब्रह्मको सत्यका सत्य कहा है। यहाँ प्रथम सत्य शब्दसे प्राण सहित सम्पूर्ण भूत भौतिक प्रपंचका ग्रहण करना चाहिये। उस प्रपंच रूप कार्यका यह आनन्द स्वरूप परमात्मा विवर्त उपादान कारण है। इसलिये यह परमात्मा पुरुष सत्यका भी सत्य है।

शंका—"प्राण सहित सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपंच अनित्य हैं, इसलिये उनको सत्य कहना ठीक नहीं।"

"समाधान—रूपादिक गुणोंसे रहित अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार कराने के लिये उस ब्रह्मका दो रूप श्रुतिमें कहा है। यहाँ प्रथम ब्रह्मका रूप चार विशेषणोंसे युक्त है। १—प्रत्यक्ष प्रमाणके योग्य होनेसे सब लोकोंमें प्रसिद्ध है, इसलिये उसको "सत्य" कहते हैं। २—देश कालादि परिच्छेद वाला है, इसलिये उसको "स्थितिमान्" कहते हैं। ३—प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध जो अवयवों की रचना विशेषता उस अवयव रचनासे युक्त है इसलिये उसको "मूर्त" कहते हैं। ४—प्रत्यक्ष नाशवान् है. इसलिये उसे "मर्त्य" कहते हैं। इस प्रकार सत्य, स्थितिमान्, मूर्त और मर्त्य इन चार विशेषणोंसे युक्त प्रथम ब्रह्मका रूप है। यहाँ प्रथम सत्यरूपका सार सूर्य मण्डलमें स्थित है। वह सूर्य मण्डल सम्पूर्ण जीवोंको प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है। तप्त करनेका स्वभाव वाला परमेश्वरका विग्रह रूप सूर्य मण्डलमें प्रथम सत्यरूपका सार स्थित है। इस कारणसे ही वह सूर्य मण्डल सर्व-रूपादिकोंका प्रकाशक है।

अब चार विशेषणोंसे युक्त ब्रह्मके द्वितीय रूपको दिखाते हैं। हे देवराज ! ब्रह्मका द्वितीय रूप परोक्ष होनेसे केवल शास्त्र प्रमाणसे जाना जाता है, इसलिये उसको श्रुतिमें "त्यत्" कहा है। २—सर्वत्र व्यापक है इसलिये उसको "गतिमान्" कहा है। ३—दृश्यमान् अवयव रचना विशेषसे रहित है इसलिये उसको "अमूर्त" कहते हैं। ४—नाश रहित होने से उसको अमृत कहते हैं। इस प्रकार त्यत्, गतिमान्, अमूर्त और अमृत इन चार विशेषणोंसे युक्त ब्रह्मका द्वितीय रूप कहा है। यहाँ सूर्य मण्डलमें स्थित समष्टि सूक्ष्म शरीरका अभिमानी जो हिरण्यगर्भ, वह प्रथम त्यत् शब्दके अर्थका सार रूप है। क्योंकि हिरण्यगर्भके शरीर आरम्भ करने के लिए ही सूक्ष्म भूतोंकी उत्पत्ति हुई है। इतने से ब्रह्मके अधिदैव रूप दो स्वरूपोंका निरूपण किया। अब उस ब्रह्मके अध्यात्मरूप दो स्वरूपों का निरूपण करते हैं—

अध्यात्म रूप इस संघातमें स्थित ब्रह्मके दो रूपोंका भी पूर्वकी तरह सार भाव जानना चाहिए। चक्षु सत् पदार्थका साररूप है। और दक्षिण नेत्रमें स्थित जो सूक्ष्म व्यष्टि अभिमानी पुरुष है, वह त्यत् शब्दके अर्थका सार रूप है। इन दोनों रूपोंसे भिन्न पंचभूत असाररूप हैं।

अब सत् और त्यत् शब्दके अर्थका निरूपण करते हैं—

पृथ्वी, जल, तेज, यह तीनों भूत प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय हैं, इसलिये इनको श्रुति "सत्" शब्दसे कथन करती है और वायु आकाश ये दोनों भूत परोक्ष ज्ञानके विषय हैं, इसलिये इन्हें श्रुति त्यत् शब्दसे कथन करती है।

अब स्थूल-सूक्ष्म, समष्टि-व्यष्टिके अभेद का निरूपण करते हैं—"

"हे देवराज! सूर्य-मण्डल और पुरुषका दक्षिण नेत्र दोनों पृथ्वी, जल, तेजरूप हैं, इसलिये ये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। सूर्य मण्डलमें स्थित जो पुरुष और दक्षिण नेत्रमें स्थित जो पुरुष है, वह अमूर्त पुरुष एक ही है। और स्थूल शरीरके भीतर है इसलिए उस पुरुष को आत्मा कहते हैं।"

शंका—"हे भगवन! स्थूलको यदि पृथ्वी-जल, तेज इन तीन भूतरूप मानेंगे तथा सूक्ष्मको यदि वायु आकाश इन दो भूतरूप मानेंगे तो स्थूल तथा सूक्ष्मको शरीर रूपता नहीं संभव है। क्योंकि श्रुतिमें सर्व शरीरोंको पंचभूत रूप कहा है। इससे श्रुतिका विरोध होगा।"

समाधान—"देवराज! पंचीकरण प्रक्रिया की रीतिसे पृथ्वी, जल, तेज इन तीन स्थूल भूतों में आकाश वायु ये दोनों सूक्ष्म भूत विद्यमान हैं। इसलिये स्थूलकी शरीर रूपता संभव है। इसी प्रकार सूक्ष्मके आरम्भ करनेवाले जो वायु आकाश हैं, उन दोनोंमें भी सूक्ष्म रूपसे पृथ्वी जल तेज ये तीनों भूत विद्यमान हैं इसलिये उस अमूर्त सूक्ष्मकी भी शरीर रूपता संभव है।

अब सूक्ष्म शरीरके नाना रूपोंका निरूपण करते हैं—

"हे देवराज! पूर्व-पूर्व वासनाओंसे उस सूक्ष्म शरीरके नाना प्रकार रूप हैं। उनमें से कुछ एक रूपोंको हम तुम्हें बतलाते हैं। सुनो, जिस कालमें रजोगुणसे युक्त हुआ यह पुरुष स्त्री आदिक पदार्थोंको देखता है उस काल में यह पुरुष हरिद्रासे रंगे हुए वस्त्रके समान रूप वाला होता है। और जिस कालमें सत्वगुण के प्रभावसे श्रद्धा आदिक गुणोंसे युक्त [illegible] रजोगुणके प्रभावसे क्रोधादिकोंसे युक्त होता है [illegible] समय यह पुरुष कुछ सफेद रंगके पहाड़ी [illegible] के समान रूपवाला होता है। और जिस समय यह पुरुष एकान्त देशमें स्थित होकर भी रजो-गुणके प्रभावसे विषयोंका स्मरण करता है उस समय वह इन्द्रगोप (बीर बहूटी नामक [illegible] विशेष) के समान अत्यन्त रक्तवर्ण वाला होता है। जिस समय यह पुरुष सत्वगुणके प्रभावसे विद्यायुक्त होने पर भी रजोगुणके प्रभावसे लोगोंके साथ ईर्ष्या करता है उस समय वह दाह शक्तिवान् तथा प्रकाश शक्तिवान् अग्निके ज्वालाके समान रूपवाला होता है। जैसे श्वेत कमल स्वभावसे ही शुद्ध [illegible] कोमल होता है तैसे किसी कालमें यह पुरुष सत्वगुणके प्रभावसे जन्मसे ही शम-दम [illegible] गुणों वाला तथा कोमल स्वभाव होता है। और जिस कालमें यह पुरुष शुद्ध सत्वगुणसे युक्त होता है उस कालमें वह विद्युतके समान सर्व प्रकाशक ज्ञान वाला होता है, जैसे हिरण्यगर्भ भगवान् सर्व पदार्थ विषयक ज्ञानवाला है।

हे देवराज इन्द्र ! जो सकाम पुरुष हैं उनको ही उपासनाके प्रभावसे हिरण्यगर्भकी तरह सर्वज्ञता प्राप्त होती है, और वह सर्वज्ञता उपासना रूप मानस कर्मसे जन्य होने के कारण अनित्य है। इसलिये मुमुक्षुजनोंको उस सर्वज्ञता की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। तात्पर्य यह कि जितनी भी पदार्थोंकी कामनायें हैं वे सभी आत्मरूप आनन्दकी प्रतिबन्धक हैं। इसलिये मुमुक्षुजनोंको सर्वकामनाका त्याग करना चाहिए।

हे देवराज इन्द्र ! इस प्रकार पुण्य पाप रूप कर्मसे तथा वासनाओंसे जन्य सहस्रों रूप अमूर्त सूक्ष्म पुरुषके हैं। उन सब रूपोंको कथन करनेमें हम और श्रुति दोनों समर्थ नहीं हैं। इसलिये संक्षेपमें कह दिया है।

अब मूर्त, अमूर्त इन दोनों रूपोंके निषेधार्थ पहले उनमें अविद्याका कार्यपना दिखलाते हैं–

हे देवराज ! जैसे तन्तुओंके कार्य पटमें तन्तु अनुगत होकर रहते हैं तैसे स्थूल-सूक्ष्म रूप प्रपंच अविद्यासे उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह कारण रूप अविद्या सम्पूर्ण प्रपंचरूप कार्यमें अनुगत होकर रहती है। अतः जैसे पटादिक पदार्थ तथा उनके कारण तन्तु आदि दृश्य हैं इसलिये अनात्मा हैं, तैसे स्थूल सूक्ष्म प्रपंच तथा उनका कारण अविद्या यह तीनों भी दृश्यरूप हैं इसलिये अनात्मा ही हैं।"

शंका—"स्थूल-सूक्ष्म रूप कार्य प्रपंच तथा उसका कारण माया यह दोनों दृश्य रूप हैं, इसलिये आत्मा न हों परन्तु उनका अभाव रूप जो निषेध, वह आत्मा क्यों नहीं है ?"

समाधान—"जैसे प्रपंच रूप कार्य तथा अविद्या रूप कारण आत्मा नहीं है तैसे उनका अभावरूप निषेध भी आत्मा नहीं है। क्योंकि जैसी प्रतियोगीकी सत्ता होती है तैसी ही उसके अभावकी सत्ता होती है। जैसे शुक्तिमें प्रतीत होने वाला रजत कल्पित है, इसलिये उस कल्पित रजतका अभाव भी कल्पित ही होता है तैसे अनात्म प्रपंचका अभाव भी अनात्मा ही है। इसलिये हे देवराज इन्द्र ! सर्व अनात्म प्रपंच का निषेध करके यह जो आनन्द स्वरूप आत्मा का उपदेश मैंने तुम्हें किया है, इससे अधिक उपदेश कोई भी ब्रह्मवेत्ता गुरु शिष्यको नहीं करता है। किन्तु सभी ब्रह्मवेत्ता गुरु सर्वप्रपंच का निषेध करके इस आनन्द स्वरूप आत्माका उपदेश अपने शिष्योंको करते हैं।"

शंका—"प्रपंचके निषेधके बिना ही "तू आनन्द स्वरूप ब्रह्म है।" इस प्रकार विधि मुखसे आत्माका उपदेश गरु क्यों नहीं करता है ?"

समाधान–"हे देवराज ! यह आनन्द स्वरूप आत्मा मन-वाणीका अविषय है। इसलिये विधि मुखसे आत्माका उपदेश करने में कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है। इस कारणसे ही ब्रह्म-वेत्ता गुरुओंने सर्व अनात्म प्रपंचका निषेध करके मुमुक्षुजनोंको आत्माका उपदेश किया है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मका उपदेश दो प्रकारका होता है। एक, विधि मुख दूसरा, निषेध मुख। यह अन्तर्यामी आत्मा ब्रह्म स्वरूप, सत्य स्वरूप, ज्ञानरूप, आनन्द स्वरूप तथा परिपूर्ण है। इस प्रकारके उपदेशको विधिमुख उपदेश कहते हैं। और यह आनन्द स्वरूप आत्मा कार्य रूप नहीं,

कारण रूप नहीं, स्थूलरूप नहीं, सूक्ष्मरूप नहीं है। इस प्रकारके उपदेशको निषेध मुख उपदेश कहते हैं। इन दोनों प्रकारके उपदेशोंमें निषेध मुखकी उत्कृष्टता कहने के लिये पहले विधिमुख उपदेशमें अपकृष्टता दिखाते हैं–

हे देवराज ! तू ब्रह्मरूप है तथा मैं ब्रह्मरूप हूँ" इस प्रकारका विधि मुखसे बोध जो हमने पहले तुम्हे उपदेश किया था, वह विधि मुख बोध शब्दके अनुगमसे विशिष्ट ही उत्पन्न होता है, इसलिए मन-वाणीके अविषय आत्मामें वह विधिमुख बोध सम्भव नहीं। अथवा "तत्त्वमसि" वह ब्रह्म तू है, इस प्रकार विधिमुख करके प्रवृत्त हुआ जो बोध है, उसमें तत्पद तथा त्वं पदके अर्थका परस्पर अभेद प्रतीत होता है। वह सम्भव नहीं। क्योंकि "तत्" पदका अर्थ जो माया विशिष्ट ईश्वर है, उसमें तो सर्वज्ञता तथा परोक्षपना रहती है। और "त्वं" पदका अर्थ जो अविद्या विशिष्ट जीव है, उसमें अल्पज्ञता, अपरोक्षपना तथा दुःखीपना रहती है। इस प्रकार विरोधी धर्मवाले तत्-त्वं पदार्थका परस्पर अभेद सम्भव नहीं। किन्तु जैसे अग्नि तथा बरफ परस्पर विरुद्ध धर्मवाले हैं, इसलिये उनका परस्पर भेद है तैसे विरुद्ध धर्मवाले तत्-त्वं पदार्थका भी परस्पर भेद ही सम्भव है। इस प्रकारकी आशंकाकी निवृत्ति के लिए तथा तत्-त्वं पदार्थके अभेदकी सिद्धिके लिए तत्-त्वं इन दोनों पदोंमें भाग त्याग लक्षणा" अंगीकार करनी होगी। जहाँ पदके वाच्य अर्थके एक देशका परित्याग करके एक देशका ग्रहण होता है उसको भाग त्याग लक्षणा कहते हैं। यहाँ "तत्" पदका वाच्य अर्थ ईश्वर है, उसमें दो भाग हैं—एक तो चैतन्य भाग दूसरा माया तथा मायाकृत सर्वज्ञत्वादिक धर्म भाग है। यहाँ माया तथा माया-कृत सर्वज्ञत्वादिक धर्मरूप द्वितीय भागका त्याग करके प्रथम चैतन्य भागमें तत् पदकी लक्षणा करनी चाहिए। इसी प्रकार त्वं पदका वाच्य अर्थ जो जीव है, उसके भी दो भाग हैं—एक चैतन्य भाग और दूसरा अविद्या तथा अविद्या-कृत अल्पज्ञत्वादिक धर्म भाग हैं। यहाँ अविद्या तथा अविद्याकृत अल्पज्ञत्वादिक धर्मरूप द्वितीय भागका परित्याग करके चैतन्य रूप प्रथम भाग-में त्वं पदकी लक्षणा करनी चाहिए। इन दोनों चैतन्य भागोंका परस्पर अभेद सम्भव है। इस प्रकार लक्षणा वृत्तिको अंगीकार करके जो विधिमुख उपदेश है, वह केवल क्लेशकर है।

अथवा—विधिमुखसे आत्माके उपदेशमें अनुमान प्रमाणकी अपेक्षा रूप गौरव दूषण प्राप्त होगा। क्योंकि सत्-चित-आनन्द स्वरूप जो त्वं पदका अर्थ है, उसका जैसे अधिष्ठान पुरुषमें भेद नहीं है, तैसे सर्व जीवोंके आत्मामें उसका भेद नहीं है, तैसे तत् पदार्थमें भी उनका भेद नहीं है। इस प्रकारके अर्थको सिद्ध करने वाला जो अनुमान प्रमाण है उसकी अवश्य अपेक्षा करनी होगी। उस अनुमानका प्रकार यह है कि त्वं पदका अर्थ जो जीव है, वह परमात्मासे भिन्न नहीं। क्योंकि सत्-चित्

आनन्द स्वरूप होनेसे, अधिकारी पुरुषके आत्माकी तरह, इस प्रकारके अनुमान प्रमाणकी अपेक्षा विधिमुख उपदेशको है। इसलिये विधिमुख उपदेश अपकृष्ट है।

अथवा—विधिमुख उपदेशमें तत् पदार्थ तथा त्वं पदार्थके शोधनके विना उन दोनोंका परस्पर अभेद सम्भव नहीं। इसलिये तत्-त्वं पदार्थका शोधन अवश्य करना चाहिए। और देहादिक जड़ पदार्थोंकी व्यावृत्तिके विना तत्-त्वं पदार्थका शोधन नहीं होता। इसलिये देहादिक जड़ पदार्थोंकी व्यावृत्ति अवश्य करना चाहिए। और वह देहादिक जड़ पदार्थोंकी व्यावृत्ति युक्तिरूप अनुमानके विना सिद्ध नहीं होती। इसलिये देहादिक जड़ पदार्थोंकी व्यावृत्तिके लिए अनेक प्रकारके अनुमानोंकी अपेक्षा करनी होगी। इस प्रकार अनेक अनुमानोंकी अपेक्षा रूप गौरव दोष विधिमुख उपदेशमें प्राप्त होता है, इसलिये विधिमुख उपदेश अपकृष्ट है।

अथवा—विधिमुख उपदेशमें जिन अनुमानोंकी अपेक्षा होती है वे अनुमान भी स्वतंत्र होकर किसी अर्थकी सिद्धि नहीं करते, किन्तु अन्य प्रमाणकी अपेक्षा करते हैं। यदि अनुमान प्रमाण अन्य किसी प्रमाणकी अपेक्षा न करे तो उसमें अनुमानपना ही नहीं रहेगा। क्योंकि अनुमान इस शब्दमें दो पद हैं। एक "अनु" पद और दूसरा "मान" पद। "अनु" पदका अर्थ पश्चात्भावी और मानका अर्थ प्रमाण है। दोनोंको मिलाकर "पश्चात् भावी प्रमाण" इस प्रकार अर्थ होता है। यदि अनुमान प्रमाण किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करेगा तो "अनुमान" इस प्रकारका शब्द व्यर्थ हो जायगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि सत्-चित्-आनन्दरूप होनेसे अधिकारी पुरुषके आत्माकी तरह जीव ब्रह्मसे अभिन्न है।

इस प्रकार जीव ब्रह्मके अभेदका साधक अनुमान और देहादिक अनात्मा होने योग्य हैं। क्योंकि घटादिकोंकी तरह जड़, दृश्य और परिच्छिन्न हैं। इस प्रकार देहादिकोंमें अनात्मताका साधक अनुमानोंका कोई मूलरूप प्रमाण कहना चाहिए, जिसकी सहायतासे वे अनुमान विधिमुख उपदेशमें सहायता करें। जैसे धूम रूप हेतुसे पर्वतमें अग्निका अनुमान तभी होता है जब पहले घर आदिमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे धूम रूप हेतुमें अग्निके व्याप्तिका ज्ञान हुआ हो। व्याप्ति ज्ञानके विना धूमरूप हेतुसे पर्वतमें अग्निका अनुमान नहीं होता। इसलिये धूममें व्याप्तिको ग्रहण करनेवाला तथा पर्वतमें धूमको ग्रहण करनेवाला जो प्रत्यक्ष प्रमाण है, वह पर्वतमें अग्निके अनुमानका मूलरूप है। तैसे ही इस प्रसंगमें जड़त्वादिक हेतुओंसे जो देहादिकोंमें अनात्मताका अनुमान है, उसमें भी जड़त्वादिक हेतुओंमें अनात्मता रूप साध्यके व्याप्ति ज्ञानके लिए तथा जड़त्वादिक हेतुके ज्ञानके लिये अन्य किसी प्रमाणकी अपेक्षा है। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस अनुमानका मूल होगा नहीं, क्योंकि दृष्टान्त रूप घटादिकोंमें यद्यपि जड़त्वादिक हेतु प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है तथापि अनात्मता रूप साध्यका घटादिकोंमें प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि आत्माके भेदका नाम अनात्मता है। वह आत्माका भेद अन्यो-

न्याभाव रूप है। और प्रतियोगीके ज्ञान बिना अभावका ज्ञान नहीं होता। इसलिये प्रतियोगी रूप आत्माके प्रत्यक्षके बिना उसके भेदका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। अतः पूर्वोक्त अनुमानका प्रत्यक्ष प्रमाण मूल नहीं।"

शंका—"आत्मा चैतन्य होता है। यदि देह ही आत्मा हो तो देहमें जड़ता नहीं होनी चाहिए। और देहमें जड़ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। इसलिये देह आत्मा नहीं। इस प्रकारका तर्क देहके आत्मताका बाधक सम्भव है।"

समाधान—"जो चार्वाक नास्तिक आत्मता धर्म देहका ही स्वभाव मानते हैं, उनके आगे यह तुम्हारा तर्क नहीं चलेगा। क्योंकि जैसे घटादिकोंमें रहनेवाले जड़त्व, दृश्यत्व आदिधर्म घटादिकोंके स्वभावको निवृत्त नहीं करते। तैसे देहमें रहनेवाले जड़त्व, दृश्यत्वादिक धर्म भी देहके आत्मताको निवृत्त नहीं करते।"

अथवा—जैसे नैयायिकोंके मतमें सत्ता नामक जाति द्रव्यगुण कर्म इन तीन पदार्थोंमें रहती है परन्तु वह सत्ता जाति उन द्रव्य आदिकोंके स्वभावको अन्यथा नहीं करतीं। तैसे जड़त्व दृश्यत्वादिक धर्म आत्मामें तथा अनात्मा में रहते हैं। परन्तु उस आत्मा तथा अनात्माके स्वभावको अन्यथा नहीं करते। इस प्रकार माननेमें देहात्मवादी चार्वाकको कोई बाधक तर्क नहीं है। जिस बाधक तर्कके भयसे जड़त्व दृश्यत्वादिक धर्म आत्मामें नहीं अंगीकार करते। तात्पर्य यह कि जहाँ धूम रूप हेतुसे अग्निका अनुमान होता है वहाँ धूमरूप हेतु कार्य है और अग्नि उस धूमका कारण है। यदि अग्निके बिना धूमकी स्थिति कहीं अंगीकार करिये तो धूम तथा अग्निका परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं रहेगा। इस प्रकारका तर्क वहाँ बाधक है। और यहाँ प्रसंगमें अनात्मता रूप साध्यके बिना भी यदि जड़त्व दृश्यत्व धर्म अंगीकार करें तो इसमें कोई बाधक तर्क नहीं है। क्योंकि जड़त्व दृश्यत्वादिक धर्मोंका यदि अनात्मता धर्म कारण हो तो अनात्मता धर्म रूपी साध्यके बिना जड़त्व दृश्यत्वादिक धर्म हेतु नहीं रहें। वह उनका परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं है। इसलिए आत्मामें जड़त्व दृश्यत्वादिक धर्मोंके अंगीकार करनेमें कोई बाधक तर्क देहात्मवादीको नहीं है।"

शंका—"आत्माका सर्वत्र चैतन्यरूपसे अनुभव होता है। यदि जड़ देहको ही आत्मा मानें तो उस अनुभवका विरोध होगा।"

समाधान—आत्माका जो चैतन्यरूपसे अनुभव होता है उस अनुभवमें कौन करण है? नेत्रादिक इन्द्रिय करण हैं अथवा मनकरण है? यहाँ चैतन्यरूपसे भी आत्माके अनुभवमें नेत्रादिक बाह्य इन्द्रिय करण हैं, यह प्रथम पक्ष सम्भव नहीं। क्योंकि बाह्य अनात्म पदार्थोंको विषय करनेसे नेत्रादिक इन्द्रियोंको बाह्य इन्द्रिय कहते हैं। नेत्रादिक इन्द्रियाँ जब अन्तर आत्माको विषय करेंगी तब उनमें बाह्य इन्द्रियपना नहीं रहेगी। इसलिये नेत्रादिक बाह्य इन्द्रियाँ आत्मा को चैतन्यरूपसे ग्रहण नहीं करतीं, अथवा, चैतन्य रूपसे आत्माके अनुभवमें मनकरण है यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं। क्योंकि यदि आत्माको चैतन्यरूपसे मन ग्रहण करे तो आत्माके जड़त्वादिक धर्मोंका विरोध होगा। वह इस

आत्माको चैतन्यरूपसे ग्रहण नहीं करता। किन्तु "अहं-अस्मि" इस प्रकार आत्माके सत्ता मात्रको मन ग्रहण करता है। इसलिये आत्मा में जड़त्वादिक धर्मोंका निवारण नहीं होता है।

शंका—"अहं-अस्मि" इस प्रकारका ज्ञान यद्यपि आत्माके चैतन्य रूपताको विषय नहीं करता तथापि "अहं जानामि" इस प्रकारका ज्ञान आत्माके चैतन्य रूपताको विषय करता है।

समाधान—"जैसे ताम्बूलके योगसे पुरुषों के मुखमें लाली उत्पन्न होती है तैसे मनके योग से आत्मामें उत्पन्न हुई जो चैतन्यता, उस चैतन्यताको ही "अहं जानामि" इस प्रकारका अनुभव विषय करता है। शुद्ध आत्माके चैतुन्यताको वह अनुभव विषय नहीं करता। इसलिये आत्माके जड़त्वादिक धर्मका विरोधी चैतन्यपनाको कोई प्रत्यक्ष प्रमाण विषय नहीं करता।

अथवा—जब आत्माके चैतन्यतामें प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हुई तब वादीको नित्य ही परोक्ष आत्माके व्यापकतादिक धर्ममें प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति किस प्रकार होगी? किन्तु नहीं होगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि विधि मुख उपदेशकी सहायता करने के लिये प्रवृत्त हुए पूर्वोक्त अनुमानोंकी मूल कारणता प्रत्यक्ष प्रमाणमें सम्भव नहीं। अतः मूल कारणके अभाव होने से वे अनुमान आत्माके निर्णयमें प्रवृत नहीं होते। इसलिये पूर्वोक्त दोषोंकी निवृत्तिके लिये श्रुति प्रमाण ही उन अनुमानों का मूलरूप मानना होगा। वह श्रुति इस प्रकार है—

सत्यज्ञानमनंतं ब्रह्म आनन्दो ब्रह्म

ब्रह्म सत्य रूप है, ज्ञानरूप है, अनन्तरूप है, तथा आनन्दरूप है। इस प्रकारके श्रुतिरूप मूल प्रमाणोंको अंगीकार करके वे पूर्वोक्त अनुमान विधिमुख उपदेशमें सहायता करते हैं। अथवा—जिस श्रुति रूप मूल प्रमाणकी सहायता से पूर्वोक्त अनुमान विधिमुख उपदेशकी सहायता करते हैं, वे श्रुति वाक्य ही निषेध मुख उपदेश के प्रधानताको बोधन करते हैं, क्योंकि सत्यादिक पदोंकी शक्ति वृत्तिसे शुद्ध ब्रह्ममें प्रवृत्ति किसी विद्वानने अंगीकार नहीं की है। किन्तु भाग त्याग लक्षणासे सत्यादिक शब्द ब्रह्मका बोधन करते हैं। यहाँ सत्य शब्द असत्यकी व्यावृत्तिसे ब्रह्मका बोधन करते हैं। ज्ञान शब्द अज्ञान की व्यावृत्तिसे, अनन्त शब्द देश काल वस्तु परिच्छेदकी व्यवृत्तिसे तथा आनन्द शब्द दुःख की व्यावृत्तिसे ब्रह्मका बोधन करते हैं। इस प्रकार सभी सत्यादिक शब्द असत्यादिक धर्मों का निषेध करके शुद्ध ब्रह्मका बोधन करते हैं। इसलिये वे सम्पूर्ण श्रुति वाक्य निषेध मुख उपदेशकी ही प्रधानता बतलाते हैं।"

शंका—"श्रुति वाक्य ब्रह्मको निषेध मुखसे किसलिए बोधन करते हैं?"

समाधान—"यह अद्वितीत ब्रह्म सजातीय भेद, विजातीय भेद, स्वगत भेद इन तीन भेदों से रहित हुआ अपनी महिमामें स्थित है। ऐसे निर्गुण ब्रह्मको जो श्रुति वाक्य किसी गुण विशिष्ट रूपसे बोधन करेंगे तो उन श्रुति वाक्योंमें अप्रमाणता दोषकी प्राप्ति होगी। जैसे सर्पत्व धर्मसे रहित रज्जुको सर्प रूपसे

बोधन करने वाला "यह सर्प है" इस प्रकारके वाक्यको लोकमें अप्रमाण मानते हैं। तैसे सर्व धर्मोंसे रहित निर्गुण ब्रह्मको किसी गुरु विशिष्ट रूपसे बोधन करने वाला विधि वाक्य भी अप्रमाण होगा। अतः अपने अप्रमाणता दोष की निवृत्तिके लिये सम्पूर्ण सत्यादिक वाक्य निर्गुण ब्रह्मको निषेध मुखसे बोधन करते हैं।"

शंका—"हे भगवन! सर्वभेदसे रहित एक अद्वितीय ब्रह्म इस लोकमें प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये उस अप्रसिद्ध ब्रह्मको शास्त्र कैसे बोधन करेगा। क्योंकि प्रसिद्ध पदार्थका ही शब्द बोधन करते हैं।"

समाधान—"हे देवराज इन्द्र! लोक प्रसिद्ध अर्थको ही शास्त्र बोधन करे, यह नियम सर्वत्र नहीं। किन्तु लोकमें अप्रसिद्ध पदार्थको भी शास्त्र बोधन करता है। जैसे "यूप" शब्दका अर्थ यद्यपि लोकमें अप्रसिद्ध है तथापि "यूपं तक्षति" इस प्रकारके वेद वचनके संस्कारसे विशिष्ट काष्ठ विशेष यूप शब्दका अर्थ प्रतीत होता है। तैसे लोकमें यद्यपि अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म अप्रसिद्ध है तथापि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिक श्रुति वचनोंके विश्वाससे बुद्धिमान पुरुषों द्वारा वह निर्गुण ब्रह्म जानने योग्य है।

अब विधिमुख उपदेश तथा निषेधमुख उपदेशको लक्षण एवं लोक प्रसिद्ध दृष्टान्तों द्वारा निरुपण करते हैं—

"हे देवराज! इस आनन्द स्वरूप आत्मा को बोधन करनेके लिये शास्त्रकी दो प्रकारकी प्रवृत्ति होती है। एक विधिमुख दूसरा निषेध मुख। यह दोनों प्रकारकी प्रवृत्ति अधिकारी जनोंकी बुद्धिके अनुसार होती है। पहले विधि-मुख उपदेशको कहते हैं—

कोई धनी पुरुष गोशालामें जाकर गोपाल से पूछता है—"हमारी गाय कौन है?" गोपाल उसके गायकी सींग पकड़कर बतलाता है—"यह तुम्हारी गौ है।" इसको शृंग ग्राहिका न्याय कहते हैं। इस प्रकार शृंग ग्राहिका न्याय से जो शास्त्र आत्माका बोधन करते हैं उनको विधिशास्त्र कहते हैं। जैसे "तुम्हारे हाथमें आँवलाका फल है।" यह लौकिक विधि वाक्य है। इस प्रकार कोई विधिवाक्य आनन्द स्वरूप आत्माका बोधन नहीं करता है। क्योंकि यह आत्मा मन-वाणीका अविषय है। इसलिये "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिक विधिवाक्य भी असत्य आदिकी व्यावृत्ति द्वारा ही शुद्ध आत्मामें प्रवृत्त होते हैं।

अब निषेध शास्त्रका लक्षण और लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं—हे देवराज इन्द्र! भ्रान्त पुरुषोंने लक्ष्य रूपसे जिन अनेक पदार्थों को अंगीकार कर लिया है, उन सबका निषेध करके परिशेषमें वास्तव लक्ष्य पदार्थको जो शास्त्र अर्थसे बोधन करता है उसे निषेध शास्त्र कहते हैं। जैसे रथ घोड़ा और सेना आदिसे युक्त राजाको न जानकर कोई मूढ़ बालक अपने पितासे पूछता है—"इस सर्व समाजमें राजा कौन है?" बालकके प्रश्नको सुनकर उसका पिता अपने पुत्रको राजाका बोध करानेकी इच्छा रखता हुआ भी "यह राजा है" इस प्रकारके शब्द द्वारा न बतला कर अपने मनमें विचार करता है कि यदि पहले ही इस बालक

से कह दूँ कि "यह राजा है" तो यह मूढ़ बुद्धि न जाने किसको राजा समझ ले, इसलिये इस प्रकार कहना उचित नहीं। किन्तु राजासे भिन्न सभी पदार्थोंका पहले निषेध करना चाहिये, परिशेषमें सबसे विलक्षण राजाको यह बालक स्वयं जान जायगा। इस प्रकारका अपने मनमें निश्चय करके उसने बालकसे कहा—"ये सब वृक्ष, अश्व, हाथी, रथ आदि राजा नहीं हैं। यह पैदल चलनेवाले पुरुष भी राजा नहीं है। अस्त्र-शस्त्रसे सज्जित वह पुरुष भी राजा नहीं है, श्वेत छत्र, चामर तथा उनको धारण करनेवाले स्त्री-पुरुष भी राजा नहीं है। वे नीला पीला वस्त्र पहने हुए पुरुष भी राजा नहीं। इस प्रकार राजासे भिन्न सभी पदार्थोंको उसने कहा कि यह राजा नहीं है। इसके बाद उस बालकने परिशेषमें सबसे विलक्षण रूप युक्त राजाको प्रत्यक्ष देख लिया। इसी प्रकार निषेध शास्त्र भी एक आत्माको छोड़कर अन्य सब स्थूल सूक्ष्म प्रपंचका निषेध करता है। निषेधके बाद वह अधिकारी पुरुष सर्व प्रपंचसे विलक्षण रूप आत्माको स्वयं निश्चय कर लेता है।

हे देवराज इन्द्र! इसलिये यह निषेध मुख से उपदेश ही आत्माको बोधन करनेमें श्रेष्ठ उपाय है। यदि यह निषेधमुख उपदेश नहीं अंगीकार करेंगे तो भाव अभावसे रहित निर्गुण परमात्माको कौन बोध करेगा। किन्तु निषेध मुख उपदेशके बिना निर्गुण परमात्माको बोधन करनेमें कोई भी वाक्य समर्थ नहीं। इसलिये महावाक्यका लक्ष्यरूप अद्वितीय आत्मा मन वाणीका अविषय है। और शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्त जाति गुण क्रियादिकोंसे यह आत्मारहित है। इसलिये सत्यादिक श्रुतिवाक्य भी उस आत्माको साक्षात् प्रतिपादन नहीं कर सकते। ऐसे अद्वितीय परमात्माको कौन पुरुष मनसे विषय करेगा किन्तु कोई भी मनसे आत्माको जाननेमें समर्थ नहीं। ऐसे अद्वितीय आत्माको जाननेके लिये जब निषेधशास्त्र स्थूल सूक्ष्मरूप सर्व जगतका निषेध करते हैं तब वह आनन्द स्वरूप आत्मादेव स्वयं ही अधिकारी पुरुषोंके हृदयमें प्रकाशमान हो जाता है। जैसे दीपक मन्दिरमें नेत्रोंको आवरण करनेवाले अंधकारकी निवृत्ति मात्र करता है। दीपकका बाह्य इतना ही उपयोग है। अन्धकारकी निवृत्ति होनेके बाद नेत्रवान् पुरुष स्वतन्त्ररूपसे ही घटादि पदार्थोंको देखता है। वैसे ही यह भाव अभावरूप, कार्यकारण रूप तथा स्थूल, सूक्ष्मरूप सम्पूर्ण जगत आत्मा नहीं है, इस प्रकार जब निषेधशास्त्र कहता है तब अधिकारी पुरुष आपही आत्माका साक्षात्कार करते हैं। अतः अद्वितीय आत्माके बोधके लिये यह निषेधमुख उपदेश ही उत्कृष्ट है। क्योंकि जैसे विधिमुख उपदेशमें तत्-त्वं पदार्थके शोधन तथा अनुमान आदिकी अपेक्षा है वैसे निषेधमुख उपदेशमें किसी अनुमानादिकोंकी अपेक्षा नहीं।"

शंका—"हे भगवन्! "नेतिनेति" इस प्रकार की श्रुतिने मूर्त-अमूर्त रूप प्रपंचका निषेध किया है। उस मूर्त अमूर्त प्रपंचसे भिन्न जो कोई एक जड़ पदार्थ हैं उनका श्रुतिने निषेध किया नहीं, इसलिए उन पदार्थोंके साथ आत्मा का तादात्म्य अध्यास होने से अधिकारी पुरुषों को शुद्ध रूपसे आत्माका भान नहीं होगा।"

समाधान—"देवराज! कारण अज्ञान सहित जो मूर्त-अमूर्त रूप प्रपंच हमने कहा है, इतना ही जड़ प्रपंच है, इससे अधिक कोई दूसरा जड़ प्रपंच नहीं। इस कारण अज्ञान सहित मूर्त-अमूर्त रूप प्रपंचके निषेध करने से ही विद्वान पुरुषोंको आत्माका साक्षात्कार होता है। अतः "नेतिनेति" इस प्रकारकी श्रुति अद्वितीय आत्मासे भिन्न सर्व जड़ प्रपंचका निषेध करती है। यहाँ प्रथम नकार से कार्य कारण रूप तथा स्थूल सूक्ष्म रूप जितना भी भाव प्रपंच है उन सबका आत्मामें निषेध करते हैं। और दूसरे नकारसे उस भाव प्रपंचके अभावका निषेध करते हैं। जब भाव अभाव रूप जड़ प्रपंच आनन्द स्वरूप आत्मासे निकल गया तब यह आनन्द स्वरूप आत्मा ही शेष बचता है। जैसे अग्निके विशेष भावके कारण जो काष्ठ हैं, वे काष्ठ जब अग्नि द्वारा जला दिए जाते हैं तब काष्ठोंसे रहित हुई अग्नि पूर्व विशेष रूपको परित्याग कर अपने सामान्य रूपमें स्थित हो जाती है। तैसे आत्माके विशेष रूपका कारण भाव-अभाव रूप जड़ प्रपंचोंकी जब निवृत्ति हो जाती है तब यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी उपाधि कृत विशेष रूपका त्याग करके अपने सत्-चित्-आनन्द स्वरूपमें स्थित हो जाता है। "यह मैं हूँ, यह तू है, यह दृश्य प्रपंच है, यह अन्य जीव है" आदि इस प्रकारके सभी भेद मूर्त-अमूर्त रूप उपाधि द्वारा किए हुए हैं। इसलिये वे सम्पूर्ण भेद आनन्द स्वरूप आत्मामें वास्तव नहीं हैं और जैसे भेदसे रहित आकाश में धूम, विद्युत, मेघ नाना प्रकारके भेदोंको उत्पन्न करते हैं तैसे भेद रहित अद्वितीय आत्मामें स्थूल-सूक्ष्म शरीर नाना प्रकारके भेदों को उत्पन्न करते हैं। और आकाशमें भेदको करनेवाले मेघादिकोंका उपादान कारण आकाश नहीं, परन्तु आत्माके भेदको करनेवाला स्थूल सूक्ष्म प्रपंचका तो आत्मा ही उपादान कारण है।"

शंका—"असंग आत्मामें जगतकी कारणता सम्भव नहीं है।"

समाधान—"असंग आत्मामें जगतकी कारणता नहीं सम्भव है यह बात सत्य है। असंग आत्मामें जगतकी कारणता हम भी अंगीकार नहीं करते हैं। किन्तु माया विशिष्ट परमात्मामें जगतकी कारणता हम अंगीकार करते हैं। इसलिए स्थूल - सूक्ष्म रूप सम्पूर्ण प्रपंच परमेश्वरकी माया द्वारा रचित हैं। अतः सम्पूर्ण प्रपंच मिथ्या हैं।

शंका—"सम्पूर्ण प्रपंच माया द्वारा रचित है इसलिए मिथ्या है, यह बात यद्यपि सम्भव है तथापि माया माया द्वारा रचित नहीं है इसलिए वह माया सत्य होगी। यदि मायाको भी अन्य मायासे रचित स्वीकार करेंगे तो वह दूसरी माया तीसरी माया द्वारा रचित होगी। इस प्रकार मायाकी अनवस्था होगी।

अथवा, मायाकोवेदान्त शास्त्रमें अनादि मानते हैं। इसलिए मायामें मायाका कार्यत्व सम्भव नहीं।"

समाधान—"हे देवराज! जो माया कार्य है, वह मिथ्या होती है। मिथ्या प्रपंचका जो लक्षण हमने कहा है वह केवल कार्य प्रपंच का कहा है। कारण रूप मायाके मिथ्यात्व

यह लक्षण नहीं। और सिद्धान्तमें कार्य प्रपंच की तरह माया भी मिथ्या ही है। इसलिए अधिष्ठान चैतन्यमें जो अध्यस्त हो उसे मिथ्या कहते हैं। यह मिथ्यात्वका लक्षण माया तथा मायाका कार्य दोनोंमें है। क्योंकि जैसे स्थूल सूक्ष्म प्रपंच अधिष्ठान चैतन्यमें अध्यस्त हैं तैसे माया भी अध्यस्त है। अतः दोनों मिथ्या हैं। लोकमें भी जादूगर द्वारा बनाई हुई माया और मायासे उत्पन्न पदार्थ सभी मिथ्या होते हैं। तैसे ही माया तथा माया रचित सम्पूर्ण प्रपंच भी मिथ्या ही हैं। जैसे लोकमें मायावी ऐन्द्र-जालिक (जादूगर) द्वारा रचे हुए स्थूल सूक्ष्म पदार्थ लोगोंको प्रतीत होते हैं तैसे माया विशिष्ट इन्द्र द्वारा रचा हुआ यह इन्द्रजाल रूप प्रपंच सभी जीवोंको प्रतीत होता है।"

शंका—"हे भगवन्! तीन लोकोंमें मैं ही इन्द्र हूँ। मेरेसे भिन्न कोई दूसरा इन्द्र है नहीं।"

समाधान—"हे देवराज इन्द्र! जो परमात्मा देव पहलेसे ही सर्वात्म रूपसे आत्माको जानता है, उसी परमात्मा देवको यहाँ इन्द्र शब्दसे कहा है। तुम्हें सर्वात्मरूपसे आत्माका ज्ञान है नहीं, इसलिये तू इन्द्र नहीं।"

अथवा—'परम ऐश्वर्यवान् जो हो उसे इन्द्र कहते हैं। इस प्रकार इन्द्र शब्दका अर्थ भी सर्वात्म ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ परमात्मामें ही घटता है। तुम्हारेमें नहीं घटता, क्योंकि जिस ऐश्वर्यके समान तथा अधिक कोई ऐश्वर्य न हो उसको परम ऐश्वर्य कहते हैं। ऐसा परम ऐश्वर्य तुम्हारे पास नहीं है। किन्तु तुमसे भी सहस्रगुणा ऐश्वर्य हिरण्यगर्भके पास है। इस-लिये सर्वात्म ज्ञानसे युक्त परमादेव ही इन्द्र है। और वही इन्द्र सम्पूर्ण जगतका कारण है।

हे देवराज इन्द्र! स्थूल सूक्ष्म शरीरके साथ तुम्हारा तादात्म्य अध्यास है। इसलिये उस परमात्मा रूप इन्द्रसे तू उत्पन्न हुआ है। इस कारणसे तुझमें इन्द्रपना सम्भव नहीं।"

शंका—"यदि मैं इन्द्र नहीं तो सभी लोग मुझे इन्द्र क्यों कहते हैं?"

समाधान—"साधारण पुरुषोंके पास जो ऐश्वर्य है, उसकी अपेक्षा तुम्हारा ऐश्वर्य अधिक है, इसलिये लोग तुमको इन्द्र कहते हैं। वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो ब्रह्मात्म साक्षात्कार युक्त ईश्वर ही इन्द्र है। हे देवराज इन्द्र! अज्ञानकृत देहाभिमान कालमें तुम्हारा ऐश्वर्य तथा श्वानका ऐश्वर्य समान ही है। क्योंकि जैसे नाना प्रकारके ऐश्वर्य, अपने देवता शरीर, तीन लोक तथा स्वर्गकी स्त्रियोंमें रमणीक बुद्धि करके तुम्हारी आसक्ति है वैसे ही श्वानको भी अपने ऐश्वर्य आदिक पदार्थोंमें रमणीक बुद्धि करके आसक्ति है।"

शंका—"जो पदार्थ सुन्दर होता है, उसमें रमणीक बुद्धिसे आसक्ति होती है। असुन्दर पदार्थमें रमणीक बुद्धि नहीं होती, इसलिये उसमें आसक्ति नहीं होती है। वे सुन्दर पदार्थ हमारे पास विद्यमान हैं, इसलिये उन पदार्थोंमें हमारी आसक्ति सम्भव है। और कुत्तेके पास कोई सुन्दर पदार्थ नहीं है, अतः उसकी आसक्ति सम्भव नहीं।"

समाधान—"हे देवराज इन्द्र! हमारे पास सुन्दर पदार्थ हैं कुत्तेके पास नहीं, यह केवल

तुझे अभिमान हुआ है। क्योंकि निरपेक्ष ऐश्वर्यादिक पदार्थ तुम्हारे समीप भी नहीं तैसे कुत्तेके समीप भी नहीं। किन्तु साधारण जीवोंकी अपेक्षा तुम्हारे पास महान ऐश्वर्य है तैसे ही कीटादिक क्षुद्र जन्तुओंकी अपेक्षासे कुत्तेके पास भी महान ऐश्वर्य है। जैसे साधारण जीवोंकी अपेक्षा तुम्हारा शरीर कोमल है तैसे सूकरादिकोंकी अपेक्षासे कुत्तेका भी शरीर कोमल है। जैसे तुम देवताओंके शरीरमें इन्द्राणि आदि अप्सराओंकी प्रीति है तैसे कुत्तेके शरीरमें भी कुतियाकी प्रीति है। जैसे तुम लोगोंको अमृत प्रिय लगता है तैसे कुत्तेको भी वमन किया हुआ अन्न प्रिय लगता है। जैसे अपने ऊपर उपकार करनेवाले जीवोंपर तुम देवता प्रीति करते हो तैसे कुत्ता भी अपने स्वामीपर प्रीति करता है। जैसे अपकारी पुरुषपर तुम देवता लोग कोप करते हो तैसे अपकारी जीवों पर कुत्ता भी क्रोध करता है।

हे देवराज इन्द्र! 'तीन लोकोंका मैं पालन करके उनपर उपकार करता हूं और यह कुत्ता तीन लोकका उपकार नहीं करता', इस प्रकारका अभिमान भी तुम मत करो। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, दिशा, चन्द्रमा, विद्युत, मेघ आकाश, धर्म, सत्यवाक्य, मनुष्यत्वादिक जाति, मन बुद्धि प्राणादि रूप हिरण्यगर्भ शरीर, विराट शरीर, चिदाभास आदि ये सम्पूर्ण पदार्थ स्थूल रूपसे तथा सूक्ष्मदेवता रूपसे सर्व प्राणियों का उपकार करते हैं। और कुत्ता आदि प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म शरीर भी अदृष्ट द्वारा पृथ्वी आदिक सर्व पदार्थोंका उपकार करते हैं। तात्पर्य ... कि जो पदार्थ जिस प्राणीके सुखका कारण होता है वह पदार्थ उस प्राणीके पुण्य ... अदृष्टसे उत्पन्न होता है और जो पदार्थ जि... प्राणीके दुःखका कारण होता है, वह पदार्थ उ... प्राणीके पाप कर्मसे उत्पन्न होता है। य... शास्त्रका नियम है। इसलिये कुत्ता आदि... सभी प्राणी पुण्य-पाप रूप अदृष्ट द्वारा पृथ्वी आदिके कारण हैं। अतः वे पृथ्वी आदि प... उपकार करते हैं। और वे पृथ्वी आदिक पदार्थ भी कुत्ता आदिक प्राणियोंको सुखादिकी प्राप्ति... करते हैं। इसलिए वे पृथ्वी आदिक पदार्थ कुत्ता आदि प्राणियों पर उपकार करते हैं। इसलिये हे देवराज! सबके ऊपर उपकार ह... धर्म कुत्ते और तुझमें समान ही है। मैं सब प... उपकार करता हूँ यह व्यर्थ अभिमान तुम म... करो। कहनेका भाव यह कि, जो पदार्थ परस्पर उपकार करते हैं उनका एकही कारण होता है। जैसे दो भाई परस्पर उपकार करते हैं इसलिये उन दोनोंका एकही माता-पिता कारण हो... है। तैसे यह सम्पूर्ण प्रपंचभी परस्पर उपकार करता है इसलिए इस सकल प्रपंचका एक... माया विशिष्ट परमात्मा देव कारण है। और वह माया विशिष्ट परमात्माही सर्व जड़ प्रपंचमें तादात्म्य सम्बन्धसे स्थित होकर सब पर उपकार करता है। इसी अर्थको और स्पष्ट करके नि... पण करते हैं—

हे देवराज! पृथ्वी आदि पदार्थ ... मनुष्य आदि प्राणी कोई भी किसी पर किंचि... मात्रभी उपकार नहीं करता। किन्तु ...

नेति" इस श्रुति द्वारा पहले हमने तुम्हें जिस परमात्माको कहा है वही नाश रहित स्वप्रकाश परमात्मा देव पृथ्वी आदिक पदार्थों तथा स्थावर जंगम प्राणियोंमें तादात्म्य सम्बन्धसे स्थित हुआ सब पर उपकार करता है। वह परमात्मा देव पृथ्वीमें स्थित होकर सर्व प्राणियोंके भोगके साधन शरीरोंको उत्पन्न करता है, इस कारण सर्व प्राणियोंके उपर पृथ्वीका उपकार है। और आधार रूप पृथ्वीके विना जीवोंमें सुख दुःखका भोग सम्भव नहीं। इसलिये वही परमात्मा देव सर्व प्राणियोंके शरीरमें स्थित होकर पुण्य पाप रूप अदृष्ट द्वारा पृथ्वीकी वृद्धि करता है, इस कारणसे सर्व प्राणी पृथ्वी पर उपकार करते हैं। यहाँ अभिप्राय यह है कि पृथ्वी और सब प्राणियोंका परस्पर कार्य-कारण भाव तथा परस्पर भोक्ता-भोग्य भाव है। यहाँ जड़ अंशकी प्रधानतासे पृथ्वी तथा सर्व प्राणियोंमें कार्यपना तथा भोग्यपना है। और चैतन्यकी प्रधानतासे पृथ्वी तथा सर्व प्राणियोंमें कारणपना तथा भोक्तापना है। यही रीति आगे जल आदिकोंमें भी जानना चाहिए।

वह परमात्मा देव जलमें स्थित होकर जीवोंके शरीरमें वीर्यकी वृद्धि करता है। इस कारण जल सब प्राणियों पर उपकार करता है। और वह परमात्मादेव जीवोंके वीर्यमें स्थित होकर शरीरोंकी उत्पत्ति करता है, उन शरीरोंसे उत्पन्न पुण्य-पाप रूप अदृष्टों द्वारा पुनः जलादिकोंकी वृद्धि करता है। इस कारण सर्व प्राणी जल पर उपकार करते हैं। यही प्रकार आगेभी जानना चाहिए।

वह परमात्मादेव अग्निमें स्थित होकर सम्पूर्ण जीवोंके वाक्-इन्द्रियोंको वाक् उच्चारण में प्रवृत्त करता है तथा रुधिर आदि धातुओंको पकाता है। इस प्रकार अग्नि देवता सर्व प्राणियों पर उपकार करता है। और वही परमात्मादेव सर्व प्राणियोंके वाक् इन्द्रियमें स्थित होकर मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्निको संस्कार युक्त करता है, जिस अग्निको वेदमें आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि इत्यादिक नामोंसे कथन करते हैं। इस कारण सभी प्राणी अग्निके उपर उपकार करते हैं।

परमात्मादेव वायुमें स्थित होकर सभी जीवोंके प्राणोंको चलाते हैं। इस कारण वायु सब प्राणियों पर उपकार करता है। और यह परमात्मा प्राणमें स्थित होकर पुण्य पाप अदृष्ट द्वारा वायुको प्रवृत्त करता है। इसलिए सर्व प्राणी वायु पर उपकार करते हैं।

यह परमात्मादेव सूर्यमें स्थित होकर सब जीवोंके नेत्रोंको रूपादिक विषयोंमें प्रवृत्त करते हैं, इस कारण सूर्य भगवान सब जीवों पर उपकार करते हैं और वह परमात्मादेव सर्व प्राणियोंके नेत्र में स्थित होकर "यह सूर्य है" इस प्रकार सूर्यको सिद्ध करता है। इस कारण सर्व प्राणी सूर्य पर उपकार करते हैं।

यह परमात्मादेव पूर्व आदिक दस दिशाओंमें स्थित होकर सर्व प्राणियोंके श्रोत्र इन्द्रिय पर उपकार करता है। अतः दशोदिशा प्राणियों पर उपकार करती हैं। और सर्व प्राणियोंकी श्रोत्र इन्द्रियोंमें स्थित होकर वह परमात्मादेव दिशाओंके प्रतिध्वनि रूप शब्दको जानते हैं।

तात्पर्य यह कि भेरी आदिकोंके शब्द जन्य प्रतिध्वनि रूप शब्दसे ही विशेष करके दिशाओं का ज्ञान होता है। उस प्रतिध्वनिका ज्ञान श्रोत्र इन्द्रियं द्वाराही होता है, इसलिये प्रतिध्वनि के ज्ञान द्वारा श्रोत्र इन्द्रिय दिशाओंको सिद्ध करती है। यही सर्व प्राणियोंका दिशाओंके उपर उपकार है।

वह परमात्मादेव चन्द्रमें स्थित होकर सर्व जीवोंके मनको प्रवृत्त करता है इस कारण चन्द्र सर्व प्राणियों पर उपकार करता है। और सब जीवोंके मनमें स्थित होकर वह परमात्मादेव मनके संकल्प जन्य कर्मोंसे चन्द्रलोककी वृद्धि करते हैं अथवा 'यह चन्द्र है" इस प्रकार मन द्वारा चन्द्रमाको जानते हैं। इस कारण सभी प्राणी चन्द्र पर उपकार करते हैं।

वह परमात्मा देव विद्युतमें स्थित होकर सभी प्राणियोंके अन्धकारकी निवृत्ति करते हैं इसलिए विद्यु त सभी प्राणियों पर उपकार करती है। और सर्व प्राणियोंके त्वक्में स्थित उज्वलता रूप तेजके अभिमानीमें स्थित होकर यह परमात्मादेव सर्वत्र व्याप्त विद्यु तके तेजको जानता है। इस कारण सर्वप्राणी विद्यु त पर उपकार करते हैं।

वह परमात्मादेव मेघोंमें स्थित होकर गर्जन रूप शब्दसे सर्वजीवोंको आनन्दित करता है इसलिए मेघ जीवों पर उपकार करते हैं। और वह परमात्मादेव जीवोंके ध्वनिरूप शब्दमें स्थित होकर उस गर्जना सहित मेघको श्रेष्ट मानता है। तात्पर्य यह कि जैसे मुखमें स्थित लाला बाह्यरसके ज्ञानमें कारण होती है वै[से] अन्तर ध्वनि रूप शब्द भी बाह्य शब्दके ज्ञानमें कारण है। इस कारण सर्व प्राणी मेघों प[र] उपकार करते हैं।

वह परमात्मादेव आकाशमें स्थित हो[कर] सर्व प्राणियोंको हृदय रूप छिद्रकी प्राप्ति कर[ता] है इसलिए आकाश सर्व प्राणियों पर उपका[र] करता है। और हृदयाकाशमें स्थित होकर प[र]परमात्मादेव सर्वत्र व्यापक आकाशको जानता है। तात्पर्य यह कि नेत्रादिकोंसे निरूप आकाश का ज्ञान सम्भव नहीं किन्तु साक्षी चैतन्यसे आकाशका ज्ञान होता है। वह साक्षी चैतन्य विशेप करके हृदयाकाशमें ही रहता है। इ[स] कारण सर्व प्राणी आकाशके उपर उपका[र] करते हैं।

वह परमात्मादेव धर्ममें स्थित होकर स[ब] जीवोंको सुखी करता है। इसलिए धर्म सब प[र] उपकार करते हैं। और वह परमात्मादेव धर्म[]वान् जीवोंमें स्थित होकर पुनः धर्म करता है। इस कारण सब प्राणी धर्मपर उपकार करते हैं।

वह परमात्मादेव सत्य वाक्यमें स्थित होकर जीवोंको यथार्थ अर्थका बोध करता है इसलिए सत्य वाक्य जीवोंपर उपकार करते हैं। और वह परमात्मादेव सत्यवक्ता पुरुषोंमें स्थित होकर पुनः सत्य वाक्यका उच्चारण करता है। इ[स] कारण सर्व जीव सत्य वाक्यपर उपकार करते हैं।

यह परमात्मादेव मनुष्यत्व, ब्राह्मण[त्व] क्षत्रियत्व आदि जातियोंमें स्थित होकर अ[] कार सम्पादन द्वारा जाति अभिमानी जीवोंके

सुखी करता है इसलिए मनुष्यत्वादिक जातियाँ सब जीवोंपर उपकार करती हैं। और वह परमात्मादेव मनुष्य व्यक्ति तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय व्यक्तिमें स्थित होकर मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ मैं क्षत्रिय हूँ आदि मनुष्यादिक जातियोंको सिद्ध करता है। इस कारण मनुष्यादिक सर्व प्राणी मनुष्यादिक जातियों पर उपकार करते हैं।

परमात्मादेव देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि रूप इस संघातमें स्थित होकर विज्ञानमय भोक्ता के जन्म मरण आदिको करता है। तात्पर्य यह कि देहादिसे लेकर बुद्धि पर्यन्त संघात रूप उपाधिमें स्थित जन्म मरणादिक धर्मों द्वारा विज्ञानमयको जन्म मरणादिक धर्मवाला करता है। इस कारण यह संघात विज्ञानमय भोक्ता पर उपकार करता है और वह परमात्मा देव बुद्धिकी वृत्तियोंमें स्थित होकर विषय सहित बुद्धिको प्रकाश करता है। इस कारणसे वह विज्ञानमय संघातके उपर उपकार करता है।

अतः हे देवराज इन्द्र! पूर्वोक्त रीतिसे पृथ्वी आदिकोंमें स्थित होकर जो परमात्मादेव सर्वत्र उपकार करता है वह आत्मा कुत्ताका तथा तुम्हारा एक ही है। जैसे मक्खी सर्व वनस्पतियोंसे रस ग्रहणकर मधु संचय करती है इस कारणसे मक्खी मधु रूपी रसपर उपकार करती है। और वह मधु भी उन मक्खियोंके क्षुधाकी निवृत्ति करता है इसलिए वह मधु रूप रस उन मक्खियोंपर उपकार करता है। इस प्रकार मक्खी और मधुरस दोनों परस्पर उपकार करते हैं। तैसे ही पृथ्वी आदिसे लेकर जितना भी जगत मण्डल है वह जिस-जिस प्राणीपर उपकार करता है वह-वह प्राणी भी उस-उसपर उपकार करता है। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे लोकमें धनी पुरुष अपने नौकरोंको धन देकर उपकार करता है और वे नौकर भी उस धनिकपर नाना सेवा रूप उपकार करते हैं।

हे देवराज इन्द्र! पृथ्वी आदिके जितने भी उपकार हमने तुमसे कहा है वे सब जनानेके लिये दृष्टान्त मात्र कहा है। वास्तवमें वे उपकार अनन्त प्रकारके हैं। यह वार्ता सुरेश्वराचार्यने भी कही है—

सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः।
इत्येपामधुविद्याऽत्रवैपम्य क्लेश हारिणी॥

भाव यह कि सर्व पदार्थ सर्व पदार्थोंके कार्य हैं और सर्व पदार्थ सर्व पदार्थोंके भोक्ता हैं। इस प्रकारकी मधुविद्या विषमता रूपी क्लेशको निवृत्त करनेवाली है।

अतः पूर्वोक्त पृथ्वी आदि पदार्थोंमें जैसे प्रत्येक पृथ्वी आदि पदार्थ अपनेसे भिन्न सर्व पदार्थों पर उपकार करते हैं तैसे पृथ्वीसे भिन्न सर्व पदार्थ भी पृथ्वी ऊपर उपकार करते हैं। तात्पर्य यह कि पंचीकरण रीतिसे पृथ्वी अपने भागको दे करके जलादिकोंकी पूर्णता करती है। और वे जलादिक भी अपने अपने भागको देकर पृथ्वीकी पूर्णता करते हैं। यही रीति सर्वत्र जान लेना चाहिए। इसलिए जैसे एक शरीरके हस्तपादादिक अवयव परस्पर उपकार करते हैं। इस कारणसे उन अवयवोंका एक ही आत्मा है, तैसे पृथ्वी आदिक पदार्थ भी पूर्वोक्त रीतिसे परस्पर उपकार करते हैं, इस कारण उन पृथ्वी आदि पदार्थोंका भी एक ही आत्मा मानने

योग्य है। और वह परमात्मादेव अपने स्व-प्रकाश तेजसे विराजमान, जन्म मरण आदिक विकारोंसे रहित होनेसे परम अमृतरूप है, और वही परमात्मादेव सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदय देशमें स्थित होकर बुद्धिके सर्व वृत्तियोंको प्रकाशित करता है, और वास्तवमें संग रहित है।

हे देवराज ! जो परमात्मादेव स्थावर जंगम रूप सर्व शरीरोंमें अस्ति-भाति-प्रिय रूपसे स्थित है वही परमात्मादेव तुम्हारा तथा कुत्ताका आत्मा है। जैसे घट मठरूप उपाधियोंमें विद्य-मान भेद असंग आकाशको स्पर्श नहीं करता, तैसे ही शरीररूप उपाधियोंमें विद्यमान भेद असंग आत्माको स्पर्श नहीं करता। और सर्व जीवोंके हृदयदेशमें स्थित जन्म मरण रहित, सर्व भेदरहित, सर्वका आत्मा रूप जो ब्रह्म हमने तुम्हें बतलाया है वही ब्रह्म अपने आत्माके ज्ञानसे सर्वात्म भावको प्राप्त होता है। यह बात पूर्व कथित ब्राह्मणोंके परस्पर विचारमें कथन कर चुके हैं। हे देवराज ! वही परमात्मादेव सम्पूर्ण जीवों तथा तुम देव-ताओंको अपने वशवर्ती करके पालन करता है। इसलिये मैं इन्द्रही सर्व जीवोंका पालन करता हूँ इस प्रकारका तुम्हारा अभिमान व्यर्थ है। और जैसे सूर्य भगवान् ब्रह्माण्डमें स्थित होकर सर्व लोकोंको प्रकाश करते हैं वैसेही यह पर-मात्मादेव सर्व प्राणियोंके अन्तरमें स्थित होकर प्रकाश करते हैं। इस कारण यह परमात्माही राजा है। मैं इन्द्र तीन लोकोंका राजा हूँ, इस प्रकारका तुम्हारा अभिमान व्यर्थ है।

हे देवराज ! जैसे रथके चक्रमें नेमि-नाभि अरा तीन प्रकारके काष्ठ होते हैं। पृथ्वीसे जिसका स्पर्श होता है उस चन्द्राकार वर्तुल काष्ठको नेमि कहते हैं, जिसके बीच शलाका धुरी घूमता है उसे नाभि कहते हैं, नाभि तथा नेमिके बीच स्थित काष्ठको अरा कहते हैं। वे अरा स्वतन्त्र नहीं रहते, किन्तु नेमि और नाभि के आश्रित रहते हैं। तैसेही पृथ्वीका अभिमानी आत्माका अंश नेमिके समान है, शरीरका अभिमानी आत्माका अंश नाभिके समान है और सर्व शरीर तथा पृथ्वी अराके समान है। यहाँ पृथ्वीका अभिमानी आत्मा अंश तथा शरीरका अभिमानी आत्मा अंश इन दोनोंके आश्रितही सम्पूर्ण शरीर तथा पृथ्वी रहते हैं, स्वतन्त्र नहीं रह सकते हैं। वे आत्माके दोनों अंश पूर्वोक्त रीतिसे सबका उपकार करनेके लिये पृथ्वी आदिकोंमें स्थित हैं। यह रीति जलादिकोंमें भी जान लेनी चाहिए।

हे देवराज ! जैसे रथके चक्रमें एक शीशमका काष्ठ नेमि नाभि तथा अरा तीन रूपोंको धारण करके उपकारक उपकार्य भाव तथा आधार आधेय भावको प्राप्त होता है तैसे एक ही परमात्मादेव पृथ्वी आदिक अधिदैव भाव, शरीर आदि अध्यात्म भाव तथा पृथ्वी आदिकोंका अभिमानी पुरुष भावको प्राप्त होकर सर्वत्र उपकार करता है। तुम देवता और पृथ्वी आदि पदार्थ किसी पर उपकार नहीं करते इसलिये हम ही उपकार करते हैं इस प्रकारका तुम्हारा अभिमान व्यर्थ है।"

शंका—"हे भगवन् ! यद्यपि परमात्मा ही

सर्वत्र स्थित होकर उपकार करता है, यह वार्ता सत्य है तथापि वह परमात्मादेव उत्कृष्ट देवतादिक शरीरोंमें स्थित होकर ही सर्वत्र उपकार करता है। कुत्ता आदि नीच शरीरोंमें स्थित होकर वह किसीपर उपकार नहीं करता।"

समाधान—"उत्कृष्ट शरीरमें स्थित होकर ही परमात्मा उपकार करता है इस प्रकारका तुम्हारा अभिमान भी व्यर्थ है। क्योंकि जो परमात्मा तुम देवताओंके हृदयदेशमें स्थित होकर सबका उपकार करता है, वही परमात्मा कुत्ताके हृदयमें स्थित होकर सर्वत्र उपकार करता है। अतः विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं। संक्षेपसे आत्माके वास्तव स्वरूपको तुम निश्चय करो।

अब आत्माके संक्षेप स्वरूपको दिखलाते हैं—

हे देवराज! सत्वगुणसे युक्त हम मुनि, रजोगुणसे युक्त तुम देवता और तमोगुणसे युक्त जो कुत्ते आदि पशु इन सबमें यह परमात्मा समान व्यापक है।"

शंका—"कुत्तेकी सब लोग निन्दा करते हैं, परन्तु देवताओंकी निन्दा नहीं करते। इसलिये देवता शरीर उत्कृष्ट है।"

समाधान—"यह भी तुम्हारा अभिमान व्यर्थ है। क्योंकि जैसे तुम देवता और हम मनुष्य कुत्तेके जन्मकी निन्दा करते हैं तैसे ही हमको विषयोंमें आसक्त देखकर ब्रह्मवेत्ता विरक्त पुरुष हमारे जन्मकी भी निन्दा करते हैं। और जैसे तुम देवता और हम मनुष्य अपने शरीरको उत्कृष्ट समझते हैं वैसे ही कुत्ता भी अपने शरीरको उत्कृष्ट मानता है। इसलिये जिस आत्माके तादात्म्य सम्बन्धसे निकृष्ट शरीरोंमें भी उत्कृष्टता प्रतीत होती है, वही आनन्द स्वरूप आत्मा अधिकारी पुरुषोंके जानने योग्य है।

आनन्द स्वरूप आत्माके ज्ञानमें अहं-मम अभिमान ही प्रतिबन्धक है। इसलिए शरीरमें अहं अभिमानका परित्याग करके तथा अप्सराओं सहित स्वर्गमें "मम" अभिमानका परित्याग करके तुम आत्माको निश्चय करो। हे देवराज! जिस शरीरमें लोगोंने अहं अभिमान किया है वह शरीर कुत्तेकी विष्टाके समान दुर्गन्ध युक्त और क्षण-क्षणमें परिणामको प्राप्त होने वाला है। ऐसे शरीरमें बुद्धिमान पुरुषोंको "अहं" अभिमान करना उचित नहीं। जब तक जीवोंको शरीरादिकोंमें अहं बुद्धि और स्त्री पुत्रादिकोंमें मम बुद्धि रहती है तब तक जीवोंको आनन्द स्वरूप आत्माकी प्राप्ति तथा जन्म मरणादिक दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होती। इस लिए हे इन्द्र! अहं मम अभिमानका परित्याग कर आनन्द स्वरूप आत्माको तुम निश्चय करो।

इतना कह लेनेके बाद ऋषिने आगे कहा—"हे अश्विनी कुमारो! इस प्रकार तुम्हारे गुरु दध्यङ् मुनिने नाना प्रकारकी युक्तियों द्वारा इन्द्रको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। दध्यङ्मुनि इन्द्रको ब्रह्मविद्याका अनधिकारी जानते हुए भी अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिए सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका उपदेश किये। हे अश्विनी कुमार! इस प्रकार आनन्द देनेवाली दध्यङ् मुनिकी

वाणीको सुनकर भी वह देवराज इन्द्र आनन्दित नहीं हुआ, किन्तु विषयोंमें आसक्तिसे अन्धा होकर वह इन्द्र उल्टा क्रुद्ध हो उठा। जैसे कोई दयालु पुरुष सर्पको क्षुधातुर देखकर उसे दूध पिलाता है और दूध पीकर वह सर्प उस दयालु पुरुषका प्राण हरनेके लिए क्रोध करता है, तैसे ही श्री मदसे अन्धा हुआ इन्द्र दध्यङ्मुनि की अमृतमय वाणीको श्रवण करके भी क्रुद्ध हुआ। तात्पर्य यह कि जैसे लोकमें जिस पुरुष की जिस पदार्थमें आसक्ति होती है उस पदार्थ की जब कोई निन्दा करता है तब वह निन्दा करनेवाले पर अत्यन्त क्रोध करता है, तैसे ही स्वर्गादिक भोगोंमें आसक्त इन्द्र उन भोगोंकी निन्दा सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ।

हे अश्विनी कुमार! क्रुद्ध इन्द्र अपने मनमें इस प्रकार विचार करने लगा—हमारे शत्रु असुरोंने हमसे राज्यका परित्याग करवानेके लिये इस ब्राह्मणको भेजा है। इसीलिये यह हमें स्वर्गको त्याग करनेका उपदेश देता है। अथवा, वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो यह मुनि श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जो श्रेष्ठ मुनि और ब्राह्मण होते हैं वे मिथ्या वचन नहीं कहते और यह दुरात्मा तो सर्वथा मिथ्या ही भाषण करता है। और तीनों लोकोंके पति मुझ इन्द्रको कुत्तेके समान बतलाता है। अतः इसके समान झूठा कोई नहीं। ब्रह्महत्या करनेवाले पुरुषको जन्मान्तरमें कुत्तेका शरीर मिलता है। इसलिए कुत्ता का शरीर ब्रह्महत्याका फल है। और वह कुत्ता विष्ठा आदि मलोंको खाता है, उसके स्पर्शसे लोग स्नान करते हैं। और सौ अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्र पदको मैं प्राप्त हुआ हूँ, सर्वदा अमृ[illegible] का पान करता हूँ और बहुत समय [illegible] उपासना करनेपर लोगोंको मेरा दर्शन हो[illegible] है, ऐसे ऐश्वर्यवान् मुझ इन्द्रको यह दुरात्मा ब्राह्मण निकृष्ट कुत्तेके समान कहता है। अत[illegible] यह ब्राह्मण अत्यन्त अभिमानी है। यहाँ [illegible] भी दुर्लभ देवांगनाओंके सुन्दर शरीरको [illegible] कुतियाके शरीरके समान कहता है। जिस अभि[illegible] प्रायसे यह ऐसा कहता है, उसे मैं जानता हूँ।

वज्रको धारण करनेवाला मैं इन्द्र अकेला ही सम्पूर्ण जगतको वश करनेमें समर्थ हूँ। [illegible] इन्द्रसे इसने कुत्तेकी तुलना क्यों की है। [illegible] मिथ्यावादी ब्राह्मण नहीं, निश्चय ही कोई असुर है। स्वर्ग लेनेके लिए तपस्वी ब्राह्मणका रूप धारण करके देवताओं और ब्राह्मणोंकी बुद्धि भ्रष्ट करने आया है।

कदाचित् यदि यह ब्राह्मण भी हो तो [illegible] हम देवताओंका पक्षपाती ब्राह्मण नहीं है, किन्तु असुरोंका गुरु शुक्र ही होगा। अथवा शुक्रके शंडामर्क नामक विद्वान पुत्रोंमेंसे कोई एक होगा। इस दुरात्माके ब्राह्मणपनेका वि[illegible] करना व्यर्थ है। इसे तुरन्त मार डाल[illegible] चाहिये। अथवा, इसको इस स्थानसे निका[illegible] देना चाहिए।

ऋषि बोला—हे अश्विनीकुमारो! [illegible] प्रकार इन्द्रने अपने मनमें विचार करके नि[illegible] किया कि यदि मैं इस ब्राह्मणका हनन करूँ अथवा यहाँसे निकाल दूंगा तो लोकमें [illegible] अपकीर्ति होगी। इसलिये किसी अन्य उ[illegible] इसे मारना चाहिये। हमारे बुद्धिमान [illegible]

अश्विनी कुमारोंको भी इसीने मुझसे विमुख कर दिया है। इसलिये भी यह मारनेके योग्य है। अतः इस ब्राह्मणको ब्रह्मविद्या उपदेश न करनेकी आज्ञा देनी चाहिए। जब भी यह मेरी आज्ञाका उलंघन करके किसीको ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा तभी मैं इसका सिर काट डालूँगा।

ऋषि बोला—हे अश्विनी कुमारो! अपने मनमें इस प्रकार निश्चय करके इन्द्रने प्रकट रूपमें दध्यङ् मुनिको आज्ञा दिया—"हे ब्राह्मण! जो ब्रह्मविद्या तुमने मुझे उपदेश की है उसे आजसे अब किसी दूसरे पुरुषको मत उपदेश करना। यदि मेरी आज्ञाका उलंघन करोगे तो वज्रसे तुरत तुम्हारा सिर काट डालूँगा।"

इन्द्रकी आज्ञा सुनकर दध्यङ् मुनि किंचितमात्र भी क्रुद्ध नहीं हुए, उल्टा प्रसन्न हुए। मुनिराज इन्द्रकी इस आज्ञामें अपने इष्टकी सिद्धि मानते थे। ऐसी कठोर आज्ञाको सुनकर भी दध्यङ् मुनि जिस विचारसे प्रसन्न हुए उसे दिखलाते हैं—

इस देवराज इन्द्रकी आज्ञाको यदि पालन करूँगा तो मुझे दो प्रकारके दोषोंकी निवृत्तिरूप इष्ट अर्थकी प्राप्ति होगी। प्रथम तो ब्रह्मविद्याके उपदेशमें निष्ठुरता रूप दोषकी निवृत्ति होगी और दूसरा अनधिकारी पुरुषके प्रति ब्रह्मविद्याका दान रूप दोषकी निवृत्ति होगी। इसलिये इन्द्र की आज्ञा पालन करने योग्य है।

अथवा—जैसे विद्या उपदेशके बाद गुरुकी प्रसन्नताके लिये शिष्य गुरुको दक्षिणा देता है वैसे ही इस देवराज इन्द्ररूपी शिष्यने यह जो आज्ञारूपी दक्षिणा दी है, वह हमारे लिए परम अनुकूल है। क्योंकि अब इस आज्ञाके बाद दुर्बुद्धि अनधिकारी पुरुषोंको मैं कदाचित् ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करूँगा।

अथवा—काम, क्रोध आदिसे युक्त अनधिकारी पुरुषोंको दी हुई ब्रह्मविद्या वैसे ही निष्फल होती है जैसे चाण्डालको दी हुई गौ। जैसे रूप यौवनसे युक्त कन्या नपुंसकको देनेसे निष्फल होती है वैसे ही विषयासक्त अनधिकारी पुरुषको दी हुई ब्रह्मविद्या निष्फल होती है।

अथवा—जो विद्वान् पुरुष स्नेह अथवा धनसे मोहित हुआ विषयासक्त अनधिकारी पुरुषोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करता है वह अपनेको, ब्रह्मविद्या तथा श्रोता इन तीनोंको नाश करता है। तात्पर्य यह कि अनधिकारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेसे विद्या निष्फल होती है, अनधिकारी श्रोता दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होता है और ब्रह्मविद्याके वक्ताको द्वेषकी प्राप्ति होती है। यह वार्ता महाभारतमें भी कही गई है—

यश्चाधर्मेण विब्रूयात् यश्चाधर्मेण पृच्छति
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥

जो पुरुष अधर्मसे ब्रह्मविद्याको कथन करता है और जो अधर्मसे श्रवण करता है उन दोनोंमेंसे एक चला जाता है अथवा एक-दूसरेसे द्वेष करने लगता है। इसलिये अनधिकारी पुरुष को ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं देना चाहिये।

अथवा—अतिथिके सम्मान करनेमें तत्पर हम तपस्वी मुनियोंको दूसरा कोई पापके उत्पत्ति का कारण नहीं है, केवल अनधिकारी पुरुषोंको

ब्रह्मविद्याका उपदेश ही पापके उत्पत्तिका कारण था। अब इन्द्रकी आज्ञारूपी कृपासे वह पाप कभी उत्पन्न नहीं होगा।

अथवा—जिनके संगसे अनन्त प्रकारकी भेदबुद्धि उत्पन्न होती है और बहिर्मुख चित्त-वाले मनुष्य, देवता तथा असुरोंसे हमारा किंचितमात्र भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, उल्टा इन भेदवादियोंके संगसे चित्त बहिर्मुख होता है। ये भेददर्शी पुरुष इस जाग्रत अवस्थामें जिस-जिस पदार्थका अनुभव करते हैं उस-उस अनुभवजन्य संस्कारोंके प्रभावसे उन पदार्थोंको स्वप्नमें प्राप्त करते हैं। तैसे ही मरणकालमें भी उन्हीं पदार्थोंको प्राप्त करते हैं, इसलिये भेदबुद्धि ही जीवोंके मरणरूप संसारका कारण है और मेरे अन्दर भेदबुद्धिका कारण दूसरा कोई नहीं है। किन्तु शिष्योंके प्रति ब्रह्मविद्याका उपदेश रूप कार्य ही मेरे भेदबुद्धिका कारण है। इस-लिये वे भेद बुद्धिजन्य संस्कार अज्ञानी जीवोंकी तरह मुझे भी कदाचित् जन्मादिकी प्राप्ति करावेंगे। मैं गुरु हूँ, यह शिष्य है, इस प्रकारकी भेद बुद्धि अविद्याके बिना नहीं होती। इसलिये उपदेश कालमें वह भेद बुद्धि अविद्याके बिना अनुपपन्न हुई ब्रह्मवेत्ता पुरुषमें भी अविद्याके लेशको बोधन करती है। इसलिये विद्याके उपदेश कालमें अज्ञानी पामर पुरुषोंके समान मैं भी हो जाऊँगा। यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, इस प्रकारका भेददर्शन जबतक जीवों का निवृत्त नहीं होता तबतक देहरूपी कारागृह से जीवोंकी मुक्ति नहीं होती। इसलिये भेद-दर्शन ही जीवोंके बन्धनका कारण है। उस हमारे भेददर्शनको इस इन्द्रने कृपा करके दूर किया है अतः दैवोअथर्वण नामक हमारे गुरु भी यह इन्द्र हमारा परम गुरु है। तात्पर्य यह है कि आत्मसाक्षात्कारके बाद जीवन्मुक्तिके सुखके लिये मनोनाश और वासनाक्षय को अवश्य करना चाहिए। इसका उपाय तो अथर्वण नामक मुनिने परम्परा द्वारा हमें उपदेश किया था, इसलिये वे हमारे गुरु हैं। और इस देवराज इन्द्रने तो साक्षात् ही हमारा मनो-नाश और वासनाक्षय किया है। क्योंकि शिष्यों को विद्या उपदेश करते समय हमारा मन बहि-र्मुख हो जाता है। उस चित्तकी बहिर्मुखताकी निवृत्तिके लिये इस इन्द्रने हमको ब्रह्मविद्याका उपदेश न करनेका आदेश दिया है। इसलिये इन्द्र हमारा परम गुरु है।

ऋषि बोला—हे अश्विनीकुमारो! इस प्रकार अपने हृदयमें विचार करके दध्यङ् मुनि इन्द्रको क्षमा कर दिये।

शंका—"गुरुद्रोह करनेवाले इन्द्रको दध्यङ् मुनिने शाप क्यों नहीं दिया?"

समाधान—"कुत्ता, सर्प आदि जितने तामसी जीव हैं वे अपकारी जीवोंपर क्रोध करते हैं। यह बात लोकसिद्ध है। जब विद्वान् पुरुष भी अपकारी जीवोंपर क्रोध करेंगे तो कुत्ता, सर्प आदि तामसी जीवोंसे विद्वान् पुरुषमें क्या विशे-षता रहेगी। तामसी जीवोंके समान ही विद्वान् पुरुष भी हो जायगें। अतः जो पुरुष अप-कारी जीवोंपर क्रोध नहीं करते, बल्कि उलटे उनपर उपकार करते हैं, उन्हें विद्वान् कहते हैं। अपकारी जीवोंपर क्रोध करनेवाले पुरुष विद्वान् नहीं होते।

"अपकारी जीवोंमें विद्वान् पुरुष क्रोध करते हैं" यदि यह कोई वादी पुरुष अंगीकार करे तो उससे यह पूछना चाहिये कि कूटस्थ आत्माका अपकार मानकर वह विद्वान् पुरुष अपकारी जीवोंपर क्रोध करता है अथवा शरीरादिक जड़ पदार्थोंका अपकार मानकर वह अपकारीपर क्रोध करता है। यहाँ प्रथम पक्ष सम्भव नहीं। क्योंकि कूटस्थ आत्मा अविकारी तथा असंग है। इसलिये उसमें अपकार रूप विकारका सम्बन्ध सम्भव नहीं। और दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि विद्वान् पुरुषों ने शरीरादिक जड़ पदार्थोंसे आत्माको भिन्न माना है। इसलिये शरीरादिकोंका अपकार होने पर भी विद्वान् पुरुषकी हानि नहीं होती। जैसे एक पत्थरसे दूसरे पत्थरको ताड़न करनेपर भी चैतन्य पुरुषोंको दुःखकी प्राप्ति नहीं होती। तैसे ही जड़ दण्ड आदिसे जड़ शरीरका अपकार करनेपर भी विद्वान् पुरुषको दुःख नहीं होता है।"

शंका—"यद्यपि शरीर पाषाणकी तरह जड़ हैं तथापि वह शरीर आत्माके सुखका साधन है, इसलिये शरीरका अपकार होने पर विद्वान पुरुषको क्रोध सम्भव है। जैसे भृत्योंका अपकार होने पर राजाको क्रोध होता है।"

समाधान—"जैसे कोई पुरुष अपने एक हाथसे दूसरे हाथ, पैर तथा मस्तकको ताड़न करता है और उस ताड़नसे पुरुषको क्रोध नहीं होता है, क्योंकि एक शरीरमें वर्तमान हस्त पादादिक अवयवोंका एक ही आत्मा है। तैसे एक शरीर द्वारा दूसरे शरीरका ताड़न होने पर भी विद्वान पुरुषोंको क्रोध नहीं उत्पन्न होता है। क्योंकि शास्त्र प्रमाण, युक्ति तथा अपने अनुभव द्वारा विद्वान पुरुषोंने सर्व शरीरोंमें एक ही आत्मा निश्चय किया है। अतः ऐसे विद्वान पुरुषको जैसे अपना शरीर सुखका साधन है तैसे अन्य सभी शरीर सुखके साधन हैं। इस कारणसे वह विद्वान पुरुष किसी पर क्रोध नहीं करता।

अथवा—जो पुरुष अपकार करने वाले पर क्रोध करता है वह आत्मवेत्ता नहीं। किन्तु वह पुरुष आत्माका नाश करने वाला होने के कारण नास्तिक है और सब जीवोंकी हिंसा करने वाला है। तात्पर्य यह कि असंग आत्मा का तो अपकार होता नहीं, किन्तु शरीरादिक जड़ पदार्थोंका अपकार होता है। उस शरीरमें जिस पुरुषकी आत्म-बुद्धि होती है उसी पुरुषको शरीरका अपकार करनेवाले जीवों पर क्रोध आता है। इसलिये शरीरादिकोंमें आत्म-बुद्धि ही क्रोधका कारण है। और चार्वाक नास्तिक भी शरीरको ही आत्मा मानते हैं। इसलिये क्रोधवान पुरुषमें तथा नास्तिकमें किंचितमात्र भी भेद नहीं है। और क्रोधकी उत्पत्तिके बाद यह पुरुष शरीर, मन तथा वाणीसे जीवोंकी हिंसा अवश्य करता है। इसलिये क्रोधवान् पुरुष ही सर्व प्राणियोंका हिंसक है। इससे सिद्ध हुआ कि जिस पुरुषको एक अद्वितीय आत्माका ज्ञान हुआ है, वह किसी प्राणी पर क्रोध नहीं करता।

अथवा—जिसे अद्वितीय आत्माका ज्ञान नहीं हुआ है किन्तु इस प्रकारका ज्ञान हुआ है कि पुण्य-पाप कर्मोंसे जीवोंको सुख-दुःखकी

प्राप्ति होती है, इसलिये पुण्य-पाप ही सुख-दुःखके कारण हैं दूसरा कोई नहीं। ऐसा ज्ञान वाला पुरुष भी अपकारी जीवों पर क्रोध नहीं करता है। तो फिर सर्वात्मदर्शी तत्त्ववेत्ता पुरुष अपकारी जीवों पर कैसे क्रोध करेगा।

अथवा—जो पुरुष शास्त्रको जानता हुआ भी क्रोध करता है उसे कैसे विद्वान कहा जा सकता है। अतः वह विद्वान नहीं। क्योंकि जो विद्या वाला होता है उसे विद्वान कहते हैं। और सर्व प्राणियोंमें आत्म-बुद्धि करके सबके हितकी इच्छा करना यह विद्याका फल है। यह विद्याका फल क्रोधी पुरुषमें सम्भव नहीं। इसलिये जैसे गदहा मिट्टीके भारको ढोता है तैसे क्रोधी पुरुष व्यर्थ ही शास्त्र रूपी भारको ढोता फिरता है।

अथवा—जिस पुरुषने किंचितमात्र भी शास्त्रका पठन अथवा श्रवण किया है अथवा नहीं किया है परन्तु सर्व प्राणियोंमें आत्माको परिपूर्ण जानकर शरीर, मन, वाणी द्वारा किसी प्राणीसे द्रोह नहीं करता, वही पुरुष सर्व शास्त्र के यथार्थ अर्थको जानता है। महाभारतमें भी कहा है—

आत्मानं चेद्विजानीयात् सर्वभूत गुहाशयं।
श्लोकेनयदिवार्द्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम्॥

जो पुरुष एक श्लोक अथवा आधा श्लोक द्वारा सब भूतोंमें व्यापक आत्माको जानता है उस पुरुषका सर्व प्रयोजन सिद्ध हो गया है।

गीतामें भी भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समंपश्यतियोऽर्ज्जुन।
सुखंवायदिवादुःखं स योगी परमोमतः॥

भावार्थ यह है कि हे अर्जुन! जैसे अपनेको सुख प्रिय और दुःख अप्रिय होता है तैसे जो पुरुष सभी प्राणियोंके सुखको प्रिय और उनके दुःखको अप्रिय मानता है वही पुरुष परम योगी है।

जो पुरुष शरीर, मन तथा वाणी द्वारा प्राणियोंसे द्रोह करता है वह लोक परलोकमें आत्मा स्वरूप आनन्दको प्राप्त नहीं होता है, इसलिये जीवोंका द्रोह ही सर्व अनर्थका कारण है। इस प्रकार विचार करके दध्यङ्मुनि ने इन्द्रको शाप नहीं दिया और उन्होंने इन्द्रसे कहा—"हे देवराज इन्द्र! तुमने जो मुझे आज्ञा दी है उसे मैं अवश्य पालन करूँगा। यदि मैं तुम्हारी आज्ञा पालन न करूँ तो मेरा सिर काट देना। तुम्हारी यह आज्ञा मेरे दुःखका कारण नहीं बल्कि जीवनमुक्तिके सुखका कारण है। मैं तो यह सोचता हूँ कि सर्व देवताओंके अधिपति इन्द्र हमारा अतिथि है उसकी प्रसन्नता के लिये कौन-सा पदार्थ उपस्थित करूँ। मैं तुम्हें हर प्रकारसे सन्तुष्ट करना चाहता हूँ।"

ऋषि बोला—हे अश्विनीकुमारों! दध्यङ् मुनिके अमृत वचन सुनकर इन्द्रदेव कुछ सात्विक भावको प्राप्त हुआ और मुनिके कोमल स्वभावको देखकर भयभीत भी हुआ। इन्द्रने मुनिसे कहा—"हे ब्राह्मण! अपने वर्णाश्रमके धर्मोंको करनेवाले ब्राह्मणोंसे भी मैं कभी द्रोह नहीं करता तो सर्व उपकारी तुझ श्रेष्ठ ब्राह्मणसे द्रोह कैसे करूँगा। पहले जो मैंने विश्वरूपादिक ब्राह्मण और सन्यासियोंका वध किया था वह भी उनके दुष्ट स्वभावके कारण ही उनका हनन

किया, अपराधके बिना मैं किसीका हनन नहीं करता हूँ। अतः यदि तू मेरी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करेगा तो मैं तुम्हारा सिर नहीं काटूँगा। और यदि आज्ञाका उल्लंघन करोगे तो विश्वरूपादि ब्राह्मणोंकी तरह तुम्हारा भी सिर काट डालूँगा। पहले हमने तुमसे ब्रह्म विद्याका उपदेश करने के लिए कहा था, वह तुमने हमारी बातको मानकर ब्रह्म विद्याका उपदेश कर दिया। ब्रह्म विद्या उपदेशसे तुमने हमारी इच्छा पूरी कर दी अब दूसरा कोई कार्य मेरी प्रसन्नताके लिये करने योग्य नहीं है। हे ब्राह्मण तुम्हारा कल्याण हो। अब हम अपने स्वर्गलोकको जाते हैं।"

ऋषि बोला—"हे अश्विनीकुमारों! इस प्रकार कहकर इन्द्र अपने लोकको चला गया। और तुम्हारे गुरु दध्यङ्मुनि महान समुद्रकी तरह विक्षोभ रहित हो उसी आश्रममें रहने लगे।"

शंका—"हे भगवन्! 'ब्रह्म विद्याके उपदेशसे तुमने हमारी इच्छा पूरी कर दी।' यह जो वचन इन्द्रने दध्यङ् मुनिसे कहा, वह सम्भव नहीं। क्योंकि यदि इन्द्रको ब्रह्म विद्या की प्राप्ति हुई होती तो वह मुनि पर क्रोध नहीं करता।"

समाधान—"हे अश्विनीकुमारों! दध्यङ् मुनिने इन्द्रको सम्पूर्ण ब्रह्म विद्याके साथ ही कर्म, उपासना और जगतके उत्पत्तिका भी उपदेश किया। परन्तु राग आदि प्रतिबन्धोंके वश होनेके कारण इन्द्रने ब्रह्म विद्याको छोड़कर अन्य सभी विद्याओंको ग्रहण कर लिया। इसीलिये इन्द्रने अपनी इच्छाकी पूर्ति कही है।

ऋषिने आगे कहा—बहुत दिनोंके बाद वैराग्य आदि साधनोंका सम्पादन करके तुम दोनों ब्रह्म विद्याकी प्राप्तिके लिए दध्यङ्मुनिके पास गये। प्रणाम आदि शिष्टाचार करने के बाद तुम दोनोंने कहा—"हे गुरुदेव! पहले हमने ब्रह्म विद्याके लिये आपसे प्रार्थना की थी। उस समय आपने प्रतिज्ञा की थी कि वैराग्य आदि साधनोंको सम्पादन कर आओ उसके बाद तुमको ब्रह्म विद्याका उपदेश करूँगा।

हम दोनों वैराग्य आदि साधन चतुष्टयको सम्पादन करके आपके श्रीचरणोंमें उपस्थित हुए हैं। अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करने के लिये आप ब्रह्म विद्याका उपदेश करनेकी कृपा करें।"

ऋषि बोला—तुम दोनोंके वचनको सुन कर दध्यङ्मुनि अपने मनमें विचार करने लगे—यदि मैं अश्विनीकुमारोंको ब्रह्म विद्याका उपदेश करूँगा तो इन्द्र मेरा मस्तक काट डालेगा और यदि मैं उपदेश न करूँ तो मेरा वचन मिथ्या होगा। इस प्रकार संशय प्राप्त होने पर मुनिने यही निश्चय किया कि अश्विनीकुमारोंको ब्रह्म विद्याका उपदेश करनेमें यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो भी श्रेष्ठ है, परन्तु वचन मिथ्या नहीं होना चाहिए। मिथ्या वचन जन्य दुःखसे मरण जन्य दुःख अल्प है। इस लोकमें जो प्राणी उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी। अतः मरण दुःख सहने योग्य है। यदि मैं अपना वचन मिथ्या करूँगा तो मुझे अनन्त कोटि कल्प पर्यन्त नरकमें दुःख भोगना होगा। जिनके निवृत्तिका कोई भी उपाय नहीं है। जो

पुरुष पाप कर्म और उसके फलको न जानता हुआ पाप कर्म करता है उस पुरुषको अल्प दुःखकी प्राप्ति होती है और जो पुरुष पाप कर्म और उनके नरकादि फलोंको शास्त्र प्रमाण द्वारा जान करके भी पुनः उस पाप कर्मको करता है उसे अत्यन्त असह्य दुःखकी प्राप्ति होती है। और मैं मिथ्या वचनरूपी पाप कर्मके फलको जानता हूँ। इसलिये जानबूझ कर यदि मैं अपना वचन मिथ्या करूँगा तो मुझे अत्यधिक दुःखकी प्राप्ति होगी।

अथवा—जो पुरुष देहाभिमानसे युक्त होकर मिथ्या वचनका उच्चारण करता है वह जीता हुआ भी मुर्दाके समान है। क्योंकि इस लोकमें सभी प्राणी उस मिथ्यावादी पुरुषकी निन्दा करते हैं और मर करके वह मिथ्यावादी नरक प्राप्त करता है। अतः दोनों लोकोंमें मिथ्यावादीको दुःख मिलता है। ऐसा कहकर यह अर्थ बोधन करते हैं कि जो पुरुष सकाम हैं उसको तो "स्वर्ग कामो यजेत्।" इत्यादि विधिवाक्य तथा "नानृतं वदेत्" आदि निषेध वाक्य दोनोंका अधिकार है। और जो निष्काम विद्वान पुरुष हैं उनको यद्यपि "स्वर्ग कामो यजेत्" आदि विधिवाक्योंका अधिकार नहीं तथापि "नानृतं वदेत्" आदि निषेध वाक्योंका अधिकार निष्काम विद्वान पुरुषको भी है। इस कारणसे ही दध्यङ् मुनि "नानृतंवदेत्" इस निषेध वाक्यका उल्लंघन नहीं कर सके।

ऋषि बोला—उपर्युक्त प्रकारसे अपने मनमें विचारकर दध्यङ् मुनिने कहा—"हे अश्विनी कुमारो! बचपनसे लेकर अबतक मैंने मिथ्या वचनका उच्चारण नहीं किया, तो अब इस वृद्धावस्थामें मिथ्या वचन क्यों कहूँगा। ऐसा मुझे शोभा नहीं देता। तथापि मिथ्या वचनका निमित्त जो मैंने अपने मनमें चिन्तन किया है उसे तुम्हें बतलाता हूं। हे कुमारो! देवता, मनुष्य, असुर तथा अन्य सभी प्राणियोंका मैं उपकार करनेवाला हूँ। हमारे स्वभावको तुम दोनों जानते हो। मैं प्रिय पदार्थोंको भोगकर पूर्वके पुण्य कर्मोंको और अप्रिय पदार्थोंको भोगकर पूर्वके पाप कर्मोंको समाप्त करता हूँ। जैसे अज्ञानी जनोंको प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष तथा अप्रियकी प्राप्तिसे शोक होता है वैसे मुझे हर्ष-शोक नहीं होता। मैं सदा दोनोंके प्राप्तिमें एकरस समान रहता हूँ। जैसे इस लोकमें भेद-दर्शी अज्ञानी पुरुषोंके शत्रु, मित्र, उदासीन, बन्धु, द्वेष्य तथा मध्यस्थ होते हैं वैसे मुझ समदर्शीका कोई भी शत्रु मित्र आदिक नहीं है। अपकारके बिना ही जो स्वभावसे ही अपकार करे उसे शत्रु कहते हैं। जो प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके उपकार करे उसे मित्र कहते हैं। जो उपेक्षा करता है उसे उदासीन कहते हैं। जो कुछ सम्बन्धके कारण उपकार करता है उसको बन्धु कहते हैं। जो अपकारकी अपेक्षासे अपकार करे उसे द्वेष्य कहते हैं। और जो पुरुष विवादकर्ता दोनों पक्षोंका हित करे उसे मध्यस्थ कहते हैं।"

"हे अश्विनी कुमारो! इस अपने आत्मरू शरीरमें, सम्पूर्ण स्थावर जंगम शरीरोंमें, ब्रह्माके शरीरमें तथा हिरण्यगर्भके शरीरमें मैं समान रूपसे स्थित हूँ। क्योंकि मैं सर्वरूप हूँ। मैं ही

पुरुष हूँ, मैं ही स्त्री हूँ, मैं ही नपुंसक हूँ। पंच-महाभूत, भौतिक प्रपंच, मनु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, भूः, भुवः स्वः, महः, जन, तप, सत्य, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल सब मैं ही हूँ। जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुपसे स्वप्नके पदार्थ भिन्न नहीं होते तैसे ही सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म प्रपंच मुझसे भिन्न नहीं, किन्तु मेरे ही स्वरूप हैं। और ब्रह्माण्डमें स्थित जो स्वेदज, अंडज, जरायुज, उद्भिज चार प्रकारके जीव हैं, इनमें कोई जीव उत्कृष्ट और कोई निकृष्ट है उन सबका मैं आत्मा हूँ। और सर्व भेदसे रहित ब्रह्मको मैं आत्मा रूपसे जानता हूँ। इस कारण मुझमें मायाका भी स्पर्श नहीं है। उस मायाके अभाव होनेपर काम, क्रोध, लोभ आदि दोप भी मेरे स्वरूपमें नहीं है। हे अश्विनी कुमारो! मैं ही परमात्मादेव लीला मात्रसे सम्पूर्ण जगतको उत्पन्न करता हूँ, मैं ही पालन करता हूँ और मैं ही सम्पूर्ण जगतका संहार करता हूँ। जैसे रेशमका कीड़ा अन्य कारणकी सहायताके विना ही अपने शरीर मात्रसे तन्तुओंको उत्पन्न करता है, उनका पालन करता है और उन तन्तुओंको अपनेमें लय कर लेता है। तैसे मैं ही परमात्मादेव सम्पूर्ण जगतकी उत्पत्ति स्थिति और लय करता हूँ। परन्तु रेशमके कीड़ेके दृष्टान्तसे हमारेमें इतनी विलक्षणता है कि रेशमका कीड़ा सावयव तथा सम्बन्धवाला होकर तन्तुओंका परिणामी उपादान कारण है और मैं परमात्मादेव तो निरवयव तथा असंग होकर जगतका विवर्त उपादान कारण हूँ।"

शंका—"हे भगवन! यदि रेशमके कीड़े से आपमें विलक्षणता है तो रेशमके कीड़ेका दृष्टान्त देकर अपनेमें जगतकी कारणता सिद्ध करना ठीक नहीं। दृष्टान्त समान स्वभाव वाला ही होना चाहिए।"

समाधान—"हे अश्विनी कुमारो! समान स्वभाव वाला पदार्थ दृष्टान्त होता है यह बात यद्यपि सत्य है तथापि सर्व अंशसे समानता दृष्टान्तमें नहीं होती, किन्तु किसी एक अंशसे दृष्टान्तमें समानता होती है। वह एक अंशसे समानता यहाँ भी है। क्योंकि जैसे रेशमका कीड़ा तन्तुओंका उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों हैं तैसे मैं परमात्मादेव जगतका उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों हूँ। इस प्रकार अभिन्न निमित्त उपादान कारणता मात्र अंशमें रेशमके कीड़ाका दृष्टान्त है, सर्व अंशमें नहीं।

हे अश्विनी कुमारो! जैसे स्वप्नमें प्रतीत होने वाले जो रथादिक पदार्थ हैं वे स्वप्न द्रष्टा पुरुपसे भिन्न नहीं होते हैं तैसे सम्पूर्ण जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लय मुझ परमात्मासे भिन्न नहीं। ऐसा ब्रह्म निष्ठ मैं अपने आश्रममें स्थित था। एक समयकी बात है, देव राजइन्द्र हमारे आश्रममें आये। उनको अतिथि जानकर मैंने स्वागत सत्कार किया। मैंने इन्द्रसे कहा—आपकी प्रसन्नताके लिये मैं कौन सा प्रिय कार्य करूँ।"

इस पर इन्द्रने कहा—"यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हैं तो ब्रह्मविद्याका उपदेश दीजिये।"

उस समय मैंने इन्द्रको मधुकाण्डके अर्थ

युक्त दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश कर दिया। ब्रह्मविद्यासे भिन्न किसी अन्य विद्याका उपदेश नहीं किया। क्योंकि जगतमें ब्रह्मविद्या ही एक दुर्लभ है। इससे भिन्न शब्द स्पर्शादिक विषय तो सभी लोगोंको सुलभ हैं। जैसे स्वर्ग लोकमें कर्मी जीवोंको विषय प्राप्त है तैसे नरकमें स्थित जीवोंको भी विषय प्राप्त है। और ब्रह्मलोकमें स्थित जीवोंको जैसे विषयजन्य सुखकी प्राप्ति होती है तैसे विष्ठामें स्थित कृमि आदि जीवोंको भी विषयजन्य सुखकी प्राप्ति होती है। अतः शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय दुर्लभ नहीं। किन्तु आत्मासे भिन्न सभी विषयोंकी प्राप्ति कर्म उपासना द्वारा जीवोंको होती है परन्तु यह ब्रह्मविद्या तो अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि यदि कभी हमें पहले ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हुई रहती तो इस समय जन्म-मरणरूप संसार हम लोगोंको नहीं प्राप्त होता। और जन्ममरण रूप संसार अभी प्रतीत हो रहा है इससे यह जाना जाता है कि पहले हमें कभी ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं हुई है। इसलिये यह अत्यन्त दुर्लभ है।"

शंका—"हे भगवन! जैसे ब्रह्मविद्या दुर्लभ है तैसे ब्रह्म लोकादिकोंके प्राप्तिका साधन कर्म उपासना भी दुर्लभ ही हैं।"

समाधान—"कर्म उपासना दुर्लभ नहीं। क्योंकि इस लोकमें बहुतसे लोग कर्म उपासनाको यथार्थ रूपसे जानते हैं और उनका अनुष्ठान भी करते हैं इसलिये यह दुर्लभ नहीं। केवल ब्रह्मविद्या ही दुर्लभ है। गीतामें श्रीकृष्ण भगवानने भी अर्जुनसे ब्रह्मविद्याकी दुर्लभता कही है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यततिसिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्तितत्त्वतः॥

सहस्र मनुष्योंमेंसे कोई एक पुरुष ही मुझे पानेके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सहस्र पुरुषोंमेंसे कोई एक पुरुष ही वास्तव स्वरूपसे मुझे जानता है।

अथवा—लोकमें भी लोग उस पदार्थको दुर्लभ मानते हैं जिसके समान दूसरा कोई पदार्थ न हो। ऐसी दुर्लभता सुखके साधन शरीरादिकों तथा विषयजन्य सुखरूप फलमें नहीं है। क्योंकि शरीर-स्वरूप-जातिसे सभी शरीर समान जातिवाले हैं तथा सुखत्व रूप जातिसे सभी विषयजन्य सुख समान जातिवाले हैं। इसलिये संसार सम्बन्धी सम्पूर्ण पदार्थोंमें दुर्लभता नहीं है। इस अर्थको और स्पष्ट करनेके लिये प्रथम सभी लोकोंमें शरीरादिक साधनोंकी समानता दिखलाते हैं।

इस स्थूल शरीरके बिना सुख-दुःखका भोग नहीं होता है। इसलिये ब्रह्मलोकमें स्थित जीवों तथा विष्ठामें स्थित जीवोंका स्थूल शरीर समान ही है। और आत्मज्ञानके बिना ब्रह्मलोकमें स्थित जीवोंको विषय इन्द्रियके सम्बन्धसे जैसे सुख उत्पन्न होता है, तैसे विष्ठामें स्थित जीवोंको भी विषय इन्द्रियके सम्बन्धसे सुख उत्पन्न होता है। अतः सुख भी सर्वत्र समान ही है।

अब सूक्ष्म शरीरकी सर्वत्र समानता दिखलाते हैं—

पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण और अन्तःकरण चतुष्टय ये सूक्ष्म शरीरके अवयव हैं। ये अवयव भी ब्रह्मलोकमें स्थित जंगम जीवों तथा मनुष्य लोकमें स्थित जंगम जीवोंके समान ही हैं। और किसी किसी स्थानमें अभिव्यक्तिकी न्यूनता और अधिकतासे उनकी विषमता भी प्रतीत होती है। सूक्ष्म शरीरके सभी अवयव जैसे मनुष्यादिक जंगम शरीरोंमें हैं तैसे वृक्षादिक स्थावर शरीरोंमें भी हैं। परन्तु जैसे मनुष्यादिकोंमें अभिव्यक्ति होती है वैसे वृक्षादि स्थावरोंमें उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः वृक्षादि स्थावर भी मनुष्यादि जंगमोंके समान हैं।"

शंका—"हे भगवन्! अभिव्यक्त इन्द्रियों वाले मनुष्य आदि जंगमोंके साथ अनभिव्यक्त इन्द्रिय वाले वृक्षादिक स्थावरोंकी समानता कहना अत्यन्त विरुद्ध है।"

समाधान—"अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेके लिए व्यापारमें लगी हुई इन्द्रियोंको अभिव्यक्त कहते हैं और व्यापारसे रहित इन्द्रियों को अनभिव्यक्त कहते हैं। वह इन्द्रियोंका अनभिव्यक्तपना मनुष्यादिक जंगमोंमें भी कदाचित् रहता है। जैसे घरके भीतर स्थित हुआ कोई पुरुष अश्वके शब्दको सुनकर उस शब्दके हेतुसे अपने मनमें बाहर अश्वके वर्तमान होनेका अनुमान करता है। उस कालमें सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारसे रहित रहती हैं। इस प्रकार कम इन्द्रिय वाले बधिर अन्ध तथा वृक्षादिकोंको जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रियों के बिना उत्पन्न नहीं होता किन्तु इन्द्रियों द्वारा ही होता है। परन्तु उन बधिरादिक न्यून इन्द्रिय वाले पुरुषोंकी नेत्रादिक अभिव्यक्त इन्द्रियों से भिन्न श्रोत्रादिक इन्द्रिय अपने व्यापारसे रहित होकर वर्तते हैं। इसलिये बधिर अन्धादिकों तथा वृक्षादिकोंमें इन्द्रियोंका अभाव नहीं।"

शंका—"सर्पमें कर्ण रूप गोलक नहीं है अतः उसमें श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होगा।"

समाधान—"हे अश्विनी कुमारो! गोलक के अभावसे इन्द्रियोंका अभाव सम्भव नहीं। क्योंकि किसी शरीरमें तो नेत्रादिक इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकमें स्थित होकर कार्य करती हैं और किसी शरीरमें एक ही गोलकमें दो इन्द्रियाँ स्थित होकर अपना-अपना कार्य करती हैं। यथा सर्पके चक्षु गोलकमें श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय दोनों स्थित होकर अपना-अपना कार्य करती हैं। इसलिये सर्व शरीरोंमें सूक्ष्म शरीरके अवयव विद्यमान हैं।

सुख दुःख रूप फलकी सर्वत्र समानता दिखलाते हैं—हे अश्विनी कुमारो! वाकादिक इन्द्रियोंमें जिनकी कोई एक इन्द्रिय अथवा सम्पूर्ण इन्द्रिय अभिव्यक्त है, ऐसे मनुष्यादिक जंगम तथा वृक्षादि स्थावरोंको जो सुख दुःख उत्पन्न होता है वह केवल मनमें ही उत्पन्न होता है। मनके अतिरिक्त अन्यत्र सुख दुःख की उत्पत्ति नहीं। और वह सुख दुःख एक इन्द्रियके व्यापारसे उत्पन्न हो अथवा अनेक इन्द्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न हो इसमें कोई नियम नहीं। परन्तु उस सुख तथा दुःखमें स्वरूपसे कोई विशेषता नहीं सर्व शरीरोंमें समान ही सुख दुःख होता है।

अथवा—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने योग्य शब्द स्पर्शादि विषयोंमें जिनमें पुरुषका राग होता है उस विषयकी प्राप्ति होने पर उसके मन में सुख उत्पन्न होता है और जिस विषयमें द्वेष होता है उसके प्राप्त होनेपर दुःख उत्पन्न होता है। इसलिये आसक्ति रूप राग सुखका कारण है और द्वेष दुःखका कारण है। जैसे देवताओं को अपने शरीरसे राग है वैसे ही विष्ठामें स्थित कृमियोंको भी अपने शरीरसे राग है। और देवताओंके समान ही कृमियोंमें भी दुःखका कारण द्वेष रहता है। अतः रागद्वेष जन्य सुख दुःख भी सर्व शरीरोंमें समान है। जैसे ब्रह्मलोक में स्थित ब्रह्माको सुखके साधन स्त्री, पुत्र अन्नादिक पदार्थ हैं तैसे ही विष्टामें स्थित कृमीको भी सुखके साधन स्त्री पुत्र अन्नादिक पदार्थ हैं। जैसे ब्रह्मा जन्म मरणको प्राप्त होते हैं वैसे ही कृमि भी जन्म-मरणशील है। सुख दुःखके प्राप्ति करनेवाला देहाभिमान जैसे ब्रह्माको है वैसे ही कृमिको भी है। अतः ब्रह्मासे लेकर कृमि पर्यन्त सभी शरीरोंमें विषय जन्य सुख और उसके साधन स्त्री पुत्रादिक समान रूपसे प्राप्त हैं। इसलिये उनमें दुर्लभता सम्भव नहीं। दुर्लभ तो केवल जन्म मरणको निवृत्त करने वाली ब्रह्मविद्या ही है।

हे अश्विनीकुमारों। इस प्रकार ब्रह्म विद्या की दुर्लभता अपने मनमें विचार कर मैंने देवराजको उस ब्रह्म विद्याका ही उपदेश किया। परन्तु वह देवराज इन्द्र ब्रह्म विद्याका अधिकारी नहीं था। इसलिये उस ब्रह्म विद्याको सुनकर उल्टा क्रुद्ध हो उठा और गुरु दक्षिणामें यह आदेश दिया कि मैं आजसे किसीको भी ब्रह्म विद्याका उपदेश न करूँ। और यदि स्नेहवश कभी उपदेश करूँगा तो इन्द्र तुरत् वज्रसे मेरा सिर काट देगा। इन्द्रकी आज्ञाको मैंने अंगीकार कर लिया है। इसीलिए आज तुम दोनोंको ब्रह्म विद्याका उपदेश करने में कठिनाई प्रतीत हो रही है।

शंका—"यदि आपने देवराजको ब्रह्म विद्या का उपदेश न करनेका वचन दिया है तो हमें आप कैसे उपदेश करेंगे। तात्पर्य यह कि यदि हमें उपदेश कीजियेगा तो इन्द्रको दिया हुआ आपका वचन मिथ्या होगा। और उस वचन को सत्य करने के लिये हमें उपदेश नहीं दीजिएगा तो पहले जो आपने हमें वचन दिया था, वह मिथ्या हो जायगा।"

समाधान—"हमने पहले तुम्हें ब्रह्म विद्या का उपदेश करनेका वचन दिया है और इन्द्रको ब्रह्म विद्याका उपदेश न करने का वचन दिया है। परन्तु इसमें यह विशेषता है कि "किसीके प्रति मैं ब्रह्म विद्याका उपदेश नहीं करूँगा" इस प्रकार नियम करके मैंने वचन इन्द्रको नहीं दिया है, परन्तु हमने यह कहा है कि यदि मैं किसीको ब्रह्म विद्याका उपदेश करूँ तो तुम मेरा सिर काट देना। अतः तुम्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश करने में मुझे कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अपने वचन सत्य करनेके लिये मैं तुम दोनोंको अवश्य ब्रह्म विद्याका उपदेश करूँगा।"

शंका—"हे भगवन्! अब इन्द्रके द्वारा आपकी मृत्यु होनेका भय ही हमें उपदेशमें प्रतिबन्धक होगा।"

समाधान—"मरनेसे मुझे भय नहीं, क्योंकि इस संसारमें जो जीव उत्पन्न हुआ है उसकी किसी-न-किसी निमित्तसे मृत्यु अवश्य होगी। उस मृत्युके निमित्तमें यदि देवराज इन्द्र कारण हो तो अत्यन्त दुर्लभ है। भाव यह है कि (दध्यङ्मुनि अपना वचन सत्य करने के लिये इन्द्रसे भी भयभीत नहीं हुए।) इस प्रकार लोक में मेरी कीर्ति होगी। हे अश्विनीकुमारों! स्त्री पुत्रादि सम्पूर्ण बान्धवोंका परित्याग, धनका परित्याग तथा मृत्यु हो जाना श्रेष्ठ है परन्तु मिथ्या वचनका भाषण बुद्धिमानोंके लिये श्रेष्ठ नहीं है। और अपने मृत्युको तुच्छ जानकर तुमको ब्रह्म विद्याका उपदेश करने पर भी हमारे वचनके मिथ्या होने की सम्भावना बनी हुई है। क्योंकि ज्योंही मैं तुम्हें ब्रह्म विद्याका उपदेश प्रारम्भ करूँगा त्योंही देवराज इन्द्र मेरा सिर काट देगा और सिर कट जानेके बाद मैं उपदेश पूर्ण न कर पाऊँगा। इसलिये पुनः हमारा वचन मिथ्या हो जायगा। जिसके फलस्वरूप मुझे अपयशकी प्राप्ति होगी। हे अश्विनीकुमारों! यह विचारणीय एक जटिल समस्या है। तुम दोनों बुद्धिमान हो, अतः जो उपाय मुझे करना चाहिए वह कहो।"

ऋषि बोला—"हे अश्विनीकुमारों! गुरुकी उपर्युक्त बातें सुनकर तुम लोगोंने अपना अर्थ सिद्ध करनेके लिये इस प्रकार कहा—हे गुरुदेव! दुष्ट इन्द्रसे आप भयभीत न हों। अंगोंको संधान करनेवाली मृत संजीवनी विद्या हम जानते हैं। इन्द्रका चलाया हुआ वज्र हमारी विद्यासे निष्फल हो जायगा। यदि आप इन्द्रके वज्रको निष्फल करना न चाहें तो एक दूसरा उपाय यह है कि अश्वका सिर काटकर आपके ग्रीवा पर और आपका सिर अश्वकी ग्रीवापर लगा दिया जाय। इसके बाद आप अश्वके मुखसे ब्रह्म विद्याका उपदेश प्रारम्भ कीजिए। इन्द्र जब वज्रसे आपका सिर काट देगा तब हम आपका पहला सिर ग्रीवा पर लगाकर पूर्ववत् स्वस्थ कर देगें और अश्वका सिर उसकी ग्रीवा पर लगा देगें। इस उपायसे कई फल होगें। एक तो अश्व और आपका मरण नहीं होगा। दूसरा हम दोनों गुरु हिंसासे बचेंगे। तीसरा आपकी अपमृत्यु नहीं होगी। इन्द्रके वज्र द्वारा होनेवाली मृत्युको अपमृत्यु कहते हैं। चतुर्थ आपका वचन मिथ्या नहीं होगा।"

ऋषि बोला—समदर्शी दध्यङ्मुनिने तुम्हारे इस उपायको स्वीकार कर लिया। इसके बाद जैसे कोई पुरुष दया रहित होकर पशुका सिर काटता है, वैसे ही तुम दोनोंने अपने गुरुका सिर काटकर अश्वकी ग्रीवा पर स्थापित किया और अश्वका सिर गुरुकी ग्रीवा पर स्थापित किया। हयग्रीव संज्ञाको प्राप्त होकर दध्यङ् मुनिने तुम दोनोंको कर्म उपासनाका उपदेश देनेके बाद आगे उपदेश करते हुए कहा—"हे अश्विनीकुमारों जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक कर्म उपासना करना चाहिए। चित्त शुद्धिके बाद कर्म उसासना करनेका कोई प्रयोजन नहीं। अतः चित्त शुद्धिके बाद कर्म उपासनाका परित्याग करके केवल वेदान्त शास्त्र का विचार ही निरन्तर करना चाहिए।"

ऋषि बोला—इसके बाद तुम्हारे गुरुने

इन्द्रको जिस विद्याका उपदेश किया था उसी विद्याका उपदेश पुनः तुम्हें भी कर दिया और आगे कहा—'हे अश्विनीकुमारों ! यह जो ब्रह्म विद्या अभी-अभी मैंने तुम्हें उपदेश की है उसे कोई ऋषि मुनि अपने शिष्योंको उपदेश नहीं करेगा। कौषीतकी आदि ऋषि शंकायुक्त होकर अपने शिष्योंको ब्रह्म विद्याका उपदेश करेगें। क्योंकि देवराज इन्द्र हाथमें वज्र लेकर आकाश में मेरा सिर काटनेके लिये उपस्थित है। उपदेश कालमें ही वह मेरा सिर काटकर अपनी प्रतिज्ञा सत्य करेगा। मेरा कटा हुआ सिर देखकर सभी ब्राह्मण भयभीत हो जायेगें और अपने प्रिय पुत्रोंको भी ब्रह्म विद्याका उपदेश नहीं देगें। बहुतसे ऋषि तो अपने शिष्योंको अधूरी ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगें। कुछ लोग तप आदि द्वारा परमात्माको प्रसन्न करेंगे और परमात्मादेवके अनुग्रहसे वे किसी एक शिष्यको ब्रह्म विद्याका उपदेश करेंगे। परन्तु उनको भी कुछ-न-कुछ इन्द्रका भय अवश्य होगा। सूर्य भगवान्के शिष्य याज्ञवल्क्यमुनिको छोड़कर अन्य सभी इन्द्रसे भयभीत रहेंगे। केवल याज्ञवल्क्यमुनि इन्द्रके भयको न मानकर अपने शिष्योंको सम्पूर्ण ब्रह्म विद्याका उपदेश करेगा।"

ऋषि बोला—दध्यङ्मुनिने ज्योंही ब्रह्म विद्याका उपदेश पूर्ण किया त्योंही इन्द्रने वज्र द्वारा हयग्रीव रूप तुम्हारे गुरुका सिर काट दिया। इसके बाद तुरत् तुम दोनोंने वज्रसे कटकर गिरे हुए सिरको उठाकर अश्वकी ग्रीवा पर स्थापित कर दिया और अपने गुरुका सिर उनकी ग्रीवा पर पूर्ववत् स्थापित कर दिया।

ऋषिने आगे कहा—हे अश्विनीकुमारों! दध्यङ्मुनिने जो ब्रह्म विद्या तुम्हारे प्रति उपदेश की थी और जिस विद्याके लोभसे तुम दोनोंने गुरुके मस्तकका छेदनरूप अनुचित कर्म किया, उस ब्रह्म विद्याको पुनः तुम्हें स्मरण करानेके लिये संक्षेपसे कहता हूँ। श्रवण करो।

जैसे लोकमें महाराजा अपने निवासके लिये पहले महान पुरी रचता है, उसके बाद अल्प पुरियोंको रचता है, तैसे जगतका कारण परमात्मादेव प्रथम समष्टि शरीर रूपी महान पुरी को उत्पन्न किया, उसके अनन्तर व्यष्टि शरीर रूपी अनन्त पुरियोंको उत्पन्न किया, उनमेंसे कोई शरीर चार पैरों वाला, कोई दो पैरों वाला, कोई एक पैर तथा बिना पैर वाला विभिन्न प्रकारके शरीर उत्पन्न किया। जैसे पक्षी अपने घोंसलेमें शरीरका संकोच करके प्रवेश करते हैं तैसे यह विभु परमात्मादेवभी परिच्छिन्नता अभिमान रूप अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपको धारण करके उन शरीर रूपी पुरियोंमें प्रवेश करता है। यह आनन्द स्वरूप आत्मादेव सम्पूर्ण शरीर रूपी पुरियोंमें निवास करता है इसलिये इस आत्मादेवको शास्त्र में पुरुष कहते हैं अथवा यह परमात्मा देव अपने अस्ति-भाति-प्रिय रूपसे सम्पूर्ण शरीर रूप पुरियोंको पूर्ण करता है इस कारण आत्माको श्रुति पुरुष कहती है।

हे अश्विनी कुमारो ! जैसे सम्पूर्ण घट मठादिक पदार्थ अन्तर बाहर आकाश द्वारा व्याप्त है तैसे यह सम्पूर्ण प्रपंच अन्तर बाहर परमात्मा पुरुष द्वारा व्याप्त है। और जैसे घट द्वारा व्याप्त होकर तथा ओत प्रोत होकर वस्त्र

सूतमें ही स्थित होता है तैसे यह सम्पूर्ण जगत आनन्द स्वरूप आत्मामें ही स्थित होता है। जो आनन्द स्वरूप आत्मा पहले सभी शरीरोंमें प्रवेश किया, वही आनन्द स्वरूप आत्मा इस समयभी तुम्हारे हृदय देशमें तथा हमारे हृदय देशमें तथा अन्य सभी प्राणियोंके हृदय देशमें विशेष रूपसे प्रतीत होता है। जैसे जो जल पहले घटमें प्रवेश करता है, वही जल मध्य कालमें घटमें स्थित हुआ प्रतीत होता है। जैसे जल स्वभावसे यद्यपि एक रूप वाला है तथापि स्थूल घटमें स्थित हुआ वह जल स्थूल कहा जाता है और सूक्ष्म घटमें स्थित हुआ वह जल सूक्ष्म कहा जाता है। और वही जल अग्निसे तप्त होकर उष्ण, शीतल घटमें स्थित होकर शीतल, धूलिसे आच्छादित होकर मैला, सुगंध से युक्त होकर सुगन्धित, दुर्गन्धसे दुर्गन्धित, वायु द्वारा चलायमान होकर चंचल. शान्त स्थिर घटमें रहनेसे निश्चल, सूर्यसे प्रकाशित होने पर प्रकाशवान्, अन्धकारसे आच्छादित होने पर अन्धकार रूप कहा जाता है। इस प्रकार जिस जिस उपाधिके साथ जलका सम्बन्ध होता है उस उस उपाधिके स्वरूपको जल प्राप्त होता है। तैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्माभी स्थूल शरीरके तादात्म्य सम्बन्धसे अपनेको स्थूल मानता है सूक्ष्म शरीरके तादात्म्य सम्बन्धसे यह अपनेको सूक्ष्म मानता है। यही आत्मा जड़के तादात्म्य सम्बन्धसे अपनेको जड़, बुद्धिमान शरीरके तादात्म्यसे अपनेको बुद्धिमान, धनीसे धनी, निर्धन शरीरसे तादात्म्य होने पर निर्धन, देवता आदि उत्कृष्ट शरीरके तादात्म्य सम्बन्धसे अपनेको उत्कृष्ट, नीच शरीरके सम्बन्ध से नीच और सुखी दुःखी शरीरके तादात्म्य सम्बन्धसे यह परमात्मादेव अपनेको सुखी दुःखी मानता है। इसी प्रकार अनन्त प्रकारके शरीरादिक उपाधियोंके धर्म अज्ञान द्वारा मोहित होकर यह आत्मा अपनेमें मानता है। जैसे विषयासक्त कामी पुरुष कामिनीके धर्मोंको अपनेमें मानता है। तात्पर्य यह है कि कामिनीको चिन्तातुर, दुखी, प्रसन्न देखकर कामी पुरुषभी अपनेको चिन्तातुर, दुखी प्रसन्न मानता है। तैसेही यह आनन्द स्वरूप आत्मा यद्यपि बुद्धि आदिकोंके सुख दुःखादिक धर्मोंसे रहित है तथापि अज्ञानकृत तादात्म्य सम्बन्धसे उन बुद्धि आदिकोंके सुख-दुःखादिक धर्मोंको अपनेमें मानता है।

हे अश्विनी कुमारों! यही परमात्मादेव सृष्टिके आदिकालमें आकाशादिक पंचभूत, उन भूतोंका कार्य शरीर तथा शब्द प्रपंचको उत्पन्न करके उन सभी पदार्थोंके साथ तादात्म्य भावको प्राप्त होकर उन सर्व पदार्थोंके भिन्न भिन्न नामोंको करता है और यह परमात्मादेव वाकादिक इन्द्रियोंके साथ तथा वाकादिकका प्रेरक बुद्धिके साथ तादात्म्य भावको प्राप्त होकर वचन उच्चारण आदि नाना प्रकारके व्यवहारोंको करता हुआ वाकादिक रूप होता है और तूँ, मैं, अन्य प्राणी आदि अनन्त रूपोंको प्राप्त होता है। वास्तवमें भेद रहित असंग आत्मा जो नाना प्रकारके भेदोंको उत्पन्न करता है, वह अपने इन्द्र स्वभावको जनानेके लिये करता है। तात्पर्य यह कि यह परमात्मादेव सम्पूर्ण

जगतको उत्पन्न करके उस सम्पूर्ण जगतको आत्मा रूपसे देखता है। इस कारण वह परमात्मादेव इन्द्र संज्ञाको प्राप्त होता है। वह इन्द्र संज्ञा जगतकी उत्पत्तिके बिना सम्भव नहीं। अतः वास्तवमें भेद रहित होने पर भी यह परमात्मादेव नाना प्रकारके भेदोंको उत्पन्न करता है।

शरीरादिक उपाधियोंमें मिथ्यात्व बोधन करनेके लिये पहले उनमें मायाकी कार्यता दिखलाते हैं—

जैसे लोकमें मायावी ऐन्द्र जालिक पुरुष अपनी माया द्वारा नाना प्रकारके हाथी, वाघ आदि रूपोंको धारण करता है। तैसे एक ही परमात्मा देव अपनी माया द्वारा नाना प्रकारके रूपोंको धारण करता है। परन्तु उन माया कृत विशेष रूपों द्वारा परमात्माका अस्ति-भाति-प्रिय रूप वास्तव स्वभाव निवृत्त नहीं होता। अब इसी अर्थको युक्तियों द्वारा निरूपण करते हैं—

हे अश्विनी कुमारो! इस लोकमें बुद्धिमान स्वर्णकार आदि पुरुष भी अन्य स्वभाव वाले सुवर्णादिक पदार्थोंका अन्य स्वभाव करनेमें समर्थ नहीं हैं। किन्तु उसी स्वर्ण आदिमें कुण्डल कटकादिक विशेष रूपोंको बनाते हैं। इसलिए वस्तुके स्वभावको अन्यथा करनेमें कोई भी प्राणी समर्थ नहीं। जैसे एक सौ शिल्पि पुरुष एकत्र होकर भी तन्तु रूप सूत्रको सुवर्ण रूप नहीं कर सकते तथा एक हजार कुम्हार इकट्ठे होकर काठको मिट्टी नहीं बना सकते।"

शंका—"हे भगवान्! यदि उपाय द्वारा वस्तु अन्य भावको नहीं प्राप्त होती तो धातु मारनेके शास्त्रमें ताम्रादिक धातुओंको सुवर्ण करनेका जो प्रकार लिखा है वह असंगत हो जायगा।"

समाधान—"धातु मारनेके शास्त्रकी रीतिके अनुसार जो पुरुष ताम्रादि धातुओंको स्वर्ण बनाते हैं वे भी असत्य स्वर्णकी उत्पत्ति नहीं करते। क्योंकि यदि उपाय द्वारा असत्य वस्तु की भी उत्पत्ति होती तो असत्य शशक शृंग तथा वन्ध्या पुत्रकी भी उपाय द्वारा उत्पत्ति होनी चाहिये। और असत्य नर शृंगकी उत्पत्ति होती नहीं। इसलिये औषधि आदिक उपायों द्वारा असत्य स्वर्णकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु औषधि बलसे ताम्रादि धातुओंके पूर्व रक्त रूप का अभिभव करके उसमें पीत रूपकी उत्पत्ति करते हैं। तथापि पहलेकी ताम्र धातुसे वह सुवर्ण भिन्न नहीं।"

शंका—"यदि पहलेकी ताम्र धातुसे सुवर्ण भिन्न नहीं हैं तो यह स्वर्ण पूर्व ताम्रसे भिन्न है, इस प्रकारको भेद प्रतीति उन पुरुषोंको नहीं होनी चाहिए।

समाधान—"यहाँ ताम्र धातु और स्वर्णका यद्यपि परस्पर भेद नहीं है तथापि रक्त रूप तथा पीत रूपका परस्पर भेद है। उस भेदको अंगीकार करके ही उन पुरुषोंको इस प्रकारकी भ्रान्ति होती है कि यह सुवर्ण पूर्व ताम्रसे भिन्न है। इसलिए मिट्टी सुवर्ण आदिका जैसा पूर्व स्वभाव है वैसा ही सर्व कालमें रहता है, किसी कालमें उनका स्वभाव अन्यथा नहीं होता।"

शंका—"यदि वस्तुका स्वभाव अन्यथा नहीं होता है तो कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि

सामग्री मिट्टीसे घड़ेकी उत्पत्ति करती हैं, वे कुम्हार आदि कारण व्यर्थ हो जायेंगे।"

समाधान—"हे अश्विनी कुमारो! कुम्हार आदिके द्वारा मिट्टी अन्यथा भावको नहीं प्राप्त होती। किन्तु कुम्हार आदि कारणों द्वारा मिट्टी घट, शराव आदि विशेष रूपोंको प्राप्त होती हैं। अतः कुम्हार आदि कारण व्यर्थ नहीं।"

शंका—"वे घट, शराव आदि विशेष रूपही मिट्टीका स्वभाव क्यों नहीं होते हैं?"

समाधान—वे घट शराव आदि विशेष रूप मिट्टीका स्वभाव नहीं। यदि ऐसा होगा तो घटादिक विशेष रूपोंके नाश होने पर मृत्तिका की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। और घट शरावादिकोंके विना भी मिट्टी देखी जाती है। अतः घटादि विशेष रूप मिट्टीका स्वभाव नहीं। तात्पर्य यह कि जिस वस्तुका जो स्वभाव होता है, उस स्वभावके निवृत्त होने पर उस वस्तुकी भी निवृत्ति हो जाती है। जैसे तेजका स्वभाव प्रकाश है उस प्रकाशके निवृत्त होने पर तेजभी निवृत्त होता है। तैसे ही घट शरावादिक विशेष रूप यदि मिट्टीके स्वभाव होंगे तो घटादिकोंके नाश होने पर मिट्टीका भी नाश होना चाहिए। और मिट्टीका नाश होता नहीं है। अतः घटादिक विशेष रूप मिट्टीका स्वभाव नहीं।

अथवा—लोकमें भी विशेष रूपके नष्ट होने पर वस्तुका नाश नहीं होता है। जैसे मूर्तत्व स्वभाव वाली पृथ्वी पूर्व पिण्ड रूप विशेष भावको परित्याग कर घट भावको प्राप्त होती है तथापि अपना जो मूर्तत्व स्वभाव है उसको कभी भी पृथ्वी नहीं छोड़ती है। इससे सिद्ध हुआ कि मृत्तिका, स्वर्ण आदिक वस्तुओं के विद्यमान रहने पर भी घट शरावादि तथा कुण्डल कंकण आदिक विशेष रूप प्रतीत नहीं होते हैं। इसलिये वे घटादिक विशेष रूप मृत्तिकादिक वस्तुओंमें आगमापायी धर्म हैं। और जो पदार्थ आगमापायी होता है वह उस वस्तु का स्वभाव नहीं होता है। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे मायावी ऐन्द्रजालिक पुरुष अपनी मायाके प्रभावसे कभी सिंह रूप कभी हस्तिरूप धारण करता है। वह सिंह और हस्तिपना मायावी पुरुषमें सर्वदा नहीं होती, किन्तु किसी निमित्तको पाकर कभी कभी होती है। अतः आगमापायी होनेसे वह सिंह और हस्तिपना मायावी पुरुषका स्वभाव नहीं। तैसे ही घट शराव आदिक विशेष रूप मिट्टी आदिके स्वभाव नहीं।

अब उन विशेष रूपोंमें सत्य-असत्यसे विलक्षणता दिखलाते हैं—

हे अश्विनीकुमारो! वे विशेष रूप यदि वस्तुकी तरह सत्य रूप हों तो वस्तुके स्वभावकी तरह उन विशेष रूपोंका बाध नहीं होना चाहिये और वस्तुके विद्यमान होनेपर भी उन विशेष रूपोंका बाध देखा जाता है। अतः वे विशेष रूप सत्य नहीं। किन्तु सत्यसे विलक्षण हैं। और वे विशेष रूप असत्य भी नहीं। क्योंकि वन्ध्यापुत्र तथा नरशृंगादिक जो असत्य पदार्थ हैं, वे नेत्रादिक इन्द्रियोंके सम्बन्धसे किसी भी जीवको प्रत्यक्ष नहीं होते हैं और यह विशेष रूप तो सभी प्राणियोंको नेत्रोंसे दिखलाई पड़ता है। अतः वे विशेष रूप असत्य

से भी विलक्षण हैं। और जो पदार्थ सत्य-असत्यसे विलक्षण होता है वह शुक्ति-रजतकी तरह मिथ्या होता है। और जो पदार्थ मिथ्या होता है वह मायाका ही कार्य होता है। इस-लिये सम्पूर्ण विशेष रूपोंका माया ही कारण है।

अब मायाका निरूपण करते हैं—

वास्तवमें अत्यन्त असत्य विशेष रूपोंका नेत्रादिक इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष सम्भव नहीं और इन विशेष रूपोंका प्रत्यक्ष लोगोंको होता है, इसलिये जिसके प्रभावसे उन असत्य विशेष रूपों का प्रत्यक्ष होता है, उसका नाम माया है। तात्पर्य यह कि जैसे दिनमें भोजन नहीं करने-वाले मोटे आदमीका मोटापा रात्रि भोजनके विना सम्भव नहीं। इसलिये उस आदमीका मोटापन उसके रात्रि भोजनकी कल्पना कराता है, तैसे अत्यन्त असत्य विशेष रूपोंकी प्रतीति मायाके विना सम्भव नहीं। अतः इन विशेष रूपोंकी प्रतीति ही मायाकी कल्पना कराती है।

शंका—"अत्यन्त असत्य वन्ध्यापुत्र और नरश्रृंगादिकोंका प्रत्यक्ष ज्ञान किसी जीवको नहीं होता और अत्यन्त असत्य विशेष रूपोंका प्रत्यक्ष ज्ञान सभी जीवोंको होता है, इसमें क्या कारण है?"

समाधान—"असत्य नरश्रृंग, वन्ध्यापुत्र तथा घटादिक विशेष रूपोंका यद्यपि वास्तवमें भेद नहीं, तथापि दुर्घट अर्थको सिद्ध करनेवाली मायासे उनका भेद कल्पना किया जाता है। और जैसे विशेष रूप तथा नरश्रृंगादिकोंसे उनका भेद यह दोनों माया द्वारा कल्पित है, तैसे माया भी माया द्वारा ही कल्पित है। क्योंकि जैसे घटादिक विशेष रूप तथा नरश्रृंगसे उनका भेद यह दोनों असत्य है तैसे माया भी असत्य ही है। असत्य वस्तुकी सिद्धि मायाके विना नहीं होती। तात्पर्य यह कि जैसे गुहामें स्थित व्याघ्र का प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे ज्ञान होता है तैसे मायाका प्रत्यक्षादिक प्रमाणों द्वारा ज्ञान नहीं होता। क्योंकि जिस पदार्थसे जिस पदार्थकी निवृत्ति होती है उस पदार्थसे उस पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। जैसे प्रकाशसे अन्धकारकी निवृत्ति होती है, अतः प्रकाशसे अन्धकारकी सिद्धि नहीं होगी। तैसे ही प्रमाणजन्य ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, अतः प्रमाणसे अज्ञान रूप मायाकी सिद्धि सम्भव नहीं। किन्तु मायासे ही मायाकी सिद्धि होती है।

अब ज्ञानी जीवोंकी प्रतीतिसे मायाकी सिद्धि करते हैं—

हे अश्विनीकुमारो! जब कोई पुरुष किसी अज्ञानी जीवसे प्रश्न करता है—"असत्य नरश्रृंग, वन्ध्यापुत्रोंसे शुक्ति, रजत आदिक विशेष रूपोंका भेद किस हेतुसे है?" तब वह अज्ञानी पुरुष उत्तर देता है—'हम नहीं जानते हैं।'"

"हम नहीं जानते" यह अज्ञानी जीवकी प्रतीति ही दुर्घट मायाका साधक है।

मायाकी दुर्घटता बतलानेके लिएं माया शब्दका चार प्रकारसे अर्थ निरूपण करते हैं—१—जो तीनों कालमें न हो उसे बुद्धिमान् पुरुष माया कहते हैं। २—कार्य कारण रूप जगत्के भेदका जो कारण हो उसे शास्त्रवेत्ता पुरुष माया कहते हैं। ३—हम जीवोंके आत्मस्वरूप आनन्दको जो आच्छादन करे उसको विद्वान् पुरुष माया

कहते हैं। ४—यथार्थ ज्ञानसे जो निवृत्त हो उसे माया कहते हैं। माया शब्दके इन्हीं अर्थोंको स्पष्ट करके दिखलाते हैं—यह आनन्दस्वरूप आत्मा वास्तवमें असंग, स्वप्रकाश तथा सजातीय-विजातीय स्वगत भेदसे रहित है। ऐसे असंग, अद्वितीय आत्मामें माया तथा वास्तवमें जगतकी कारणता सम्भव नहीं। और श्रुतिमें आत्माको जगतका कारण तथा सर्वजगत्‌रूप कहा है। इस प्रकारके विचारसे वेदवेत्ता पुरुष असंग आत्मामें जगतकी कारणताकी सिद्धिके लिये असंग आत्मामें मायाकी कल्पना करते हैं। हे अश्विनीकुमारो! जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारकी निवृत्ति होती है तैसे इस प्रकार का ज्ञान जब जीवोंको होता है तभी उनके अज्ञानकी निवृत्ति होती है, वह ज्ञान इस प्रकार है—यह आनन्दस्वरूप आत्मा ही सम्पूर्ण जगत के उत्पत्ति, स्थिति, लयका कारण है और यह सम्पूर्ण जगत अस्ति, भाति, प्रिय रूप है। और यह आत्मा सत्-चित्-आनन्दरूप तथा परब्रह्म है। इस प्रकारके यथार्थ ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। जैसे रज्जुके विशेष रूप सर्प दण्ड आदिक रज्जुरूप अधिष्ठानके ज्ञानसे निवृत्त हो जाते हैं। तैसे निर्विशेष आत्माका विशेष रूप प्रपंच तथा प्रपंचका कारण अज्ञान अधिष्ठान आत्माके साक्षात्कारसे निवृत्त हो जाता है। इस कारणसे शास्त्रवेत्ता पुरुष उस अज्ञानको माया कहते हैं। जैसे दीपकसे अन्धकारका ज्ञान नहीं होता तैसे हमारे समान विवेकी पुरुष जहाँ-जहाँ दृष्टि करते हैं वहाँ माया को नहीं देखते हैं। इसलिये यथार्थ ज्ञानसे जो निवृत्त हो उसे माया कहते हैं। जगतका कारण वह माया यद्यपि एक है तथापि यह घट है, यह पट है इत्यादिक अनेक ज्ञान घटादिक विषयोंके अज्ञानोंको निवृत्त करते हैं, इस कारण वह एक ही माया अनन्त रूपोंको धारण करती है। उन अनन्त रूपोंको शास्त्रमें तूला अज्ञान कहते हैं। मूला अज्ञान और तूला अज्ञानमें इतना भेद है कि जो अज्ञान ब्रह्मके आश्रित होकर ब्रह्मको ही आच्छादित करे और ब्रह्मके ज्ञानसे ही निवृत्त हो उसको मूला अज्ञान कहते हैं। जो अज्ञान घटादिक विषयावच्छिन्न चैतन्यके आश्रित होकर घटादिक विषयावच्छिन्न चैतन्य को ही आच्छादन करे और घटादिक विषयावच्छिन्न चैतन्यके ज्ञानसे ही निवृत्त हो उसको तूला अज्ञान कहते हैं। तूला अज्ञानको ही अवस्था अज्ञान भी कहते हैं। इस अवस्था अज्ञानोंको ग्रहण करके ही "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते" इत्यादिक श्रुतियोंमें अनेक माया कथन की गई हैं। और "अजामेका" इत्यादिक श्रुतियोंमें जो मायाकी एकता कही है वह मूला अज्ञानको लेकर ही कही है।

इस प्रकारकी माया द्वारा यह परमात्मा इन्द्र नाना प्रकारके रूपोंको धारण करता है। जैसे एक ही मायावी ऐन्द्रजालिक पुरुष अपनी माया द्वारा अनेक रूपोंको धारण करता है तैसे वास्तवमें एक अद्वितीय परमात्मादेव अपनी माया द्वारा अनन्त रूपोंको धारण करता है।

इस प्रकार व्यास भगवान् आदिक तत्त्ववेत्ता पुरुषोंने माया द्वारा आत्मामें नाना रूपता कही है। तथापि उन महात्मा पुरुषोंका आत्मा

के नानापनेमें तात्पर्य नहीं। किन्तु आत्माकी एकता बोधन करनेके लिये वे महात्मा पुरुष लौकिक प्रमाण द्वारा सिद्ध नाना प्रकारके भेदों का अनुवाद करते हैं। लोक प्रसिद्ध अर्थको कहने वाले वचनको अनुवाद कहते हैं। जैसे "अग्नि शीतकी औषधि है" यह वचन लोक प्रसिद्ध अर्थका अनुवाद करता है। क्योंकि अग्निमें शीतको निवृत्त करनेकी कारणता सभी लोकोंको अनुभव सिद्ध है। तैसे सर्व अज्ञानी जीवोंके अनुभव द्वारा सिद्ध नाना प्रकारके भेद का विद्वान पुरुष अनुवाद करते हैं और पुनः वे महात्मा पुरुष जगतके कारणमें लौकिक प्रमाणोंकी अप्रवृत्ति देख करके सर्व व्यवहारकी सिद्धिके लिये एक मायाको ही कारण रूपसे कल्पना करते हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण विद्वान पुरुष अद्वितीय आत्माका बोध करानेके लिये तथा मुमुक्षु जनोंके बुद्धिकी वृद्धिके लिए आनन्द स्वरूप आत्मामें अनेक प्रकारसे जगत का आरोपण करते हैं।

हे अश्विनी कुमारो! इसी अभिप्रायसे दध्यङ् मुनिने तुम दोनों को बोध करानेके लिये आत्माके भेदका कारण जो शरीर, इन्द्रिय, विषयका भेद है वह तुम्हारे प्रति कहा है। परन्तु आत्माके भेदमें मुनिका तात्पर्य नहीं, किन्तु आत्मामें भेदका आरोपण करके उसके निषेध द्वारा अद्वितीय आत्माको जनाना ही दध्यङ् मुनिका तात्पर्य है।

अब इन्द्रियोंमें भेदकी कारणता दिखलाते हैं—

जैसे स्वर्गमें स्थित देवराज इन्द्र त्रिलोकी में अनेक कार्योंको करनेके लिये अपनी मायासे अनेक रूपोंको धारण करता है, ऐसे इन्द्रके रथोंमें वायुके समान वेगवान् अनेक प्रकारके अश्व जुड़े हुए हैं तैसे ही इस संसारमें स्थित जो परमात्मा रूप इन्द्र है उसके शरीर रूपी रथोंमें अत्यन्त प्रवल इन्द्रिय रूपी अश्व विद्यमान हैं। और वे इन्द्रिय रूपी अश्व एक एक शरीरमें दश प्रकारके हैं। वे सम्पूर्ण इन्द्रिय रूपी अश्व आत्माके भेदको करने वाले हैं। तात्पर्य यह कि नेत्रादिक इन्द्रियोंका जब विषय के साथ सम्बन्ध होता है तब अन्तःकरण की वृत्ति तद् विषयाकार होती है। इसलिये नेत्रादिक इन्द्रिय अन्तःकरणकी वृत्तियोंके भेद करने वाली हैं। और वृत्तियोंके भेद होने पर उन वृत्तियोंमें प्रतिविम्बित आत्माका भी भेद होता है। इस प्रकारसे इन्द्रियाँ आत्माका भेद करने वाली हैं। इतना कहकर आत्मामें इन्द्रियोंके भेदका अध्यारोप दिखलाया। अब उनके अपवादको दिखलाते हैं—

हे अश्विनी कुमारो! जिन इन्द्रियादिकों द्वारा यह आत्मा भेदको प्राप्त होता है, उन इन्द्रियों सहित सम्पूर्ण प्रपंचका यह आत्मा अधिष्ठान है। इस कारणसे ही "नेति नेति" यह श्रुति कल्पित प्रपंचका निषेध करके सर्व भेदसे रहित अधिष्ठान आत्माको बोधन कराती है। इससे त्वं पदार्थका शोधन दिखलाया अब तत् पदार्थका शोधन दिखलाते हैं—

हे अश्विनीकुमारों! जो वस्तु नाना प्रकार के भेदोंसे भी भेदको नहीं प्राप्त हो उसको विद्वान पुरुष ब्रह्मरूपसे निश्चय करते हैं। सो

ब्रह्म पूर्व पश्चिमादिक देशोंसे तथा भूत भविष्य वर्तमान इन तीन कालोंसे रहित है और अन्तर बाह्य स्वभाव वाले पदार्थोंसे भी वह ब्रह्म रहित है। इस प्रकार तत् पदार्थका शोधन करके अब तत्-त्वं पदार्थके अभेदको दिखलाते हैं—

हे अश्विनीकुमारों! सम्पूर्ण देहधारी जीवों का एक अद्वितीय आत्मा है। वह आत्मा "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादिक महावाक्यों द्वारा ब्रह्मरूपसे जानने योग्य है। वह ब्रह्मरूप आत्मा द्रष्टा तथा श्रोता रूपसे सम्पूर्ण जगतका अनुभव करता है। और सम्पूर्ण जगतका आत्मा, सम्पूर्ण बुद्धि आदिकोंका साक्षी स्वप्रकाश आनन्द स्वरूप है।

ऋषि बोला—अश्विनीकुमारों! इस प्रकार तुम्हारे गुरु दध्यङ्मुनिने मुमुक्षुजनोंके कल्याण के लिये तुम दोनोंको आनन्द स्वरूप आत्माका ब्रह्मरूपसे उपदेश किया।"

गुरुदेवने शिष्यसे कहा—"हे वत्स! इस प्रकार वह ऋषि अश्विनीकुमारोंसे पूर्व गुह्य वृत्तान्तको कहकर चुप हो गया। उसके वचनों को सुनकर अश्विनीकुमार अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऋषिको सर्वज्ञ जानकर प्रणाम किए। जिस कार्यके लिये वे ऋषि आये थे उनका कार्य तुरन्त सिद्ध कर दिए।"

गुरुदेवने आगे कहा—"हे शिष्य! पहले तुमने कौपीतकी ऋषिके भयका कारण पूछा था। वह मैंने विस्तारसे वर्णन कर दिया। दध्यङ्मुनिके सिरका कटना देखकर ही कौपीतकी ऋषि भयभीत हो गये थे। इसीलिये उन्होंने शिष्योंको सम्पूर्ण ब्रह्म विद्याका उपदेश नहीं किया। हे शिष्य, दध्यङ् अथर्वण तथा अश्विनीकुमारोंका यह सम्वादरूप इतिहास जो मैंने तुमसे कहा है वह पहले वेद मंत्रों द्वारा कहा हुआ है। अब आगे जो कुछ सुनना चाहो उसे निःसंकोच कहो।

❋ इति चतुर्थोऽध्यायः ❋



बाबा शारदाराम के पद

सतगुरु बताये सुख बाट हमको ।
दया क्षमा शान्ति को गहना,
सुख स्वरूप जपना ॐ धाम को ।
पर उपकार सदा भक्तन संग,
दया सागर बनाया जस वानको ।
आनन्द आनन्द शान्त चहुँ दिश,
चढ़ा विरति हम ब्रह्मज्ञान को ।
सम, दम, समाधान, उपरति,
ब्रह्मज्ञान में याही प्रमान को ।
'शारदाराम' अनुभव रूप पाया
आत्म परमात्म जानी जानको ।

साधो भाई प्रसन्न आत्मरूप जो ब्रह्मको पाई ।
भक्ति भावमें मगन रहता है,
सबमें ब्रह्म एक लखाई ।
शुद्ध बुद्धि में ब्रह्म दर्शत,
अस ध्यान सदा लगाई ।
शाश्वत पद अविनाशी पाया,
ईश्वर सर्व देखाई ।
शेष कर्म रहा नहीं जगमें,
गुप्त तत्व जबसे देखाई ।
'शारदाराम' ब्रह्ममय सब भया,
ब्रह्म रहा दरसत सर्व ठाई ।

साधो अध्यात्म ज्ञान करहू विचारा । (टेक)
सत्-असत् का निर्णय होई है,
सत्य गहिहो त्याग असारा ।
परम तत्व परमात्मा दरसै,
जाकर पसरा सकल पसारा ।
परम पवित्र आत्मज्ञान है,
जो लख चौरासी देत उतारा ।
'शारदाराम' अवर सब झूठो,
जब दरसत सर्व अधारा ।

साधो जी भर्ता भोक्ता एक कहावै । (टेक)
नाना रूप धर सर्व समाया,
दसवें द्वारसे बतलावै ।
चालत देखत करत व्याख्याना,
जस देह तस नाम धरावै ।
आपे सुनावै अनेक परमाना,
कारण कारज आप सोहावै ।
'शारदाराम' व्यापा मम स्वामी,
आपी अटल सभी समावै ।

॥ ॐ नमः परमात्मने ॥

आत्म-पुराण

पाँचवाँ अध्याय

गत चतुर्थ अध्यायमें यजुर्वेदीय बृहदारण्यक उपनिषद्के मधु काण्डका अर्थ निरूपण करनेके बाद अब उसी उपनिषद्के याज्ञवल्क्य काण्डका अर्थ कहते हैं—

गुरुमुखसे दध्यङ् अथर्वण मुनिके आख्यानको सुनकर शिष्य अत्यन्त आश्चर्य चकित हुआ। बुद्धिमान शिष्यने प्रथम अध्यायसे चतुर्थ अध्याय तक सुनी हुई सम्पूर्ण वार्ताको ज्योंका त्यों गुरुको सुनाकर अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया। यह जानकर कि उपदेशको शिष्यने यथावत् ग्रहण कर लिया है गुरुदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए।

पुनः कुछ पूछने की इच्छासे अधिकारी शिष्यने कहा—"गुरुदेव! पहले आप कह आये हैं कि हयग्रीव भावको प्राप्त दध्यङ् मुनिने अश्विनी कुमारोंसे कहा—इसके आगे सम्पूर्ण ब्रह्म विद्याका उपदेश कोई ऋषि नहीं करेगा। केवल याज्ञवल्क्य नामक ऋषि ही निर्भय होकर सम्पूर्ण ब्रह्म विद्या का उपदेश करेंगे। तृतीय अध्यायमें भी आपने कहा है कि याज्ञवल्क्य मुनिने सूर्य भगवानसे वेद विद्या प्राप्त की। उस प्रसंगमें हम यह जानना चाहते हैं कि याज्ञवल्क्य ऋषिने किस शिष्य को, किस प्रकार ब्रह्म विद्याका उपदेश किया और वह ब्रह्म विद्या कैसी है? इन तीन प्रश्नों का उत्तर सुनने की हमारी प्रबल इच्छा है।

शिष्यके प्रश्नोंको सुनकर प्रसन्न चित्त गुरुदेव ने कहा—"याज्ञवल्क्य ऋषिने पहले

वैशम्पायन मुनिसे वेद विद्या का अध्यन की थी। परन्तु कुछ कालके बाद किसी कारण वश अप्रसन्न होकर वैशम्पायन मुनिने अपनी सम्पूर्ण विद्याको याज्ञवल्क्यसे वापस ले ली। तात्पर्य यह कि गुरु की अप्रसन्नतासे विद्या वन्ध्या लता की तरह निष्फल हो जाती है।

उस विद्याका परित्याग करके पुनः विद्या प्राप्तिके लिये अपने स्वासोंसे सम्पूर्ण वेदको प्रकट करनेवाले, वृष्टि द्वारा अन्न और प्रजाकी वृद्धि करनेवाले, सर्व प्राणियोंके हृदय देशमें स्थित हिरण्य गर्भ स्वरूप सूर्यभगवानको घोर तप द्वारा प्रसन्न करके याज्ञवल्क्यने उनसे ही चारों वेदों का अध्ययन किया। इसके बाद गुरु आज्ञानुसार गृहस्थाश्रम को धारण करके याज्ञवल्क्य ऋषि अधिकारी शिष्यों को चारों वेदों का अध्यापन करने लगे। चार दिशाओंमें प्रकाशमान सूर्यके समान अलग अलग चार वेद पढ़ने वाले चार प्रकारके शिष्य मण्डलसे सुशोभित याज्ञवल्क्य की कीर्ति चारों दिशाओंमें फैलने लगी।

आश्वलादिक ब्राह्मण याज्ञवल्क्यकी कीर्ति को देखकर ईर्ष्या करते थे और उसके प्रेमी जनक राजाको याज्ञवल्क्य की ओरसे विरत करना चाहते थे। जैसे किसी स्त्रीमें आसक्त पुरुषको उससे विरक्त करनेके लिये लोग उस स्त्रीकी निन्दा करते हैं तो भी वह कामी पुरुष उस स्त्रीको नहीं छोड़ता है, वैसे ही याज्ञवल्क्य की कीर्ति रूप स्त्रीमें आसक्त जनक राजाको आश्वलादि ब्राह्मण यह कहकर विरत किया चाहते थे कि यह याज्ञवल्क्य ऋषि किसी लौकिक गुरुसे विद्या को नहीं प्राप्त किया है, जब इसने सूर्य द्वारा विद्या प्राप्तकी है तब मुखके बिना ही यह शिष्योंको विद्या क्यों नहीं पढ़ाता है। यह तो हम लोगोंके समान ही पढ़ाता है। इसलिये सूर्यसे विद्या प्राप्त करनेकी वार्ता मिथ्या है। यदि इसने सूर्यके रथमें स्थित होकर विद्या पढ़ी है तो फिर अग्निमें स्थित होकर वेद क्यों नहीं पढ़ता-पढ़ाता है। तेज समूह सूर्यसे जब इसे विद्या प्राप्त हुई है तब अग्निके महान तेज समूहसे हम लोगोंको वेद विद्या क्यों नहीं प्राप्त होती है। सूर्यने शरीर धारण कर इसे वेद पढ़ाया है, यह भी सम्भव नहीं। क्योंकि सूर्य शरीरधारी होने पर अनित्य हो जायगा। अतः याज्ञवल्क्य ने सूर्यसे विद्या प्राप्त की है, इसमें कोई भी युक्ति सम्भव नहीं। गुरु सम्प्रदायसे रहित यह याज्ञवल्क्य वेदोंका शुद्ध पाठ भी नहीं कर सकता है। उपर्युक्त प्रकारसे अनेक निन्दापूर्ण वचनों को सुनकर भी जनक राजाकी याज्ञवल्क्यके प्रति आसक्ति कम नहीं होती थी।

क्षमाशील याज्ञवल्क्य मुनि आश्वलादि ब्राह्मणों द्वारा की हुई निन्दा और अपकीर्तिको जानते-सुनते हुए भी क्षुभित नहीं होते थे। आत्मज्ञानके प्रभावसे उल्टा प्रसन्न होते थे। और किसीको भी कुछ न कहकर अपना कार्य विधिवत किया करते थे।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य ऋषि की महान गौरव पूर्ण कीर्तिको सुनकर राजा जनककी इच्छा ऋषिराजको देखने की प्रबल हो उठी। इसके लिये एक युक्ति विचार कर उन्होंने अपने विश्वस्त मंत्रियोंको यह आदेश दिया कि हम

एक यज्ञ करना चाहते हैं, तुम सभी देशके ब्राह्मणोंको सादर निमन्त्रित कर बुलवा लो।

यथा समय आश्वलादि ब्राह्मण, जरत्कारु नामक ब्राह्मणका पुत्र आर्त्तभाग, लह्यका पुत्र भुज्यु, चन्द्रका पुत्र उपस्त, कुषीतक पुत्र कहोल, ब्रह्मनिष्ठा गार्गी, अरुण पुत्र उद्दालक, शकल पुत्र शाकल्य (विदग्ध) आदि ब्राह्मण यज्ञ भूमिमें उपस्थित हो गये। याज्ञवल्क्य ऋषि भी अपने शिष्यों सहित पधारे। इस प्रकार अनेक ब्राह्मण ऋषि मुनि अपने अपने शिष्यों सहित आये। राजा जनकने प्रचुर दान दक्षिणा देने की घोषणा करके सभी ब्राह्मणोंसे देव पूजन की आज्ञा प्राप्तकर यज्ञका कार्य प्रारम्भ किया।

इसी समय राजा जनकके मनमें एक विचार उत्पन्न हुआ कि इस समय हमारे यहाँ सदाचार युक्त, वेद-वेदान्तोंमें कुशल अनेक महात्मा ब्राह्मण उपस्थित हैं। इन सबमें सर्वश्रेष्ठ वेदवेत्ता ब्राह्मण कौन है यह जानना चाहिए। सभी ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मण का चुनाव करनेके लिये राजा जनक अपने मनमें युक्ति सोचने लगे—यदि मैं ब्राह्मण समाजमें से किसी एकसे यह पूछूँ कि सबमें अधिक विद्वान कौन है तो ये ब्राह्मण किसी अपने मित्रको ही विद्वान कहेंगे। क्योंकि जिस पुरुषका जिससे द्वेष होता है वह साक्षात् बृहस्पति हो तो भी वह द्वेषवान् पुरुष सदा उसकी निन्दा ही करता है। और जिसका जिससे स्नेह होता है वह एक अक्षर भी न जानता हो तो भी वह स्नेहवान् पुरुष उस मूढ़ पुरुषकी सदा स्तुति करेगा। अतः राग-द्वेष वाले किसी ब्राह्मणसे पूछने पर श्रेष्ठ विद्वानका निर्णय नहीं हो सकता है।

शंका—"जो ब्राह्मण राग-द्वेपसे उदासीन हो उससे पूछकर निर्णय कर लीजिए।"

समाधान—"शमदमादिक गुणोंसे अधिकता का ज्ञान होता है और क्रोधादिक दोषोंसे न्यूनता का ज्ञान होता है। इन गुण दोषोंका ज्ञान उदासीन पुरुषको नहीं रहता है। अतः उसके वचनसे यह निर्णय सम्भव नहीं।"

शंका—"उदासीन पुरुषके सामने ब्राह्मणोंके गुण दोषोंका वर्णन कीजिए, उसके बाद उदासीन पुरुष अपना निर्णय देगा।"

समाधान—"जिन गुण दोषोंको सुनकर वह उदासीन पुरुष निर्णय करेगा, उससे तो मैं स्वयं ही जान सकता हूँ अतः यह युक्ति निष्फल है।"

शंका—"प्रत्येक ब्राह्मणको अलग-अलग एकान्त स्थानमें बुलाकर यह पूछा जाय कि तुम श्रेष्ठ हो या नहीं?"

समाधान—"इस प्रकार तो सभी ब्राह्मण अपनेको सबसे अधिक कहेंगे। कोई भी अपने को छोटा नहीं कहेगा। अतः इस उपायसे भी निर्णय नहीं हो सकता।"

शंका—"गूढ़ प्रश्नोंको ब्राह्मणोंसे पूछा जाय। जो भली प्रकार उत्तर दे उसे श्रेष्ठ समझा जाय।"

समाधान—"इससे तो उल्टा हमारी हानि होगी। क्योंकि इस पर क्रुद्ध होकर ब्राह्मण शाप भी दे सकते हैं। अतः यह उपाय भी निष्फल है।"

अन्तमें केवल यही उपाय अनुकूल प्रतीत होता है कि इन सभी ब्राह्मणोंमें परस्पर विवाद करा दिया जाय। इससे निश्चय ही श्रेष्ठ ब्राह्मण का निर्णय हो जायगा। परन्तु विवाद कराने की भी उपाय सोचनी चाहिए। यदि मैं कहूँ—हे ब्राह्मणो! आप लोग परस्पर विवाद करो। तो भी इनके क्रुद्ध होकर शाप देनेका भय है। इसलिये ये स्वतः ही विवाद करें ऐसी कोई युक्ति करनी चाहिए। इसके लिये धनसे बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं है। धन ही सर्व विवाद का कारण है।

अतः इन ब्राह्मणोंके बीचमें प्रचुर धन रखना चाहिए, उस धनके लिये ये ब्राह्मण स्वतः परस्पर विवाद करेंगे। तब मुझे सर्वश्रेष्ठ विद्वान कौन है, इसका निर्णय हो जायगा।

विवादका कारण धन

विषय भोगका साधन यह धन किसके चित्तको क्षुब्ध नहीं कर सकता? जब ब्रह्मवेत्ता सन्यासियोंके चित्तको भी यह धन क्षुब्ध कर देता है तब साधारण गृहस्थोंके चित्तकी क्या गणना है। लोभके कारण काम, क्रोध, मोह आदि भी इस धनसे ही उत्पन्न होते हैं।

अब अन्वय व्यतिरेक द्वारा धनको काम, क्रोध, मोह आदिका कारण सिद्ध करते हैं—

धनके विद्यमान रहने पर काम क्रोधकी विद्यमानताको अन्वय कहते हैं। धनके अभाव होने पर काम क्रोधादिके अभावको व्यतिरेक कहते हैं।

पहले व्यतिरेकको दिखलाते हैं—भूखसे पीड़ित निर्धन दरिद्री पुरुषको काम जन्य सुख नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि निर्धन पुरुष विचार करता है कि जब खुद मेरे ही खाने का ठिकाना नहीं तब फिर मैं स्त्रीको कहाँसे भोजन दूँगा। अतः विवाह नहीं करना चाहिये। कृमियुक्त दुर्गन्धित मुर्देके समान निर्धन पुरुषको स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब परिवारके लोग त्याग देते हैं।

जैसे सिद्धाञ्जन पृथ्वीमें स्थित धनके दर्शन का साधन है वैसे ही यह दरिद्रतारूपी सिद्धाञ्जन भी सर्व धर्मोंके दर्शनमें साधन होता है। क्योंकि दरिद्री पुरुष स्त्री आदि भोग्य पदार्थोंकी कामना नहीं करता, केवल क्षुधातुर होकर अन्न मात्रकी इच्छा करता है।

अथवा, जैसे विवेकी पुरुष सबको आत्मा रूप जानकर क्रोध नहीं करता है तैसे यह दरिद्री पुरुष भी राजा तथा धर्मराजके भयसे किसी प्राणी पर क्रोध नहीं करता है।

अथवा, वह निर्धन पुरुष यह सोचकर कि पिछले जन्मके पाप कर्मके फलस्वरूप मुझे यह कष्टरूप दरिद्रता प्राप्त हुई है। यदि पुनः पाप कर्म करूँगा तो जन्मान्तरमें भी मुझे घोर दरिद्रताका दुःख प्राप्त होगा, पाप कर्ममें नहीं प्रवृत्त होता है।

जब निर्धन पुरुष किंचितमात्र भी धर्मको न जानता हुआ भी पाप कर्मोंको नहीं करता है तब शास्त्र प्रमाणसे धर्मको जानता हुआ दरिद्री पुरुष पाप कर्मोंको कैसे कर सकता है?

दरिद्री पुरुष राजाके भयसे दूसरेका धन और दूसरेके स्त्रीकी इच्छा नहीं करता। क्षुधासे पीड़ित होकर थोड़ा-सा अन्न पाकर ही अत्यन्त

हो जाता है। अतः दरिद्री पुरुषमें लोभ भी नहीं है।

दोषोंका अभाव रूप व्यतिरेक दिखाकर अब धनके विद्यमान होने पर कामादिक दोषोंकी प्राप्तिरूप अन्वय दिखलाते हैं—

धनके मदसे अन्धा होकर यह धनी पुरुष अपने बलसे राजा, गुरु तथा देवताओंकी अवज्ञा करता है। जिसके कारण यह धनी पुरुष लोक परलोकमें अनन्त दुःखोंको प्राप्त होता है। यह धनी पुरुष जब पर-स्त्री आदिक पदार्थोंमें मोहित होता है तब उसकी कीर्ति लोकमें नष्ट हो जाती है। सभी उसको धिक्कार करते हैं और मरने के बाद भी वह नरक दुःख भोगता है।

जैसे प्रज्वलित अग्नि घृत और काष्ठोंसे तृप्त नहीं होती वैसे ही यह धनी पुरुष धनादि पदार्थोंकी प्राप्तिसे कभी भी तृप्त नहीं होता है। किन्तु अधिकाधिक पदार्थोंके प्राप्तिकी सदा इच्छा करता है। पूर्व पुण्यके प्रभावसे यदि इसे सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य भी मिल जाय तो भी पुनः स्वर्गलोकके राज्यकी कामना करता है। अतः धनी पुरुषके लोभकी शान्ति नहीं होती, लोभवश होकर यह पर स्त्री और पर धनका हरण करता है, अतः सबके द्वारा निन्दित है। ऐसे घृणित निन्दित कर्मको करके भी वह धनी पुरुष निर्लज्जकी तरह दूसरों पर हँसता है। अतः ऐसा पुरुष सर्वजीवोंमें अधम है।

धन द्वारा मोहित हुआ यह धनी पुरुष अपने हित-अहितको नहीं जानता है। यह अपने हितकारी माता, पिता, स्त्री, पुत्र, गुरु, वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको मन, वाणी, शरीर द्वारा हनन करता है। इस प्रकार अधर्म, कुकर्म द्वारा धनी पुरुष काम क्रोधादि सभी दोषोंको प्राप्त कर लेता है।

यह सिद्ध हुआ कि धनसे ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंको भी जब धन से काम, क्रोध प्राप्त हो सकते हैं तब बहिर्मुख अज्ञानी जीवोंकी क्या कथा है? इसलिये सर्व श्रेष्ठ विद्वानके निर्णयके लिये इन सभी ब्राह्मणों के बीच प्रचुर धन रखना चाहिए। इनमें से अधिक विद्वान जो होगा वह धनको जब ले जायगा तब ये ब्राह्मण क्रोधसे व्याकुल होकर स्वतः उससे विवाद करेंगे।

शंका—धन द्वारा ब्राह्मणोंमें क्षोभ उत्पन्न करेंगे तो आपको पाप लगेगा।

समाधान—नीतिपूर्वक धर्म राजाओंके पापका साधन नहीं बल्कि सुखका साधन है। क्योंकि ब्राह्मणोंके क्षोभमें मैं कारण नहीं, किन्तु उनके लोभादिक दोष ही कारण हैं। अतः इस उपायसे मुझे पापकी सम्भावना नहीं।

शंका—सर्वश्रेष्ठ जानकर जिस ब्राह्मणको धन देंगे वह ब्राह्मण कदाचित् धनसे पापकर्म करेगा तो आपको भी परम्परासे पापकी प्राप्ति होगी।

समाधान—सर्वश्रेष्ठ विद्वान उस धनसे पाप कर्म नहीं करेगा। क्योंकि शमदमादि गुणोंसे युक्त ब्राह्मण ही सबसे श्रेष्ठ होता है। ये शमदमादि गुण जहाँ रहते हैं वहाँ काम क्रोधादिक दोषोंकी उत्पत्ति नहीं होती। और

काम क्रोधादिक दोषोंके विना पाप कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती है।

गुरुदेवने कहा—"हे शिष्य! इस प्रकार विचार करके जनक राजा पुनः विचार करते हैं—इस ब्राह्मण समाजमें याज्ञवल्क्य ऋषि ही सर्वश्रेष्ठ विद्वान मुझे प्रतीत होते हैं।

शंका—सम्भाषणके पूर्व ही आपने याज्ञवल्क्य सर्वश्रेष्ठ हैं, यह कैसे जान लिया?

समाधान—काम, क्रोध, लोभ, मोह, गर्व इत्यादिक दोषोंका जिसमें अभाव है वह विद्वान ही होता है। यह लक्षण याज्ञवल्क्य ऋषिमें ही घटता है। इतनी विद्या प्राप्त होने पर भी गर्व रहित जड़ पुरुषकी भाँति मौन धारण कर बैठे हैं।

शंका—यदि ये याज्ञवल्क्य ऋषि राग द्वेष से रहित हैं तो फिर ये आपके धनको कैसे ग्रहण करेंगे। क्योंकि रागके बिना धनादिका ग्रहण नहीं होता है।

समाधान—याज्ञवल्क्य अपने भोगके लिये नहीं बल्कि जीवोंके उपकारके लिये धनको ग्रहण करके इन ब्राह्मणोंको पराजित करेंगे। ऋषिका धन और शरीर केवल उपकारके लिये है। अनुग्रह करके ने हमारी ओर प्रसन्न दृष्टि से देख रहे हैं।

शंका—याज्ञवल्क्यमें रागद्वेष नहीं है यह आपने कैसे जान लिया।

समाधान—याज्ञवल्क्य ऋषिको जीतनेकी इच्छासे ये अहंकारी ब्राह्मण परस्पर हँसते हुए अपशब्दोंका कथन करते हैं। उनके वचनोंको यह ऋषि अज्ञानी पुरुषकी तरह सुनते हैं, कोई उत्तर नहीं देते। इससे ज्ञात होता है कि इनमें क्षोभ नहीं है और क्षोभरहित पुरुषमें ही राग द्वेषादि नहीं होते हैं।

गुरुदेवने कहा—"हे शिष्य! इस प्रकार बहुत विचार करनेके बाद एक हजार गौओंके प्रत्येक सींगोंमें बीस बीस स्वर्ण निष्क बांधकर शास्त्र रीतिसे सभामें उपस्थित कर (नब्बे तोला परिमाण स्वर्णको एक निष्क कहते हैं) राजा जनकने सभी ब्राह्मणोंको सम्बोधित कर कहा—"आप सबमें जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो वह इन गौओंको अपने आश्रममें ले जाय।"

जनकके वचनको सुनकर सभी नीचे मुख करके चुप हो गये। विद्याबलसे सभी ब्राह्मणोंको जीतनेमें कोई भी अपनेको समर्थ नहीं समझा। इस प्रकार सभी ब्राह्मणोंको चुप देखकर याज्ञवल्क्यने सामवेद पाठी शिष्यसे कहा—"इन सभी गौओंको हमारे घर तुम ले जाओ और इन सभी ब्राह्मणोंसे उच्च स्वरमें कह दो कि सबसे अधिक ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य मुनि सर्व ब्राह्मणोंकी गौओंको ले जा रहे हैं।"

शिष्यने याज्ञवल्क्यके आदेशका पालन किया। तत्पश्चात् वे सभी ब्राह्मण याज्ञवल्क्य पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और जनक राजा परम आनन्दको प्राप्त हुए। तात्पर्य यह कि वह याज्ञवल्क्य मुनि एक ही कालमें ब्राह्मणोंके दुःखके कारण और जनकको सुखके कारण हुए। इससे सिद्ध होता है कि सांख्य शास्त्रवाले शब्द स्पर्शादिक विषयोंमें ही सुख-दुःख मानते हैं, ऐसा तुम स्वीकार न करना। किन्तु अपने मनमें सुख-दुःख रहता है यही पक्ष मान्य है।

क्योंकि स्नेह युक्त चित्तमें सुख उत्पन्न होता है जैसे जनक राजाको सुख हुआ है और यदि चित्त द्वेष युक्त रहता है तो उसमें दुःख उत्पन्न होता है जैसे ब्राह्मणोंको दुःख हुआ। यदि विषयका ही सुख-दुःख धर्म हो तो सभी लोगोंको उस विषयसे सुख अथवा दुःख किसी एककी ही प्राप्ति होनी चाहिए। किसीको दुःख किसीको सुख यह विषमता सम्भव नहीं। परन्तु यह विषमता सबको अनुभव होती है। अतः विषयका धर्म सुख-दुःख नहीं, किन्तु बाह्य कारणके विना ही यह वस्तु सुन्दर है, यह असुन्दर है इस प्रकारकी कल्पनासे मनमें सुख-दुःख उत्पन्न होता है। जैसे निर्जन वनमें वीतराग पुरुषको अपने मनसे आनन्द होता है और उसी निर्जन वनमें रागी पुरुषको अपने मनसे ही दुःखकी प्राप्ति होती है। किसी विषयसे उस वनमें स्थित पुरुषोंको सुख-दुःखकी प्राप्ति नहीं होती। अतः मन ही सुख-दुःखका आश्रय है।

गुरुदेवने कहा—"हे शिष्य! गौओंको याज्ञवल्क्यके घर जाते हुए देखकर ब्राह्मण क्रोधसे कांपने लगे। अनेक लाल लाल आंखें करके दाँत पीसते हुए उन्मत्तकी तरह नाना प्रकारके अपशब्दोंका प्रयोग करने लगे। जैसे पूर्णिमाको प्राप्तकर समुद्रमें क्षोभ होता है वैसे ही ब्राह्मण समाज क्षुभित होकर कहने लगा— "हम सभी ब्राह्मणोंको यह याज्ञवल्क्य अकेले ही उल्लंघन कर रहा है। हमें, हमारे कुल और विद्याको धिक्कार है।"

हे शिष्य सभी ब्राह्मणोंकी दशाको देखकर आश्वल ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और याज्ञवल्क्यके समीप जाकर उच्च स्वरसे बोला— गुरु सम्प्रदायसे रहित दुराचारी याज्ञवल्क्य! हम सब ब्राह्मणोंके मध्यमें क्या तू ही एक सबसे श्रेष्ठ विद्वान है? विद्यामें तो तू अधिक है नहीं केवल लोभ और गर्व तुम्हारेमें हमसे ज्यादा है। हम सब ब्राह्मण शम, दमादिक साधनोंसे युक्त हिरण्यगर्भके समान हैं। तर्करूपी मननकी सिद्धिके लिये हम चौदह विद्याओंको जानते हैं।" (ऋग्, यजुष्, साम, अथर्वण ये चार वेद और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, पिंगल ये छः वेदांग और मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र यही चौदह विद्याएँ हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थशास्त्र इन चारको मिलाकर अष्टादश विद्यायें हो जाती हैं।) आश्वलायनने आगे कहा—"तुझ जैसा ही कोई निर्लज्ज अपनेको पंडित कह सकता है। गर्व लोभ और अनम्रतासे तू ही ब्राह्मणोंको क्रुद्ध करा रहा है।"

हे शिष्य, आश्वल ब्राह्मणके कर्णभेदी कटुवाक्योंको सुनकर याज्ञवल्क्य किंचितमात्र भी क्षुभित नहीं हुए।। हँसते हुए ऋषिने कहा— "हे आश्वल! इस सभामें जो जो ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता हैं उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।।"

आश्वलने कड़ककर पूछा—"यदि तुम्हारी ब्राह्मणोंमें ऐसी ही श्रद्धा है तो फिर तुमने ब्राह्मणोंकी गौओंका हरण क्यों किया है?"

याज्ञवल्क्य बोले—"स्वर्णयुक्त गौओंको देखकर हमारी अभिलाषा हुई, इसलिए हमने उनका हरण किया है। इसमें ब्राह्मण क्यों क्रुद्ध हो रहे हैं। यदि मैं इन ब्राह्मणोंकी गौएँ ले

जाता तब इनका क्रोध करना उचित था। परन्तु हमने इनकी गौ लिया नहीं है। राजा जनक देनेवाले हैं मैं लेनेवाला हूँ। इसमें ब्राह्मणोंके क्रोधका क्या कारण है? विचारकर कहो। राजा बहुत धनवान हैं, तुम्हें यदि धन लेनेकी इच्छा हो तो उनसे धन लो हम रोकते नहीं हैं। अतः मुझपर क्रोध करना आप सबको उचित नहीं है।"

गुरुने कहा—हे शिष्य! याज्ञवल्क्यका वचन आश्वलादि ब्राह्मणोंके क्रोधाग्निमें घृतका कार्य किया। विवाद करके नीचा दिखलानेके लिये आश्वलने अतिमोक्ष और संपद विषयक प्रश्नोंको याज्ञवल्क्यसे पूछा। कर्मी पुरुषोंके वाक्यादिक अध्यात्मोंका अग्नि आदि अधिदैवों-के साथ परिच्छेद है। उस परिच्छेद रूप मृत्युके निवृत्तिका साधन वाकादिकोंका अग्नि आदिकों-के साथ अभेद ज्ञानको मोक्ष कहते हैं। और उस अभेद ज्ञान द्वारा वाकादिक अध्यात्मोंको जो अग्नि आदिक अधिदैवकी प्राप्तिरूप फल उसको अतिमोक्ष कहते हैं। उस अतिमोक्ष रूप फलको विषय करनेवाले प्रश्नोंको भी अतिमोक्ष कहते हैं। और निकृष्ट वस्तुमें किंचितमात्र समान धर्मको लेकर उत्कृष्ट दृष्टिको सम्पद कहते हैं जैसे-श्राद्धके अन्नमें अमृत दृष्टि और ब्राह्मणमें विष्णु दृष्टि। उस संपदको विषय करनेवाले प्रश्नोंको भी संपद कहते हैं।

आश्वल ब्राह्मणने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया—"ऋत्विग् आदिक साधनोंसे सम्पन्न होकर भी अग्निहोत्र आदि कर्म परिच्छेदभाव जन्य प्रमादरूप मृत्युसे व्याप्त हैं। यद्यपि शास्त्रोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे अशास्त्रीय इन्द्रिय आदिकोंकी वृत्तियाँ निवृत्त होती हैं तथापि परिच्छिन्न भाव ज्ञानके विना निवृत्त नहीं होता, इसलिये किस ज्ञानसे यजमान परिच्छिन्न भाव-का परित्याग करके अपरिछिन्न भावरूप फलको प्राप्त होता है?"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"कर्मकर्ता यजमानकी जो अध्यात्म वाक् है और उस वाक्का अधिदैव रूप जो अग्नि है और उस वाक्का अधियज्ञ रूप जो होता है इन तीनोंके अभेदको विषय करनेवाली जो अधिदैव अग्नि रूप यजमानका वाक् मैं हूँ इस प्रकार होतामें दृष्टि होती है, यह दृष्टि यजमानके प्रथम परिच्छेद जन्य मृत्युके तरणका साधन हैं।

गुरुदेवने कहा—हे शिष्य! यहाँ दृष्टि शब्दसे सर्वत्र ज्ञानका और परिच्छेद शब्दसे भेदका ग्रहण करना। ऋगवेदके जाननेवाले ब्राह्मणको होता कहते हैं, यजुर्वेद जाननेवालेको अध्वर्यु, सामवेद जाननेवालेको उद्गाता कहते हैं। ऋग्, यजुष्, साम इन तीनों वेदोंको जाननेवाले ब्राह्मणको ब्रह्मा कहते हैं। ये चार ऋत्विक् यज्ञके करनेवाले होते हैं और यज्ञके करनेवाले क्षत्रियादिकोंको यजमान कहते हैं।

आश्वल ब्राह्मणने पुनः प्रश्न किया—"हे याज्ञवल्क्य! दिन रात्रिरूप कालसे सम्पूर्ण पदार्थ परिच्छिन्न हो रहे हैं। इस परिच्छिन्न भावकी निवृत्ति किस ज्ञान द्वारा होती है?"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"यजमानका अध्यात्म चक्षु और इस चक्षुका अधिदैव रूप सूर्य तथा अधियज्ञ रूप अध्वर्यु इन तीनोंके

विषय करनेवाली अधिदैव सूर्यरूप यजमानकी चक्षु मैं हूँ इस प्रकार अध्वर्युकी दृष्टि यजमानके द्वितीय परिच्छेदको निवृत्त करती है।"

आश्वलने पूछा—"शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष रूप कालसे सम्पूर्ण पदार्थ परिच्छिन्न हो रहे हैं। इस परिच्छिन्न भावकी निवृत्ति किस ज्ञान द्वारा होती है?"

याज्ञवल्क्यने कहा—"यजमानका अध्यात्म रूप प्राण और उस प्राणका अधिदैव रूप वायु तथा अधियज्ञ रूप उद्गाता इन तीनोंके अभेदको विषय करनेवाली अधिदैव वायुरूप यजमानका प्राण मैं हूँ इस प्रकारकी उद्गाताकी दृष्टि यजमानके तृतीय परिच्छेदको निवृत्त करती है।"

आश्वलने पुनः पूछा—"इस स्थूल शरीरका परित्याग करके निराश्रय आकाशमें यजमान किस साधन द्वारा गमन करता है?"

याज्ञवल्क्य बोले—"यजमानका अध्यात्म मन और उस मनका अधिदैव रूप चन्द्रमा और अधियज्ञ रूप ब्रह्मा इन तीनोंके अभेदको विषय करनेवाला अधिदैव चन्द्रमा रूप यजमानका मन मैं हूँ। इस प्रकारकी ब्रह्माकी दृष्टिके प्रभावसे यजमान आकाशमें गमन करता है।"

गुरुदेवने कहा—हे शिष्य! इस प्रकार अतिमोक्ष सम्बन्धी चार प्रश्नोंको पूछ लेनेके बाद आश्वल पुनः संपद रूप प्रश्नोंको पूछने लगा।

आश्वल बोला—"हे याज्ञवल्क्य! होताके संपद् रूप ज्ञान द्वारा यजमानको किस फलकी प्राप्ति होती है।

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"याज्या, पुरोनुवाक्या, शस्या इन तीनों ऋचाओंमें त्रित्व संख्या रहती है। तीन लोकोंमें भी त्रित्व संख्या रहती है। उस त्रित्व संख्या रूप समान धर्मको ग्रहण करके जब होता इन याज्यादिक तीन ऋचाओंको तीन लोक रूप करके देखता है तब उस होता के संपदरूप ज्ञानसे यजमानको तीन लोकोंका जय रूप फल प्राप्त होता है। यहाँ पर 'यज' इस प्रकारकी प्रेरणाके बाद पठन की हुई ऋचाको याज्या, 'ब्रूहि' इस प्रकारकी प्रेरणाके बाद पठनकी हुई ऋचाको पुरोनुवाक्या तथा एक श्वाससे पठनकी हुई ऋचाको शस्या कहते हैं।"

आश्वलने पूछा—"अध्वर्युके सम्पदरूप ज्ञानसे यजमानको किस फलकी प्राप्ति होती है।"

याज्ञवल्क्य बोले—"अग्निमें उध्वर्युने जिन आहुतियोंका हवन किया वे उज्ज्वलत्व, सशब्दत्व, अधोगामित्व रूपसे तीन प्रकारकी हैं। और जैसे आहुतियोंमें उज्ज्वलत्वादिक धर्म रहते हैं तैसे देवलोक पितृलोक मनुष्य लोक इन तीन लोकोंमें भी उज्ज्वलत्वादिक धर्म रहते हैं। इन समान धर्मोंको ग्रहण करके जब वह उध्वर्यु उन आहुतियोंको देवलोकादि रूपसे देखता है तब उस उध्वर्युके संपद ज्ञानसे यजमानको देवलोक, पितृलोक, मनुष्यलोकका जयरूप फल प्राप्तहोता है।"

आश्वल—"ब्रह्माके सम्पदूरूप ज्ञानसे यजमानको किस फलकी प्राप्ति होती है?"

याज्ञवल्क्य—"वृत्तिरूपसे मन अनन्त है और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं। उस अनन्तरूप सामान्य धर्मको ग्रहण करके जब ब्रह्मा मनको

विश्वेदेवता रूप करके चिन्तन करते हैं तब उस ब्रह्माके सम्पद्ज्ञानसे यजमानको अनन्तफल की प्राप्ति होती है।"

आश्वलने पुनः प्रश्न किया—"हे याज्ञ-वल्क्य उद्गाताके संपद रूप ज्ञानसे यजमानको किस फलकी प्राप्ति होती है?"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"उद्गाता द्वारा गायनकी हुई याज्या, पुरोनुवाक्या, शस्या ऋचाओंको जब उद्गाता प्राण अपान, व्यान, रूप करके देखता है तब उस उद्गाताके सम्पद् ज्ञानसे यजमानको भूः, भुवः, स्वः, इन तीन लोकोंका जयरूप फल प्राप्त होता है।"

गुरुदेव बोले—हे शिष्य! याज्ञवल्क्य ऋषि से अपने सभी प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त कर उन्हें जीतनेमें अपनेको असमर्थ मान आश्वल ब्राह्मण ने दूसरेसे विवाद कराने के लिये आर्तभाग ब्राह्मणकी ओर देखा। आश्वलके मनोभावको समझ कर विवादसे पराजित करने की इच्छासे आर्तभाग याज्ञवल्क्य ऋषिसे बोला—"हे ऋषि! पहले तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो! ग्रह और अतिग्रह कितने और कौन-कौन हैं?"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"हे आर्तभाग! श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, मन, वाक्, हस्त ये अष्ट इन्द्रियाँ जीवोंको बाँधती हैं इसलिये इनको ग्रह कहते हैं। और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इच्छा, नाम, क्रिया क्रमशः इन आठ विषयोंसे युक्त इन्द्रियाँ ही जीवके बन्धनमें हेतु हैं, इसलिये शब्दादिक आठ विषयोंको अतिग्रह कहते हैं। जैसे समुद्रमें पुरुषको पाकर मकर आदि ग्रह भक्षण कर लेते हैं और उन मकरोंको उनसे बलवान् तिमिंगल (ह्वेल नामक मछली) आदि अतिग्रह भक्षण कर जाते हैं। तैसे संसार रूप समुद्रमें अज्ञानी जीवोंको श्रोत्रादिक इन्द्रिय रूप ग्रह भक्षण करते हैं। भाव यह कि इन्द्रियाँ अपने अधीन करती हैं, यही उनका भक्षण है। जैसे पिशाचादिक ग्रहसे युक्त पुरुष अपने हित-अहितको नहीं जानता तैसे श्रोत्रादिक इन्द्रिय ग्रहोंके अधीन होकर यह जीव अपने मोक्ष रूप हित और बन्धनरूप अहितको नहीं देखता है। जैसे किसी बलवान पुरुष द्वारा बँधा हुआ मकर यद्यपि किसीको मारने की इच्छा नहीं करता तथापि उस बलवान पुरुष रूप अतिग्रह द्वारा प्रेरित होकर वह मकर पुरुषको मारनेमें प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार श्रोत्रादिक इन्द्रिय रूप ग्रह यद्यपि जीवोंके बन्धनकी इच्छा नहीं करते तथापि शब्दादिक विषयरूप अतिग्रहों के अधीन होकर श्रोत्र इन्द्रिय आदि ग्रह जीवके बन्धनमें प्रवृत्त होते हैं।

शिष्यने यहाँ शंका किया—"गुरुदेव, आठ ग्रह और आठ अतिग्रह सम्भव नहीं। क्योंकि शास्त्रोंमें पंच कर्मेन्द्रिय पंच ज्ञानेन्द्रिय एक अन्तःकरण ग्यारह इन्द्रियाँ कहा है। और ग्यारह ही उनके विषय हैं। आठ मानने पर शास्त्रका विरोध है।"

गुरुदेवने कहा—यद्यपि इन्द्रिय और विषय ग्यारह ही हैं तथापि श्रोत्रादिक आठ इन्द्रियों और विषयोंकी प्रधानताको ग्रहण करके ही याज्ञवल्क्य ऋषिने आठको ही अंगीकार किया है। क्योंकि उपस्थ इन्द्रियका त्वक्-इन्द्रियमें और पायु-पाद इन्द्रियका हस्त इन्द्रियमें अन्त-र्भाव हो जाता है।

आर्तभागने पुनः प्रश्न किया—"हिरण्यगर्भसे लेकर जितने भी जड़, अजड़ प्रपंच हैं सबको यह ग्रह-अतिग्रह रूप मृत्यु भक्षण करती है अतः सम्पूर्ण जगत ग्रह-अतिग्रह रूप मृत्युका अन्न है। और वह ग्रह-अतिग्रह रूप मृत्यु जिस देवताका अन्न है वह देवता यहाँ कौन है? हमारा भाव यह है कि ग्रह-अतिग्रह रूप मृत्युको भक्षण करनेवाला कोई दूसरा है अथवा नहीं है? यदि कहो कि भक्षण करनेवाला दूसरा है तो वह भक्षण कर्ता नित्य है अथवा अनित्य है? यदि नित्य कहोगे तो द्वैतापत्ति होगी और अनित्य कहोगे तो दूसरेको भक्षण करनेवाला तीसरा और तीसरेका भक्षण कर्ता चौथा मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोपकी प्राप्ति होगी। और यदि यह कहो कि ग्रह-अतिग्रह रूप मृत्युका भक्षण करनेवाला कोई नहीं है तो मोक्ष प्राप्तिके लिए किये जानेवाले नाना प्रकारके यत्न सब व्यर्थ हो जायेंगे।"

याज्ञवल्क्य ऋषिने उत्तर दिया—"हे आर्तभाग! जैसे सब पदार्थोंको भक्षण करनेवाले अग्निको जल भक्षण करता है तैसे ही सर्व जगतको भक्षण करनेवाले ग्रह-अतिग्रह रूप मृत्युको आत्मसाक्षात्कार भक्षण करता है। इसलिए मोक्ष प्राप्तिके लिए किया गया यत्न व्यर्थ नहीं। जैसे निर्मली अथवा रीठा जलकी मृत्तिकाको निवृत्तकर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है, उसकी निवृत्तिके लिए किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं। तैसे महा वाक्यसे उत्पन्न अन्तःकरणकी वृत्ति रूप ज्ञान कार्य सहित अज्ञानकी निवृत्ति करके स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। उस ज्ञान की निवृत्तिमें किसी दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं होती। अतः द्वैतापत्ति तथा अनवस्था दोप नहीं प्राप्त होता।"

आर्तभागने प्रश्न किया—"जिस समय ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्थूल शरीरका परित्याग करता है उस समय उसके प्राण अज्ञानी जीवोंके प्राणों की तरह लोकान्तरमें जाते हैं अथवा नहीं। यदि यह कहो कि अज्ञानी जीवोंकी तरह जाते हैं तो उन्हें पुनः शरीरकी प्राप्ति होगी। और यदि कहो कि ब्रह्मवेत्ताके प्राण लोकान्तरमें नहीं जाते तो शरीरमें प्राणोंके रहते मृत्यु नहीं होनी चाहिए। परन्तु ब्रह्मवेत्ताकी भी प्रारब्ध क्षीण होनेपर मृत्यु देखी जाती है।"

याज्ञवल्क्य ऋषिने कहा—"प्रारब्ध कर्म क्षय होनेपर ब्रह्मवेत्ता पुरुषका प्राण शरीरके बाहर नहीं जाता किन्तु शरीरके भीतर ही लय भाव को प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि अविद्या, काम, कर्म ये तीनों प्राणके लोकान्तर गमनमें कारण हैं। ये तीनों ब्रह्मवेत्ता पुरुषके आत्मज्ञान द्वारा निवृत्त हो चुके रहते हैं इसलिए उसके प्राणोंका लोकान्तर गमन नहीं होता। स्थूल शरीरके साथ प्राणोंके सम्बन्धकी निवृत्ति ही मरण है, यह सम्बन्ध निवृत्ति प्राणोंके लय होनेपर भी सम्भव है! अतः ब्रह्मवेत्ताके शरीर में मरण व्यवहार सम्भव नहीं है।

शंका—"ब्रह्मवेत्ताके प्राण बाहर न जाकर भीतर ही लय होते हैं यह कैसे जाना जा सकता है?"

समाधान—"अत्यन्त कृश शरीर भी मरनेके

बाद सूजकर अत्यन्त स्थूल हो जाता है। उस स्थूलताका कारण धनंजय नामक प्राण ही है। अतः मरनेके बाद सम्पूर्ण शरीरकी विलक्षण स्थूलतासे ही प्राणोंके लयका अनुमान किया जा सकता है।"

शंका—"ब्रह्मवेत्ताके प्राण लोकान्तरमें नहीं जाते हैं, इसमें क्या प्रमाण है?"

समाधान—साक्षात् श्रुति प्रमाण है—

अस्यपरिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः
पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तंगच्छन्ति।

जैसे नदियाँ समुद्रमें लय होती हैं तैसे ब्रह्म वेत्ता पुरुषके ग्यारह इन्द्रिय पंचप्राण ये सोलह कला अधिष्ठान पुरुषमें प्रतीत होते हैं और उसी अधिष्ठान पुरुषमें लयको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये ब्रह्म वेत्ताके प्राण लोकान्तर में गमन नहीं करते! यदि ब्रह्म वेत्ताके प्राण भी लोकान्तरमें गमन करेंगें तो अज्ञानी जीवों की तरह इस ब्रह्म वेत्ता पुरुषको भी दूसरे शरीर की प्राप्ति होगी। बार बार शरीर धारण करने वालेका मोक्ष सम्भव नहीं।"

आर्त्तभागने पूछा—'ब्रह्म वेत्ता पुरुषके विदेह मोक्ष कालमें उसको कौन वस्तु परित्याग नहीं करता। हमारा भाव यह है कि वहाँ जीवन्मुक्तिकी तरह सावशेष द्वैतका लय होता है अथवा निरवशेष द्वैतका लय होता है!"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—अन्य सभी पदार्थ मुक्त पुरुषको परित्याग करते हैं परन्तु वामदेवादिक नाम उनका परित्याग नहीं करते। यद्यपि वामदेवादिक मुक्त पुरुष नाम, रूप, क्रिया स्वरूप भेद प्रपंचसे मुक्त हुए हैं, इसलिये वास्तव में उन मुक्त पुरुषोंमें वामदेवादि नामोंका सम्बन्ध सम्भव नहीं, तथापि लौकिक पुरुष इस कालमें उन मुक्त पुरुषोंके नाम वामदेवादिकको ग्रहण करते हैं। इसलिये लौकिक पुरुषोंकी दृष्टिसे मोक्ष अवस्थामें मुक्त पुरुषोंके वामदेवादिक नाम रहते हैं। और उन मुक्त पुरुषोंके नाम अनन्त हैं और विश्वेदेवता भी अनन्त है। अतः जो पुरुष इस अनन्त नामोंमें अनन्त विश्वेदेवताओं का अभेद चिंतन करता है उसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है।

आर्त्तभागने पुनः याज्ञवल्क्यसे पूछा—"जिस समय इन जीवोंको मरण अवस्था प्राप्त होती है उस समय जीवोंका आध्यात्म रूप वाक् इन्द्रिय, प्राण, नेत्रइन्द्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय, मन, शरीर, शरीरस्थ आकाश, लोम, केश, रुधिर आदि क्रमशः अधिदैव रूप अग्नि, वायु, सूर्य, दिशा, चन्द्रमा, पृथ्वी, बाह्य आकाश, औषधियों, वनस्पतियों, जल रूपको प्राप्त होते हैं। अन्य शेष अध्यात्म रूप इन्द्रियादिकोंका भी अपने अधिदैव रूपमें लय हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियोंके लय हो जाने पर यह अज्ञानी जीव किसके आश्रित होकर परलोक में सुख दुःख भोगता है?"

आर्त्तभागके प्रश्नको सुनकर याज्ञवल्क्य ऋषि इस प्रश्नको गुह्य मान इसका उत्तर सभा में नहीं दिए। किन्तु आर्तभागको एकान्तमें लेजाकर उसको उत्तर बतला दिए।

शंका—"गुरुदेव! यह प्रश्नतो कर्म विषयक है। ब्रह्म विद्याका उपदेश याज्ञवल्क्य ऋषि सभामें देने वाले हैं। परन्तु इस प्रश्नका उत्तर

न देनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म विद्यासे कर्म विषयक प्रश्न अधिक गुह्य है।"

समाधान—"ऋषिका अभिप्राय यह नहीं कि कर्म विद्या गुह्य है। एकान्तमें उत्तर देने का रहस्य यह है कि मरनेके बाद अज्ञानी जीव अपने पुण्य पाप कर्मोंके अनुसार परलोकमें सुख दुःख भोगते हैं यह वार्ता बालकसे लेकर वृद्ध तक सभी जानते हैं। इस प्रसिद्ध अर्थ पर यदि सभामें वार्ता करते तो दोनोंके प्रश्नोत्तरको तुच्छता प्राप्त होती। सभी विद्वान ब्राह्मण आर्त्तभागकी अज्ञानताका उपहास करते। जैसे भोजनसे क्षुधाकी निवृत्ति होती है यह सभी जानते हैं। यदि विद्वान पुरुषोंकी सभामें जाकर कोई पूछे कि क्षुधा शान्ति कैसे होती है? और दूसरा कोई उत्तर दे कि भोजन करनेसे शान्त होती है। तो इस प्रकार प्रश्नोत्तर कर्ता दोनों उपहासके पात्र हैं। उपहाससे आर्त्तभागकी रक्षा के लिये ही याज्ञवल्क्यने ऐसा किया।"

शिष्यने पूछा—"एकान्तमें ले जाकर याज्ञवल्क्यने आर्त्तभागसे क्या कहा?"

गुरुदेव बोले—"याज्ञवल्क्यने कहा कि हे आर्त्त भाग! पापी पुरुष नरक, पुण्यवान् पुरुष देवभाव, और पुण्य-पाप समानवाला पुरुष मनुष्य शरीर प्राप्त करता है। यह जीव यद्यपि अपने वास्तव रूपसे अधिक, न्यून, तथा समान भी नहीं, तथापि कर्मोंके वश होकर अधिकता, न्यूनता और समानताको प्राप्त होता है। पुण्यात्मा जीव हिरण्यगर्भादिरूप अधिकता, पापात्मा जीव वृक्षादिक न्यूनता, तथा पुण्य-पाप दोनोंका कर्ता मनुष्यादिक रूप समानताको प्राप्त होता है। जो पुरुष शरीर, वाणी, मनसे किसी अन्य प्राणीको सुखी-दुःखी करता है वह इस जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें उसी शरीर मन वाणी द्वारा सुख-दुःख प्राप्त करता है। जो पुरुष जिस देश, कालमें जिस निमित्तसे जिस प्रकार जिस शरीर द्वारा जिस अवस्थासे अन्य प्राणियों को न्यूनाधिक सुख-दुःख उत्पन्न करता है वह दूसरा जन्म प्राप्त होने पर उसी देश-कालमें, उसी निमित्तसे उसी प्रकार, उसी शरीरसे उसी अवस्थामें वैसा ही न्यूनाधिक सुख-दुःख प्राप्त करता है। इसलिये लोक परलोकमें जो अज्ञानी जीवोंको सुख-दुःख रूप फल होता है वह पहले पुण्य-पाप रूप कर्मसे उसी देश कालमें समान ही होता है। और किसी स्थानमें विशेष भी होता है, जैसे काशी आदि देशमें तथा सूर्य ग्रहण कालमें सुपात्रको दान किया हुआ थोड़ा पुण्य भी कई गुणा वृद्धिको प्राप्त हो जाता है। जैसे वर्षाकालमें उत्तम भूमिमें डाले हुए बीज वृद्धिको प्राप्त होते हैं और जो पुरुष धनादिके वृद्धिके लिए व्यापार आदि करते हैं उनका धन दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। तैसे ही देहाभिमानी अज्ञानी जीवोंके पुण्य-पाप रूप कर्म दिन प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं। लोकमें जैसे अत्यन्त सूक्ष्म वटका बीज देश, काल आदि निमित्तको प्राप्तकर महान वटवृक्षका कारण होता है तैसे यज्ञादिक कर्मोंके बाद सूक्ष्मरूपसे रहनेवाला पुण्य-पाप रूप अदृष्ट भी देशकालआदि निमित्त को प्राप्त कर महान सुख-दुःखका कारण होता है। अतः पुण्य-पापरूप कर्म ही सुख-दुःखरूप फलके भोगमें प्रधान कारण है।

अपने प्रश्नोंका यथोचित उत्तर प्राप्तकर आर्त्तभाग याज्ञवल्क्यकी स्तुति करने लगा। और भुज्यु नामक ब्राह्मणकी ओर देखकर चुपचाप बैठ गया।

अपनी उत्कृष्टताका प्रदर्शन करनेकी इच्छा से भुज्युने कहा—"हे याज्ञवल्क्य, बहुत दिन हुए ब्रह्मचर्य अवस्थामें हम वेदविद्याके अध्ययन के लिये मद्र देशमें विचरण कर रहे थे। उस समय कपि गोत्रीय पतंजल नामक ब्राह्मणके घरमें एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई। पतंजलकी कन्याके शरीरमें भूतकी तरह अग्नि देवता प्रवेश कर गया। इसके बाद हम सब विद्यार्थियोंने उस कन्याके पास जाकर पूछा—

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"मेरा नाम सुधन्वा है"

"गोत्र क्या है?"

"अंगिरस"

हमने अग्नि देवतासे पूछा—"कर्मोंके फलका अन्त क्या है?"

उत्तर मिला—"जिस स्थानमें पारिक्षित पुरुष स्थित होता है वह स्थान ही सर्व कर्मोंके फलका अन्त है। इससे अधिक कर्मोंका फल नहीं।"

"वह पारिक्षित पुरुष किस स्थानमें स्थित होता है?" ऐसा पूछने पर अग्नि देवताने हमें पारिक्षित पुरुषका स्थान बतलाया था। हे याज्ञवल्क्य! वही प्रश्न मैं तुमसे भी पूछता हूँ। बतलाओ जिस स्थानमें पारिक्षित पुरुष स्थित होता है वह स्थान कौन है? और उन पारिक्षित पुरुषोंका स्वरूप क्या है?

याज्ञवल्क्यने कहा—"इन प्रश्नोंका उत्तर जानते हुए भी तुम वेदके गुह्य अर्थको सभीके बीचमें पूछते हो यह उचित नहीं। तथापि तुम्हारे विश्वासके लिए संक्षेपसे कहता हूँ। उपासना सहित अश्वमेध यज्ञको करनेवाले पुरुष जिस स्थानमें उपासना सहित अश्वमेधका फल भोगते हैं उसी स्थानमें पारिक्षित पुरुष जाते हैं।"

याज्ञवल्क्यके संक्षेप उत्तरको सुनकर भुज्यु ब्राह्मण उनकी सर्वज्ञतामें अविश्वास करते हुए बोला—"हम इन प्रश्नोंका उत्तर विस्तार पूर्वक सुनना चाहते हैं।"

यह भुज्यु सभामें वेदके रहस्योंको कहनेके लिए बाध्य कर रहा है। इससे जो पाप उत्पन्न होगा उसका भी भागी यही ब्राह्मण है। ऐसा मनमें विचार कर इच्छा न होते हुए भी याज्ञवल्क्यने कहा—"समुद्र पर्यन्त धनसे पूर्ण पृथ्वी जिनके वशवर्ती है ऐसे अश्वमेधके कर्ता पुरुषका नाम परिक्षिति है और इसको ही शास्त्रमें पारिक्षिति कहते हैं।

जैसे उपासना सहित अश्वमेध यज्ञके कर्ता पुरुष पारिक्षिति हैं वैसे अश्वमेध यज्ञके बिना केवल हिरण्यगर्भकी उपासना करने वाले पुरुष भी पारिक्षिति हैं। क्योंकि जिससे सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो उसको परिक्षित कहते हैं। पाप कर्मोंका क्षय जैसे अश्वमेध यज्ञसे होता है वैसे उपासना से भी होता है। अतः उपासना और अश्वमेध दोनों परिक्षित शब्दके अर्थ हैं। इस परिक्षित शब्दके अर्थको जानने वालेको पारिक्षित कहते हैं। इस रीतिसे केवल उपासक पुरुषमें भी पारिक्षित शब्दकी प्रवृत्ति होती है। वे पारिक्षित

पुरुष हिरण्यगर्भ रूपसे ब्रह्माण्डके अन्तर और बाहर व्याप्त होकर रहते हैं। इसलिए सर्वकर्मोंके फलका अन्त हिरण्यगर्भ लोक है। इससे परे कोई कर्मका फल नहीं।"

भुज्यु ब्राह्मण जैसा उत्तर अग्निदेवतासे सुना था वैसा ही याज्ञवल्क्यसे भी प्राप्तकर उसे जीतने की इच्छा त्याग उपस्तकी ओर देखते हुए प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया।

भुज्युके मौन हो जाने पर उपस्तने प्रश्न किया—"हे याज्ञवल्क्य! जैसे अप्रकाश रूप लौह अग्निके सम्बन्धसे प्रकाशमान होता है वैसे वृत्ति अवच्छिन्न साक्षी चैतन्यके सम्बन्धसे घटपटादिक जड़ पदार्थ प्रतीत होते हैं इसलिए घटपटादिक जड़ पदार्थोंमें मुख्य अपरोक्षपना नहीं, किन्तु गौण है। और ब्रह्म स्वप्रकाश चैतन्य है इसलिये ब्रह्ममें मुख्य अपरोक्षपना है। और वह ब्रह्म सबके अन्तर बाहर व्यापक है। अतः वह ब्रह्म ही आत्मा रूप है यह वार्ता सभी शास्त्र कहते हैं, परन्तु यह सम्भव नहीं। क्योंकि शास्त्रने आत्मामें ब्रह्म रूपता तथा अद्वितीय रूपता यह दोनों धर्म कथन किया है, इसमें हम विवाद नहीं करते परन्तु ब्रह्म रूपता और अद्वितीय रूपता ये धर्म जिस आत्मा रूप धर्मीमें रहते हैं वह आत्मा इस संघातसे भिन्न हमें प्रतीत नहीं होता, अतः इस संघातसे यदि आत्मा विलक्षण है तो हमारे प्रति कथन करो। इसके बाद ही हम तुम्हें बुद्धिमान समझेंगे।"

याज्ञवल्क्यने कहा—"हे उपस्त! यह आत्मा अद्वितीय ब्रह्मरूप है। इसलिये अत्यन्त समीप आत्मामें तुझे असम्भावना नहीं करनी चाहिये।" 'यह आत्मा है' इस प्रकारका उत्तर कहनेमें याज्ञवल्क्यका तात्पर्य यह था कि यदि उपस्त अन्तर्मुख होगा तो इतनेसे ही आत्माके वास्तव स्वरूपको जान कर सन्तुष्ट हो जायगा। परन्तु वह बहिर्मुख था, इसलिये "यह आत्मा है" इस उत्तरसे वास्तव स्वरूपको न जान सका परन्तु उल्टा संशय युक्त होकर प्रश्न पूछने लगा।

उपस्तने पूछा—'वह आत्मा कौन है? प्रश्नका तात्पर्य यह कि स्थूल शरीर आत्मा है अथवा सूक्ष्म शरीर आत्मा है अथवा उन शरीरों का प्रकाशक साक्षी आत्मा है? यहाँ स्थूल सूक्ष्म शरीर आत्मा है यह दोनों पक्ष ठीक नहीं क्योंकि ये दोनों शरीर परिच्छिन्न हैं। इसलिये उनमें सर्व व्यापकता सम्भव नहीं। शास्त्रमें आत्माको सर्वान्तर्यामी कहा है। बुद्धि आदिका साक्षी आत्मा है यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि साक्षी आत्मा है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"जैसे बालक डोरी द्वारा बन्दरोंको नाना प्रकारसे नचाते हैं वैसे तुम्हारे शरीरमें स्थित होकर जो तुम्हारे प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान तथा बुद्धि आदि संघातको अपने व्यापारमें प्रवृत्त करता है, वही तुम्हारा आत्मा है।"

यह कहकर याज्ञवल्क्यने इस अनुमानका बोधन कराया है कि प्राणादिकों का प्रवर्तक आत्मा प्रवर्तक होनेके कारण उन प्राण आदिकों से भिन्न है। जो पदार्थ जिसका प्रवर्तक होता है वह पदार्थ उस पदार्थसे भिन्न ही होता है। जैसे बन्दरोंको प्रेरणा करने वाला बालक बन्दरोंसे

भिन्न ही होता है तैसे सर्वका अन्तर्यामी यह आत्मा भी प्राणादिक सर्व संघातका प्रवर्तक होनेके कारण उससे भिन्न है। हे शिष्य, उपस्तकी मन्द बुद्धिको देखकर ही ऋषिने अनुमान प्रमाण द्वारा आत्माका स्वरूप निरूपण किया था, तथापि उनके अभिप्रायको न जानकर वह उपस्त याज्ञवल्क्य का उपहास करते हुये बोला—"हमने आत्माका स्वरूप स्पष्ट रूपसे जाननेके लिये तुमसे प्रश्न पूछा था, परन्तु अभी तक स्पष्टीकरण तुमसे नहीं हो सका। अतः यदि तुम संघात्से विलक्षण आत्माके स्वरूपको जानते हो तो गौ की सींगकी तरह पकड़ कर मुझे स्पष्ट आत्माका स्वरूप बतलाओ। पहले हमने संघातसे विलक्षण आत्माका स्वरूप पूछा था और अभी तुमने "प्राणादिकोंका प्रवर्तक आत्मा है" यह उत्तर दिया। यह तुम्हारा उत्तर संघातसे विलक्षण आत्माको सिद्ध नहीं करता। क्योंकि लोकमें व्यापारवान पुरुष ही अन्य बन्दर आदिकोंका प्रेरक होता है। व्यापार से रहित कोई प्रेरक होता नहीं। वह व्यापार वाला यह संघात है इसलिये यह संघात ही प्राणादिकोंका प्रवर्त्तक है। और प्राणादिकोंको जो अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त करे वही आत्मा है इस तुम्हारे कथनसे संघातही आत्मा सिद्ध होता है।" उपस्त ब्राह्मणने हँसते हुए आगे कहा—"जैसे किसीने गौका स्वरूप पूछा तो उसने अश्व दिखला दिया। ऐसे ही मैंने तुमसे संघातसे विलक्षण आत्माका स्वरूप पूछा था और तुमने संघातको ही आत्मरूप करके कह दिया जो अत्यन्त विरुद्ध है। अतः संघात् से विलक्षण हाथमें आँवलेकी तरह आत्माका स्वरूप हमें बतलाओ।"

इस प्रकार उपस्तके उपहासयुक्त वचनोंको सुनकर याज्ञवल्क्य किंचितमात्र भी क्रुद्ध नहीं हुए और गम्भीरतापूर्वक हँसकर बोले—"संघात से विलक्षण आत्माका स्वरूप जो तुम पूछते हो वह तुम्हारा आत्मा अत्यन्त अपरोक्ष है। क्योंकि "अहं अस्मि" इस प्रकारकी अन्तकरण की वृत्तिसे तू भी आत्माको जानता है इसलिये अपरोक्ष आत्मामें असंभावना सम्भव नहीं।"

उपस्त बोला—"तुमने अहं बुद्धिका विषय आत्मा कहा। इससे आत्माका निर्णय नहीं हो सकता। क्योंकि अहं बुद्धि बहुतसे पदार्थोंमें होती है, जैसे अहं स्थूलः, अहं काणः, अहं बधिरः इस प्रकारकी अहं बुद्धि शरीर-इन्द्रियादि को विषय करती है। अहं क्षुधा-पिपासावान् यह अहं बुद्धि प्राणको विषय करती है। "अहं निश्चयवान्" यह अहं बुद्धि बुद्धिको विषय करती है। "अहं अज्ञः" इस प्रकारकी अहं बुद्धि अज्ञानको विषय करती है। अतः स्थूल शरीरसे अज्ञान पर्यन्त सर्व संघातमें अहं बुद्धि की विषयता प्रतीत होती है। उन सबमें कौन आत्मा है यह जाना नहीं जाता। इसलिये यदि तुम्हें आत्माका ज्ञान है तो बुद्धि आदि पदार्थों से अलग करके आत्माका स्वरूप कहो।

याज्ञवल्क्य ऋषिने कहा—"हे उपस्त! विद्वान पुरुषोंके अनुभवसे सिद्ध अपरोक्षता द्वारा आत्माके निरूपणमें तुम्हारा आग्रह है अथवा जैसे घटमें इन्द्रिय जन्य ज्ञानकी विषयता रूप अपरोक्षता द्वारा आत्माके निरूपणमें आग्रह है।

इनमेंसे यदि तू प्रथम पक्ष अंगीकार करे तो जैसे विद्वान पुरुष आत्माके स्वरूपका निरूपण करते हैं तैसे मैंने निरूपण कर दिया है। परन्तु तू बहिर्मुख होनेके कारण आत्माको नहीं जान सका और यदि तू दूसरा पक्ष अंगीकार करे तो वह भी संभव नहीं। क्योंकि नित्य अपरोक्ष रूप यह आत्मा चिदाभासयुक्त बुद्धि द्वारा घट पटादिक पदार्थोंको जानता है और उस बुद्धिको अपने स्वप्रकाश रूपसे प्रकाशता है। इसलिये ऐसी बुद्धि आदिकोंके द्रष्टा आत्माको तू किससे विषय करेगा। बुद्धि सहित सर्व इन्द्रिय द्रष्टा आत्माको विषय नहीं कर सकतीं। जैसे घट पटादिक पदार्थोंके प्रकाशक चक्षुइन्द्रियको घटादिक पदार्थ प्रकाश नहीं कर सकते। तैसे विषय इन्द्रियके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणकी वृत्तियोंको आनन्दस्वरूप आत्मा प्रकाश करता है। इसलिये वे वृत्तियाँ आत्माको प्रकाश नहीं कर सकती हैं। याज्ञवल्क्यने आगे कहा—"हे उपस्त! जो बुद्धि आदिक जड़ पदार्थोंका प्रकाशक, सबके अन्तर व्यापक, उत्पत्ति-नाशसे रहित है वही संघातसे विलक्षण तुम्हारा आत्मा है।"

शंका—"आत्मासे भिन्न बुद्धि आदिक पदार्थ सत्य हैं अथवा असत्य हैं? यदि सत्य कहो तो जैसे घट पटादिकोंमें सर्वान्तरपना नहीं होता तैसे आत्मामें भी सर्वान्तरपना नहीं होगा और यदि यह कहो कि आत्मासे भिन्न बुद्धि-आदिक पदार्थ असत्य हैं तो भी आत्मामें सर्वान्तरपना सम्भव नहीं। क्योंकि आत्मा सबके अन्तर व्यापक है इस वचनमें सर्व शब्दसे बुद्धि आदिकोंका ग्रहण करना होगा, वे बुद्धि आदिक पदार्थ तुम्हारे मतमें अत्यन्त असत्य हैं। अतः उन बुद्धि आदिकोंके अभाव होनेसे आत्मामें सर्वान्तरपना सम्भव नहीं।"

याज्ञवल्क्यने समाधान किया—"हे उपस्त! इस आनन्द स्वरूप आत्मासे भिन्न जितने बुद्धि इन्द्रिय, शरीर आदि पदार्थ हैं वे सम्पूर्ण जड़ हैं। इसलिये घटादिक पदार्थोंकी तरह वे बुद्धि आदिक जन्म-मरणवाले हैं। इस कारणसे वे कल्पित हैं। उन कल्पित बुद्धि आदिकोंमें अधिष्ठान आत्माकी व्यापकता संभव है। जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानमें कल्पित सर्प, दण्ड, जल धारा आदिकोंमें रज्जुरूप अधिष्ठान व्यापक है। तैसे कल्पित बुद्धि आदिकोंमें अधिष्ठान आत्मा व्यापक है। अतः आत्मामें सर्वान्तरपना सम्भव है।"

गुरुदेवने कहा—हे शिष्य! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा आत्माके स्वरूपका निरूपण सुनकर उपस्त ब्राह्मणने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि इस बुद्धिमान ऋषिको विवादमें जीतना असम्भव है। और वह कहोल ब्राह्मणकी मुखकी ओर देखकर प्रश्नसे उपराम हो गया।

तत्पश्चात् कहोलने याज्ञवल्क्यसे पूछा—"इसके पूर्व उपस्त ब्राह्मणके प्रसंगमें तुमने आत्माको ब्रह्म रूप कहा है। यह सम्भव नहीं। क्योंकि समान धर्मवाले पदार्थोंका ही परस्पर अभेद होता है विरुद्ध धर्मवाले पदार्थोंका परस्पर अभेद सम्भव नहीं। जैसे उष्ण स्पर्श वाले अग्नि तथा शीत स्पर्शवाले बरफका परस्पर अभेद नहीं

होता तैसे इस संघातका प्रकाशक आत्मा क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मरण इन षट ऊर्मि रूप संसारवाला प्रतीत होता है और ब्रह्म क्षुधा-पिपासा आदि षट ऊर्मि रूप संसारसे रहित शास्त्र द्वारा प्रतीत होता है। अतः संसारी आत्मा का असंसारी ब्रह्मके साथ अभेद कहना अत्यन्त विरुद्ध है।"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"विरुद्ध धर्मों वाले पदार्थोंका अभेद नहीं होता यह वार्ता तुमने बिल्कुल सत्य कही है। परन्तु वे क्षुधा पिपासादिक धर्म आत्माके नहीं हैं। बल्कि क्षुधा पिपासा प्राणके धर्म शोक मोह मनके धर्म और जरा मरण शरीरके धर्म हैं। आत्माका कोई धर्म नहीं है। जैसे घटादिके प्रकाशक सूर्य भगवान्‌को घटादिके धर्म स्पर्श नहीं करते, तैसे प्राणादिकोंके प्रकाशक आत्माको प्राणादिके क्षुधापिपासादिक धर्म स्पर्श नहीं करते हैं। अतः जैसे ब्रह्म जन्म आदिक संसारसे रहित है तैसे यह आत्मा भी जन्मादिक संसारसे रहित है। इसी कारण वेद वेत्ता महात्मापुरुष आत्माको ब्रह्म रूप कहते हैं।

अथवा, जिन पुरुषोंको निःसंशय आत्मा का ज्ञान हो गया है उनका भी जब जन्म-मरणादि रूप संसार निवृत्त हो जाता है तब साक्षात् ब्रह्मरूप आत्मामें जन्म मरण रूप संसार नहीं रहता, इसमें क्या कहना है?

जन्मादि संसारसे रहित, अज्ञान रहित, तथा सर्व बुद्धि आदिकोंका साक्षी, ब्रह्म रूप आत्माका साक्षात्कार विक्षेप वाले पुरुषोंको नहीं होता है। विक्षेप रहित विरक्त महात्मा पुरुषोंको ही आत्माका साक्षात्कार होता है। इसी कारण पूर्व वामदेवादिक महान पुरुषोंने आत्म साक्षात्कारके लिए सर्व एषणाओंका त्याग करके सन्यास आश्रमको ग्रहण किये थे।

सिद्ध हुआ कि जैसे विवेक वैराग्यादिक आत्म साक्षात्कारके साधन हैं तैसे उपरति शब्द का अर्थ सन्यास भी विक्षेपकी निवृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कारका साधन है। यहाँ सन्यास शब्दसे विविदिषा सन्यासका ग्रहण करना चाहिये।

अब एषणाके स्वरूप और भेदको दिखलाते हैं—

हे कहोल! पुत्र-एषणा, वित्त-एषणा, और लोक-एषणा ये तीन प्रकारकी एषणाएँ होती हैं। पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छाको पुत्र-एषणा कहते हैं। इसके कारण ही यह पुरुष स्त्री आदि के संग्रहमें प्रवृत्त होता है। धनकी इच्छाको वित्त-एषणा कहते हैं। यह धन दो प्रकारका है—एक दैवधन, दूसरा मानुष्य धन। देवलोक के जयका साधन कर्म उपासनाको देवधन कहते और मनुष्यलोकके सुखका साधन पशु, सुवर्ण आदिको मनुष्य धन कहते हैं। मुझे सुख हो इस प्रकारकी इच्छाको लोक-एषणा कहते हैं। वह सुख भी दो प्रकारका है। एक मनुष्यलोकमें वर्तमान सुख और दूसरा देवलोकमें वर्तमान सुख। इन दो प्रकारके सुखकी इच्छाको लोक-एषणा कहते हैं। यद्यपि इच्छाके विषय पदार्थ अनन्त हैं, इसलिये इच्छा भी अनन्त ही सम्भव है तथापि इन तीन इच्छाओंके अन्दर ही सर्व इच्छाओंका अन्तर्भाव है। वास्तवमें

विचार कर देखा जाय तो वित्त-एषणा और लोक-एषणा ये दो प्रकारकी ही एषणाएँ सिद्ध होती हैं। क्योंकि जैसे पशु, खेत, सुवर्ण आदिक धन पिताके सुखका साधन हैं तैसे पुत्र भी पिताके सुखका साधन है। इसलिये लोक परलोकके समस्त सुखके साधनोंका नाम वित्त है। इस वित्त-एषणा द्वारा सम्पूर्ण सुखके साधनोंकी एषणाका ग्रहण होता है और लोक-एषणा द्वारा इस लोक तथा परलोकके जितने सुखरूप फल हैं उनके एषणाओंका ग्रहण होता है। अतः फल-एषणा तथा साधन-एषणा ये दो प्रकारकी एषणाएँ ही सर्वत्र अनुगत हैं। इस कारणसे ही सम्पूर्ण जीव प्रथम सुखरूप फलको इच्छा करते हैं, परन्तु वह सुख साधनोंके विना सिद्ध नहीं होता। इसलिये उस सुखके साधन की भी इच्छा करते हैं। इस लोक व्यवहारसे भी दो प्रकारकी ही एषणा सिद्ध होती है।

कहोलने शंका की—"विद्वान पुरुष जो एषणाओंका परित्याग करते हैं उसमें कौन कारण है ?"

याज्ञवल्क्यने समाधान करते हुए कहा—"हे कहोल ! जन्म मरणादिक संसारसे रहित स्वप्रकाश आनन्द स्वरूप आत्मामें ही सुख है। आत्मासे भिन्न सर्व अनात्म पदार्थ परिणाम कालमें दुःख देनेवाले हैं। इसलिये उन अनात्म पदार्थोंमें किंचितमात्र भी सुख नहीं। इस प्रकार विचार कर विद्वान पुरुष सर्व एषणाओंका परित्याग करते हैं।

आत्मासे भिन्न सर्व अनात्म पदार्थोंमें दुःख रूपता दिखलाते हैं—

इस लोकमें जितने सुखकारी पदार्थ हैं उनमें माता पुत्रके लिये अत्यन्त सुखकारी है। क्योंकि वह जन्म देकर पालन-पोषण करती है। माताके मरने पर पुत्रको महान कष्ट होता है। अतः अत्यन्त सुखकारी माता भी वियोग काल में जीवोंके परम दुःखका कारण है। जैसे माता का वियोग जीवोंके दुःखका कारण है तैसे पिता आदिसे लेकर जितने सुखकारी बान्धव हैं उनका भी वियोग जीवोंके दुःखका कारण है। तात्पर्य यह कि जिन पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध होता है उन पदार्थोंका देश कालादिक निमित्तसे वियोग भी अवश्य होता है। उस वियोगके निवारण करनेमें कोई भी जीव समर्थ नहीं है। इसलिये माता-पितादिक सम्पूर्ण प्रिय पदार्थ वियोगकालमें इस जीवके दुःखके ही कारण होते हैं। वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो तीनों कालमें पदार्थ दुःखके ही कारण हैं। क्योंकि जब तक पुत्रादि प्रिय पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं होती तब तक उनकी इच्छासे जीवको दुःख होता है। और जब पुत्रादिकी प्राप्ति हो जाती है तब उनके पालन - पोषण - रक्षणमें दुःख होता है और जब उन प्रिय पदार्थोंका नाश होता है तब उनके वियोगसे जीवोंको दुःखकी प्राप्ति होती है। अतः आत्मासे भिन्न सर्व प्रिय पदार्थ इस जीवके दुःखका कारण है।

अप्रिय पदार्थोंमें दुःखकी कारणता दिखलाते हैं—जैसे अग्निका जिस-जिस पदार्थके साथ सम्बन्ध होता है उस पदार्थको वह जला देती है। तैसे ही सिंह सर्पादि अप्रिय पदार्थों का जिस-जिसके साथ सम्बन्ध होता है उस

उसको वे नाश करते हैं। यह बात सबके अनुभवमें है। अतः सिद्ध हुआ कि माता-पितादिक प्रिय पदार्थ वियोग कालमें जीवोंके दुःखका कारण होते हैं और सिंह सर्प शत्रु आदिक अप्रिय पदार्थ संयोगकालमें जीवोंके दुःखका कारण होते हैं।

जड़ पदार्थोंमें दुःखकी कारणता दिखलाते हैं—

जैसे चैतन्यरूप प्रिय-अप्रिय पदार्थ वियोग-कालमें तथा संयोगकालमें जीवोंके दुःखका कारण है, तैसे सुवर्ण आदिक जड़ पदार्थ भी जिन्हें प्रिय हैं उन्हें वियोगकालमें परम दुःख देते हैं और जिन्हें सुवर्णादि अप्रिय हैं उन्हें संयोग कालमें अत्यन्त दुःख देते हैं। जैसे अग्नि पतंगोंको जलाती है तैसे वैराग्यहीन जीवोंको प्रिय अप्रिय पदार्थ सदा दुःख ही देते हैं। जो पुरुष रागसे अन्धे हैं उन्हें यद्यपि संसार दुःख रूप नहीं प्रतीत होता तथापि राग द्वेपसे रहित विवेकी पुरुषोंको पुत्र, धन, लोक, शरीर, बान्धव इत्यादि सम्पूर्ण संसार दुःखका ही कारण प्रतीत होता है।

हे कहोल! यद्यपि सभी अनात्म पदार्थ जीवोंके दुःखका कारण है तथापि वास्तवमें विचारकर देखा जाय तो पदार्थोंकी इच्छा ही जीवोंके दुःखका कारण सिद्ध होती है। क्योंकि धनादिक पदार्थोंके प्राप्ति की तथा शत्रुओंके मारने की इच्छासे जीव नाना प्रकार यत्न करता है। परन्तु असमर्थ होकर निराश हो जाता है। असमर्थताके कारण असफलतारूप निराशा ही जीवके दुःखका कारण है।"

शंका—"जिस पदार्थको पानेमें पुरुष समर्थ नहीं है ऐसे पदार्थोंकी इच्छा क्यों करता है?"

समाधान—"शरीर इन्द्रियादिकोंमें अहं अभिमान रूप विपरीत ज्ञान तथा पुत्र धनादिकों में मम अभिमान रूप विपरीत ज्ञानसे यह जीव न प्राप्त होने योग्य पदार्थोंकी भी इच्छा करता है और जब उन इच्छित पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं होती है तब परमदुःखी होता है। अतः निष्फल हुई इच्छा ही जीवोंके दुःखका कारण है।

अब अनात्म पदार्थोंमें सुखरूपताका अभाव दिखलाते है—हे कहोल! आत्मासे भिन्न किसी भी पदार्थमें सुख रूपता नहीं। क्योंकि जो पदार्थ जिस जीवके सुखका कारण होता है वही पदार्थ कालान्तरमें उसके दुःखका कारण होता है। और दुःखका कारण पदार्थ भी कालान्तरमें सुखका कारण होता है। जैसे ज्वरसे रहित पुरुषको घृत स्वास्थ्य सुखका कारण है और वही घृत कालन्तरमें ज्वरयुक्त होने पर दुःखका कारण है। और यही घृत जो आज दुःखका कारण है कालान्तरमें ज्वर मुक्त होने पर सुखका कारण हो जायगा। इस प्रकार सर्व अनात्म पदार्थोंमें सुखकी कारणताका व्यभिचार जान लेना चाहिए। यदि अनात्म पदार्थ नियमसे सुखको ही उत्पन्न करनेवाले हों तो सदा उनमें सुखकी ही उत्पत्ति होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः अनात्म पदार्थ सुखके कारण नहीं।"

शंका—"यदि अनात्म पदार्थोंमें सुख नहीं तो सुखके लिये सम्पूर्णजीव शब्द स्पर्शादिक विषयोंकी इच्छा क्यों करते हैं?"

समाधान—"सभी लोगोंका यह अनुभव कि शब्द स्पर्शादिक विषय हमारे सुखके साधन हैं, यथार्थ नहीं, किन्तु भ्रान्ति रूप है। क्योंकि "आनन्दो ब्रह्म" ब्रह्म आनन्द रूप है। इस श्रुतिमें ब्रह्मको ही आनन्द स्वरूप कहा है। वह ब्रह्म नित्य है इसलिये ब्रह्म रूप आनन्द भी नित्य है। उस नित्य आनन्दकी शब्दादिक विषयोंसे उत्पत्ति कहना भ्रान्तिके बिना सम्भव नहीं। यदि सुख शब्दादि विषयोंसे उत्पन्न होगा तो वह नित्य आत्मासे भिन्न ही होगा और जो आत्मासे भिन्न होगा वह सुखरूप नहीं होता है। जैसे आत्मासे भिन्न करके जाना हुआ वैरी पुरुषका सुख भी जीवोंको दुःखरूप होकर प्रतीत होता है। तैसे ही यदि सुख आत्मासे भिन्न होगा तो दुःखरूप ही होगा और सुखको दुःख रूपता संभव नहीं है। अतः सुख आत्मासे भिन्न नहीं।

शब्दादिक विषय हमारे सुखके साधन हैं, लोकोंके इस अनुभवका कारण यह है कि जैसे खद्योत जन्तु रात्रिमें सम्पूर्ण व्यापक आकाशकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकता किन्तु व्यापक आकाशके किंचित देश की अभिव्यक्ति करता है। तात्पर्य यह है कि शब्द स्पर्शादिक विषयों के साथ श्रोत्रादिक इन्द्रियोंका जब सम्बन्ध होता है तब आनन्द स्वरूप आत्माके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाली अन्तःकरणकी वृत्ति उत्पन्न होती है और उस अन्तःकरणकी वृत्तिका जितना परिमाण होता है उतना ही आत्मारूप सुखकी अभिव्यक्ति करती है। इसलिये अन्तःकरणकी वृत्तिमें स्थित शब्द स्पर्शादिक विषयोंकी उत्पत्तिको आत्मारूप सुख में आरोपण करके मूढ़ पुरुष सुखको विषय जन्य मानते हैं। अतः सुख विषय जन्य है यह लोगोंका अनुभव भ्रमरूप है।

याज्ञवल्क्यने आगे कहा—हे कहोल, इसीलिये आत्मासे भिन्न सर्व जगतको दुःखरूप जानकर वामदेवादिक विद्वान् पुरुषोंने आत्मरूप नित्य सुखकी प्राप्तिके लिये सर्व एषणाओंका परित्याग करके सन्यास आश्रमको ग्रहण किए।

जीवन मुक्तिके सुखका साधन सन्यासका निरूपण करनेके बाद अब आत्मज्ञानके साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासनके स्वरूपका निरूपण करते हैं—

स्वप्रकाश सुखरूप ब्रह्मके प्राप्तिकी इच्छा-वाले तथा शास्त्रके पदार्थों तथा वाक्यार्थोंका ज्ञानवाले चतुष्टय साधन सम्पन्न मुमुक्षुजन प्रथम गुरुमुखसे वेदान्त वाक्योंका श्रवणकर उनका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य निश्चय करते हैं, इसीका नाम श्रवण है।

श्रवणके बाद मुमुक्षुजन जन्म-मरणादि विकारवान् तथा आसक्ति द्वारा सर्व एषणाओंका जनक इस शरीरको अन्वय व्यतिरेक द्वारा दुःखका कारण जानते हैं। सर्व एषणाओंका परित्याग करके वह मुमुक्षु बालककी तरह राग द्वेषसे रहित हो स्थिर रहता है। तात्पर्य यह कि राग द्वेषसे विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति ही जीवोंके दुःखका कारण है। इस कारण ही राग द्वेष पूर्वक इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिसे रहित बालक दुःखको प्राप्त नहीं होता है। अतः मुमुक्षुजन भी बालक-की तरह राग द्वेपसे रहित हो वेदान्तके अर्थका

मनन करते हैं। नाना प्रकारकी युक्तियों द्वारा विरोध निवृत्ति पूर्वक वेदान्तके अर्थ चिन्तनको शास्त्रवेत्ता पुरुष मनन कहते हैं। यह मनन राग द्वेषवाले वहिर्मुख पुरुषसे नहीं हो सकता। अतः रागद्वेषसे रहित होकर मुमुक्षुजनोंको वेदांतके अर्थका मनन करना चाहिए।

श्रवण, मननके बाद मुमुक्षुजनोंको अनात्माकार विजातीय वृत्तियोंका परित्याग करके आत्माकार सजातीय वृत्तियोंका प्रवाह रूप निदिध्यासन निरन्तर करना चाहिये। तात्पर्य यह कि मन वाणीका विषय दृश्य प्रपंचसे मैं विलक्षण हूँ, मैं आनन्द स्वरूप हूँ, स्वप्रकाश हूँ, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे रहित हूँ, इस प्रकारकी वृत्तियोंका निरन्तर प्रवाहरूप निदिध्यासनमें जिसकी निष्ठा है तथा श्रवण मननको श्रद्धापूर्वक चिरकाल तक जिस मुमुक्षुने सेवन किया है वही ब्रह्मविद्याको प्राप्त होता है। इस ब्रह्मविद्यावाले पुरुषको ही श्रुतिमें ब्राह्मण कहा है।"

कहोल ब्राह्मणने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! पूर्वोक्त श्रवण मनन निदिध्यासनका परित्याग करके यह मुमुक्षुजन अन्य किसी उपायसे ब्रह्मज्ञानरूप ब्राह्मण भावको प्राप्त होता है अथवा नहीं। यदि श्रवणादिकोंके विना ही किसी अन्य उपायसे ब्राह्मण भावकी प्राप्ति होती हो तो वह उपाय मुझसे कहो।"

याज्ञवल्क्यने कहा—"पूर्व कथित श्रवण, मनन, निदिध्यासनको परित्याग करके मुमुक्षुजन अन्य किसी भी उपायसे ब्राह्मण भावको नहीं प्राप्त हो सकते हैं। नामरूप क्रियासे रहित तथा स्वप्रकाश सुखरूप अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकारका निर्विकल्प ज्ञान जिस पुरुषको हो गया है उस ब्रह्मवेत्ता पुरुषको श्रुति ब्राह्मण कहती है। और यह ब्राह्मणपना श्रवण मनन निदिध्यासनसे ही प्राप्त होती है, अन्य किसी उपायसे नहीं। अतः श्रवण मनन आदि अवश्य सम्पादन करने योग्य हैं।

श्रवणादिक साधनोंसे भिन्न उपाय हिरण्यगर्भकी उपासना अथवा अश्वमेध यज्ञ आदिको भी तुम कह सकते हो, परन्तु ये सभी उपासना तथा कर्म श्रवणादि साधनोंके विना आत्मज्ञानकी उत्पत्ति नहीं करते हैं। उपासना और कर्मों द्वारा केवल चित्तकी शुद्धि होती है, उसके बाद विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, उपरति, तितिक्षा, समाधान और मुमुक्षुता इन साधनोंकी प्राप्ति होती है। तत्पश्चात गुरुमुख द्वारा वेदान्तके श्रवण तथा मनन निदिध्यासनसे मुमुक्षु पुरुष आत्म साक्षात्कारको प्राप्त होते हैं। अतः चित्त शुद्धिमें कर्म उपासनाका उपयोग है, साक्षात् आत्मज्ञानका कारण कर्म उपासना नहीं बल्कि श्रवणादिक साधन हो साक्षात् कारण है। वेदान्त शास्त्र जीव-ईश्वरके अभेदको बोधन करता है अथवा उनके भेदको बोधन करता है इस प्रकारकी प्रमाणगत असंभावना वेदान्त शास्त्रके श्रवणसे निवृत्त होती है। आत्मा नित्य व्यापक सुखरूप है अथवा अनित्य परिच्छिन्न दुःखरूप है यह प्रमेयगत असंभावना वेदान्त शास्त्रके मननसे निवृत्त होती है और अनित्य,

अशुचि, दुःखरूप शरीरादिकोंमें नित्य, शुचि, सुखरूप बुद्धि यह विपरीत भावना निदिध्यासन-से निवृत्त होती है। इस प्रकार असंभावना विपरीत भावनाके निवृत्ति द्वारा श्रवण मनन निदिध्यासन आत्मज्ञानके साधन हैं। इसलिये श्रवणादिक साधनोंसे ही ब्राह्मण भावकी प्राप्ति होती है।

हे कहोल! जिस पुरुषने गुरुमुखसे वेदांत शास्त्रका श्रवण, मनन, निदिध्यासन नहीं किया तथा वित्त-एषणा, पुत्र-एषणा, लोक-एषणा इन तीन प्रकारकी एषणाओंका त्याग नहीं किया, केवल विषय भोगमें आसक्त है, ऐसे साधनहीन पुरुषको तीनों कालमें किसी भी लोकमें आज-तक ब्राह्मण भावकी प्राप्ति हुई हो तो कहो। ऐसा कभी नहीं हुआ, न होगा। जैसे क्षुधाकी तृप्तिके लिये अन्न भक्षण नियमसे आवश्यक है, वैसे ही ब्राह्मण भावकी प्राप्तिके लिये श्रवण मनन आदि आवश्यक साधन हैं।"

अपने प्रश्नोंका समुचित उत्तर पाकर कहोल ब्राह्मण बुद्धिमान याज्ञवल्क्यको अजेय समझ विदुषी गार्गीकी ओर देखकर प्रश्न करनेसे विरत हो गया।

तत्पश्चात् वचक्नू ऋषिकी पुत्री तर्कमें कुशल गार्गीने अनुमान प्रमाणको अंगीकार कर याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया—"इस लोकमें जितने भी कार्य पदार्थ हैं सभी अपने कारणमें स्थित होते हैं और अन्तर बाहर कारणसे व्याप्त रहते हैं। जैसे पट रूप कार्य तन्तुरूप कारणमें रहता है और वह तन्तुरूप कारण अन्तर बाहर व्यापक रहता है। यह वार्ता सबको अनुभव सिद्ध है। ऐसे ही इस मनुष्य लोकमें वर्तमान जितने स्थावर जंगमरूप पार्थिव पदार्थ हैं सभी कार्य रूप हैं, इसलिए कारण रूप जलमें स्थित हैं तथा अन्तर बाहर कारण रूप जलसे व्याप्त हैं। हे याज्ञवल्क्य? पृथ्वीकी तरह यह जल भी कार्य रूप है, अतः वह जल भी अपने कारणमें ओत-प्रोत होगा। वह जलका कारण कौन है जिसमें जल ओत-प्रोत है।"

याज्ञवल्क्यने कहा—"वह जल वायु रूप अपने कारणमें ओत-प्रोत है।"

गार्गीने पूछा—"वायु किसमें ओत-प्रोत है?"

"वायु अन्तरिक्ष लोकमें ओत-प्रोत। हे गार्गी! इसी प्रकार आगे भी अन्तरिक्ष लोक गन्धर्व लोकमें, गन्धर्व लोक सूर्यलोकमें, सूर्य लोक चन्द्रमा लोकमें, चन्द्रमा लोक नक्षत्रलोकमें, नक्षत्र लोक देव लोकमें, देवलोक, इन्द्र लोकमें, इन्द्रलोक प्रजापति लोकमें, प्रजापति लोक ब्रह्मलोकमें ओत-प्रोत है।

हे गार्गी अन्तरिक्ष आदिकोंका अर्थ भी सुनो—

अवकाश रूपसे लोक प्रसिद्ध जो स्थूल आकाश है उसको अन्तरिक्ष कहते हैं। गन्धर्वलोक, सूर्यलोक, चन्द्रमालोक, नक्षत्र लोक, देवलोक, इन्द्रलोक ये षट प्रकारके शब्द आकाशादिक पंचभूतोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म अवस्थाके वाचक हैं। सम्पूर्ण दृश्य प्रपंचको जो आत्मरूपसे देखे उसको इन्द्र कहते हैं। इस प्रकार इन्द्र शब्दका अर्थ विराट पुरुषमें ही घटता है। क्योंकि यह सम्पूर्ण विश्व विराट पुरुषके शरीरमें स्थित है। इसलिए वह विश्व

को आत्मरूपसे देखता है। अतः इन्द्र शब्दसे विराट पुरुषका ग्रहण करना। और ब्रह्माण्ड रूपी कटाहके अन्दर बाहर वर्तमान सूत्र आत्मा को पारिच्छित पुरुष प्राप्त होते हैं इसलिए प्रजापति शब्दसे सूत्रात्माका ग्रहण करना। और माया रूप अज्ञान शब्दका अर्थ, सर्वका कारण अव्याकृत सूत्रात्माके स्थितिका आधार है। अतः ब्रह्मलोक शब्दसे अव्याकृतका ही ग्रहण करना चाहिए। वह अव्याकृत समष्टि रूपसे एक प्रकारका है और व्यष्टि रूपसे अनेक प्रकार का है।

इतना सुनकर युक्ति पूर्वक मनमें विना विचारे ही गार्गीने पुनः पूछा—"यह अव्याकृत रूप ब्रह्म लोक किस कारणमें ओत-प्रोत है?"

याज्ञवल्क्य मुनिने उत्तर दिया—"यह आनन्द स्वरूप आत्मा केवल शास्त्र प्रमाणसे जानने योग्य है। अतः शास्त्र प्रमाणसे ही आत्माका स्वरूप तुम्हें पूछना चाहिये था। परन्तु मर्यादाका त्यागकर अनुमानकी रीतिसे प्रश्न करना व्यर्थ है। क्योंकि सबका अधिष्ठान आत्मा किसी अनुमानका विषय नहीं। अतः ऐसा प्रश्न कभी न करना। दुराग्रहसे अनुमान का अविषय आत्माको जलादिकोंकी तरह अनुमानका विषय मानकर यदि आत्माका प्रश्न करोगी तो तुम्हारा मस्तक भूमि पर गिर पड़ेगा।"

याज्ञवल्क्यके वचनोंको सुनकर गार्गी भयभीत हो प्रश्न करनेसे विरत हो गई।

इसके बाद अरुण ऋषिका पुत्र उद्दालक अत्यन्त क्रुद्ध होकर भुज्यु ब्राह्मणकी तरह अपनी विद्याकी उत्कृष्टता दिखलाते हुए बोला—"हमारे गुरुकी पत्नीके शरीरमें अग्नि देवता ने प्रकट होकर एक बार कहा—"अथर्वण हमारा गोत्र और कबंध नाम है। तुम सब ब्राह्मणोंके उपकारके लिये मैंने स्त्री शरीर में प्रवेश किया है।" इतना कहकर अग्निदेवने गुरुदेव पतंचलसे पूछा—"जैसे मालाके पुष्पों को सूत्र धारण करता है तैसे यह सम्पूर्ण भूत भौतिक प्रपंच जिस सूत्रसे बँधा है उस सूत्रको जानता है?"

हमारे गुरुने कहा—"नहीं"

अग्निदेवता बोले—"सर्व जगतका प्रेरक अन्तर्यामीको तू जानता है?"

"हम नहीं जानते हैं।"

हे याज्ञवल्क्य! दोनों प्रश्नोंका नकारात्मक उत्तर पाकर अग्निदेवने कृपापूर्वक हमलोगोंको इन प्रश्नोंके गुह्य अर्थको बतलाया।

उद्दालक बोला—मैं भी तुमसे सूत्रका तथा अन्तर्यामीका स्वरूप पूछता हूँ। उनको जो पुरुष जानता है वह सर्वज्ञ भावको प्राप्तकर भूः, भुवः आदि सप्तलोक, सकल देवता, सम्पूर्ण प्राणी, पंचभूत तथा आत्मा आदि सर्व पदार्थों को जानता है। हम इन प्रश्नोंका उत्तर भली-भाँति जानते हैं। यदि तुम सूत्र और अन्तर्यामी के स्वरूपको जाने विना ही सर्व ब्राह्मणोंकी गौओंको अपने आश्रममें ले जाओगे तो शीघ्र ही तुम्हारा मस्तक भूमि पर गिर पड़ेगा।"

याज्ञवल्क्यने शान्त स्वरमें कहा—"मैं तुम्हारे दोनों प्रश्नोंका उत्तर भली प्रकार जानता हूँ।"

इस पर उत्तेजित होकर उद्दालक बोला— "यदि तुम जानते हो तो उत्तर कहो। अज्ञानी जनोंकी तरह "हम सब कुछ जानते हैं व्यर्थ गर्जना उचित नहीं।"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"तुमने सर्व जगतके बंधनका कारण सूत्र पूछा था, वह सूत्र प्राण वायु है। क्योंकि जैसे तन्तु पटको धारण करते हैं, तैसे यह प्राण वायु लोक, परलोक तथा सर्व भूत प्राणियोंको धारण करता है। इस कारणसे ही मरणकालमें जब प्राणोंका लोकान्तर गमन होता है तब हस्तपाद आदि सम्पूर्ण अवयव शिथिल हो जाते हैं जैसे सूत्र के निकल जाने पर मालाके पुष्प शिथिल हो जाते हैं। इस लोक प्रसिद्ध युक्तिसे भी प्राण ही सूत्र सिद्ध होते हैं। यहाँ प्राण वायु शब्दसे समष्टि-व्यष्टि सूक्ष्म शरीरका ग्रहण करना चाहिए।"

उद्दालक बोला—"सूत्रका स्वरूप जैसा अग्निदेवने कहा था वैसा ही तुमने भी कहा है। इसके विषयमें कुछ नहीं पूछना है। अब अन्तर्यामीका स्वरूप कहो।"

याज्ञवल्क्यने कहा—"हे उद्दालक जिस सर्वज्ञ परमात्मादेवका पृथ्वी, जल, अग्नि, भुवःलोक, वायु, स्वर्ग, आदित्य, दिशा चन्द्र, तारक, आकाश, अन्धकार तेज, इन बारह अधिदैव, स्थावर, जंगमरूप सर्व अधिभूत तथा प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, बुद्धि, उपस्थ, इन आठ प्रकारके अध्यात्मोंमें श्रुतिने कथन किया है और जो परमात्मादेव पृथ्वी आदि एकवीस स्थानोंमें स्थित हुआ भी उन पृथ्वी आदि स्थानोंसे भिन्न ही रहता है जैसे गृह वाला पुरुष अपने गृहसे भिन्न है तैसे जो परमात्मादेव पृथ्वी आदिकोंसे भिन्न हो और वे पृथ्वी आदिक अपने अन्तर स्थित जिस परमात्मादेवको नहीं जान सकते, और जो परमात्मादेव पृथ्वी आदिकोंको नियमसे अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त करने के लिये किसी दूसरे शरीरको ग्रहण नहीं करता किन्तु जैसे साधारण जीवोंको शुक्र शोणितका विकाररूप यह शरीर है तैसे जिस परमात्माके पृथ्वी आदिक शरीर हैं और जैसे राजा अपने भृत्यों को नाना प्रकारके व्यापारोंमें नियमसे प्रवृत्त करता है तैसे जो परमात्मादेव पृथ्वी आदिकोंके अभिमानी चेतनरूप लिंग शरीरोंको अपने-अपने व्यापारमें नियमसे प्रवृत्त करता है वह मायाका अधिपति परमात्मादेव ही अन्तर्यामी है। हे उद्दालक! जिस अन्तर्यामीका स्वरूप तुमने पूछा है वह अन्तर्यामी परमात्मादेव तुम्हारा, हमारा तथा सर्वजीवोंका आत्मारूप है। वह अन्तर्यामी जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, शोक, मोह इन षट ऊर्मियोंसे रहित है। तात्पर्य यह कि जो पृथ्वीमें स्थित है, पृथ्वीसे भिन्न है, पृथ्वी जिसको नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, और जो पृथ्वीको अपने कार्यमें प्रवृत्त करता है वह परमात्मादेव तेरा अन्तर्यामी अमृत है। इसी प्रकार जलादिकोंमें भी अन्तर्यामीका स्वरूप जान लेना चाहिए।

अन्तर्यामीका स्वरूप कहनेके बाद धर्मात्मा याज्ञवल्क्यने "नेति-नेति" श्रुतिको अंगीकार कर सर्व धर्मोंका निषेध करने वाले अदृष्टत्वादिक

आत्माके धर्मोंको बतलानेके लिये आगे कहा—हे "उद्दालक ! यह अन्तर्यामी परमात्मादेव ज्ञानवान् पुरुषके नेत्रों द्वारा भी देखा नहीं जाता, श्रोत्र, मन, शुद्ध-बुद्धि आदि किसी भी इन्द्रिय द्वारा इसका श्रवण, चिन्तन, निश्चय नहीं होता है। यह परमात्मा अदृष्टत्व, अश्रुतत्व आदि धर्मोंवाला है और यह अन्तर्यामी आत्मा दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति इस प्रकारके बुद्धि वृत्तियोंका प्रकाशक है, इस कारण इसे द्रष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता इत्यादि नामोंसे श्रुति कथन करती है। नेत्रादिक इन्द्रियों तथा बुद्धि आदिकोंके समस्त अन्तर बाह्य व्यापारोंको यह अन्तर्यामी आत्मा जानता है। परन्तु नेत्रादिक उसको नहीं जान सकते हैं। अतः अन्तर्यामी आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ द्रष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता रूप नहीं। इसलिये हे उद्दालक ! यह अन्तर्यामी परमात्मादेव ही तुम्हारा आत्मा है, इससे भिन्न तुम्हारा आत्मा नहीं। क्योंकि जो पदार्थ चैतन्यरूप परमात्मासे भिन्न है वह जड़ होता है और जो पदार्थ जड़ है वह घटादिकों की तरह उत्पत्ति नाशवाला होता है।"

अपने प्रश्नोंका उत्तर सुनकर उद्दालक प्रश्न करनेसे उपराम हो गया।

तत्पश्चात् वचक्नु ऋषिकी पुत्री गार्गीने पुनः उठकर सर्व ब्राह्मणोंको सम्बोधित कर कहा—"आप सब ब्राह्मण मुझे आज्ञा दें तो मैं इस याज्ञवल्क्यसे केवल दो प्रश्न पूछूँ। यदि यह उनका उत्तर दे देगा तो निश्चय है फिर सभी ब्राह्मण याज्ञवल्क्यको जीतनेमें उसी प्रकार असमर्थ होंगे जैसे असंख्यों जुगनु सूर्यको जीतनेमें असमर्थ होते हैं।

सभी ब्राह्मणोंने एक स्वरमें कहा—"हम तुम्हें प्रश्न करनेकी आज्ञा देते हैं।"

सर्व ब्राह्मणोंका समर्थन पाकर गार्गीने याज्ञवल्क्यसे कहा—"इस लोकमें जैसे तू प्रसिद्ध है वैसे मैं भी प्रसिद्ध हूँ। जैसे तू अधिक बुद्धिमान है तैसे मैं भी अधिक बुद्धिमती हूँ। सब स्त्रियोंमें सरस्वतीके समान मैं तीक्ष्ण बुद्धि वाली हूँ।"

याज्ञवल्क्यने पूछा—"तुम्हारे अन्दर ऐसी कौन सी बुद्धि है जिसके कारण तू अपने को सर्वश्रेष्ठ समझती है ?"

गार्गीने उत्तर दिया—"सर्व जगतमें आत्म बुद्धि ही मेरी अधिकता का कारण है। इसी कारण मैं सर्व जगतको पुरुष भावसे रहित मानती हूँ। केवल एक अपने को ही पुरुष मानती हूँ। क्योंकि संसारमें जितने भी स्त्री पुरुष नपुंसक हैं उन सबको मैं आत्म रूपसे देखती हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसको सर्वत्र व्यापक आत्माका ज्ञान है वही पुरुष है और जिसको व्यापक अद्वितीय आत्माका ज्ञान नहीं हुआ है ऐसे अज्ञानी जीव नपुंसक हैं, अथवा स्त्री हैं।

अज्ञानी जीव नपुंसक कैसे है ? इसे बतलाती हूँ। शक्तिहीन को लोकमें नपुंसक कहते हैं। इस प्रकार नपुंसकका लक्षण अज्ञानी जीवों में ही घटता है। क्योंकि यह अज्ञानी जीव अत्यन्त समीप हृदय देशमें स्थित आनन्द स्वरूप स्वप्रकाश आत्माके जाननेमें भी समर्थ नहीं है। इसलिये सभी अज्ञानी जीव नपुंसक हैं। अज्ञानी जीवोंमें स्त्रीपना दिखलाती हूँ।

हे याज्ञवल्क्य ! उच्च स्तनों वाली मैं गार्गी स्त्री नहीं हूं, परन्तु जिन पुरुषोंको आनन्द स्वरूप अद्वितीय आत्माका ज्ञान नहीं हुआ है वे अज्ञानी पुरुष ही स्त्री हैं। क्योंकि जैसे लोकमें स्त्रियोंका अपनेसे भिन्न पति होता है और उस पतिके अधीन सदा स्त्री रहती है, कभी भी स्वतन्त्र नहीं होती। तैसे अज्ञानी जीवोंके भी अपनेसे भिन्न पति हैं सदा अज्ञानी जीव रूपी स्त्री उन पतियोंके अधीन रहती है। अतः अज्ञानी जीव ही स्त्री हैं। और उन स्त्रियोंमें भी ये अज्ञानी जीव वेश्या स्त्रीके समान हैं। क्योंकि जैसे वेश्याको बहुतसे पुरुष भोग करते हैं तैसे इस अज्ञानी जीव रूपी स्त्रीको भी काम क्रोध, लोभ, मोहादिक अनेक पति भोगते हैं। जैसे लोक प्रसिद्ध स्त्री पुरुषके सम्बन्धसे गर्भ को धारण करती है तैसे यह अज्ञानी जीवभी कालरूपी पुरुषके सम्बन्धसे सप्तम धातु वीर्य रूप गर्भको धारण करते हैं। इस कारणसे ही अज्ञानी जीव स्त्री हैं।"

गार्गीने आगे कहा—"मेरे अन्दर काम क्रोध आदि नहीं है इसलिये मैं पुरुष हूँ। अपने अन्दर कामादिक विकारोंका अभाव दिखलाती हूं। पूर्ण यौवनसे युक्त मैं युवा पुरुषोंके बीच स्थित हूं तथापि मेरे अन्दर किसी प्रकारका विकार नहीं है। जैसे एकान्त देशमें स्त्री नग्न होती है उसी प्रकार मैं सभाके मध्य नग्न स्थित हूं और ये सभी ब्राह्मण कामादिक विकारोंके भयसे मेरी तरफ देखते भी नहीं। परन्तु मेरा देहाभिमान निवृत्त हो गया है। अतः इन ब्राह्मणों को नेत्रसे देखती हूँ अपने हस्तोंसे स्पर्श करती हूं तथापि मेरे अन्तर किंचित मात्रभी कामादि विकार नहीं उत्पन्न होते हैं। इसलिये मैं स्त्री नहीं, किन्तु अज्ञानी जीव ही स्त्री हैं।"

शंका—"शास्त्र दृष्टिसे यद्यपि तुझमें स्त्रीपना नहीं, तथापि लोक दृष्टिसे स्त्रीपना तुझमें सम्भव है।"

समाधान—"लोक दृष्टिसे भी स्त्री शब्दका अर्थ जिसमें घटता है वही स्त्री है। मेरेमें स्त्री शब्दका अर्थ घटता नहीं, अतः मैं किस प्रकार स्त्री हो सकती हूँ। निम्नलिखित शब्दोंका समूह जिसमें हो उसे लौकिक दृष्टिसे स्त्री कहते हैं। यथा—मैं वधु हूं, मैं युवती हूं, मैं सर्व सुन्दरी हूं, यह मेरा पति है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा घर है, मैं वन्ध्या हूं, यह मेरा कुटुम्ब है इत्यादि अहं मम अभिमानसे उत्पन्न नाना प्रकारके शब्दोंका समूह जिस अज्ञानी जीवमें वर्तता है वे ही अज्ञानी जीव इस लोकमें स्त्री हैं। जो प्राणी आनन्द स्वरूप आत्माके ज्ञानसे पूर्ण हैं उन प्राणियोंको श्रुति पुरुष कहती है। वे आत्मज्ञानसे युक्त प्राणी शरीरसे स्त्री, पुरुष, नपुंसक कुछ भी हों इससे ज्ञानीकी किंचित मात्र भी हानि नहीं होती है ? सर्वथा आत्म ज्ञान-वान् ही पुरुष है। जैसे एक ही नट (अभिनेता) अपनी मायासे मनोहर सुन्दर पुरुषका रूप धारण कर लेता है और क्षणमात्रमें सुन्दरी स्त्रीका रूप धारण करता है और तुरन्त नपुंसक के रूपमें भी दिखलाई पड़ता है परन्तु उस स्त्री आदि कल्पित रूपोंसे उस नटका पहला वास्तव स्वरूप अन्यथा नहीं होता है। तैसे एक ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा

अपनी मायासे कभी पुरुष शरीर, कभी स्त्री शरीर और कभी नपुंसक शरीरको ग्रहण करता हैं। परन्तु उन कल्पित शरीर रूप उपाधियोंसे आत्माका वास्तव एकत्वरूप निवृत्त नहीं होता। जैसे एक ही पुरुष स्वप्नमें निद्रादोषसे पुरुष, स्त्री, हस्ति, अश्व इत्यादि अनेक रूपोंको प्राप्त होता है परन्तु उन कल्पित रूपोंसे स्वप्न द्रष्टा पुरुष का वास्तव स्वरूप निवृत्त नहीं होता। तैसे एक ही परमात्मादेव अपनी मायासे स्त्री, पुरुष, नपुंसक, हस्ति, अश्व आदि अनेक रूपोंको धारण करता है परन्तु उन कल्पित रूपोंसे आत्माका वास्तव रूप निवृत्त नहीं होता। अतः हे याज्ञवल्क्य! आत्मज्ञान रूपी पुरुष भाव तथा सर्वज्ञतासे युक्त मैं वाक् रूपी धनुपपर प्रश्नरूपी दो बाणोंको धारणकर तुम्हें पराजित करने आई हूँ। यदि तुम उन प्रश्नोंका उत्तर जानते हो तो कहकर निराकरण करो अथवा नम्रभाव धारण कर नतमस्तक हो जाओ।"

याज्ञवल्क्यने शान्त स्वरमें कहा—"तुम निःशंक होकर प्रश्न करो।"

गार्गीने पूछा—"शास्त्र वेत्ता पुरुषोंने जिस सूत्रात्माका स्वरूप ब्रह्माण्डके उर्ध्व कपालके उपर निम्न कपालके नीचे और दोनों कपालोंके मध्यमें कहा है, और जिस सूत्रात्माका स्वरूप शास्त्रवेत्ता पुरुषोंने भूत-भविष्यत्-वर्तमान स्वरूप सकल प्रपंचरूप कहा है वह सूत्रात्मा किस कारणमें ओत-प्रोत होकर वर्तता है।"

शिष्यने गुरुदेवसे पूछा—"हे भगवन! यह प्रश्न तो पहले ही गार्गीने पूछा था, पुनः प्रश्न करनेका क्या तात्पर्य है?"

गुरुदेवने कहा—पहले अनुमान रूप तर्क को ग्रहण करके गार्गीने प्रश्न किया था और अभी शास्त्रके रीतिसे प्रश्न कर रही है। शब्दों की विलक्षणता ही पूर्व-उत्तर प्रश्नमें भेद प्रकट करता है। हे शिष्य गार्गीके प्रश्नको सुनकर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"हे गार्गी! तुमने जिस सूत्रात्मा रूप कार्यका कथन किया है वह सूत्रात्मारूप कार्य आवरण विक्षेप शक्ति वाले अव्याकृत रूप आकाशमें ओत-प्रोत होकर रहता है।"

अपने प्रश्नका उत्तर सुनकर गार्गीने याज्ञवल्क्यको नमस्कार किया और कहा—"अब मेरे दूसरे प्रश्नका उत्तर सावधान होकर कहो।"

याज्ञवल्क्यने कहा—"तुम अपना दूसरा प्रश्न भी निःशंक होकर पूछो।"

गुरुदेवने कहा—"हे शिष्य, याज्ञवल्क्य के ऐसा कहने पर गार्गीने अपने प्रथम प्रश्नको ही दूसरी बार भी पूछा और याज्ञवल्क्यने भी प्रथम प्रश्नका उत्तर ही द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें कह दिया।

शंका—"हे गुरुदेव, प्रथम प्रश्नको ही पुनः दूसरी बार पूछनेमें गार्गीका क्या तात्पर्य है।"

समाधान—"जैसे गृह केवल स्तम्भोंके आश्रित नहीं रहता किन्तु स्तम्भ तथा भित्तियों के आश्रित रहता है। तैसे सूत्रात्मा रूप कार्य भी अव्याकृत रूप आकाशमें तथा अन्य किसी कारणमें रहता होगा। इस प्रकारके अभिप्रायसे गार्गीने प्रथम प्रश्नको दुबारा पूछा है।"

शंका—याज्ञवल्क्यने प्रथम प्रश्नके उत्तर को पुनः द्वितीय वार क्यों कहा।

समाधान—'सूत्रात्मा रूप कार्य अव्याकृत रूप आकाशके विना अन्य किसीके आश्रित रहता नहीं, किन्तु जैसे मेघ केवल भूताकाशके आश्रित है तैसे यह सूत्रात्मा रूप कार्य भी केवल अव्याकृत रूप आकाशके आश्रित ही रहता है। इस अभिप्रायसे याज्ञवल्क्यने प्रथम उत्तरको पुनः दूसरी वार कह दिया।"

गार्गीने पुनः याज्ञवल्क्यसे पूछा—"वह अव्याकृत रूप आकाश किसमें ओत प्रोत है ?"

इस प्रश्नमें गार्गीका अभिप्राय यह है कि अव्याकृत रूप आकाश का अधिष्ठान आत्मा मन-वाणीका अविषय है इसलिये उस आत्माको यदि याज्ञवल्क्य नहीं कथन करेगा तो अप्रतिभा रूप निग्रह स्थानको प्राप्त होगा और यदि मन-वाणीके अविषय आत्माका कथन करेगा तो विप्रतिपत्ति रूप निग्रह स्थानको प्राप्त होगा। अतः दोनों प्रकारसे याज्ञवल्क्य का पराजय ही होगा। (कथन करने योग्य अर्थके अज्ञानको अप्रतिभा कहते हैं। विरुद्ध कथनको विप्रतिपत्ति कहते हैं। पराजयके कारणको निग्रह स्थान कहते हैं।)

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—'सर्व लोकोंके बुद्धि आदिकोंका साक्षी नित्य अपरोक्ष आत्मा रूप अक्षरमें यह अव्याकृत आकाश ओत प्रोत होकर रहता है। यहाँ अव्याकृत आकाश शब्द से मूलाज्ञानका ग्रहण करना। वह मूलाज्ञान जीव तथा ईश्वरके आश्रित नहीं रहता किन्तु जीव ईश्वर विभागसे रहित शुद्ध चैतन्यके आश्रित मूलाज्ञान रहता है और वह शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा सर्वत्र व्यापक है तथा उत्पत्ति नाश से रहित है। अतः शुद्ध आत्माही अक्षर है। उस आत्मा रूप अक्षरके आश्रित अव्याकृत आकाश रहता है।

अब पूर्वोक्त अप्रतिमा तथा विप्रतिपत्ति रूप निग्रह स्थानकी निवृत्तिके लिये अनात्म पदार्थोंके निषेध द्वारा अक्षर आत्माके स्वरूप को निरूपण करते हैं—जैसे घट बिल्वफलकी अपेक्षासे स्थूल होता है और पर्वतकी अपेक्षासे वह घट सूक्ष्म होता है। इस प्रकार जितने भी स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं उन सबसे यह अक्षर आत्मा विलक्षण है। और तृणकी तरह जितने छोटे पदार्थ है तथा तालवृक्षकी तरह जितने लम्बे पदार्थ हैं उन सबसे यह अक्षर आत्मा विलक्षण है। अग्निकी तरह रक्तवर्ण वाले जलकी तरह स्निग्ध, छायाकी तरह, तमालकी तरह श्याम, अन्धकारकी तरह नेत्रनिरोधक, जितने भी पदार्थ हैं उन सबसे यह अक्षर आत्मा विलक्षण है। यह अक्षर आत्मा गतिसे रहित है, गतिमान वायुसे विलक्षण है, छिद्रसे रहित और छिद्रवान आकाशसे विलक्षण है, यह अमूर्त, संग रहित है अतः मूर्त संगवान्से विलक्षण है। यह आत्मा रस-गन्धसे रहित और विलक्षण है।

हे गार्गी! इस अक्षर आत्माका पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय स्वरूप नहीं है। मन बुद्धि चित्त, अहंकार पंच प्राण, भी स्वरूप नहीं है। मोक्ष पर्यन्त रहने वाला तथा दोनों लोकों

में गमन करने वाला सूक्ष्म शरीर तथा अद्वितीय आत्माका भेद करने वाला अविद्या रूप कारण शरीरभी आत्माका स्वरूप नहीं है। यदि यह आत्मा अन्तर ही होवे तो बाह्य पदार्थोंको कौन प्रकाश करेगा और यह अक्षर आत्मा केवल बाह्य ही होवे तो अन्तरके पदार्थोंको कौन प्रकाश करेगा, आत्मासे भिन्न सर्व पदार्थ जड़ हैं। अतः उनमें प्रकाशता सम्भव नहीं। और यह अक्षर आत्मा अपने स्वप्रकाश रूपसे अन्तर बाह्य सब पदार्थोंको प्रकाश करता है। अतः सर्वका साक्षी अक्षर आत्मा निर्विकार असंग है, इसलिए भोक्ता भोग्यपनेसे रहित है। हे गार्गी! जैसे आकाशमें मेघोंका समूह तथा अन्धकार प्रतीत होता है और जैसे रज्जुमें सर्प दण्डादिक प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह कि जैसे मेघादिकोंसे आकाशका भेद नहीं होता और जैसे कल्पित सर्पादिकोंसे रज्जुका भेद नहीं होता तैसे कल्पित प्रपंचसे अधिष्ठान रूप अक्षर आत्माका भेद नहीं होता। अतः अक्षर आत्मा सर्व भेदसे रहित है।"

याज्ञवल्क्यने उपाधिसे रहित अक्षर आत्माका स्वरूप कथन किया। उस अक्षर आत्माका स्वरूप जिन पुरुषोंके चित्तमें नहीं आता उनके अनुग्रहके लिये मायाविशिष्ट अन्तर्यामीको जनानेवाले लिंगोंको दिखलाते हैं—

अप्रत्यक्ष पदार्थको जो जनाये उसे लिंग कहते हैं। जैसे पर्वतमें छिपी हुई अग्निको धूमरूपी लिंग जनाता है। जैसे भृत्य नियमसे राजाकी आज्ञामें कार्य करते हैं तैसे यह सूर्य चन्द्रमा भी नियमसे जगतके व्यवहारको चलाते हैं इसलिये यह जाना जाता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मादेव सूर्य चन्द्रमाका अधिपति है, जिसकी आज्ञासे ये सूर्य चन्द्र नियमपूर्वक कार्य कर रहे हैं। अतः सूर्य चन्द्रमाकी नियमसे प्रवृत्ति अन्तर्यामीको जनानेवाला लिंग है। जो-जो पदार्थ गुरुत्व धर्मवाले हैं उनका किसी आधार के अभावमें नीचे पतन होता है। जैसे गुरुत्व धर्मवाले वस्त्र आदि पुरुषरूप आधारके बिना भूमिपर गिर पड़ते हैं तैसे सम्पूर्ण भूत प्राणियों के भारको धारण करनेवाली पृथ्वी गुरुत्वधर्म वाली है, परन्तु उसका नीचे पतन नहीं होता। अतः इससे जाना जाता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मादेव पृथ्वीको धारण करनेवाला है। अतः गुरुत्व धर्मवाली पृथ्वीकी स्थिति भी परमात्माको जनानेवाला लिंग है। इसी प्रकार नियमपूर्वक कालकी प्रवृत्ति, गंगादिक नदियोंका आदिकाल से पूर्व दिशाकी ओर नियमित प्रवाह, ये सब परमात्माको जनानेवाले लिंग हैं।

हे गार्गी! जिस अक्षर आत्माके आश्रित अव्याकृत आकाश हमने पहले कहा था उसी अक्षर आत्माको न जानकर जो पुरुष यज्ञ, दान, तप, हवन इत्यादि अनेक कर्मोंको बहुत-काल तक करता है उस अज्ञानी पुरुषको वे यज्ञादि कर्म नाशवान् फलकी प्राप्ति करते हैं। जो पुरुष इस अक्षर आत्माको जानकर शरीरका परित्याग करता है वह विद्वान पुरुष इस लोक में कृतकृत्य है। वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है।"

शिष्य बोला—"गुरुदेव! याज्ञवल्क्यने गार्गीको अक्षर आत्माके ज्ञानका उपदेश किया परन्तु उस ज्ञानके साधनोंका उपदेश क्यों नहीं किया?"

गुरुदेवका उत्तर—"गुरुमुखसे वेदान्तका श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये तीनों अक्षर आत्माके ज्ञानके साधन हैं। जिन्हें कहोलके प्रति याज्ञवल्क्यने कहा था। इन साधनोंका श्रवण उस समय गार्गीने भी किया था। इसी अभिप्रायसे उन साधनोंको पुनः नहीं कहा गया।

शंका—"माया विशिष्ट अन्तर्यामीका स्वरूप याज्ञवल्क्यने पहले उद्दालकके प्रति कहा था। जिसे गार्गीने भी सुना। परन्तु विना पूछे ही गार्गीके प्रति पुनः अन्तर्यामीका स्वरूप कहने का क्या अभिप्राय है ?"

समाधान—"उद्दालकके द्वितीय प्रश्नके विचारमें जिस अन्तर्यामीका कथन किया गया वह अक्षर आत्मासे भिन्न नहीं। किन्तु वह अन्तर्यामी अक्षर आत्मारूप है। तात्पर्य यह कि शुद्ध आत्माको अक्षर कहते हैं। वह शुद्ध आत्मा ही जब मायारूप उपाधिको अंगीकार करके जगतके उत्पत्ति, स्थिति, लय, नियमन, प्रवेश इत्यादि कार्योंको करता तब उस अक्षर आत्माको अन्तर्यामी कहते हैं। अभेद बोधनके लिये ही याज्ञवल्क्यने अन्तर्यामीके स्वरूपको पुनः कहा है।"

याज्ञवल्क्य बोले—"हे गार्गी! यह अक्षर आत्मा नेत्रादिक सर्व दृश्य प्रपंचका साक्षी है, इसलिए उसे नेत्रादिक दृश्य प्रपंच नहीं जान सकते। जैसे मिट्टीसे घट भिन्न होता है तैसे द्रष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता रूप जीवात्मा उस अक्षर आत्मासे भिन्न नहीं। किन्तु यह जीव अक्षर आत्मा रूप है। इसलिये स्थूल सूक्ष्म प्रपंच रूप विक्षेपका कारण तथा आत्माको आच्छादन करनेवाला अव्याकृत आकाश इस अक्षर आत्मामें ही रहता है।"

गुरुदेवने कहा—"हे शिष्य! याज्ञवल्क्य के अमृत रूपी वचनको सुनकर गार्गी अत्यन्त आनन्दित हुई और कृपा युक्त हो समस्त ब्राह्मणोंसे बोली—"मैं निष्पक्ष होकर कहती हूँ कि याज्ञवल्क्यके समान कोई पुरुष हमने नहीं देखा। यही आत्मज्ञान युक्त पुरुष है। यद्यपि इसके अलावा लोकमें मैंने बहुतसे पुरुषोंको देखा है, वे सभी दूरसे रमणीक लगनेवाले धवल गृहके समान दीखते हैं, परन्तु अन्दरसे जड़ हैं। इस लोकमें कितने पुरुष भारवाही बैलके समान है जो व्यर्थ ही शास्त्रोंके बोझको उठाते फिरते हैं। दूसरोंको उपदेश देते हैं परन्तु स्वयं रंचमात्र भी उसके अर्थको नहीं जानते। कुछ लोक शुक् सारिकाके समान होते हैं, सुन्दर शब्दोंका उच्चारण करते हैं परन्तु उसके अर्थ को नहीं जानते। बहुतसे लोग आँख रहते हुए भी अन्धेके समान हैं।

हे ब्राह्मणों! इस लोकमें मैंने अनेक पुरुष व्याघ्रके समान देखा है जो मन वाणी शरीरसे सदा हिंसामें तत्पर रहते हैं। अनेक लोक व्याकरण, मीमांसा, न्याय, धर्म शास्त्र आदिके पढ़ने पढ़ानेमें कुशल है, परन्तु अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादक वेदान्त शास्त्रके अर्थमें उनकी बुद्धि कुशल नहीं दीखती। कुछ ही लोगोंको थोड़ा बहुत वेदान्तका ज्ञान है, जिससे उनके संशयकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो पाती। जिन पुरुषोंको समग्र वेदान्तका ज्ञान है, तो भी काम क्रोध आदि

प्रतिबन्धोंके वशसे वह ज्ञान उन पुरुषोंके मूला-ज्ञानकी निवृत्ति करनेमें समर्थ नहीं होता। जैसे अग्निसे भुने हुए धान नष्ट शक्ति होनेके कारण फलको उत्पन्न नहीं करते तैसे काम क्रोध आदि प्रतिबन्धोंसे युक्त हुआ ज्ञान उन पुरुषोंके मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं करता है।

काम क्रोधादि सभी प्रतिबन्धोंमें अहंकार सबसे मुख्य है, जैसे गौण स्तम्भोंके नाश होने पर भी घर मध्यके मुख्य स्तम्भके सहारे रहता है वैसे ही काम क्रोधादिके निवृत्त होनेपर भी जब तक अहंकार विद्यमान रहता है तब तक इस संसारकी निवृत्ति नहीं होती। अतः आत्म ज्ञानमें मुख्य प्रतिबन्ध अहंकार व्यापक है।

यह अहंकार सभी जीवोंमें स्थित है। इससे रहित कोई नहीं दीखता। यहाँ राजाजनक की सभामें देश देशान्तरके विद्वान ब्राह्मण एक-त्रित हुए हैं। इनमें कितने काम दोषसे रहित हैं, कितने काम क्रोधसे रहित हैं और बहुतसे लोग काम क्रोध मोह लोभ आदि बहुत दोषों से रहित हैं परन्तु अहंकारसे रहित कोईभी नहीं दीखता, इसलिये अहंकारको व्यापक कहा है।

यह अहंकार दुर्विज्ञेय भी है। क्योंकि इससे भिन्न जितने काम क्रोधादि दोष हैं उन्हें बुद्धिमान पुरुष शास्त्र प्रमाण तथा अपने अनु-भवसे दुःखका कारण जानकर परित्याग कर देता है। परन्तु अहंकारकी दुःख कारणता शास्त्र प्रमाण और अनुभव द्वारा भी नहीं जानी जाती। क्योंकि सर्व शास्त्रोंके वेत्ता विद्वान पुरुषोंमें भी अहंकार देखा जाता है। इसमें तुम सब ब्राह्मण ही दृष्टान्त हो। यह अहंकार लोक परलोकमें भी जीवोंके दुःखका कारण है। परन्तु इस प्रकारका व्यापक दुर्जय अहंकार इस याज्ञ-वल्क्यमें नहीं है। अतः काम क्रोधादि भी इसमें नहीं हैं। जैसे व्यापक अग्निके अभाव होने पर व्याप्यधूम भी नहीं रहता है वैसे ही व्यापक अहंकारके अभाव होने पर व्याप्य काम क्रोधादि भी नहीं रहते हैं। इसलिये हे ब्राह्मणो! तीन लोकोंमें यह याज्ञवल्क्य ही एक पुरुष है, उसके समान कोई दूसरा नहीं। क्योंकि श्रुतिमें सर्वत्र पूर्णको पुरुष कहा है और इस ब्रह्मवेत्ता याज्ञ-वल्क्यसे स्थूल सूक्ष्म रूप सम्पूर्ण जगत पूर्ण हो रहा है। अतः यही एक पुरुष है। तात्पर्य यह कि श्रुतिने ब्रह्मको सर्वत्र पूर्ण कहा है।

"ब्रह्मविद्ब्रह्मैवभवति"

ब्रह्मको जानने वाला पुरुष ब्रह्म रूप होता है। इस श्रुतिमें ब्रह्मवेत्ता पुरुषको ब्रह्म रूपता कही है। अतः ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्यमें सर्वत्र पूर्णता सम्भव है।

हे ब्राह्मणो! एक और आश्चर्य देखो।

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा"

मांसमय चक्षु तथा वाणीसे आत्मा जाना नहीं जाता। इस प्रकारका श्रुति वाक्य मुझे असत्यकी तरह प्रतीत हो रहा है। क्योंकि श्रुति तो यह कहती है कि सर्वत्र पूर्ण पुरुष मांसमय नेत्रोंसे नहीं दीखता। परन्तु मैं गार्गी इन मांसमय नेत्रोंसे सर्वत्र पूर्ण याज्ञवल्क्य पुरुषको अपने सम्मुख देखती हूं। इसलिये श्रुति वाक्य-पर शंका हो सकती है, परन्तु वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो श्रुति वाक्य सत्य ही है। क्योंकि मांसमय नेत्रोंसे तुम सब ब्राह्मण याज्ञ-

वल्क्यके वास्तव स्वरूपको जानते नहीं और मैं तो शास्त्र प्रमाण तथा अन्तर अनुभव इन दोनों से युक्त नेत्रों द्वारा याज्ञवल्क्यके वास्तव स्वरूप-को जानती हूँ। केवल मांसमय नेत्रोंसे मैं भी नहीं जानती। दृष्टान्त है, जैसे "वही यह देवदत्त है" इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञानमें अतीत तथा अंशके ज्ञानमें केवल नेत्र इन्द्रिय कारण नहीं किन्तु संस्कारसे युक्त नेत्र इन्द्रिय कारण है। तैसे इस पूर्ण पुरुषके ज्ञानमें भी केवल मांसमय नेत्र इन्द्रिय कारण नहीं किन्तु शास्त्र प्रमाण और अन्तर-अनुभव इन दोनोंसे युक्त नेत्र इन्द्रिय कारण है। अतः पूर्वोक्त श्रुतिका विरोध नहीं।

हे ब्राह्मणो! इस ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्यको उत्पन्न करनेवाले माता पिता धन्य हैं, जिस पृथ्वीपर यह ज्ञानी विचरता है वह पृथ्वी धन्य है। हम सब आज याज्ञवल्क्यका दर्शन करके धन्य हुए हैं। इससे बढ़कर कोई दूसरा पुरुष इस समय नहीं है। अतः अब तुम लोग अहंकारके वश होकर विवाद मत करो। क्योंकि चन्दनमें भी घर्षणसे अग्नि प्रकट हो जाती है। व्यर्थ विवादरूपी मथनसे शाप रूपी अग्नि प्रकट होकर तुम सबका नाश कर सकती है। तुम सब लोग याज्ञवल्क्यको नमस्कार करो।

आत्माके अपरोक्ष ज्ञानवाले याज्ञवल्क्यके साथ परोक्ष ज्ञानवाले हम सबने व्यर्थ ही विवाद आरम्भ किया है। जैसे लोकमें एक पुरुष अपने नेत्रोंसे काशीका अपरोक्ष ज्ञान किया है और दूसरा पुरुष शब्द प्रमाणसे शास्त्रों द्वारा काशीका परोक्ष ज्ञान किया है। उस परोक्ष ज्ञानवालेका अपरोक्ष ज्ञानवालेके साथ काशीके स्वरूप निर्णयके लिये विवाद करना उचित नहीं, तैसे ही आत्माके अपरोक्ष ज्ञानवाले याज्ञवल्क्यके साथ आत्माके परोक्ष ज्ञानवाले हम सबका विवाद ठीक नहीं। पूज्यनीय आत्मज्ञान रूपी समुद्र याज्ञवल्क्यको उलंघन करनेके लिये हम प्रति-वादियोंने विवादरूपी पादसे स्पर्श किया है। इसलिये हमारेमें पापकी उत्पत्ति हुई है। उस पाप निवृत्तिका उपाय बार बार नमस्कार करनेके अतिरिक्त दूसरा नहीं है। पाप निवृत्ति और मनवांछित पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये तुम सब नमस्कार करो। यह वार्ता श्रुतिमें भी कही है—

"आत्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूति कामः"

इस लोक परलोकके धन-पुत्रादिक पदार्थों-की कामनावाले सकाम पुरुषको शरीर और धनसे ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुषकी सेवा करनी चाहिये। इस सेवासे सर्व मनवांछित पदार्थ उस पुरुषको प्राप्त होते हैं।

हे ब्राह्मणों, अब याज्ञवल्क्यको जीतनेकी इच्छा त्यागकर नमस्कार करो।"

गुरुदेवने कहा—"हे शिष्य! इतना कह-कर गार्गी याज्ञवल्क्यको प्रणाम करके प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गई। तत्पश्चात् गार्गीके वचनामृतसे आश्वलादि सभी ब्राह्मणोंका अहंकार दोष समाप्त हो गया और वे याज्ञवल्क्यको नम-स्कार करने लगे। सभी ब्राह्मण अपनी अपनी श्रद्धाके अनुसार विभिन्न प्रकारसे नमस्कार कर रहे थे, परन्तु एक विदग्ध नामक शाकल्य ब्राह्मण भावी मृत्युसे मोहित हुआ नमस्कार नहीं करता

था। यह शाकल्य अत्यन्त ईर्ष्या द्वेपसे जल रहा था।

गार्गीके हितकारी वचनोंको सुनकर शाकल्य अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। जैसे सर्पको दूध पिलानेसे विष बढ़ता है, वैसे ही गार्गीके वचनोंसे शाकल्यका क्रोध वृद्धिको प्राप्त हुआ।

शाकल्यने जिस दिन सुना कि याज्ञवल्क्यने सूर्य भगवान्से ब्रह्मविद्याको प्राप्त किया है उसी दिनसे वह ईर्ष्यासे दग्ध होकर सदा कठोर वचन कहा करता था। उसके मुखसे निन्दा युक्त वचनोंको सुनकर कुछ सज्जन पुरुषोंने याज्ञवल्क्य और शाकल्यका विवाद करानेकी प्रेरणा दी। परन्तु शाकल्य याज्ञवल्क्यको अपने समान नहीं समझता था। अतः विवाद करनेमें अपना अपमान समझता था। जैसे अर्जुनके साथ कर्ण स्पर्द्धा रखता था वैसे ही याज्ञवल्क्यके प्रति शाकल्य भी बहुत स्पर्द्धा रखता था।"

शंका—"यदि इतनी स्पर्द्धा थी तो शाकल्यने ही विवादमें सर्वप्रथम प्रश्न क्यों नहीं पूछा?"

समाधान—"जिस समय याज्ञवल्क्यने गौओंका हरण किया उस समय शाकल्य सभामें उपस्थित था। परन्तु वह यह विचारकर शान्त था कि आज पाखण्डी याज्ञवल्क्यका सभामें भंडाफोड़ होगा। क्योंकि विद्वानोंके सामने किसीका पाखण्ड चलता नहीं। याज्ञवल्क्यका अपमान देखनेकी इच्छावाले अहंकारी शाकल्यने जब गार्गीको नमस्कार करते देखा तो पाद प्रहारसे क्षुब्ध सर्पकी तरह क्रोधसे पागल हो उठा। जैसे किसीका पुत्र मर जाता है तब वह दैवको धिक्कारने लगता है वैसे ही लम्बी लम्बी स्वाँस लेकर शाकल्य दैवको धिक्कारने लगा। वह विचारने लगा कि दैव बलसे ही इस मूर्ख याज्ञवल्क्यने शास्त्र, कुल और मन्त्रबलसे युक्त ब्राह्मणोंको पराजित किया है। काल भगवान्की प्रतिकूलतासे ही इन ब्राह्मणोंका पराजय हुआ है। होनेवाली बात होकर रहती है, जो कुछ भी हुआ है मेरे यश वृद्धिके लिये ही हुआ है। क्योंकि याज्ञवल्क्यने सभी ब्राह्मणोंको जीत लिया है और अब मैं इस पाखण्डीको जीत लूँगा तो सर्व लोकोंमें मेरा यश फैल जायगा। अतः यह काल संयोग मेरी यश वृद्धिके लिए ही प्राप्त हुआ है।

गुरुदेवने कहा—नाना प्रकारके दूषित विचारोंसे ग्रस्त दुर्बुद्धि शाकल्य गार्गीके हितकर उपदेशको परित्याग कर कुत्सित् चिन्तन करने लगा—इस गार्गीका कथन अप्रमाणिक और अमान्य है क्योंकि यह कुमारी और युवती है, पिता माताके घरको छोड़कर व्यभिचारी स्त्री की तरह अपनी इच्छासे विचरती है। याज्ञवल्क्य भी दुराचारी है। क्योंकि यह बार-बार गार्गीकी ओर ही देखता है। शेष सभी ब्राह्मण चरित्रवान् और पवित्र हैं इसलिये उस कुलटा गार्गीकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता है। याज्ञवल्क्य और गार्गी व्यभिचारी पुरुषोंकी तरह कामातुर हैं इसीलिये इन दोनोंकी मित्रता हो गई है। और यह गार्गी पक्षपातयुक्त होकर बार-बार नमस्कार करती है। ऐन्द्रजालिक पुरुषकी तरह इन दोनोंने सभी लोकोंके दृष्टिका

प्रतिबन्ध कर दिया है। मोह ग्रस्त ये ब्राह्मण भी इनके अन्तर्भावोंको नहीं जानते हैं, इसलिये उस पाखण्डीको नमस्कार कर रहे हैं।"

गुरुदेवने कहा—हे शिष्य! उपर्युक्त प्रकार से सर्वदा ब्रह्मचर्य धर्ममें स्थित गार्गीके प्रति निन्दा करते हुए वह दुरात्मा शाकल्य काल प्रेरित हो पतंगेके समान ज्ञानाग्निका उल्लंघन करने पर तत्पर होकर याज्ञवल्क्यसे देवताओंकी संख्या पूछने लगा। ऋषिने भी विस्तारसे उन देवताओंकी संख्या कहकर संक्षेपसे सूत्रात्मा रूप प्राणको ही देवता तथा शेष सभी देवता इस सूत्रात्माकी विभूतियाँ हैं यह समझा दिया।

इसके बाद शाकल्यने आठ अन्यान्य प्रश्नों को भी पूछा। याज्ञवल्क्यने उनका भी उत्तर कह दिया। परन्तु फिर भी मूढ़ शाकल्य अनर्गल प्रश्न पर प्रश्न किये जा रहा था। उन प्रश्नोंमें कोई तत्त्व न देखकर अन्त में याज्ञवल्क्य ने कृपायुक्त होकर शाकल्यसे कहा—"हे शाकल्य! जैसे तू बिना कारण ही द्वेष करता है वैसे तुम्हारे पिता-पितामह भी नहीं करते थे। तेरा उत्तम कुलमें जन्म हुआ है। अकारण द्वेष हानिकर होता है। मैं नहीं चाहता कि मेरे साथ द्वेषके कारण तुम्हारी मृत्यु हो और तुम्हारे माता-पिता, पुत्र, स्त्री, परिवार सब शोकातुर हो दुःखको प्राप्त करें।

हे शाकल्य! यह वेदविद्या हमने सूर्य भगवानसे प्राप्तकी है। इसलिये हमारी विद्याका तेज दुःसह है। अतः तू विद्याकी अवज्ञा मत कर। यदि अहंकार वश हठपूर्वक अवज्ञा करेगा तो क्षण मात्रमें हमारी विद्या तुझे भस्म कर देगी। ऐसा वरदान मुझे सूर्य भगवानसे प्राप्त हुआ है। हमारे गुरु सूर्य भगवान्‌को तू किसी पाप प्रतिबन्धके वश होकर जानता नहीं, इससे प्रतीत होता है कि तू काल द्वारा मोह ग्रस्त है। इस द्वेषके कारण होनेवाली तुम्हारी दुर्गतिको स्मरण कर मुझे चिन्ता हो रही है। यद्यपि तू हमारे साथ सदा द्वेष करता रहा है तथापि मेरा द्वेष तुझसे नहीं है। क्योंकि जैसे अपने शरीर में मैं आनन्द स्वरूप आत्मा स्थित हूँ वैसे तुम्हारे शरीर, अन्य प्राणियोंके शरीर तथा स्थावर जंगम सर्व शरीरोंमें मैं आनन्द स्वरूप आत्मा स्थित हूँ। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत मुझ आनन्द स्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं, बल्कि मुझमें ही इस जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। सर्वात्मज्ञानसे युक्त होनेके कारण मेरा किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं है। सुख-दुःख हर्ष-शोक आदि धर्म मेरे स्वरूपमें तीनोंकालमें नहीं हैं। जैसे घटरूप उपाधिके उत्पत्ति, स्थिति, लयसे घटाकाशकी उत्पत्ति, स्थिति, लय नहीं होता वैसे शरीर रूप उपाधिके उत्पत्ति, स्थिति, लयसे मुझ अद्वितीय आत्माकी उत्पत्ति स्थिति लय नहीं होता। जैसे कृमि आदि क्षुद्र जन्तुओं का आत्म स्वरूप ज्ञान-अज्ञान द्वारा आवृत रहता है वैसे तुम्हारा भी आत्म स्वरूप ज्ञान अज्ञान द्वारा आवृत्त है। इसी कारण सर्वात्मदर्शी मुझ याज्ञवल्क्यको आत्मघाती पापी पुरुषके समान तू देख रहा है। हे शाकल्य! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी मृत्युसे सभी लोग दुःखी हों। हालांकि तुम्हारे शत्रुओंको इससे प्रसन्नता ही होगी। इसीलिये वे तुम्हें बार-बार व्यर्थ विवादके लिये उत्साहित करते हैं।

इतना सुनने पर भी मूढ़ बुद्धि शाकल्यकी आखें नहीं खुलीं। वह क्रोध पूर्ण वाणीसे बोला—"तू सभी ब्राह्मणों को पराजित कर गौओंको अपने आश्रममें ले गया है। इस पाप के कारण तुम्हें निर्जन वनमें अनेक बार ब्रह्म राक्षसका जन्म लेना पड़ेगा। तुझे जिस ब्रह्म विद्याका अभिमान है उसे मेरे सम्मुख कथन करो।"

याज्ञवल्क्यने अपनेमें ब्रह्मवेत्ता पना दिखलानेके लिये शाकल्यसे कहा—"देवताओं सहित तथा उनके कारण सहित सर्व दिशाओं को मैं जानता हूँ।"

शाकल्य बोला—"पूर्वादिक दिशाओंके देवता कौन हैं? उनका कारण कौन है? और उस कारणका भी कारण कौन है?"

याज्ञवल्क्य बोले—"पूर्व, दक्षिण, पश्चिम उत्तर, उर्ध्व इन पाँच दिशाओंके क्रमशः आदित्य, यम, वरुण, सोम, अग्नि ये पाँच देवता हैं। वे देवता मुझ आनन्द स्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं, किन्तु मैं ही देवता रूपसे स्थित हूँ। आदित्य देवता चक्षु रूप कारणमें स्थित है, यम देवता श्रोत्र रूप कारणमें स्थित हैं, वरुण देवता रसन इन्द्रियरूप कारणमें है, सोम देवता मन रूप कारणमें, अग्नि देवता वाक् इन्द्रिय रूप कारणमें स्थित हैं। तात्पर्य यह कि हिरण्यगर्भ की उपासनासे तद्रूप को प्राप्त होने वाले पुरुषके अध्यात्म रूप चक्षु आदिक ही अधिदैव सूर्यादि रूपसे परिणामको प्राप्त होते हैं, इस कारणसे चक्षु आदि इन्द्रिय सूर्यादिक देवताओंके कारण कहे जाते हैं।

हे शाकल्य! रूपादिक विषयोंने अपने को प्रकाश करनेके लिए चक्षु आदिक इन्द्रियोंका आरम्भ किया है। इस कारणसे चक्षु आदि इन्द्रिय रूपादिक विषय रूप कारणमें रहते हैं। चक्षु इन्द्रिय शुक्ल, नील, पीतादिक रूपोंमें रहती है। श्रोत्रादिक इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य कर्मकाण्ड रूप वेदका दो अर्थ है—१—मन वाणी शरीरके क्लेश करने वाले यज्ञदान व्रत आदि २—श्रद्धा रूप अर्थ। यहाँ श्रोत्र इन्द्रिय यज्ञदानादि रूप कर्ममें रहती है और वे यज्ञदानादि श्रद्धामें रहते हैं। इस कारणसे ही अश्रद्धासे किए हुये यज्ञदान व्रतादि कर्म फलवान नहीं होते और श्रद्धायुक्त कर्म फल देते हैं। जल रूप रसन इन्द्रिय रेतरूप कारणमें रहती है और दोषोंसे रहित मन सत्य अर्थमें रहता है। तैसे वाक्-इन्द्रिय भी सत्य अर्थमें रहती है, क्योंकि-

"यन्मनसाध्यायतितद्वाचावदति।"

यह पुरुष जिस अर्थको मनसे ध्यान करता है उसी अर्थको वाणीसे कथन करता है। इस श्रुतिमें मन और वाणी का एक ही विषय कहा गया है।

हे शाकल्य, जैसे सर्व जलोंकी उत्पत्ति स्थितिका कारण समुद्र है तैसे सूर्यादिक देवताओं, नेत्रादिक इन्द्रियों तथा रूपादिक विषयों के उत्पत्ति स्थितिका कारण हृदय है। यहाँ हृदय शब्दसे माया विशिष्ट अन्तर्यामी परमात्मा का ग्रहण करना चाहिए। इसी अर्थको और स्पष्ट करके कहते हैं—जैसे लोक प्रसिद्ध भित्तिमें प्रथम रेखा मात्र देवतादिक मूर्तियोंके चित्र स्थित होते हैं, और उन रेखा रूप चित्रोंमें

श्वेत, पीत, नील, रक्त आदि वर्ण स्थित होते हैं और उन श्वेतादिक वर्णोंमें देवताओंके मुखमें दुग्ध, नेत्रोंमें अंजन, मस्तक पर मुकुट हस्तोंमें आयुध स्थित होता है। इस प्रकार चित्रादिक पदार्थ एक दूसरेके आश्रित होकर सर्व लोकों को प्रतीत होते हैं। परन्तु वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो ये सम्पूर्ण चित्रादिक पदार्थ एक भित्तिके आश्रित रहते हैं तैसे ही पूर्वादिक दिशा, अग्नि आदि देवता, नेत्रादिक इन्द्रिय तथा रूपादिक विषय आदि सम्पूर्ण जगत साक्षात् अथवा परम्परासे एक परमात्मा रूप हृदयमें रहता है। वहाँ वृत्तियों सहित अन्तःकरण साक्षात् हृदयमें रहता है और दूसरा जगत अन्तःकरण द्वारा परम्परा सम्बन्धसे हृदय में रहता है।

हे शाकल्य! जैसे चित्रोंके आधार भित्तिको जब मिट्टीसे लीप देते हैं तब वे चित्र लयभावको प्राप्त हो जाते हैं। तैसे ब्रह्मज्ञान रूपी मृत्तिकाके लेपसे यह जगतरूपी चित्र लयभावको प्राप्त हो जाता है। जैसे नीचा-ऊँचापनासे रहित समान भित्तिमें कोई चित्र ऊँचा कोई चित्र नीचा प्रतीत होता है परन्तु वह ऊँचा-नीचापना वास्तव नहीं कल्पित है, तैसे सर्वत्र समान परमात्मारूप हृदय में इन्द्रादिक देवता उत्कृष्ट प्रतीत होते हैं और वृक्षादिक स्थावर निकृष्ट प्रतीत होते हैं, परन्तु वह उत्कृष्टता तथा निष्कृष्टता परमात्मारूप हृदय में वास्तव नहीं कल्पित है। जैसे चित्रकार पुरुष नील पीतादिक नाना प्रकारके रंगोंसे भित्ति में चित्रोंको बनाता है तैसे नाना प्रकारकी वासनासे युक्त बुद्धिरूप चित्रकार अहं-मम अभिमानरूपी रंगोंसे परमात्मारूप हृदयमें जगत् रूपी चित्रोंको रचता है। जैसे चित्रके उपयोगी नीलपीतादि रंगोंको धारण करनेवाली काष्ठसे रचित छाया भित्तिके साथ सम्बन्ध मात्रसे उस भित्तिमें नाना प्रकारके चित्रोंको रचती है तैसे भित्ति भी उस छायाकी समीपतासे नाना प्रकारके चित्रोंको रचती है क्योंकि यदि भित्ति न हो तो चित्रोंकी उत्पत्ति न हो। अतः भित्ति तथा छाया दोनों चित्रोंके प्रति कारण हैं। तैसे माया विशिष्ट चैतन्यरूपी भित्तिमें नाना प्रकारकी वासनायुक्त बुद्धिरूप छाया जगतरूप चित्रोंको रचती है। इसलिये माया विशिष्ट परमात्मा तथा बुद्धि ये दोनों जगतके कारण हैं। जैसे भित्तिमें स्थित चित्रोंके ऊपर जब वारम्बार मृत्तिका लेप किया जाता है तब वे चित्र लेशमात्रसे उस भित्तिमें रहते हुए भी बाहर स्पष्टरूपसे प्रतीत नहीं होते तैसे प्रारब्ध कर्मकी समाप्ति पर्यन्त परमात्मारूप हृदयमें आभासमात्रसे रहता हुआ भी जगतरूप चित्र वारम्बार ब्रह्माकार वृत्ति रूपी मृत्तिकाके लेपसे समाधिकालमें प्रतीत नहीं होता है। जैसे पुनः-पुनः मृत्तिका लेपसे चित्रों की निःशेषतः निवृत्ति नहीं होती है किन्तु बार-बार मृत्तिकाके लेपसे चित्रोंका अदर्शनरूप लय होता है। भित्तिके निवृत्त होने पर ही चित्रोंकी निःशेषतः निवृत्ति होती है। तैसे ब्रह्म ज्ञान द्वारा अज्ञानके निवृत्त होने पर भी जब तक प्रारब्ध कर्म नहीं निवृत्त होता तबतक निःशेषतः प्रपंचकी निवृत्ति नहीं होती। किन्तु जीवन्मुक्त पुरुषको विचारकालमें प्रपंचका अदर्शन होता है, प्रारब्ध कर्मके निवृत्त होने पर ही निःशेषतः

प्रपंचकी निवृत्ति होती है। इस कारणसे ही जीवनमुक्त पुरुषोंको आभासमात्रसे जगतका भान होता है। हे शाकल्य! जैसे मायावी ऐन्द्रजालिक पुरुषरूप कारणसे आकाशमें नाना प्रकारकी सेना प्रतीत होती है तैसे बुद्धिरूप कारणसे परमात्मारूप हृदयमें नाना प्रपंच प्रतीत होता है। जैसे मायावी पुरुषरूप कारणके नाश होने पर अथवा सुषुप्ति अवस्थाके प्राप्त होने पर अथवा अन्य किसी कार्यमें आसक्त होने पर आकाशमें स्थित् नाना प्रकारका जगत नहीं प्रतीत होता तैसे किसी रोगादिसे बुद्धिरूप कारण के नाश होने पर अथवा सुषुप्तिमें, अथवा आत्मामें एकाग्र होने पर परमात्मारूप हृदयमें स्थित प्रपंचरूप चित्र प्रतीत नहीं होता है। जैसे मायावी पुरुष द्वारा उत्पन्न आकाशके नाना पदार्थ उस मायावी पुरुषसे भिन्न नहीं, किन्तु उसका स्वरूप ही हैं तैसे परमात्मारूप हृदयमें बुद्धि द्वारा कल्पित जगत बुद्धिसे भिन्न नहीं किन्तु बुद्धि स्वरूप ही है। इस अभिप्रायसे ही वेदान्त शास्त्रमें दृष्टि-सृष्टिवादका कथन किया है। जैसे आकाशमें स्थित हुआ अन्धकार अन्धकार से ही प्रतीत होता है सूर्यादि प्रकाशसे अन्धकार की प्रतीति नहीं होती। तैसे परमात्मारूप हृदयमें स्थित हुई बुद्धि बुद्धि द्वारा ही प्रतीत होती है। और जैसे सूर्यादिक प्रकाश द्वारा अन्धकारके निवृत्त होने पर विशुद्ध आकाशमें दोष रहित नेत्रवाले पुरुष अन्धकारको नहीं देखते वैसे ही आत्मज्ञान द्वारा अज्ञानके निवृत्त होने पर विशुद्ध आत्मामें कारण सहित बुद्धिको विद्वान पुरुष नहीं देखते हैं। इसलिये आत्मासे भिन्न बुद्धि आदिक जड़ पदार्थ प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं, किन्तु भ्रान्ति द्वारा सिद्ध हैं।"

शंका—"बुद्धिको यदि प्रमाण जन्य यथार्थ ज्ञानका विषय नहीं अङ्गीकार करोगे तो प्रमाण जन्य यथार्थ ज्ञानका अविषय शशक शृंगकी तरह असत्य ही होता है। इसलिये बुद्धि भी असत्य ही होगी। और जो पदार्थ असत्य होता है वह किसी कार्यको करनेमें समर्थ नहीं होता अतः असत्य बुद्धि द्वारा किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होनी चाहिए।

समाधान—"जैसे खरगोशकी सींग तथा बन्ध्यापुत्र यद्यपि असत्य हैं तथापि वे "खरगोश सींग तथा बन्ध्यापुत्र" इस प्रकारके शब्दोंसे स्वविषयक विकल्प रूप ज्ञानको उत्पन्न करते हैं। तैसे कार्य कारण सहित बुद्धि यद्यपि असत्य है तथापि वह नाना प्रकारके भ्रान्तिरूप ज्ञानोंको उत्पन्न करती है। इसलिये खरगोश सींगकी तरह असत्य बुद्धिमें नाना प्रकारके व्यवहारकी कारणता सम्भव है।"

शंका—"बुद्धिके असत्य होनेपर भी बुद्धि-का कारण अज्ञान क्यों नहीं सत्य होता है? यदि अज्ञानको भी असत्य मानोगे तो असत्य वस्तु कोई अनर्थ नहीं करती। अतः असत्य अज्ञान जन्म मरण आदि अनर्थका कारण न होना चाहिए।"

समाधान—"जैसे बुद्धि असत्य है तैसे उसका कारण अज्ञान भी असत्य ही है। और असत्य वस्तुमें भी अनर्थकारणता लोकमें देखी जाती है। जैसे मक्खीके न खानेपर भी मक्खी निगल जानेका भ्रम होनेपर वमन होना अथवा

सर्पके न होनेपर भी सर्प काटनेका भ्रम होनेपर जहर चढ़ता है और आदमी मर जाता है। अतः जैसे असत्य मक्खीका खाना वमन रूप अनर्थ-का कारण है और असत्य सर्प मृत्युरूप अनर्थ का कारण है तैसे अत्यन्त असत्य अज्ञान भी भ्रान्त पुरुषोंके जन्म मरणादिरूप अनर्थका कारण सम्भव है।

हे शाकल्य! जैसे एक ही स्वप्नद्रष्टा पुरुष असत्य अज्ञान द्वारा हाथी घोड़ा आदि नाना प्रकारके रूपोंको धारण करता है, तैसे एक ही परमात्मादेव असत्य अज्ञानके वशसे प्रपंच रूपको धारण करता है। हमारे जैसे विद्वान पुरुषोंकी दृष्टिसे यद्यपि अज्ञान तीन कालमें असत्य है तथापि तुम जैसे अविवेकी पुरुषोंके लिये यह अज्ञान वज्रके पर्वत समान दुर्भेद्य है। इसीलिये तुम जैसे अविवेकी पुरुष अत्यन्त समीप हृदय देशमें स्थित आत्माको भी नहीं जानते। जैसे नेत्रोंसे रहित अन्धा पुरुष हस्तसे स्पर्श की हुई निधिको भी नहीं जानता। हे शाकल्य! सम्पूर्ण प्रपंचरूप चित्रका आश्रय परमात्मा रूप हृदय है।"

मूढ़ बुद्धि शाकल्यने पुनः प्रश्न किया—"प्रपंचरूपी चित्रका आधार हृदय किसके आश्रित रहता है।"

याज्ञवल्क्यने कहा—"प्रपंचरूप चित्रको धारण करनेवाले परमात्माको ही मैंने हृदयरूपसे कहा है। परन्तु तुमने मेरे कथनको समझा नहीं बल्कि हृदय नामसे प्रसिद्ध मांस खण्डको ही हृदय रूपसे जान लिया। तुम्हारे अभिप्रायसे तो वह मांसमय हृदय सूक्ष्म शरीरके आश्रित है। क्योंकि सूक्ष्म शरीरके विना यह स्थूल शरीर स्थिर नहीं रहता है। सूक्ष्म शरीरके पृथक होते ही मांसमय हृदय युक्त स्थूल शरीरको गिद्ध श्वान खा जाते हैं।

गुरुदेवने कहा—"हे शिष्य! बहुत तरहसे समझानेपर भी बहिर्मुख द्वेषयुक्त दुर्बुद्धि शाकल्य प्रश्नोंके वास्तव अर्थको नहीं समझ पाता था। और बार बार अनर्गल प्रश्नोंको पूछा करता था। प्रश्नोत्तरकी मर्यादा भंग होते ही अपनी प्रतिज्ञानुसार सूर्य भगवान याज्ञवल्क्यकी जिह्वापर प्रकट हो गये।

ब्रह्मज्ञानके विलक्षण तेजसे प्रकाशमान याज्ञवल्क्यने कहा—"हे शाकल्य! तू बार बार मुझसे प्रश्नोंको पूछकर अपनेको विद्वान सिद्ध कर रहा है। तुम्हारे प्रश्नोंका मैंने बहुत बार उत्तर दिया है। अब हमारे एक प्रश्नका उत्तर तुम दो। मन वाणीका अविषय परमात्मादेव जो केवल उपनिषद् प्रमाण द्वारा ही जाना जा सकता है उस परमात्माका स्वरूप तुम मुझे बतलाओ। यदि मेरे इस प्रश्नका उत्तर नहीं दे सकोगे तो इसी क्षण इसी जनककी सभाके मध्य इस अशुभ वेलामें तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।"

हे शिष्य! वह शाकल्य किंचित मात्र भी याज्ञवल्क्यके प्रश्नोंका उत्तर न कह सका। अतः सर्व जगतके उत्पत्ति, स्थिति, लयके कारण सूर्य भगवानके शाप प्रभावसे शाकल्यके शरीरसे मन वाक् और इन्द्रियादिक बाहर निकल गईं। और उसका अधम शरीर भूमिपर गिर पड़ा।

शाकल्यके मृत शरीरको देखकर उसके सभी परिजन, कुटुम्ब शोक ग्रस्त हो गये। लोगोंने ले जाकर उसके शरीरका अन्तिम संस्कार किया। मित्र-शत्रु सभी उस शाकल्यको ही धिक्कार करते हुए परस्पर कह रहे थे। यद्यपि वह विद्यादिक सर्व गुणोंमें सम्पन्न था तथापि उसे ब्रह्मवेत्ताके द्वेषरूप प्रबल दोषका यह फल प्राप्त हुआ है। ब्रह्मवेत्ताका अद्भुत प्रभाव प्रत्यक्ष है। अतः उनके साथ कभी भी द्वेष नहीं करना चाहिये। शाकल्यके वधमें किसी जीवका सामर्थ्य नहीं, यह अचिन्त्य शक्ति परमात्माका ही कार्य है। अतः सिद्ध है कि यह याज्ञवल्क्य साक्षात् ब्रह्मरूप है। "ब्रह्मवेत्ता पुरुष सर्वात्म भावको प्राप्त होता है" यह श्रुतिकी उक्ति आज हम लोगोंके समक्ष ही सत्य हुई है। सभामें सभी शाकल्यकी ही निन्दा कर रहे थे। यह याज्ञ-वल्क्य सर्व जीवोंका आत्मारूप है इस कारणसे ही अपनी आत्मारूप याज्ञवल्क्यकी कोई प्राणी निन्दा नहीं करता है।

गुरुदेवने कहा—हे शिष्य, शाकल्यकी मृत्युसे उत्पन्न अशान्ति और हाहाकारके शान्त होनेपर याज्ञवल्यने सभामें उपस्थित सर्व ब्राह्मणों को सम्बोधन करके कहा—"आप सब विद्वान ब्राह्मण कुरु, पांचाल आदि अनेक देश देशान्तरों से आकर एकत्रित हुए हैं। आप सबमेंसे जो कोई कुछ भी पूछना चाहे निःसंकोच पूछ सकते हैं। अथवा, जो ब्राह्मण हमारे प्रश्नका उत्तर देना चाहे उनसे मैं प्रश्न पूछता हूँ। अथवा, अकले प्रश्नका सामर्थ्य न हो तो सभी मिलकर प्रश्न करो। अथवा, मैं प्रश्न करता हूँ। इन दोनोंमें तुम्हारी जो इच्छा हो वह करो।

हे शिष्य! इस प्रकारका वचन सुनकर सभी ब्राह्मणोंने याज्ञवल्क्यके प्रश्नका उत्तर देने और प्रश्न करने दोनोंमें असमर्थता प्रकट की। सभी भयभीत होकर मौन बैठे रहे। इसके बाद याज्ञवल्क्यने अपने विद्याकी उत्कृष्टता बोधन करनेके लिए स्वयं ही प्रश्न किया—"हे ब्राह्मणो! जैसे लोकमें पुष्पोंके विना ही फलको ग्रहण करनेवाले पीपल आदिके वृक्ष मिथ्या प्रतीत होते हैं, तैसे यह मनुष्यादिक शरीर भी मिथ्या ही प्रतीत होता है। इन दोनोंमें समानता भी है। जैसे पीपलमें अनेक पत्र, छाल, रस, गूदा, काष्ठ, नस नाड़ियाँ हैं तैसे मनुष्यमें भी रोम, त्वचा, रुधिर, मांस नाड़ियाँ और अस्थियाँ हैं। हे ब्राह्मणो! इन दोनोंमें सर्वत्र समानता होते हुए भी एक विशेषता भी है! वह विशेषता जिस कारणसे है वह कारण तुम सब लोग बतलाओ। वह विशेषता यह है कि जैसे कुठार आदिसे काटा हुआ वृक्ष पुनः उस मूल (जड़) से उत्पन्न हो जाता है तैसे नाशको प्राप्त यह शरीर आदिक जिस मूलसे नवीन होकर उत्पन्न होते हैं वह मूल प्रत्यक्ष नहीं दीखता। और मूलके विना नवीन शरीरोंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। अतः शरीरादिकोंका भी वृक्षोंकी भाँति कोई मूल होगा। वह मूल क्या है बतलाओ?

हे ब्राह्मणो! पिता माताके शुक्र शोणित को मूल कहना भी सम्भव नहीं। क्योंकि देह धारी जीवोंमें अन्नादि भक्षणसे ही वीर्यकी उत्पत्ति होती है, और पूछनेका अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति अवस्था तथा प्रलय कालमें सम्पर्ण प्रपंचका नाश होनेपर किस मूल कारण

से नवीन देहादिक उत्पन्न होते हैं। माता-पिता के शरीर तो प्रलय कालमें रहते नहीं इसलिए वीर्य देहका मूल नहीं। यदि तुम यह कहो कि जैसे पीपल आदि वृक्ष अपने मूलके बिना भी अन्य वृक्षके उपर नवीन होकर उत्पन्न होते हैं तैसे यह शरीर भी मूलके बिना ही नवीन होकर उत्पन्न हो जायगा। लेकिन यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्य वृक्षके उपर उत्पन्न होने वाले पीपल आदिके वृक्ष यद्यपि अपने मूलसे नहीं उत्पन्न होते तथापि उस वृक्षके उपर पक्षी आदि पीपलके बीजको ले जाते हैं। अतः वहाँ बीज ही कारण है तैसे ही इस शरीरादिकोंके मूल रूप कारणके अभाव होनेपर भी कोई बीज रूप कारण तुम्हें कहना चाहिये। वह बीज रूप शरीरका कारण कौन है बतलाओ ?

हे ब्राह्मणो ! यदि तुम यह कहो कि मूल और बीज रूप कारणके निश्चय करनेसे कोई लाभ नहीं। तो तुम्हारा यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जैसे जिस पुरुषको वृक्षके नाश करनेकी इच्छा होती है वह उस वृक्षके मूलको कुठार द्वारा काट डालता है और बीजको अग्नि द्वारा भुन देता है। इन दो उपायोंसे वृक्षका नाश हो जाता है। तैसे ही इस अधिकारी पुरुषको जब शरीरादिक प्रपंचके मूल तथा बीजका पता रहता है तब वह असंग बुद्धि रूप शस्त्रसे मूलका तथा ज्ञान रूपी अग्निसे बीजका नाश कर देता है। मूल बीजके ज्ञान बिना प्रपंच रूप वृक्षका नाश सम्भव नहीं। अतः देहादिक प्रपंचके मूल और बीजको अवश्य जानना चाहिये।

हे ब्राह्मणों ! यदि तुम लोग कहो कि जो पदार्थ एक बार उत्पन्न होता है वह पदार्थ पुनः दूसरी बार उत्पन्न नहीं होता किन्तु स्वभाव रूप कारणसे अपूर्व पदार्थ ही उत्पन्न होता है, इसलिये मूलका विचार निष्प्रयोजन है। तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि एक बार उत्पन्न हुए पदार्थकी पुनः उत्पत्ति नहीं अंगीकार करें तो किये हुए पुण्य-पाप कर्मोंका भोगके बिना ही नाश होगा और किये हुए पुण्य-पाप कर्मोंका सुख दुःख रूप फल भी नहीं भोगना होगा। यह कृतनाश-अकृताभ्यागम रूप दोनों दोषोंकी प्राप्ति होगी। और पूर्व उत्पन्न हुए पदार्थकी पुनः उत्पत्ति अंगीकार करनेपर ये दोष नहीं होते हैं। क्योंकि पूर्व जन्ममें इस जीवने जो पुण्य-पाप कर्म किये हैं उन कर्मोंका फल सुख-दुःख इस जन्ममें भोगता है। और इस जन्मके कर्म फलोंको जन्मान्तरमें भोगेगा। अतः पूर्व उत्पन्न हुए पदार्थमें ही पुण्य पापरूप अदृष्ट रहते हैं। और जो पदार्थ नर शृंगकी तरह पहले कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ उस पदार्थमें पुण्य पापरूप अदृष्ट सम्भव नहीं।

अथवा—यदि पूर्व उत्पन्न हुए पदार्थकी पुनः उत्पत्ति नहीं स्वीकार करें तो माताके गर्भसे निकला हुआ बालक उसी समय स्तन पानमें प्रवृत्त होता है वह नहीं होना चाहिए। क्योंकि 'यह पदार्थ मेरे सुखका साधन है' इस प्रकारका ज्ञान जीवोंके प्रवृत्तिमें कारण है। सुख साधनता ज्ञानके बिना किसी जीवकी प्रवृत्ति नहीं होती। अतः बालककी भी स्तन पानमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। और उत्पन्न हुए

पदार्थकी पुनः उत्पत्ति स्वीकार करनेपर इस दूषणकी प्राप्ति नहीं होगी। क्योंकि जन्म कालमें इस जीवको यद्यपि "यह स्तनपान हमारे सुखका साधन है" इस प्रकारका ज्ञान अनुभव रूप नहीं है तथापि पहलेके अनन्त जन्मोंमें यह जीव स्तन पानमें सुख साधनताका अनुभव कर आया है। उस अनुभव जन्य संस्कारोंसे इस जीवको जन्म कालमें "यह स्तन पान हमारे सुखका साधन है" इस प्रकारका स्मृति ज्ञान होता है। इसके बाद बालक स्तन पानमें प्रवृत्त होता है। अतः सिद्ध है कि उत्पन्न हुए पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है, अपूर्व पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती।

हे ब्राह्मणो! यदि कहो कि जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे पुनः बीज होता है तैसे पुण्य पापरूप अदृष्टसे यह शरीर होता है और इस शरीरसे पुनः पाप-पुण्य अदृष्ट होते हैं। अतः दूसरे किसी कारणका विचार व्यर्थ है। तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि जैसे बीज और अंकुरमें पृथ्वी रूप कारण अनुगत हुआ प्रतीत होता है तैसे पुण्य पाप रूप अदृष्टमें तथा शरीरमें कोई अनुगत कारण प्रतीत नहीं होता। अतः इस बीज अंकुरके विषम दृष्टान्तसे अदृष्ट शरीरका कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं होता।

हे ब्राह्मणो! जैसे बीज तथा अंकुरमें पृथ्वी रूप मूल कारण अनुगत है तैसे पुण्य-पाप रूप अदृष्ट तथा शरीरमें भी कोई मूलभूत कारण अनुगत होगा। वह कारण यद्यपि प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है तथापि वेद रूप अलौकिक प्रमाणसे सिद्ध हैं। अतः पुण्य-पाप रूप अदृष्ट तथा शरीरादिक प्रपंचोंके उपादान कारणका स्वरूप और लक्षण तुम सब ब्राह्मण मुझसे कहो।"

याज्ञवल्क्यके प्रश्नका कोई भी उत्तर न दे सका। क्योंकि सभामें उपस्थित एक भी ब्राह्मण जगतके कारणको नहीं जानता था। अतः सभीने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। अन्तमें मुमुक्षु जनोंके हितके लिये स्वयं प्रश्नोंका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यने कहा—"स्थूल सूक्ष्म जड़ प्रपंचका विज्ञान आनन्दरूप परमात्मा ही कारण है। वह परमात्मा देव दानी पुरुषोंको सुख रूप फल और पाप कर्मियोंको दुःख रूप फल देने वाला है। तात्पर्य यह कि परमात्माका लक्षण दो प्रकार होता है—एक स्वरूप लक्षण, दूसरा तटस्थ लक्षण। जो लक्षण अपने लक्ष्यका स्वरूप होकर इतर पदार्थोंसे अपने लक्ष्यकी व्यावृत्ति करता है उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। जैसे विज्ञान आनन्द ब्रह्मके स्वरूपभूत होकर जड़ प्रपंचसे ब्रह्मकी व्यावृत्ति करते हैं इसलिये 'विज्ञान आनन्द' यह ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है। जो लक्षण अपने लक्ष्यमें सर्वदा नहीं रहता, किन्तु कभी रहता है, कभी नहीं रहता है और अपने लक्ष्यको इतर पदार्थोंसे भिन्न करके बतलाता है उसको तटस्थ लक्षण कहते हैं। जैसे सुख-दुःख रूप फल दातृत्व ब्रह्ममें सर्वदा नहीं रहता किन्तु जगतकी स्थितिकालमें रहता है और आकाशादिक जड़ पदार्थोंसे लक्ष्यरूप ब्रह्मकी व्यावृत्ति करता है। इसलिये सुख-दुःख रूप फल दातृत्व ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है।

पूर्वोक्त वृक्षरूप दृष्टान्तकी समानता दिखलाते हैं—जैसे वृक्षके मूल नाश होने पर भी पुनः वृक्षकी उत्पत्तिमें बीज कारण होता है तैसे जीवोंके स्थूल शरीरके नाश होने पर भी पुनः शरीरकी उत्पत्तिमें सूक्ष्म शरीर कारण है। और जैसे उन बीजोंके भी नाश होनेके बाद केवल पृथ्वी स्थित रहती है तैसे सुषुप्ति और प्रलयमें उस सूक्ष्म शरीरके भी लय हो जानेके बाद केवल अज्ञान स्थित रहता है।"

शंका—"अज्ञान और सूक्ष्म शरीरसे ही सर्व जगतकी उत्पत्ति सम्भव हो सकती है फिर ब्रह्म को किसलिये अङ्गीकार किया जाय?"

समाधान—"जैसे वृक्षकी उत्पत्ति करनेमें बीजको अदृष्टरूप निमित्त कारणकी अपेक्षा होती है तैसे स्थूल शरीरकी उत्पत्ति करनेमें सूक्ष्म शरीरको परमात्माकी अपेक्षा होती है। चैतन्यरूप परमात्माकी सत्ताके बिना जड़ सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। अतः परमात्माको अवश्य अंगीकार करना चाहिए।

अथवा, पृथ्वीमें स्थित बीजोंका अंकुर रूप कार्य द्वारा ज्ञान होता है। यहाँ पृथ्वीमें संस्कार रूपसे बीजोंकी स्थिति अंकुर रूप कार्य द्वारा बीजोंके ज्ञानमें कारण है। क्योंकि यदि संस्कार रूपसे बीज पृथ्वीमें न हों तो अंकुर रूप कार्य द्वारा उन बीजोंका ज्ञान नहीं होगा। तैसे सुषुप्ति अवस्थामें तथा प्रलयकालमें स्थित अज्ञान ही सृष्टिकालमें सूक्ष्म शरीराकार परिणाम को प्राप्त होता है अतः अज्ञानमें जो सूक्ष्म शरीरके संस्कार हैं वे ही सूक्ष्म शरीरकी उत्पत्ति के कारण हैं। क्योंकि यदि प्रलयकालमें सूक्ष्म शरीरके संस्कार अज्ञानमें न हों तो सृष्टिकालमें अज्ञानसे सूक्ष्म शरीरकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। अतः प्रलयकालमें सूक्ष्म शरीरके संस्कार अज्ञानमें रहते हैं। और वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं इसलिये सर्वज्ञ परमात्माके बिना किसी जीव द्वारा जाने नहीं जाते हैं। अतः उन सूक्ष्म संस्कारोंको जाननेवाला सर्वज्ञ परमात्मा अवश्य अंगीकार करना चाहिए।

अथवा, जैसे अमूर्त आकाशमें यह मूर्तरूप पृथ्वी स्थित है तैसे विज्ञानरूप परमात्मामें यह जड़ अज्ञान स्थित है। चैतन्य रूप परमात्माके बिना अन्य किसी पदार्थमें अज्ञान नहीं रहता। क्योंकि परमात्मासे भिन्न जितने जड़ पदार्थ हैं वे सब अज्ञानके कार्य हैं। इसलिए उनमें अज्ञान नहीं रहता।

अथवा, अज्ञान जिसके आश्रित रहता है उसी पदार्थको अन्धकारकी तरह आवरण करता है, यह उसका स्वभाव है। आकाशादिक जड़ पदार्थ स्वभावसे ही आवरण रूप हैं अतः अज्ञान कृत आवरण उन जड़ पदार्थोंमें सम्भव नहीं। इस कारणसे भी जड़ पदार्थोंमें अज्ञान नहीं रहता है।

अथवा, जो वादी अज्ञानको आकाशादिक जड़ पदार्थोंके आश्रित स्वीकार करे, उनसे यह पूछना चाहिए कि जब आकाशादिक जड़ पदार्थ नहीं उत्पन्न हुए थे तब वह अज्ञान आश्रयके बिना रहता था अथवा किसी दूसरेके आश्रित रहता था। यहाँ प्रथम निराश्रय पक्ष भी सम्भव नहीं क्योंकि लोकमें अज्ञान है इस प्रकारका

शब्द सुनकर लोग यह पूछते हैं—किस वस्तु का अज्ञान है ? तथा किसमें अज्ञान है ? लोगों के इस अनुभवसे अज्ञानमें आश्रय तथा विषयकी अवश्य अपेक्षा रहती है। अतः आश्रयके बिना अज्ञान नहीं रहता। और पराश्रय रूप द्वितीय पक्ष स्वीकार करने वालेसे पूछना चाहिए कि वह दूसरा जिसके आश्रय अज्ञान रहता है वह जीव है या ईश्वर है या शुद्ध परमात्मा है ? यहाँ जीव ईश्वरमें तो अज्ञानका आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि अज्ञान विशिष्ट चैतन्यका नाम जीव ईश्वर है, इसको यदि अज्ञानका आश्रय मानें तो अज्ञान अज्ञानका आश्रय है इस प्रकार आत्माश्रय दोषकी प्राप्ति होगी। इसलिए अज्ञान जीव ईश्वरके आश्रय नहीं बल्कि शुद्ध परमात्मा के आश्रित रहता है। यह सर्व वेदान्तका सिद्धान्त है।

हे ब्राह्मणो ! जैसे लोकमें निर्धन पुरुष धनी पुरुषका आश्रय ग्रहण करता है तैसे दुःख रूप यह अज्ञान विज्ञान आनन्द रूप आत्माका आश्रय ग्रहण करता है।

विज्ञान आनन्दका अभेद दिखलाते हैं—

हे ब्राह्मणों ! इस लोकमें भी विज्ञानसे भिन्न आनन्द नहीं दीखता क्योंकि 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार ज्ञानके बिना आनन्दकी सिद्धि नहीं होती अतः आनन्द विज्ञान रूप है।"

शंका—"मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार ज्ञानके बिना दुःखकी भी सिद्धि नहीं होती इसलिए उपर्युक्त सुखके समान दुःख भी विज्ञान रूप होना चाहिये।

समाधान—"सुखके विज्ञान रूप होनेमें केवल लोक प्रसिद्धि प्रमाण नहीं, किन्तु "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह श्रुति भी प्रमाण है। दुःखकी विज्ञान रूपतामें कोई श्रुति अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हैं, अतः दुःख विज्ञान रूप नहीं।"

शंका—"सभी शास्त्रोंमें अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति रूप योग तथा प्राप्त वस्तुका परिपालन रूप क्षेम इन दोनों रूपों द्वारा सुख दुःखकी समानता ही कही गयी है। अतः यदि सुखको विज्ञान रूप मानेंगे तो दुःखको भी विज्ञान रूप मानना चाहिये। और ऐसा नहीं मानने पर शास्त्रोक्त सुख-दुखकी समान योग क्षेमता असंगत हो जायगी।"

समाधान—"यद्यपि सर्व शास्त्रोंमें सुख दुःख की समानता कही है तथापि सुख-दुःखमें इस प्रकारकी विलक्षणता सभी लोगोंको अनुभव सिद्ध है यथा—सभी चाहते हैं कि यह सुख हमें सदा रहे और दुःख कभी न हो। इस प्रकार दुःखमें द्वेष बुद्धि करते हैं और आत्म सम्बन्धि सुखकी इच्छा करते हैं। सिद्ध हुआ कि मुझे यह पदार्थ सर्वदा हो इस प्रकारकी इच्छाका विषय जो पदार्थ वह अनुकूल होता है और स्व शब्दसे प्रतिपाद्य होता है यह पदार्थ मुझे कभी न हो इस इच्छाका विषय जो पदार्थ वह प्रतिकूल होता है और 'स्व' शब्द द्वारा अप्रतिपाद्य है। "मेरेको सर्वदा सुख हो" इस प्रकार की इच्छा सर्व जीवोंको होती है। उस इच्छामें भी 'सर्वदा सुख हो' इतने अंशसे सुखमें अनुकूलता प्रतीत होती है और "मेरेको" इतने अंशसे सुखमें स्वशब्दकी प्रतिपाद्यता प्रतीत

होती है। अतः सुखका लक्षण यह सिद्ध हुआ कि जो सर्वदा अनुकूल हो तथा स्वशब्दसे प्रतिपाद्य हो उसे सुख कहते हैं। और जो सर्व जीवोंको प्रतिकूल हो तथा स्व शब्दसे अप्रतिपाद्य हो उसे दुःख कहते हैं। 'जो अनुकूल हो उसको सुख कहते हैं'' यदि इतना ही सुखका अर्थ करें तो वैरी पुरुषका सुखभी सुख रूपसे अनुकूल ही होता है अतः वैरीका सुख भी अन्य पुरुषको सुख रूप होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं। इसीलिए सुखका लक्षण स्व शब्दसे प्रतिपाद्य कहा है। और यदि स्वशब्दसे प्रति-पाद्यको ही सुखका लक्षण कहें तो यह मेरा शत्रु है यह मेरा दुःख है इस प्रकारकी प्रतीति सब जीवोंको होती है यहाँ स्व शब्दसे प्रतिपाद्यता वैरी और दुःखमें भी प्रतीत होती है। अतः वैरी तथा दुःख भी सुख रूप होना चाहिये, इसीलिये अनुकूल कहा है, क्योंकि वैरी और दुःखमें किसीको अनुकूलता ज्ञान नहीं है।''

शंका—जो अनुकूल हो और स्व शब्दसे प्रतिपाद्य हो उसको सुख कहते हैं। इस सुखके लक्षणमें स्व शब्दका अर्थ आत्माका सम्बन्धी लेना अथवा आत्मा ही लेना है। यहाँ यदि आत्माका सम्बन्धी अर्थ माने तो जैसे आत्माके सम्बन्धी शरीरादिक आत्मा रूप नहीं है तैसे आत्माका सम्बन्धी सुख भी आत्मा रूप नहीं होगा। और यदि स्व शब्दका अर्थ आत्मा मानें तो ''मेरेको सुख हो'' इस प्रतीतिमें सुख और आत्माका भेद प्रतीत होता है, जो नहीं होना चाहिए, बल्कि मैं सुखी हूँ इस प्रकार प्रतीति होनी चाहिये।''

समाधान—''सुखके लक्षणमें जो स्वशब्द उसका आत्मा सम्बन्धी अर्थ नहीं किन्तु आत्मा ही उस स्वशब्दका अर्थ है। इसलिए सुख आत्मा रूप है। और जैसे लोकमें ''यह पुरुष आपका आपही उपकार करता है'' इस प्रकारका शब्द उच्चारण करते हैं। इस शब्द द्वारा यद्यपि अपनेमें अपना भेद प्रतीत होता है तथापि अपनेमें अपना भेद नहीं है, इसलिए वह प्रतीति भ्रम रूप है। तैसे श्रुति प्रमाणसे सुख आत्माके अभेदकी सिद्धि होनेपर भी 'मेरेको सुख होवे' इस प्रकारके शब्द द्वारा जो सुख आत्माका भेद प्रतीत होता है वह भ्रान्ति रूप है। अतः उस भ्रान्ति ज्ञान द्वारा सुख आत्माका भेद नहीं सिद्ध हो सकता।

अथवा—सुख तथा आत्माका परस्पर सम्बन्ध नित्य है। क्योंकि अनित्य पदार्थ घटादिकोंकी तरह किसी कालमें रहते हैं किसी कालमें नहीं रहते हैं इसलिये सुख-आत्माका सम्बन्ध नित्य न माननेसे आत्मामें प्रतिकूलता होनी चाहिए। और किसी कालमें किसी जीव-को अपने आत्मामें प्रतिकूलता नहीं होती किन्तु सर्व जीवोंको अपने आत्मामें अनुकूलता ही होती है इसलिये सुख आत्माका सम्बन्ध नित्य है।''

शंका—''समवाय सम्बन्धको ही नैयायिक नित्य सम्बन्ध मानते हैं। और गुण द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे रहता है। अतः सुखरूप गुण भी आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहता है। और जिनका समवाय सम्बन्ध होता है उनका परस्पर भेद ही होता है। अतः सुख-आत्माका भेद ही सिद्ध होगा।''

समाधान—सुख आत्माका परस्पर समवाय सम्बन्ध नहीं किन्तु कल्पित भेदयुक्त वास्तव अभेद रूप जो तादात्म्य सम्बन्ध है वही सुख आत्माका नित्य सम्बन्ध है। क्योंकि "नेति नेति" यह श्रुति आत्मासे भिन्न सकल जगतका निषेध करती है। जैसे सुख आत्मासे भिन्न नहीं तैसे विज्ञान भी आत्मासे भिन्न नहीं। क्योंकि यदि विज्ञानको आत्मासे भिन्न अंगीकार करेंगे तो जैसे बुद्धि वृत्तिरूप गौणज्ञान आत्मासे भिन्न है इसलिये जड़ है तैसे आत्मासे भिन्न हुआ विज्ञान भी जड़ रूप हो जायगा। और जो पदार्थ जड़ होता है उसको अपनी सिद्धिके लिये अन्य ज्ञानकी अपेक्षा रहती है। जैसे घटादिक जड़ पदार्थ अपनी सिद्धिमें अन्य ज्ञानकी अपेक्षा करते हैं तैसे जड़ विज्ञान भी अपनी सिद्धिमें किसी अन्य विज्ञानकी अपेक्षा करेगा और वह दूसरा विज्ञान भी अपनी सिद्धिमें किसी तीसरे विज्ञानकी अपेक्षा करेगा। इस प्रकार अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी।

अथवा—जो अपनी सिद्धिमें अन्य विज्ञानकी अपेक्षा करता है वह विज्ञानरूप नहीं होता। अतः विज्ञानको घटादिकोंकी तरह अविज्ञान रूप कहना अत्यन्त विरुद्ध है। सुख-की तरह विज्ञान भी स्वप्रकाश आत्मा रूप है।"

याज्ञवल्क्यने आगे कहा—"हे ब्राह्मणो! सम्पूर्ण जगतमें मिथ्यात्व बोधन करनेके लिये श्रुति विज्ञान आनन्द रूप आत्माको ब्रह्मरूपसे कथन करती है। तात्पर्य यह कि देश-काल-वस्तु परिच्छेदोंसे रहित महान अर्थको ब्रह्म शब्द बोधन करता है। यहाँ यदि प्रपंचको सत्य मानें तो ब्रह्ममें वस्तु परिच्छेदकी प्राप्ति होगी। इस-लिये ब्रह्म शब्द आत्मासे भिन्न सर्व जगतमें मिथ्यात्वको बोधन करता है। जैसे एक ही आकाशमें घट मठ आदिक उपाधियों द्वारा नाना प्रकारका भेद प्रतीत होता है तैसे एक ही अद्वितीय आत्मामें अज्ञानादिक उपाधियों द्वारा नाना प्रकारका भेद प्रतीत होता है इसलिये ब्रह्ममें सजातीय भेद नहीं। जैसे मायावी पुरुषने अपनी माया द्वारा आकाशमें जो माया शरीर उत्पन्न किया है उस माया शरीर रूप उपाधिके विद्यमान होनेपर मायावी पुरुषका जो आका-शादिकोंमें भेद तथा आकाशादिकोंका जो मायावी पुरुषमें भेद प्रतीत होता है, वह भेद उपाधिके मिथ्या होनेसे मिथ्या ही है। तैसे अज्ञानादिक उपाधियोंके मिथ्या होनेसे उन अज्ञानादिकों द्वारा किया हुआ ब्रह्ममें नाना प्रकारका भेद भी मिथ्या है अतः विजातीय भेद भी ब्रह्ममें नहीं है। और विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म सर्वदा एकरस तथा निरवयव है इसलिये उसमें स्वगत भेद भी नहीं है।

हे ब्राह्मणो! यह विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म जो हमने तुम लोगोंसे कहा है वह शुद्ध ब्रह्म जगतका कारण नहीं होता, किन्तु मायासे विशिष्ट हुआ वह ब्रह्म जगतका कारण होता है। इस अभिप्रायसे ही श्रुतिने पुण्य पापके फल प्रदाताको जगतका कारण कहा है। शुद्ध ब्रह्ममें फल प्रदातृत्व सम्भव नहीं। मायामें जगतकी कारणता बोधन करनेके लिए माया विशिष्ट परमात्मामें जगतकी कारणता पहले कही थी। परन्तु इस अर्थमें भी अनुपपत्ति रूप दूषण-

की प्राप्ति होती है। क्योंकि चैतन्यकी सत्ताके बिना वह जड़ माया अपनी स्थिति करनेमें भी समर्थ नहीं होती तो सम्पूर्ण जगतके निर्वाह करनेमें वह कैसे समर्थ होगी ? इस प्रकारके अनुपपत्तिका विचार करके वेद भगवान्‌ने केवल शुद्ध ब्रह्मको ही सर्व जगतका अधिष्ठान कथन किया है। वह ब्रह्म केवल जड़ अज्ञानका अधिष्ठान नहीं किन्तु ब्रह्मचर्यादिक साधनों द्वारा जिन पुरुषोंको मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकारका अभेद ज्ञान हुआ है उन विद्वान पुरुषोंका भी शुद्ध ब्रह्म ही परम स्थान है।"

गुरुदेवने कहा—हे शिष्य ! मायासे विशिष्ट हुआ जो ब्रह्म पुण्य पापके फलका दाता है और मायासे रहित हुआ जो ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंका आत्मा है वही ब्रह्म इस जगतका उपादान कारण है। इस अभिप्रायसे ही याज्ञवल्क्य ऋषिने सर्व ब्राह्मणोंसे जगतका कारण पूछा था। परन्तु वे सब ब्राह्मण किंचित मात्र भी उत्तर न दे सके। इस प्रकार सूर्य भगवानका शिष्य याज्ञवल्क्य ऋषिने गौओंके निमित्तसे सभी ब्राह्मणोंको पराजित कर ब्रह्मवेत्ताके द्वेषी शाकल्यको भस्म किया और अपने गुरु द्वारा प्राप्त ब्रह्मविद्याको याज्ञवल्क्यने श्रद्धावान् जनक राजाके प्रति उपदेश किया।

इति पंचमोऽध्यायः



जयजय सद्गुरु शारदाराम

सूचना

आत्मपुराणके कुल १८ अध्याय हैं। पाँच अध्याय सेवामें प्रस्तुत किया जा सका है। शेष आगामी वर्ष कार्तिक मासमें परमानन्द संदेशके विशेषांकके रूपमें प्रकाशित किया जायगा। आत्मपुराण निःशुल्क प्राप्त करनेके लिये परमानन्द संदेशका सदस्य बन जाना विशेष लाभकर होगा। वार्षिक चन्दा पाँच रुपये मात्र, रजिस्टरी डाक खर्च अतिरिक्त।

पता—

शारदा प्रतिष्ठान

सी० के० १५/५१ सुड़िया, बुलानाला, वाराणसी—१

बाबा शारदाराम के पद

●

चढ़ि चला गगन अटरिया,
सोपान सत नामकी।
ऊँची अटरिया सुरति सम्हरिया,
गगन महलिया सत्य विसरामकी।
सुरति घरिनिया घर बनाई,
आवै जावै अपने सुख धामकी।
सुरत सनेहिया निसदिन दरसत,
रूप रेख दिव्य चमकानकी।
दिव्य चमकिया शरीर में भरला,
तभी शरीर करत नाना ब्योहारकी।
'शारदाराम' परम पद सोई,
जाकर रात दिना परम प्रकाशकी।

●

साधो जी ! आत्मा आप कहावै,
जब जब आप इच्छा करै,
तब तब तनु धर आवै।
ब्रह्म होकर ब्रह्म लखावैं,
काम क्रोध दुरजन दुरियावै।
ब्रह्म सम आप महान सदा है,
जुग जुग साधू होते आवैं।
अवतार प्रभाव आप देखावै,
साधक साधू सदा रहावै।
'शारदाराम' साधू हरि एकी,
लख आत्म ब्रह्म एक दरसावै।

●

साधो स्थान आपका अटल सोहावै। टेक
जिस स्थान में आप विराजते,
उसको सुर नर मुनि सबही ध्यावै।
अनेक जन्म के आप अनुरागी,
आपके हक में आवै।
ज्ञान दीपक परम प्रकाशक,
नश्वर विश्व आप देखावै।
'शारदाराम' साधु पद अटला,
अटल पदवी को आपी पावै।

●

साधो भैया योग अगिनि तुम पाई। टेक
शुभ अशुभ करम काठ को,
दिहला योग संग जलाई।
शुद्ध दीपक ज्ञान का पवला,
अखंड प्रकाश सदा सुहाई।
चौदह त्रिपुटी संग कल्लोल करत हौ,
आत्म प्रकाश में लौ लाई।
'शारदाराम' योग अग्नि से,
ज्ञान दीपक सहज उग आई।

ब्रह्मज्ञानामृत

सद्गुरु बाबा शारदाराम जी महाराज

सुन्दर शब्द बड़ो ब्रह्मज्ञाना। सोई ब्रह्म जीव माही समाना।
सर्व व्यापी शान्ति से ब्रह्म कहावै। भोक्ता रूप से जीव हो जावै।
सोई है तू तुहि ब्रह्म न भेदा। श्रुति वेदान्त भरम बहु छेदा।
किसानिन होत चहत महरानी। अभिमानी छर कस ब्रह्मज्ञानी।
तदपि ब्रह्म जोत से ब्रह्म है वोहू। बुद्धि मलिन प्रगट कस होहू।
मुकुर मलीन रूप कस दीसै। विषय आस में आयसु खीसै।
पुरुषार्थ कर नर तुहि बड़ भागे। सतसंग करो सतपुरुष पग लागे।
योग वैराग उत्तम दो किरिया। ब्रह्मज्ञान को मुनिन पुकरिया।
सो प्रकटे सन्तन के पासा। विषय विलास त्याग मन आसा।
यदि विषय संग बद्ध न होऊ। तू है ब्रह्म और ना कोऊ।
मोह भर्म तू फँसा है भाई। लख चौरासी फिरै जीव कहाई।
ज्यों अग्नि धुवाँ संग ढक जाई। 'शारदाराम' त्यों सब जीव कहाई।

दो०—सूर्य प्रकाश रूप है, राहु संग होत मलीन।
'शारदाराम' ब्रह्म जीव कहावै, मायाके आधीन॥

त्रिभुवन तीन गुण ले जानी। तिस ही बस भरमत सब प्रानी।

सत्य कर्म सात्त्विक रुचि आछी। ब्रह्म को अर्पै ब्रह्म दे साछी।
सदा सनेह रखै सत्य से ही। सतो गुण में वर्तैं नर जेही।
भला समुझै अपने हित से ही। बिना कहे शुभ आचरण तेही।
रजोगुणी नर लोभ संग धाई। थोड़ा करै फल चाह अधिकाई।
हित सो करै उपकार न चीन्है। रजोगुणी यह श्रुति लीन्है।
तमोगुणी सदा वर्तैं मन्दा। जग अहित करैं कर्मन गन्दा।
असत कर्म को सत कर मानी। तमोगुणी दम्भी अभिमानी।
कटुक वचन बोले दिन राती। सुन सुन जिया अरु विदारत छाती।
यह तीन गुण त्रिभुवन अपारा। ब्रह्मज्ञानी का कोऊ पावैं न पारा।
प्रवृत्ति निवृत्ति रख सोऊ की। ब्रह्मज्ञानी एक टेक है टेकी।
सदा रहै वह परमानन्दा। सत रज तम बिसरे सब फन्दा।
ब्रह्मज्ञानी को सब स्वप्ने भूपा। भूप नित बिन परे तम कूपा।
'शारदाराम' ब्रह्मज्ञानी सोई। पूरण कृपा जिसे ब्रह्म की होई।

दो०—ब्रह्मज्ञान मत सहज है, जाकर पूर्व से जगी आय।
सतगुरु दीन दयाल है, पल में देत बुझाय॥

ब्रह्म तू है भरमत इन विधि। ज्यों बालक भरमै बिसरी घर सुधि।
तू अपना रचना आप पसारी। कहुँ गिर कन्दर कहुँ नर नारी।
नाना रूप एक निर्मल जोती। जह निरखै तहँ तुमरी सुधि होती।
तेहि ते दर्शन ब्रह्म सरूपा। विनसनहार विनसैं निज जोत अनूपा।
अनूप रूप घट घट समाई। सोइ ब्रह्म तू परम सुहाई।
लखो रूप अलख लख सोई। जाहि लखे ब्रह्म सुधि होई।
सोई ब्रह्म तू खोजत कहवा। औघट घाट बसत है तहवा।
सत की लकड़ी शान्ति मारग। कलि कलमस ज्ञान संग जारग।
चलना बाट धीरज उर धारी। गगन महल की खोलो द्वारी।
लखत निवासी है तू सोई। सोई है ब्रह्म और न कोई।
जो दिसत सो चालन हारी। ब्रह्म अचल अस सन्त पुकारी।
अज्ञानी मानै तन मन से सुख सारी। सो तन पल क्षण में हुआ खुवारी।
तन को ब्रह्म कहै मति मन्दा। सोई स्वार्थी नेत्र का अन्धा।
'शारदाराम' बिलोवो दधि की नाई। ब्रह्म सुधा इन विधि उर आई।

दो०—तू तो ब्रह्म है सही, पड़ गये नीच के साथ।
नीच संग नीच हो रहा, सतगुरु करत सनाथ॥

सोचा चाहो तो ब्रह्म सोच भाई। जाते सब दुःख जात पराई।
बैठा चाहो तो स्थिर घर बैठो। तुम्हरे घट में ब्रह्म है पैठो।
निकसा चाहो तो संसै से निकसो। यह मारग है दुर्ग अनैसो।
चलना चाहो तो घर चल भाई। जहाँ गये पुनि बहुरि न आई।
देखना चाहो तो देख अपना रूपा। सूर्य चन्द्र जाही में दीपा।
सुनना चाहो सुन अकथ कहानी। सर्व देव जाकर भर पानी।
देव है तिसमें देव निज तुही। अकथ कथा का असमत होही।
बोली बोल तो अमृत रस सानी। दुखी न हो जग में कोऊ प्रानी।
ब्रह्मज्ञान अमृत सुखसारा। इन सम और न सन्त पुकारा।
ताकना हो तो अन्तर्मुख ताको। यह विचार पूरण परिपाको।
जह ताके दुरमत सब आई। ऐसा ताक ताको को रे भाई।
तू है ब्रह्म ब्रह्ममह ताकत फिरहू। जन्म मरण का सुधि का धरहू।
शारदाराम तुहि कहत न लाजी। जीव अल्पज्ञ सर्वज्ञ कर साजी।
जो तू कहा सत्य है सोई। ब्रह्म अंश से ब्रह्म ही होई।

दोहा—ज्यों चिन्गी अग्निकी, अग्नि कहावै सोय॥
त्यों ब्रह्म अंशसे ब्रह्म है, शारदाराम लख अपनोय॥

अन्तर मुख हो रे मन भाई। ज्ञान की गुदड़ी लेव बनाई।
तेहि गुदड़ीमें तीन ताप न लागी। जो ओढ़े सोई नर बड़भागी।
सुर नर मुनि ओढ़त चल आये। मन ओढ़ो तोहि अच्छे सुहाये।
समता सूत विचार की सूई। मन सियत रहे आलस खोई।
समता सूत गुरुन ते पाई। शुद्ध बुद्धि होय तिसै सुहाई।
लगन लगी सिवन की ताई। पार ब्रह्म गुरु भये सहाई।
ज्ञान गुदड़ी का यह गुण भाई। ओढ़ जतन सो सरद न आई।
जो आवै सो रहै सकुचाई। पल क्षण में सब ही चल जाई।
अन्तर मुख की यह गति भाई। आत्मा परमात्मा एक हो जाई।
अन्तर मुखसे तू ब्रह्म कहाई। अन्तर ध्यान धरो लवलाई।
ज्ञान गुदड़ी ओढ़कर देखो भाई। आत्म जोती सर्व समाई।
शारदाराम ज्ञान गुदड़ी ओढ़ी। आत्मा परमात्मा एकै द्रिढ़ी।

दोहा—ज्ञान गुदड़ीसे प्रेम कर। ओढ़ लेव भरपूर॥
आठ पहर चौसठ घड़ी, रहो सदा ब्रह्म हजूर॥

करनी कर्तव सार है, जो प्रभु होय सहाय ॥
शारदाराम करनी करो, सोई ब्रह्म हो जाय ॥

माटी की गऊ दूध न देई । कोटिन जतन करै वह जेई ।
यह माया जग जड़ है भाई । कोटि भ्रान्ति कोऊ रुचि उपजाई ।
इन संग मोक्ष कहाँ से होई । कर विचार देखो सब कोई ।
अनेक भाँति से सिरज बटोरी । चलन की वेरिया हो गई दूरी ।
कच्चा मत कच्ची रुचि राखी । पक्का हो तो ब्रह्म उर लाखी ।
यह लीला प्रभु आप पसारी । कच्ची पक्की मत दो सारी ।
कच्ची मति है कच्चा उर लाई । पक्की मति पक्का पर जनु जाई ।
कच्चा त्रिगुण श्रुति ने गाई । पक्का पूरण ब्रह्म कहाई ।
पक्का मत ब्रह्म को नित गावै । ज्यों हंसा मोती को खावै ।
त्रिपित रहै ताहि के साथा । शुद्ध मन करो ताहि लह नाथा ।
जब मन नथा तो भया तू वोही । पारस परस लोह कंचन होही ।
कंचन भया तो परम सुहाई । यों ही तो तुम ब्रह्म कहाई ।
भार सकल मन से दे टारी । तू तो ब्रह्म अहो सुखकारी ।
वाद-विवाद दोनों दे खोई । आपै ब्रह्म सुखिया है सोई ।
शारदाराम विश्वास जमाई । तू ही ब्रह्म वाद-विवाद मिटाई ।

दोहा—कोटिन उदक तरंग, सब रहत उदधि माह ॥
शारदाराम जीव यों ही, ब्रह्म सो ब्रह्म समाह ॥

जब तक संताप सतावै दूना । तब तक अज्ञान रहा कुलीना ।
तब तक दुख दुखै दिखाई । जब तक ज्ञान न उरमह आई ।
भरमत रहा बालक की नाईं । हार परा तो थिरो रहाई ।
जो हारा सोई जग जीता । जन्म मरण से भया पुनीता ।
जग बंधन अहंकार से पसरा । अहंकार मिटा तो दुख से निकारा ।
अहंकार त्याग देखो दिव्य नेत्री । आत्मा सर्व मह बसा पवित्री ।
ज्यों सुनार सुवर्ण लेत तपाई । धातु एक बहु वस्तु बनाई ।
नाम सिर्फ पृथक् कर राखी । सोना धातु सब मह साखी ।
सोना मूल नाम है दोई । यों ही जग जानो सब कोई ।
वस्तु एक बहु नाम कहाई । कारज कारण भिन्न नहिं भाई ।
सिकड़ी कड़ा अँगूठी बनाई । गोप बाला कंगन अनेक कहाई ।

मुरकी वेसर बहु नाम कहाई। सुवर्ण धातु सर्व समाई।
योंहि आत्मा सर्व में पसरी। नाम भिन्न धरा जग सगरी।
नाम भिन्नसे आत्मा भिन्न न होई। क्यों भर्म में परा सब कोई।
शारदाराम भर्म कर दूरी। खुद ब्रह्म तू देख ज्ञान हजूरी।

दोहा—बाहर पट को बन्द कर, अन्दर पट ले खोल॥
शारदाराम जो ब्रह्म लखा, ताही चलन अनमोल॥

नदी एक बहु घाट कहाई। कोऊ टूट फूट कोऊ सुन्दर ताई।
साधक बाधक यों लख लीजै। नदी ब्रह्मका उपमा दीजै।
घाट दोऊ नदी पह ले जाई। एक सुख से एक दुख दरसाई।
बुद्धिमान विवेकी नर कोई। सुन्दर घाट पर जात है सोई।
फेर दूर का करै विचारा। आत्म सुख चाहत है सारा।
इन प्रकार सुजन लख लीजै। साधक ज्ञानिन को मन दीजै।
फिर साधना कसौटी लाई। साधक ज्ञानी तत्व खरा कराई।
साधन विध में जो सध जाना। सोई ब्रह्म पुनि भया सुजाना।
लखा मर्म न काहू तिसका। इन विध भया ब्रह्म पद जिसका।
आत्म ज्ञानी आत्मा दरसाई। सब में आत्मा रूप दिखाई।
सारभूत आत्मा है भाई। अनेक जन्म साधन से पाई।
शारदाराम आत्मा जो साधा। आवागमन को निपटे बाधा।

दोहा—यह दोहा दातार है, साधन के अनुसार।
शारदाराम जो साध रहा, दम दम ब्रह्म विचार॥

ज्यों पाषाण नाम एक कहाई। भाँति अनेक मूरति गढ़वाई।
कोऊ गणेश कोऊ राम गढ़ाई। कोऊ कृष्ण बलरामै भाई।
कोउ शिव कोऊ पवन रुचि राखी। अपने अपने मत सब भाखी।
कोऊ भैरव कोऊ दत्त गढ़ाई। कोऊ श्री चन्द्रकी मूर्ति चितलाई।
विष्णु ब्रह्मा मूरति कोऊ चहही। दुर्गा काली को कोऊ लहही।
अनेक प्रकार मूरति जग राखी। मूल पाषाण देखत सम आखी।
न वह बोलत न कुछ खाई। नर पूजै भक्ति भाव की ताई।
सबका मनोरथ सत्य ब्रह्म पूरी। जड़ चेतन में जो रहत हजूरी।
भाव राखो यह ब्रह्म है एकी। देव कहाये अनेको अनेकी।
उत्तम मध्यम लघु जीव भेदा। चार वर्ण शास्त्र कारों छेदा।

उत्तम मध्यम जग की ताई। ब्रह्मज्ञान में सब एक कहाई।
शारदाराम ब्रह्म सब राची। निज मूरत उर उत्तम खाची।

दोहा—मूरत बनी पाषाण से, जानत सबहि सुजान।
यों ही ब्रह्म से जीव हैं, ब्रह्म के माह समान॥

तन जान माटी का निज भाजन। श्वास रतन भरा ब्रह्म महाजन।
अनमोल श्वास विषया संग खोई। यह अचरज देखो नर लोई।
जो निकसै सो बहुर न आवै। नर बपुरा क्यों भूल गँवावै।
माटी का कीड़ा माटी ही खाई। यह गति नर की भई जग आई।
स्वाभाविक गुण वर्ते सब कोई। नर बपुरा का दोष न होई।
गुरु शास्त्र जतन यद्यपि दरसाई। बनि आवै तो करो रे भाई।
जतन करै सोई ब्रह्म होई। अनेक जन्म बिनसा सब कोई।
उपजत बिनसत खपत समाई। बार अनेक कहा रे भाई।
इन कहने कुछ स्वाद न आवै। जब तक हरिहर गुण ना गावै।
सकल वाणी का मूल वह वाणी। जिस वाणी में नाम समाणी।
नर का जतन एहि बड़ भारी। नाम पिवै बहुत तन सम्हारी।
शारदाराम दया उर धारी। सर्व सुकर्म को ब्रह्म पसारी।
ज्यों जल ही अन्न रस का कारण। त्यों सुकर्म को दया पसारण।

दोहा—दया क्षमाका ओट गहू, ब्रह्म स्वाद तब पावो।
शारदाराम सत्य मार्ग शोधले, सत पुरुष देत लखावो॥

ब्रह्मज्ञानी से यह बिनती भाई। आप बचो और लेवो बचाई।
सदा से यह रीत चलि आई। समर्थ और लघु बच बच जाई।
समर्थ ज्ञानी जो भरपूरा। सदा चलै ब्रह्मज्ञान हजूरा।
तिसकी ओट अपर नर तरि है। ब्रह्मज्ञान को जो अनुसरिहै।
यह लखाव लखै नर वोही। जापर कृपा गुरु की होही।
नर तनु भव तरने को पाई। ब्रह्मज्ञान महँ बिचरौ भाई।
सतगुरु सदा राजी जो लाई। दिव्य दृष्टि प्रगट तिन पाई।
दिव्य दृष्टि से उज्जवल मति होई। उज्जवल मति में ब्रह्म बस सोई।
यदपि ब्रह्म सदा सर्व व्यापी। उज्जवल मति संग दिसत है आपी।
ब्रह्म वासना उर मह लागी। सोई ब्रह्म, परसै निरदागी।
ब्रह्म वासना से खुला कपाटा। दशवा द्वार की देखहु बाटा।
तहाँ हमेशा ब्रह्म विराजी। शारदाराम ताहि संग राजी।

दोहा—राजी रमन आप हौ, आपै सर्व कर्तार ॥
शारदाराम संग ब्रह्मके, यह तन जैहो बलिहार ॥

जेतिक भूमि पर भये ब्रह्मज्ञानी । कुछ कुछ सभी दिया निसानी ।
कोऊ तीरथ कोऊ व्रत दृढ़ाई । कोऊ दान पुण्य बहु कर्म बताई ।
कोऊ पूजा कोऊ कीर्तन दरसाई । कोऊ श्रमण कोऊ गऊ पुजाई ।
कोऊ यज्ञ तपिस्या कोऊ पूजै गाई । कोऊ साधु सन्त को पूजे धाई ।
कोऊ सप्तऋषिन को कोउ टेरी । कोऊ गन्धर्व कुबेर को लेरी ।
कोऊ इन्द्र मनु वरुण सुनाई । कोऊ प्रजापति महान दरसाई ।
कोऊ राम कृष्ण भैरव को गाई । कोऊ गुरु नानक श्रीचन्द्र बताई ।
कोऊ दत्ता कोऊ दुर्गा दरसाई । और अनेक बहुत मग भाई ।
जाको सुलभ जो मग होई । ताको गहि चलत सब कोई ।
ब्रह्मज्ञानिन का उपदेश है सोधी । जिज्ञासु जीव को सदा प्रबोधी ।
यह उपकार ब्रह्मज्ञानी केरा । शास्त्र पुराण में अहै निबेरा ।
शारदाराम ब्रह्म सर्व समाई । ये सब उत्तम गति के भाई ।

दोहा—ए सब ब्रह्म को निज वंदा, ब्रह्म निरंकार कुछ और ॥
शारदाराम इन सब पहुँचै, वाही निज इनका ठौर ॥

जल बिन सागर सोह न भाई । ब्रह्मज्ञान निज अस गति पाई ।
ज्यों जल धूमिल रेणु संग पाई । अज्ञान संग यों जीव कहाई ।
गंगा जल सुरा संग हो जाई । विद्वान पान करे नहिं भाई ।
सुरा सम जीव गति भई भाई । तेहि ते ब्रह्म दूर ते दूर दुराई ।
जल भर सरिता सुखम सुहाई । ब्रह्मज्ञान भये जीव तस भाई ।
कमल उजागर सर अधिक सुहाई । ब्रह्मज्ञान उजागर जीव सुख पाई ।
सर में झक नक कूर्म बिराजी । ब्रह्मज्ञान वैराग सो साजी ।
सर में नाव जहाज चल बेरे । ब्रह्मज्ञान अध्यात्म दया निबेरे ।
सर में घाट अनेक सुहाई । ब्रह्मज्ञान का घाट लौ है भाई ।
सर तीर ग्राम बहु सुन्दर ताई । ब्रह्मज्ञान तट वेद शास्त्र सुहाई ।
सर मंजन से तनु शीतल ताई । ब्रह्मज्ञान मंजन से जीव ब्रह्म कहाई ।
शारदाराम सरिता तन मल धोवै । ब्रह्मज्ञान जन्म जरा मिटावै ।

दोहा—तीरथ का फल सुख देवे, सन्त संग फलै अपार ।
ब्रह्मज्ञान फल परमपद, शारदाराम चित धार ॥

सच्चिदानन्दाष्टकम्

ब्रह्मज्ञान का नर तन वेला। विषय ज्ञान सब तन में मेला।
ब्रह्मज्ञान का सजा सजावट। नर श्रेष्ठ जो विषय हटावट।
ब्रह्मज्ञान अतुट विस्तारा। जिमि आकाश पसरा संसारा।
ब्रह्मज्ञान जाहि हृदय आवै। सो ब्रह्म स्वरूप वेद जस गावै।
शारदाराम ब्रह्मज्ञानी सोई। सृष्टि संहार में रहही जोई ॥१॥
ब्रह्मज्ञानी आकाश सम सोहा। कोउ विकार न ताही पोहा।
ब्रह्मज्ञानी संसार सर जाना। आप रहत है कमल समाना।
ब्रह्मज्ञानी की वृत्ति उत्तम। प्रेम रस चाखै बोलै सूत्तम।
ब्रह्मज्ञानी जहाँ मन जावै। सब महँ एकै ब्रह्म देखावै।
शारदाराम ब्रह्मज्ञानी परमेश्वर। ब्रह्मज्ञानी को खोजत ईश्वर ॥२॥
ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म आत्म जानत। सर्व अन्दर ब्रह्म को मानत।
ब्रह्मज्ञानी का सत सत लखावा। सत लखाव में ब्रह्मै भावा।
ब्रह्मज्ञानी रुचि सच राखी। ब्रह्म व्यापक को नित लख साखी।
पारब्रह्म का पसर पसारा। ब्रह्मज्ञानी का ॐ अधारा।
शारदाराम ब्रह्मज्ञान सचा मनी। ब्रह्मज्ञानी त्रिभुवन का धनी ॥३॥
ब्रह्मज्ञानी दीनता सुख पावै। ब्रह्मज्ञानी अकाशवत् सुहावै।
ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मज्ञान जगावै। शुभ अशुभ का राह बतावै।
ब्रह्मज्ञानी शुभाशुभ त्यागी। जो कुछ करै ब्रह्म रुच लागी।
ब्रह्मज्ञानी पाप पुण्य से छूटा। अमृत रस पी अमर पद लूटा।
शारदाराम ब्रह्मज्ञानी चमका। आत्मा प्रकाश त्रिभुवन दमका ॥४॥
ब्रह्मज्ञानी अंक में सब अंकित। ब्रह्मज्ञानी रंचक ना पंकित।
ब्रह्मज्ञानी धीरज धरती सम। ब्रह्मज्ञानी बर्ताव अग्नि सम।
ब्रह्मज्ञानी निर्मल मन झलकै। जिमि गगन उपाधि से फरकै।
ब्रह्मज्ञानी पवन सम पावन। दुरगंध उड़ाये सुगंध बरसावन।
शारदाराम ब्रह्मज्ञान सुची। ब्रह्मज्ञानी भेद नासक रुची ॥५॥
ब्रह्मज्ञानी को नाम अधारा। ब्रह्मज्ञानी को नाम परिवारा।
ब्रह्मज्ञानी ॐ नामैं रुची। ब्रह्मज्ञानी दरसै सब सुची।
ब्रह्मज्ञानी को नाम सुख सारा। ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म परिवारा।

ब्रह्मज्ञानी चोट ॐ कारा। ब्रह्मैं ब्रह्म नित्य विचारा।
ब्रह्मज्ञान घट अंदर पाया। शारदाराम सो ब्रह्म समाया ॥६॥
ब्रह्मज्ञानी ॐ नाम प्राना। ब्रह्मज्ञानी आप ब्रह्म समाना।
ब्रह्मज्ञानी नामे सुख माना। ब्रह्मज्ञानी विश्व परमाना।
ब्रह्मज्ञानी राम रमे प्रमाना। ब्रह्मज्ञानी भया ब्रह्म समाना।
ब्रह्मज्ञानी मुनिवर अति पावन। ब्रह्मज्ञानी त्रिविध ताप नसावन।
शारदाराम ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म। द्वैताद्वैत का मिटा भ्रम ॥७॥
ब्रह्मज्ञानी सबही घट बसे। आप करता आप हँसे।
हँसे हँसावै आप ब्रह्मज्ञानी। सुख आत्म रस आपे जानी।
ब्रह्मज्ञानी भया मतवारा। निसा चढ़ा ॐ नाम सहारा।
ब्रह्मज्ञानी सबहि जग पावन। आप रचैता आप धूर मिलावन।
शारदाराम ब्रह्मज्ञानी सदा नवीना। जन्म मरन नासक प्रवीना ॥८॥
दोहा—ब्रह्मज्ञान लखाया ब्रह्म, ब्रह्म भरा भरपूर।
जिमि रस गंध जल पृथ्वी, त्यों आत्म प्रान हजूर ॥

२

तत्ववेत्ता है आत्म दरसी। तत्ववेत्ता आत्म का आरसी।
तत्ववेत्ता आत्म रूप समावै। तत्ववेत्ता का कोऊ पार ना पावै।
तत्ववेत्ता आत्म लौ लाई। तत्ववेत्ता मुक्त स्वरूप कहाई।
तत्ववेत्ता घर माह आनन्दा। तत्ववेत्ता जाने परमानन्दा।
तत्ववेत्ता आप प्रभु कहाई। शारदाराम परम तत्त्व समाई ॥ १ ॥
तत्ववेत्ता सुनम सुनम सुन्न हो जावै। सब विषय रस सुख दरसावै।
तत्ववेत्ता अंतर मुख जागी। बाहर मुख का भयो त्यागी।
तत्ववेत्ता अंतर सुरत जगावै। सुरति पुरति सोई कहावै।
तत्ववेत्ता अमर रूप अपना देखा। जिस देखे से भया अलेखा।
शारदाराम अटल समाया। टलै ना तिल भर सदा रहाया ॥ २ ॥
तत्ववेत्ता अयोनी आप कहावै। पुतला तन का योनि आवै।
आप योनि आवै जावै नाहीं। कारण सहित अयोनि कहाही।
तत्ववेत्ता अचल आप सरूपा। व्यापी रहा आत्म सभी अनूपा।
तत्ववेत्ता एक अखंड कहावै। असंग अदृश रूप सुहावै।
शारदाराम अचल तत्व दरसी। जन्म मरण सोऊ ना परसी ॥ ३ ॥

तत्ववेत्ता तरुण वृद्ध ना कोई। तरुण वृद्ध उपाधी सोई।
तत्ववेत्ता हरप सोक से पारा। माया हरप शोक मिटा अपारा।
तत्ववेत्ता रूप कुरूप न कोई। रूप कुरूप पाप पुन्य से होई।
तत्ववेत्ता रूप अनहद अखंडा। एक रस रहत सदा प्रचंडा।
शारदाराम निज प्रचंड कहाई। अग्नि चन्द्र सूर्य सदा समाई॥ ४॥

तत्ववेत्ता तत्व एकत्व गावै। नां उपजै विनसै नास ना जावै।
तत्ववेत्ता तत्व संग आप राजी। तत्व समाया तत्वै साजी।
तत्ववेत्ता आकाशवत समताई। सम तुलना अकाशो नहिं पाई।
अकाश जड़ अनंत वार नसाई। तत्ववेत्ता कदि आवै ना जाई।
शारदाराम ॐ तत्व शरणाई। तत्व मथ सर्वो विश्व कहाई॥ ५॥

परम तत्व का खानी वानी नाही। भौतिक तत्व का भौतिक कहाही।
तत्ववेत्ता निर्मल निर धारा। सत् सरूप आपे आप सम्हारा।
तत्ववेत्ता सत सत कहावै। सत सरूप में आप समावै।
जल में जल जिमि आपे समाया। तत्ववेत्ता त्यों तत्व मिलाया।
शारदाराम तत्ववेत्ता सोइ। अंतर वाहर त्रिसना खोई॥ ६॥

तत्ववेत्ता तारे संसारा। तत्ववेत्ता सर्व संचारा।
तत्ववेत्ता का सकल अकारा। तत्ववेत्ता आप निरंकारा।
तत्ववेत्ता अंतर मुख जागी। चेतना लखै ताही वड़ भागी।
तत्ववेत्ता वृत्त चेतना डारी। भयो मन बुद्धि चेतन मैं सारी।
शारदाराम चेतन की लहरी। भर रहा संसार सागर सगरी॥ ७॥

तत्ववेत्ता सुंदर सहज लखावा। सो सुंदरता सर्वे भावा।
तत्ववेत्ता का सुन्दर दृढ़ रीती। आत्म नाते सबसे प्रीती।
तत्ववेत्ता वहिरंग सुन्दरता त्यागी। अंतर सुंदरता की लव लागी।
तत्ववेत्ता सुंदरता लख अन्दर। जस कीर्त्ति का वना पुलंदर।
शारदाराम तत्ववेत्ता जागा। मोह नींद कवहु ना लागा॥ ८॥

दो०—नींद मोह से दूर भया, माया परदा हटाये।
परदा हटा अखंड भया, अविनाशी आप देखाये॥

———

सम्पादकीय :--

गुरुदेवकी असीम कृपासे दो वर्षका "परमानन्द संदेश" मासिकपत्र अपने नन्हें-नन्हें निर्बल मासूम हाथोंसे "आत्मपुराण" विशेषांक रूपी श्रद्धा सुमन गुरु परमात्माके श्रीचरण कमलोंमें समर्पित कर तृतीय वर्षमें प्रवेशकर रहा है। सम्बल गुरुदेवका, सहयोग आपका है। उन सबके हम आभारी हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूपसे इस ज्ञान यज्ञमें अपना अमूल्य योग दान दिया है। यद्यपि 'परमानन्द संदेश' व्यापक सर्व शक्तिमान पूर्ण और सर्व समर्थ है तथापि लौकिक दृष्टिसे नीचे उतर कर जहाँ भौतिक साधनों एवं मायाकी अपेक्षा है वहाँ हम अवश्य एक दो वर्षके बच्चेके समान हैं। जो असमर्थ और परमुखापेक्षी है। किन्तु चिन्ताकी बात नहीं "सर ऊपर खड़ा गुरु शूरा" जिनके कृपा कटाक्षमात्रसे माताको तरह अहर्निश भरण-पोषण और योग-क्षेम प्राप्त होता रहता है।

"परमानन्द संदेश" विशुद्ध आध्यात्मिक मासिक होनेके कारण अन्य पत्र, पत्रिकाओंकी तरह शीघ्र लोक प्रिय नहीं हो पा रहा है। कारण यह लोगोंका मनोरंजन न कर मनो-मज्जन करता है। इसलिए विवेकीजनोंके अतिरिक्त साधारण लोग इससे लाभ नहीं उठा पाते हैं। क्योंकि उनकी वृत्ति बहिर्मुख है। ऐसी स्थितिमें परमानन्द संदेश तत्वदृष्टिसे तो नहीं किन्तु भौतिक दृष्टिसे हजारों रुपयेके घाटे में चल रहा है। भाई श्री अजित मेहताजी अभिनन्दनीय हैं जो गुरु कृपासे इस ज्ञान यज्ञमें होनेवाली क्षतिकी पूर्ति करते रहते हैं। हम उनके विशेष आभारी हैं।

विशेषाङ्क

"आत्म पुराण विशेषांक" कर कमलोंमें है। जैसा भी बन पड़ा है आपके समक्ष उप-स्थित है। यह सब गुरुदेवका प्रसाद है। जो कुछ अभाव और त्रुटियाँ रह गईं हों उसमें मेरी अल्पज्ञता और असावधानी ही कारण हो सकती है। इसके लिए मैं विद्वान पाठकोंसे क्षमा प्रार्थी हूँ। आत्मपुराणकी छपाई और प्रूफ संशोधनमें भी त्रुटियाँ सम्भव हैं। क्योंकि इतने बड़े कार्यके लिए समय बहुत कम मिल पाया है। पहलेसे कोई योजना नहीं थी, गुरुदेवकी प्रेरणा मिलते ही भाषान्तरका कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। और अवधिके अन्दर ही प्रकाशित करना आवश्यक था। आदरणीय श्री वेदान्तीजी महाराजका मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे सदा उत्साहित कर इस महान कार्यको सफल बनाया है। आपका स्नेह सहयोग सराहनीय है।

पहले हमारा संकल्प लगभग ५०० पृष्ठों का विशेषांक प्रकाशित करनेका था परन्तु हमें अपने लक्ष्यके कुछ पूर्व ही रह जाना पड़ा।

इसका कारण कागजकी मँहगी और भौतिक साधनोंका अभाव ही कहा जा सकता है। "जो होय सोई सुखमाने, करन करावन हार प्रभु जाने।" आगामी वर्ष गुरु कृपासे हम और अधिक आपकी सेवा करनेमें समर्थ हो सकेंगे ऐसी आशा हैं।

आत्मपुराणका कुछ अंश ही हम प्रस्तुत कर सके हैं। शेषांश आगामी वर्ष प्रकाशित करेंगे। सम्पूर्ण आत्मपुराण कुल १८ अध्यायों में पूर्ण होता है जो लगभग बारह सौ पृष्ठोंमें पूरा हो सकेगा। अतः सम्पूर्ण ग्रन्थ एक साथ छापना "परमानन्द संदेश" के लिए सम्भव नहीं था। यह ग्रन्थ इतना उपयोगी है कि इसे संक्षेप भी नहीं किया जा सकता है। आवश्यकता इसके विस्तार की है।

आत्म-पुराण

आत्मपुराणके विषयमें इतना कह देना ही पर्याप्त है कि आत्माके विषयमें जितना अधिक स्पष्ट निष्पक्ष भावसे इस ग्रंथमें लिखा गया है उतना अन्यत्र विश्वकी किसी भी भाषा के ग्रंथमें नहीं मिलता है। नाम इसका पुराण है परन्तु यह प्रसिद्ध १८ पुराणोंसे दूर अपना अलग अस्तित्व रखता है। वास्तवमें यह समस्त उपनिषदोंका सार है। लगभग चौदहवीं शताब्दी में समस्त वेद, उपनिषद्, आदि सत्-शास्त्रोंको शंकरावतार महापण्डित आचार्य शंकरानन्दने मथन कर इस आत्मपुराण नामक नवनीतको मुमुक्षु जनोंके कल्याणार्थ अवतरित कर दिया था। पुराण नामसे विभूषित करनेका भाव यह प्रतीत हो रहा है कि वह युग पुराणोंका था। जिस आत्माका समस्त पुराण आदि शास्त्र परोक्ष अपरोक्ष रूपसे प्रतिपादन करते हैं उसी आत्मा को जनता दुरूह अप्रतिपाद्य परोक्ष मानकर पुराणोंके अलंकारिक भूल भूलैयामें फँसकर अपने आपको खो बैठी थी। उसी समय श्री शंकरानन्दने जगद्गुरु शंकराचार्यके पवित्र उद्घोषोंकी ओर जनताका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—मुमुक्षुजनों, दूसरोंका पुराण पढ़ने सुननेमें फँस कर आपलोग अपना पुराण भूल बैठे हो। श्रुतिमाताके आदेशको भूलकर अपने लक्ष्यसे विचलित हो रहे हो। आओ मैं तुम्हें आत्म पुराण सुनाता हूँ जो अपना है हम सबका है। हमारी ही आत्माकी आवाज है। ध्यानसे सुनो। मनन करो और निदिध्यासन द्वारा उसका साक्षात्कार करो। अपरोक्षको तुम परोक्ष मान बैठे हो और जो तीनों कालमें नहीं है उसे अपरोक्ष मान इस जीवनका लक्ष्य बना बैठे हो। यह मृग मरीचिका है तुम्हें स्वर्ग सुखका लोभ देकर परमपदसे विरत करने वाला मायाका छलावा है। सावधान हो, और सर्व प्रथम अपना पुराण पढ़ो सुनो, और आत्मपुराण पढ़ सुन, गुन लेनेके बाद सभी अपने ही स्वरूप हैं इसलिए और कुछ पढ़नेके लिए शेष नहीं रह जाता।

यह आत्मपुराण उन वहिर्मुख विद्वानोंके लिये चुनौती है जो यह कहा करते हैं कि वेदों का सार आत्माका ज्ञान दुरुह दुष्प्राप्य और अप्रतिपाद्य है। पुराणोंके समान ही आत्माके विषयमें

लिखकर आचार्य शंकरानन्दने विद्वद्वर्गको चमत्कृत कर दिया है।

श्रुतियोंके गुप्त रहस्योंको निष्पक्ष भावसे इस ग्रंथमें विस्तारसे कहा गया है। यही कारण है कि दिशा मात्र निर्देश द्वारा मन वाणीके अविषय आत्माका ज्ञान करानेमें यह ग्रंथ पूर्ण समर्थ है। मनुष्य जाति पर शंकरानन्दजीके इस उपकारकी कोई भी उपमा नहीं दी जा सकती। जिस समय देववाणी संस्कृतमें इस ग्रंथका सर्व प्रथम अवतरण हुआ उस समय वहिर्मुख विद्वानोंके विरोधके फल स्वरूप भी यह अत्यधिक मुमुक्षुजनोंका प्रिय हुआ। श्रुति रूपी गौके शुद्ध नवनीतको प्राप्त कर कौन परमानन्दित नहीं होगा।

आचार्य शङ्करानन्द विद्यारण्य स्वामीके शिक्षागुरु थे। विद्यारण्यने पंचदशीके मंगलाचरणमें तथा विवरण-प्रमेय संग्रहके मंगलाचरणमें उन्में गुरुरूपसे प्रणाम किया है। शंकरानन्दजी चौदहवीं शताब्दीमें हुए थे। वे अद्वैतवादी आचार्य थे। उन्होंने शांकर मतका समर्थन किया है। उन्होंने शांकर मतको पुष्ट तथा प्रचारित करनेके लिये ब्रह्मसूत्र दीपिका, गीताकी टीका तथा १०८ उपनिषदोंकी टीका लिखी है। ब्रह्मसूत्र दीपिकामें उन्होंने बड़ी सरल भाषामें शांकरमतानुसार ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या की है। गीता और उपनिषदोंकी टीकामें उन्होंने शंकराचार्यका ही अनुसरण किया है। उनके ग्रन्थोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे अगाध पण्डित थे। उनका आत्मपुराण नामक ग्रन्थ अद्वैतवादके प्रायः सभी सिद्धान्त, श्रुति रहस्य, योग साधन रहस्य आदि सभी बातोंका बड़ी सरल और मर्मस्पर्शी भाषामें विवेचना करता है। अद्वैत साहित्य जगतका यह एक अमूल्य रत्न है।

देश कालके अनुसार ज्यों ज्यों लोगोंका संस्कृत ज्ञान कम होता गया वैसे ही यह ग्रन्थ पुनः दुरूह प्रतीत होने लगा। फलस्वरूप इसकी टीकाएँ भी की गईं और यह ग्रंथ आज-तक जैसे उरः पञ्जरमें हृदय सुरक्षित है वैसे ही विद्वानों और सन्त महात्माओंकी कुटियामें सुरक्षित रहा।

उन्नीसवीं सदीमें आकर यह ग्रन्थ पुनः आडम्बर युक्त पुस्तकोंके ढेरमें पड़कर दुष्प्राप्य हो गया। इने गिने विद्वान ही इसके तात्पर्यको समझ सकते थे। परन्तु ज्ञानस्वरूप परमात्मा अत्यन्त दयालु है, वह ज्ञान गंगाके प्रवाहको सतत प्रवाहित रखता है। इसी समय परम विद्वान महात्मा श्री स्वामी चिद्घनानन्द गिरिजी महाराजका हृदय चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुए जीवोंका दुःख देखकर द्रवित हो उठा। स्वामीजीने आजसे ८० वर्ष पूर्व भागीरथ की भाँति अथक परिश्रम करके इस ग्रन्थरूपी ज्ञानगंगाको भाषामें सर्व साधारणके लिये अवतरित कर दिया। मुमुक्षु जनता कृतकृत्य हो उठी। साधारण भाषाके ज्ञानवाले जिज्ञासु भी उपनिषदोंके अर्थको हृदयंगम करनेमें समर्थ हो गये। स्वामीजी द्वारा लिखा हुआ आत्मपुराण, भाषा और शैलीका अनूठा है। इसने तो अधि-

कारी साधु सन्तों और सद्गृहस्थोंमें आत्मज्ञान करानेका ठेका ले रखा था।

कालचक्र चलता रहता है, माया बड़ी प्रबल है। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी बदलती गईं कि सद्ज्ञान पर आवरण पड़ने लगा। गोस्वामी तुलसीदासने भी लिखा है—

हरित भूमि तृण संकुल, लखि परत नहिं पंथ।
तिमि पाखण्ड विवाद सों, लुप्त होहिं सद्ग्रन्थ॥

यही उक्ति आज इस आत्मपुराणके साथ भी चरितार्थ हो रही है। गत सौ वर्षोंमें बहुत तीव्र गतिसे परिवर्तन हुए हैं। सद्ग्रन्थोंका विस्मरण और पाश्चात्य सभ्यता संस्कृतिका ग्रहण तीव्रतासे हुआ है। धर्म, ज्ञान और शास्त्रोंकी ओट लेकर अज्ञानी विद्वान परम अज्ञानी जनोंसे स्वार्थ साधनमें भी प्रवृत्त हो रहे थे। अतः ऐसी परिस्थितिमें निष्पक्ष स्पष्ट वक्ता इस ग्रन्थको कौन पढ़ना सुनना स्वीकार कर सकता है? जिसे सुनकर स्वयं इन्द्रको भी स्वार्थ हानिसे जब क्रोध आ सकता है तब आजके कर्मकाण्ड जीवी विद्वानोंसे क्या आशा की जा सकती है।

सम्भवतः इसी कारण यह ग्रन्थ भाषामें होते हुए भी उपेक्षित सा रहा। सूर्य अधिक देरतक बादलमें नहीं रहता, मायाके सभी प्रपंच क्षणभंगुर होते हैं सद्ज्ञानका कभी अभाव नहीं गुरु परमात्माकी महान कृपा और प्रेरणासे पुनः यह दुर्लभ ग्रन्थ आजकी हिन्दी भाषामें प्रकाशित होकर आपके कर कमलोंमें सुशोभित है। यह ग्रन्थ १८ अध्यायोंमें पूर्ण होता है। अभी ५ अध्याय ही प्रकाशित हो सका है शेष आगामी वर्ष विशेषांकके रूपमें प्रकाशित करनेका हमारा उद्योग है।

प्रस्तुत आत्मपुराण कैसा है, इसके विषयमें मुझे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं, वह तो आपके हाथमें है आप जो कहें वही पर्याप्त है।

पाठकों से

अपने पाठकोंसे मैं इस सम्बन्धमें एक निवेदन करूँगा, वह यह कि श्रुतियोंके दुरूह गुह्य अर्थोंको यथाशक्ति सुगम सुबोध करके आपके हितार्थ प्रस्तुत किया गया है। फिर भी चढ़ाईके श्रेय मार्गमें श्वाँस अवश्य फूलेगी, परमात्माका चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, कहानी-उपन्यासकी तरह रोचक तो नहीं हो सकता। प्रेय मार्ग और श्रेय मार्गमें पश्चिम पूर्वका अन्तर है। अतः प्रारम्भमें कुछ कठिनाई पड़े तो कृपया आप ऊबकर पढ़ना न बन्द करें। प्रारम्भसे अन्ततक एक बार बिना समझे भी पढ़ जायँ। फिर जब आप दुबारा पढ़ेंगे तो अधिकांश बातें आपको अनायास समझमें आने लगेंगी। साथ ही यदि सम्भव हो सके तो इस ग्रन्थको पढ़ते समय किसी गुरु अथवा विद्वानका आधार ले लेनेसे आपको अधिक सफलता मिल सकती है। फिर भी धैर्य लगन और श्रद्धासे आप इसे पूर्णतया अनुभवगम्य धीरे धीरे बना सकते हैं। प्रयास मत बन्द कीजियेगा। असफलताकी आशंका और समझमें न आनेकी

कठिनाईसे ऊबकर जो लोग पुरुषार्थ स्थगित कर देते हैं वे ही लोग कायर कहे जाते हैं।

निश्चय ही यह आत्मपुराण अनधिकारी-को विवेक, वैराग्य, षट सम्पत्ति, मुमुक्षुता प्रदान कर अधिकारी बनाता है और अधिकारीको श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मविद्याके रहस्यको बोध कराकर आत्मसाक्षात्कार कराता है।

जैसे साइन्स विद्या सरल और रोचक नहीं वैसे ही इसमें भी रोचकता ढूँढ़ना अज्ञानताका द्योतक है। अतः बारम्बार कहनेका तात्पर्य यही है कि आप मंजिलके पहले ही थककर न बैठ जायँ। सतत अभ्यास और पुरुषार्थ होते रहना चाहिये। कुछ ही दिनोंमें आप अपने अन्दर अलौकिकपरिवर्तन और आलोक देखेंगे, अचिन्त्य आत्मिक विकास, शान्ति और परमानन्दका अनुभव करेंगे। और यही सुखानुभूति आपको आखिरी मंजिल परमधाम तक ले जानेमें सहायक सिद्ध होगी। अतः जब भी समय मिले आत्मपुराणको बार बार पढ़िये, बिचारिये और जो शंकाएँ उठें उन्हें किसीसे भी पूछकर समाधान करिये। यही आगे बढ़नेका तरीका है। आजके युगका जब मानव जीवन अत्यन्त व्यस्त हो गया है, सद्ग्रन्थ ही सत्संगके प्रमुख साधन हैं। इनके द्वारा आप घर बैठे सत्संग करनेमें समर्थ होते हैं।

यह सुविधा प्राचीन कालमें लोगोंको नहीं थी, सत्संगके लिये लोगोंको अधिक तप करना पड़ता था। तीर्थोंमें सतत् निवास करना पड़ता था। परन्तु भगवानकी कृपा है कि इस युगमें सत्संग सुलभ और घर बैठे ही प्राप्य है। किसी भी महात्माकी वाणीको आप घर बैठे सुन सकते हैं, पढ़ सकते हैं, शंका समाधान कर सकते हैं। आप धार्मिक आध्यात्मिक विषयमें पूर्ण स्वतन्त्र हैं यह भी सरकार की बड़ी कृपा है। इतनी सुख सुविधाके रहते हुए भी यदि आप आत्मोन्नति आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकते तो निःसन्देश आप अपराधी हैं। अतः बन्धुओं समझदार वही है जो समयसे लाभ उठाता है। यदि स्वतन्त्र भारतमें रहकर इतनी सुविधाओंके बावजूद भी आप अज्ञानी रह गये तो फिर आपको ज्ञान कब होगा? क्या पुनः गुलाम होनेपर? अतः समय न चूकें। आत्मबलका संग्रह करें। यही वह शस्त्र है जो आपको विश्व विजेता बना सकता है।

साधना में विक्षेप

धर्म अर्थ काम मोक्षकी सिद्धिके लिये जैसे स्वस्थ मनुष्य शरीर अपेक्षित है वैसे ही स्वतन्त्र सम्पन्न और शान्त देश भी अत्यन्त आवश्यक है। जैसे अशान्त मन साधकके लिये विक्षेप है वैसे ही देशका अशान्त वातावरण भी विक्षेप है। चलती हुई गाड़ीके आगे रोड़ा है। सदियों की परवश गुलामीके बाद १५ वर्षोंसे हमारा देश भौतिक, बौद्धिक और आत्मिक साधनामें संलग्न था। ऋषि मुनियोंका देश भारत स्वतन्त्र, शान्त वातावरणमें अन्तर्मुख होकर

समाधिस्थ था। परन्तु सहसा शान्ति और पंचशीलके उपासक भारतको आत्म साधना छोड़ शास्त्र ग्रहण कर संकट कालीन स्थितिकी घोषणा करनी पड़ी हैं। जैसे मुमुक्षु आत्मज्ञान होने तक इस शरीरकी रक्षा करता है वैसे ही प्रत्येक नागरिकका यह प्रधान कर्तव्य हैं कि वह हर प्रकारसे अपनी शान्ति और स्वतन्त्रता जो उसके लक्ष्य सिद्धिमें सहायक हैं की रक्षा करनी चाहिये। जैसे शान्तिप्रिय भगवान कृष्ण को शस्त्र उठानेके लिये मजबूर कर दिया गया था वैसे ही आज हमें भी मजबूर किया गया है। यह कोई नई बात नहीं? स्वार्थवश मदान्ध-लोग अहिंसक ऋषिमुनियोंके साथ भी कुत्सिक व्यवहार करते हैं। जब भी कोई मनुष्य घनघोर तपस्या और साधना करता है तब तुरन्त अत्या-चारियोंका सिंहासन डोलने लगता है। यही बात आज भी हुई है। हमारी सर्वांगीण उन्नति को देखकर इर्ष्यालु नास्तिक कम्युनिष्ट देश चीनका सिंहासन हिल गया और शंकरकी समाधि भंग करनेके लिये उसने भूखे नंगे नास्तिक सैनिकोंको कैलाशपर भेज दिया है। परन्तु उस अज्ञानीको काम दहनकी घटनाका स्मरण नहीं है।

इसमें चीनका दोष नहीं, चीनकी जनताका दोष नहीं, दोष केवल उनके अज्ञानका है। हमने सदा उसे अपना भाई, अपना स्वरूप ही समझा है, उसके अनेक अपराधोंको नादानी समझ कर टाल दिया है। सदा उसे अपने ही जैसा विश्वमें ऊँचा पद दिलानेका प्रयत्न किया है, और आज भी हम उसे अपना छोटा भाई ही समझते हैं। विश्वमें हमारा कोई भी शत्रु नहीं है। जैसे शरीरका एक अंग सड़ जाता है तब उसे काटकर फेंक दिया जाता है। हमारे ही भाईने अज्ञानवश मदान्ध होकर मर्यादाका अतिक्रमण किया है, निश्चय ही उसके हितके लिये हम उसे कठोर दण्ड देंगे।

भौतिक शक्तिको ही सबसे बड़ी शक्ति और अपने क्षणभंगुर शरीरको ही भगवान समझनेवाले चीनियोंको भारतकी गुरुताका ज्ञान नहीं है। भारत आध्यात्मिक देश हैं, भगवान की क्रीड़ास्थली है, गत १५ वर्षोंमें हमने अपने भूलोंको सुधारा है और अक्षय शक्तिका अर्जन किया है। भारत और चीनकी परस्पर तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि चीनके सैनिक शरीर-को ही सब कुछ समझकर उसके लिये भोग जुटानेकी तृष्णासे पागल होकर युद्ध कर रहे हैं। और भारत देशके सैनिक देश और भगवानको सब कुछ समझते हैं और अपने शरीरको कपड़ा समझकर शान्ति और स्वतन्त्रता पर न्यौछावर कर देते हैं। क्योंकि वे आत्माको अमर मानते हैं।

आज सदियोंसे समाधिस्थ भारत जाग उठा है, तृतीय नेत्र खुलते ही कामान्ध और मदान्ध चीनियोंके भस्म होनेमें कोई सन्देह नहीं। यह निश्चय है कि आत्म बलके आगे सभी बल पराजित होते हैं। यह अतिशयोक्ति नहीं, इतिहास साक्षी है, समस्त वैज्ञानिक साधनोंसे युक्त रावणको पाँव प्यादे ही पराजित करनेवाले राम, इन्द्रका भी मान मर्दन करनेवाले निहत्थे कृष्ण, मुगलोंको भयभीत करनेवाले

भगवान् श्रीचन्द्र, मामूली चर्खाचलाकर अंग्रेजों-को सात समुन्दर पार भेजनेवाली गांधीकी आवाज अहर्निश गूँज रही है। आजके कृष्ण नेहरूने देशरूपी रथकी बागडोरको आज पुनः अपने हाथमें लेकर शंखनाद किया है। मानव जातिके हितके लिये शस्त्रोंके बलपर इतरानेवाले आजके कौरवोंका शीघ्र ही विनाश होगा। जैसे साधक मनसे मल विक्षेप आवरणको दूर कर ही पुनः समाधिस्थ होता है वैसे ही वातावरणको अशान्त करनेवाले नास्तिकोंको दूर करके ही भारत शान्त होगा। यह हमारा दृढ़ संकल्प है।

—*—

श्रद्धाञ्जलि

गत मास ३०-९-६२ को सद्गुरु देवके शिष्य कोठारी श्री ब्रह्मदासजी महाराज इस नश्वर शरीरको छोड़कर ब्रह्मलीन हो गये हैं, हम परमानन्द संदेशकी ओरसे सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

हम उन बहादुर सैनिकोंको भी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं जो हमारी शान्तिको अक्षुण्ण बनानेके लिये अपने शरीरका सीमापर बलिदान कर रहे हैं।

—भद्रसेन वैद्य

परमानन्द संदेश के आजीवन सदस्य

●

हम नववर्ष में अपने आदरणीय आजीवन सदस्योंका अभिनन्दन करते हैं।

१—श्री मेसर्स सी० अम्बालाल एण्ड को० पूना।
२—श्री डा० एस० के० संघवी माटुंगा बम्बई।
३—श्री बी० आर० संघवी, कल्यान।
४—मेसर्स डेक्कन सेनेटरी पेन्ट स्टोर्स, पूना।
५—श्री रमनीक लालमूलजी भाई, भावनगर।
६—श्री अम्बालाल मूलजी भाई, सूरत।
७—श्री सेठ हीरानन्दानी शान्ताक्रुज, बम्बई।
८—श्री रतिलाल भानजी मथानी माटुंगा, बम्बई।
९—श्री शातिलाल छगनलाल तोलिया, बम्बई।
१०—श्री खीम सिंहजी ट्रेनर महालक्ष्मी, बम्बई।
११—श्री सेठ शरतचन्द्र भोगीलाल माटुंगा, बम्बई।

समाचार

ज्योति में ज्योति समाना

श्री तीर्थ राम टेकरी उदासीन गढ़ पूनाके सद्गुरु पूज्य सन्त श्री बाबा शारदारामजी महाराजके शिष्य कोठारी श्री बाबा ब्रह्म दासजी चण भंगुर शरीर त्याग कर ता. ३०-९-६२ आश्वीन शुक्ल २ दिन रविवार रात्रि १२॥ बजेको निराकार ब्रह्म मय हो गये (सेवककी सेवा बनिआई, हुकुम बूझि परम पद पाई) आपने सन १९३५ से कोठार संभालनेकी सेवा स्वीकार किये थे और कोपाध्यक्षका उत्तरदायित्व सचाईके साथ जीवन पर्यन्त निभाया। श्रीतीर्थ राम टेकरी पर तथा उत्तर प्रदेश जिला आजमगढ़ में अनेकों मन्दिर धर्मशाला आदि जीवोंके कल्याणार्थ बनवाये। आपका जीवन मरण दोनों धन्य धन्य है, क्योंकि अन्तिम अग्नि संस्कार आदि क्रिया भी विधिवत तीर्थ पंचवटी नासिक भगवान श्री रामकी तपो भूमिमें गंगा गोदावरी तटपर हुआ।

नाम रहो साधु रहो रहो गुरू गोविन्द,
कह नानक यह जगतमें किन जपियो गुरु मंत।

संसारमें संत, महात्मा, भक्त, दानवीर, सूरवीर, यश, कीर्तिवान महापुरुष सदा सर्वदा अमर ही रहते हैं। इन महापुरुषोंका जीवन मरण दोनों आनन्दमय अमर सदृश ही होता है क्योंकि महापुरुष जीवन पर्यन्त सर्व प्राणी मात्रका कल्याण करते हुए पथ प्रदर्शक बने रहते हैं और नश्वर शरीर त्यागनेके बाद भी सत्-चिद्-आनन्दघन रूपमें लीन हो सच्चिदानन्द ही बन जाते हैं। ऐसे तो श्री कोठारीजी महाराज गुरुदेवकी कृपासे मुक्तिमय ही हैं तथापि लोक मर्यादानुसार श्री सद्गुरुकी कृपासे श्री कोठारीजी महाराजके निमित्त उनका तेरहवाँ ब्रह्मभोज, हवन, पूजन, भंडारा, शय्यादान, गऊ, वस्त्र दान इत्यादि ता० १२-१०-६२ दिन शुक्रवारको विधिवत क्रिया गया। तत्पश्चात् ता० १६-१०-६२ दिन मंगलवारको उनका सत्रहवाँ भंडारा विशाल रूपसे जनता, जनार्दन, सेवक, भक्तों एवं सन्त समुदायका सुव्यवस्थित सुसम्पन्न हुआ। यथासमय श्री गुरू ग्रंथ साहबजीका साधारण पाठ, मुक्ति सोपान ग्रंथका नित्य प्रतिका पाँच पाठ श्री निर्गुण महारामायणके अखंड पाठका भोग, समाप्ति, पूजन, आरती विधिवत श्रीतीर्थ रामटेकरी उदासीन गढ़पर निर्विघ्न संपूर्ण हुआ।

—श्री रघुवंश दासजी उदासीन

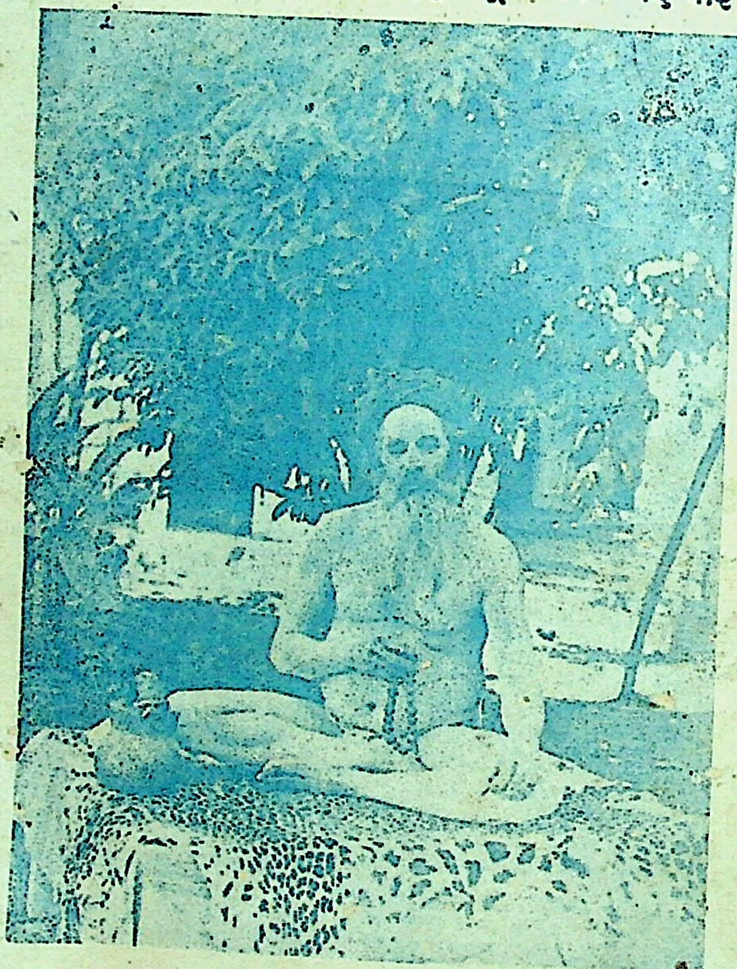
नये सदस्यों को सूचना

नये सदस्यों को वर्ष ३ का चन्दा ५) पाँच रुपये के साथ ५० नया पैसा रजिस्टरी खर्च भी भेजनेकी कृपा करनी चाहिये। आत्मपुराण विशेषांक साधारण डाकसे भेजने पर रास्तेमें गुम हो जानेका भय रहता है। केवल ५) चन्दा प्राप्त होने पर शेष अंक ५० न० पैसे की वी० पी० द्वारा सेवामें भेजे जायेंगे। ताकि अंक सुरक्षित मिल सकें। आशा है आप स्वीकार कर सहयोग करेंगे। —व्यवस्थापक

सम्पादक, मुद्रक-प्रकाशक—भद्रसेन वैद्य, कल्पना प्रेस, वाराणसी।
कार्यालय - शारदा प्रतिष्ठान सी० के० १५/५१ सुड़िया, बुलानाला, वाराणसी-१

परमानन्द संदेश वर्ष ३ अङ्क १ [रजिस्टर्ड संख्या ए० १५५७] आत्मपुराण विशेषांक कार्तिक २०१९ || नवम्बर १९६२

॥ सेवक की सेवा बनि आई × हुकुम बूझि परम पद पाई ॥



सद्गुरु बाबा शारदा राम जी के शिष्य
कोठारी श्री बाबा ब्रह्मदास जी उदासीन
जो दिनांक ३०-९-६२ रविवार १२॥ रात्रि में
ब्रह्मलीन हो गए

कार्यालय—शारदा प्रतिष्ठान सड़िया, बुलानाला, वाराणसी।